प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण चतुर्थ वि. सं. २०५४
मूल्य : Rs 35 P 00

K. 37/99 Gopal Mandir Lane
Post Box 1008 Varanasi-221001 (India)
Phone 63145

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
कृष्णदास अकादमी
पो० बा० नं० ११११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग) वाराणसी-२२१००१
(भारत)

कथासार

कथामुख (पृ० ५)

गंगाजीके तटपर पटना नगर है । वहाँ एक गुणवान् राजा रहते थे, जिनका नाम सुदर्शन था । उन्होंने पढ़ते हुए विद्यार्थीसे दो श्लोक सुने, जिनका यह आशय था—'अनेक संदेहोंको मिटानेवाला और परोक्ष पदार्थको दिखानेवाला शास्त्र सबका नेत्र है, वह जिसे नहीं है, वह मनुष्य अन्धा ही है । जवानी, धन, प्रभुता और अविचार—इनमेंसे एक एक भी अनर्थ करनेवाले हैं और जिसके पास चारों हैं, उसका क्या कहना ।' यह सुनकर अपने पुत्रोंके मूर्ख और कुमार्गगामी होनेसे राजा सोचने लगे—'जिनका पुत्र विद्वान्, गुणी, धर्मात्मा और वशमें रहनेवाला नहीं है, उसका होना व्यर्थ है । सो इन पुत्रोंको किस तरह गुणी बनाऊँ' यह सोच पण्डितोंकी सभा बुलाकर उन्होंने अपने पुत्रोंको पढ़ानेके लिये कहा । उन पण्डितोंमेंसे विष्णुशर्मा बोले, कि मैं इन पुत्रोंको छ मासमें पढ़ाकर विद्वान् बना दूँगा । यह सुनकर प्रसन्नचित्त राजाने उन पुत्रोंको पढ़ानेके लिये विष्णुशर्माको सौंप दिया ।

चित्रग्रीव (कबूतर) तथा हिरण्यक (चूहे) की कथा (पृ २७)

एक दिन किसी व्याधने वनमें चावलके दानोंको छींटकर जाल फैला दिया था । आकाशमें उड़ते हुए कबूतरोंने जब उसे देख उन चावलोंको खाना चाहा, तब कबूतरोंके राजा चित्रग्रीवने कबूतरोंको बहुत समझाया कि इस जंगलमें इतने चावल कहाँसे आये, इन्हें खानेका लोभ मत करो, क्योंकि—'लोभात् क्रोधः प्रभवति ' इत्यादि नीतिकार कहते हैं । किन्तु कबूतरोंने उसकी बात नहीं मानी और वे चावल खानेके लिये वहाँ उतरते ही जालमें फँस गये । तब चित्रग्रीवने कहा—'इसमें किसीका दोष नहीं है, अभाग्यवश आपत्ति आती है, आपत्ति में धैर्य रखकर उससे छूटनेका उपाय सोचना चाहिए । जैसे 'विपदि धैर्यम् ' । इस कारण तुम लोग एक राय करके जालके साथ उड़ चलो ।' यह सुन सब कबूतर जालको लेकर उड़ गये और गण्डकी नदीके किनारे सैकड़ों मुँहवाले बिलमें रहनेवाले 'हिरण्यक' नामक चूहेके पास पहुँचे । वह चूहा चित्रग्रीवका परम मित्र था । चित्रग्रीवके बुलानेपर बाहर आकर उस चूहेने चित्रग्रीवको जालमें फँसा देख आश्चर्यसे पूछा—'मित्र ! यह क्या !' उसने उत्तर दिया—

'मेरे पूर्व जन्मका यह फल है'। जैसे कहा भी है—'रोगशोकपरीताप ...'। यह सुन हिरण्यक चित्रग्रीवके बन्धन काटनेके लिए उसके पास पहुँचा तो चित्रग्रीव ने कहा—'पहले तुम मेरे आश्रितोंका बन्धन काटो क्योंकि ये जाति, क्रिया और गुणमें मेरे बराबर होनेपर भी बिना वेतनके मेरा आश्रय नहीं छोड़ते। अतः मेरे क्षणभङ्गुर शरीरकी चिन्ता छोड़कर स्वामी धर्मके लिए इनका बन्धन पहले काटो'। यह सुन प्रसन्न होकर हिरण्यकने पहले सब कबूतरोंके बन्धनको काटकर पश्चात् चित्रग्रीवका बन्धन काटा।

बूढ़े बाघ और कामी पथिककी कथा (पृ १)

एक बूढ़ा बाघ तालाबके किनारे स्नानकर कुश हाथ और सोनेका कंकण लिये जोरसे कह रहा था—'इस सुवर्णके कंकणको कोई दान लो'। यह सुन एक कामी पथिकने बाघसे पूछा—'कहाँ है तेरा कंकण? तुम जैसे हिंसकपर किस प्रकार विश्वास किया जाय', हाथ फैलाकर सुवर्णकंकणको दिखाते हुए बाघने कहा—'पहले मैं बहुत क्रूर था, अनेक गौ-ब्राह्मणादिके मारनेसे मेरे पुत्र-स्त्री सब मर गये और मेरे दाँत-नाखून सब गिर पड़े। एक महात्माके उपदेशसे मैं स्नान कर इस सुवर्ण कंकणको किसीको देना चाहता हूँ, किन्तु 'बाघ मनुष्यको खाता है' यह निन्दा किस प्रकार दूर की जाय?—क्योंकि 'गतानुगतिको लोकः' ऐसा नीतिज्ञ लोग कहते हैं। दरिद्र तथा अपना कोई उपकारी नहीं होनेसे यह सात्त्विक दान मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अतः इस तालाबमें स्नानकर इस कंकणको लो'। यह सुन वह पथिक उसकी बातोंपर विश्वासकर तालाबमें स्नानार्थ प्रवेश करते ही कीचड़में फँसकर चिन्ता करने लगा—'हाय! नदीनां शस्त्रपाणीनां...' इत्यादि नीतिकारोंके वचनोंके विपरीत मैंने विश्वासकर अच्छा नहीं किया। विद्वान् होनेपर भी किसीका स्वभाव नहीं बदलता। जैसे कहा भी है—'न धर्मशास्त्रं पठतीति ...' ऐसा विचार कर ही रहा था कि वह बाघ उसे मारकर खा गया।

चित्राङ्ग (मृग) सुबुद्धि (कौआ) तथा स्यारकी कथा (पृ ११)

मगध देशमें चम्पकवती नामक बड़ा वन था, उसमें मृग और कौआ बड़ी दोस्तीसे रहते थे। एक दिन मृग-मांसप्रेमी एक स्यार मित्रता करनेके बहाने मृगके निवासस्थानपर गया। स्यार और मृगको एक साथ देखकर 'सुबुद्धि' नामक कौआ बोला—'यह कौन है? तथा यहाँ क्यों आया है? अज्ञात कुलाचार वाले व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिए'। कौवेकी इस बातको सुनकर स्यार बोला—'भाई! यह मेरा है, यह तुम्हारा है, यह विचार तो क्षुद्र बुद्धिवालेके ही

करते हैं, उदार हृदयवालोंका तो प्राणिमात्र परिवार ही होता है।' इस प्रकार विश्वास दिलाकर यह स्यार भी वहाँ रहने लगा और उस धूर्त स्यारके दिखानेपर मृग प्रतिदिन एक खेतमें जाकर चरने लगा। यह देख किसानने जब खेतमें जाल फैला दिया तब एक दिन उसमें बेचारा मृग फँस गया। यह देख स्यार मन ही मन खुश होकर कहने लगा कि जब इस मृगको किसान मारेगा तब मुझे खून लिपटी हुई उसकी हड्डियाँ खानेको मिलेंगी। स्यारको देख प्रसन्न होकर मृगने कहा—'मित्र! शीघ्र मेरे बन्धनको काटो'। यह सुन कर कपटी मित्र स्यारने कहा—'मित्र! आज रविवारका दिन है, चर्बीसे बने इस फन्देको दाँतोंसे कैसे स्पर्श करूँ, मैं इसे कल काट दूँगा।' ऐसा कहकर थोड़ी दूरपर छिपकर बैठ गया। इधर प्रतिदिनके समान संध्या होनेपर मृगके निवासस्थानपर नहीं लौटनेसे सुबुद्धि कौवा घबड़ाकर मृगको ढूँढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने मृगको फँसा हुआ देखकर पूछा—'मित्र! यह क्या?' उसे देख रोते हुए चित्राङ्ग मृगने कहा—'मित्रकी बात नहीं माननेका फल मैं भोग रहा हूँ।' इसके बाद प्रातःकाल लाठी लिये किसानको आते देख कौवेने मृगसे कहा—'तुम हाथ पैर फैलाकर श्वास रोक लो और मैं तुम्हारी आँखोंको धीरे धीरे खोदूँगा, जिससे किसान तुम्हें मरा हुआ जान लेगा फिर मैं जब बोलूँ तब बहुत शीघ्र उठकर भाग जाना।' इतनेमें किसान वहाँ आकर मृगके ऊपर बैठे हुए कौवेको देख उसे मरा हुआ समझकर फन्देको समेटने लगा। इतनेमें कौवेके शब्दको सुनकर जब मृग उठकर भाग चला तब किसानने अपनी लाठी उसपर फेंकी जिससे पासमें बैठकर झाँकता हुआ मृगमांस लोभी वह धूर्त स्यार मर गया।

जरद्गव (गीध) तथा दीर्घकर्ण (बिलाव) की कथा (पृ ६४)

गङ्गाके किनारे 'गृध्रकूट' नामक पहाड़पर पाकरका पेड़ था। उसके खोंड़रेमें जरद्गव नामका एक वृद्ध गीध रहता था। उस पेड़पर रहनेवाले पक्षीगण कृपाकर अपने अपने भोजनसे थोड़ा उस गीधको देते थे और वह उसे खाकर उन पक्षियोंके बच्चोंकी रखवाली करता था। एक दिन बिलावको आते देखकर पक्षियोंके बच्चे चिल्लाने लगे। उसे सुनकर गीधने कहा—'अरे कौन आता है?' उसका विशाल शरीर देखकर कपटी बिलाव डर गया और कहने लगा—'मैं दीर्घकर्ण नामक बिलाव सर्वदा गंगामें स्नान करता हुआ चान्द्रायण व्रत करता हूँ। प्रतिदिन सब पक्षी मेरे पास आकर आपके धर्मज्ञानी होनेकी प्रशंसा करते हैं इसीसे मैं आपसे धर्म सुननेके लिए आया हूँ। सो आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ अतिथिको देखते ही तमक उठे। धर्मशास्त्रोंका मत है कि घर आनेपर शत्रुका भी आदर सत्कार करना चाहिए'। इस प्रकार गीधको

विश्वास दिलाकर पेड़के एक खोंढ़रेमें वह बिलाव रहने लगा और पक्षियोंके बाहर चले जानेपर चुपकेसे उनके बच्चोंको अपने खोंढ़रेमें लाकर खाने लगा। जिन जिनके बच्चोंको बिलावने खा लिया वे इधर उधर अपने बच्चोंको ढूँढ़ने लगे यह बात बिलाव तो धीरेसे भाग गया और उसके खोंढ़रेमें पड़ी हड्डियोंको देख 'गीधने मेरे बच्चोंको खाया है' ऐसा निश्चयकर पक्षियोंने उस बूढ़े गीधको मार डाला। इसीलिए कहा है—'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि।

चूड़ाकर्ण तथा वीणाकर्ण सन्यासियोंकी कथा (पृ. ९९)

चम्पक नगरीमें संन्यासियोंके एक आश्रममें 'चूड़ाकर्ण' नामका सन्यासी रहता था। वह खानेसे बचे हुए भिक्षान्नको खूँटीमें टाँगकर जब सो जाता था तब हिरण्यक नामक चूहोंका राजा उसे प्रतिदिन खा जाता था। एक दिन उसने मित्र 'वीणाकर्ण' नामक संन्यासीके आनेपर बातचीत करते हुए एक फटे हुए बाँसके टुकड़ेको लेकर चूहेको डरानेके लिए भूमिपर पटका यह देख वीणाकर्णने कहा—'मित्र मेरे साथ बात करनेमें तुम्हारा मन क्यों नहीं लग रहा है?' चूड़ाकर्णने उत्तर दिया—'मेरा मन बात करनेमें तो लग रहा है, किन्तु यह दुष्ट चूहा मेरे भिक्षान्नको दूषित प्रतिदिन खा जाता है उसी को भगानेके लिए मैंने बाँस पटका है।' खूँटीकी ऊँचाई देखकर वीणाकर्णने कहा—'छोटा-सा चूहा इतना ऊँचा कूदता है इससे यह मालूम होता है कि इसने बहुत-सा धन आदि इकट्ठा कर लिया है इसी एकत्रित धनके अभिमान से यह इतना कूद रहा है।' यह कहकर उसने चूहेके बिलको खोदा और बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ सब धन ले लिया। एक दिन शक्तिहीन चूहेको धीरे धीरे चलते हुए देखकर वीणाकर्णने कहा—'मित्र चूड़ाकर्ण! धनहीन इस चूहेको देखो कि कितना धीरे धीरे चल रहा है।' नीति भी कहती है—'धनेन बल-वांल्लोके' इत्यादि।

भैरव (व्याध) तथा लोभी स्यारकी कथा (पृ० ११९)

'कल्याणकटक' नामक देशमें 'भैरव' नामक व्याध रहता था। उसने एक दिन वनमें एक मृगको मारकर घर लौटते समय एक बड़े सूअरको देखा। फिर उसने मारे हुए मृगको भूमिपर रखकर वैसे ही बाणसे उसे भी मारा किंतु बाण लगते ही भयंकर गर्जन कर सूअरने भैरव व्याधके अण्डकोषमें दाँतसे प्रहार कर दिया जिससे वह उसी समय गिर पड़ा और उसके नीचे दबकर एक सर्प भी मर गया। इधर बाणकी चोटसे व्याकुल होकर सूअर भी मर गया। इतनेमें ही कहींसे घूमता हुआ एक लोभी स्यार आया और मरे हुए मृग व्याध सूअर सर्प तथा व्याधके धनुषको देखकर विचारने

लगा—'भगवान्‌ने आज मुझे बहुत दिनोंके लिए भोजन दे दिया। इनमें १-१ महीने मृग सूकर, व्याध तथा १ दिन सर्पको खाऊँगा और आज तेज भूखमें स्वादहीन धनुषकी डोरीको ही खा लेता हूँ।' ऐसा निश्चयकर उसने धनुषकी डोरीको खानेके लिए जो काटा तो चढ़ा हुआ धनुष उछलकर उसके पेटमें लगा और वह भी वहीं मर गया। इसीलिए नीतिकारोंने कहा है—'सञ्चय तो करना चाहिए, किन्तु अधिक सञ्चय नहीं करना चाहिए।'

कर्पूरतिलक हाथी तथा स्यारकी कथा (पृ० १३६)

'ब्रह्मारण्य'में 'कर्पूरतिलक' नामका एक हाथी रहता था। उसे देखकर स्यारोंने विचारा— यदि यह किसी उपायसे मर जाय तो हम लोगोंका इच्छानुसार चार मासका भोजन होगा'। यह सुन एक स्यारने कहा—'मैं अपनी बुद्धिसे इसे मारूँगा।' ऐसा कहकर वह कर्पूरतिलक हाथीके पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला—'सरकार! जङ्गलके रहनेवाले सब पशुओंने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है—बिना राजाके रहना अच्छा नहीं और इस समय राजा होने लायक आप ही हैं, सो जब तक राज्याभिषेकके शुभ मुहूर्तका समय नहीं बीत रहा है तब तक ही कृपाकर आप जल्दी चलिए'। राज्यके लोभमें पड़ा हुआ वह कर्पूरतिलक हाथी स्यारके कहनेमें आकर उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ ही दूर आगे जानेपर महा दलदलमें फँसकर वह बोला—'मित्र स्यार! मैं तो दलदलमें फँस गया, अब क्या करूँ'? यह सुनकर स्यारने कहा—'मेरे-जैसे नीचका विश्वास करनेका फल भोगो'। इसीसे नीतिकारोंने कहा है—'जो काम उपायसे होता है, वह पराक्रमसे नहीं।'

लघुपतनक (कौवा), हिरण्यक (चूहा), मन्थरक (कछुआ) और चित्राङ्गद (मृग) की कथा (पृ० १४०)

चित्रग्रीव और हिरण्यककी मित्रताको देखकर लघुपतनक नामक कौवेने कहा—'हिरण्यक! मैं तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ।' यह सुन हिरण्यकने कहा—'तुम मेरे भक्षक हो और मैं तुम्हारा भक्ष्य हूँ, अतः हम दोनोंसे मित्रता कैसे हो सकती है? शत्रुके साथ एकभाव होनेपर भी मेल नहीं करना चाहिए, क्योंकि बहुत गर्म भी पानी आगको बुझा देता है।' इस प्रकार अस्वीकार करने पर लघुपतनकने कहा—'यदि तुम मेरे साथ मित्रता नहीं करोगे तो मैं भोजन त्यागकर यहीं प्राण दे दूँगा, क्योंकि तुम सज्जन हो और सज्जनोंकी मित्रता बड़े भाग्यसे होती है।' उसके ऐसे दृढ़ निश्चयको सुनकर हिरण्यकने लघुपतनकसे मित्रता कर ली। एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—'मित्र! यहाँ लोग सदा पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं, इस कारण दण्डकवनके कर्पूरगौर नामक तालाबमें रहनेवाले

अपने पुराने मित्र मन्थरक नामक कछुएके पासमें जाना चाहता हूँ। वहाँ मुझे यथेच्छ भोजन मिलेगा। यह सुन हिरण्यकने कहा—'मित्र मैं तुम्हारे जैसे मित्रके बिना कैसे रहूँगा, इसलिये मुझे भी वहाँ ले चलो।' यह सुन लघुपतनक उसे अपनी पीठपर बैठाकर उड़ता हुआ अपने मित्र मन्थरकके पास पहुँचा। वहाँ मन्थरक लघुपतनकसे हिरण्यकका परिचय पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने हिरण्यकका भी अच्छी तरह आतिथ्य किया। भोजन आदिसे निश्चिन्त होकर तीनों एक साथ बैठे तो मन्थरकने हिरण्यकसे पूछा—'मित्र हिरण्यक! अपने देशको छोड़कर इस निर्जन वनमें आप क्यों आये?' यह सुन हिरण्यकने कहा—'धनरहित होकर यदि वहाँ रहनेसे बड़ा अपमान सहना पड़ता है। निर्धन मनुष्य जंगलमें चला जाय, देश छोड़ दे, परन्तु परिवार में रहकर अपमान न सहे। कहा भी है— 'वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितम् ...'। यही विचारकर मैं यहाँ आया हूँ।' यह सुन मन्थरकने कहा—'मित्र! धनीको तृष्णा छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि जितनी तृष्णा की जायगी, वह उतनी ही बढ़ती जायगी। सन्तोष धारण करनेके समान संसारमें दूसरा कोई सुख नहीं है।' इतनेहीमें भागता हुआ एक मृग आकर कहने लगा—'कलिंग देशका राजा 'रुक्मांगद' दिग्विजयके लिए निकला है। उसकी सेना चन्द्रभागा नदीके किनारे पड़ाव डालकर पड़ी है, उसके साथ रहनेवाले शिकारियोंसे डरकर मैं यहाँ आपकी शरणमें आया हूँ। दो-तीन दिनमें यहाँ भी वे आनेवाले हैं, ऐसा मैंने सुना है।' यह सुन मन्थरक डरके मारे वहाँसे चल पड़ा और दूसरे जलाशयमें स्थलमार्गसे जाते हुए उसे एक व्याधने पकड़ लिया। यह देख हिरण्यकने कहा—'हे चित्रांग! तुम इस व्याधके मार्गमें आगे एक पानीवाले गड्ढेके पास पेट फुलाकर तथा पैरोंको फैलाकर लेट जाओ और लघुपतनक तुम्हारे मुखपर बैठकर आँखोंसे धीरे-धीरे चोंचसे खोदता रहे, जिससे वह व्याध तुम्हें मरा हुआ जानकर मन्थरकको गड्ढेके किनारे रखकर तुम्हें लानेके लिए जायगा। इतनेमें मैं मन्थरकके बन्धनको काट दूँगा और वह शीघ्र पानीमें घुस जायगा तथा तुम भी व्याधको पासमें आते देख सर उठाकर भाग जाना।' यह उपाय उन दोनोंको बहुत अच्छा लगा और उन्होंने ऐसा ही किया जिससे वह व्याध मृगको मरा हुआ समझकर कुशाकी रस्सीसे बाँधे हुए मन्थरकको गड्ढेके किनारे रखकर मृगको लानेके लिए गया। उधर व्याधको पासमें आता देख कौवा उड़ गया और मृग भाग गया। फिर वापस लौटकर बन्धनसे भागे हुए मन्थरकको देखकर वह व्याध शोक करने लगा—'जो निश्चितको छोड़कर अनिश्चितके लिए दौड़ता है, उसकी दशा मेरी-जैसी ही होती है।' इस प्रकार शोक करता हुआ वह घर चला गया। इधर सब मित्र (मन्थरक, हिरण्यक, चित्रांग तथा लघुपतनक) फिर मिलकर सुखपूर्वक रहने लगे।

— : —

॥ श्री ॥

हितोपदेश-मित्रलाभः

किरणावली-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

मङ्गलाचरणम्

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ।

तर्कश्रुतिभिरावेद्यमक्षरात् परतः परम् ।
परं ब्रह्म नमस्कृत्य 'स्वामिनारायणं' प्रभुम् ॥
'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' करोति 'किरणावलीम्' ।
व्याख्यां शिशुहितां रम्यां 'मित्रलाभ'नयानुगाम् ॥

अन्वय —यन्मूर्ध्नि शशिनः कला जाह्नवीफेनलेखा इव (अस्ति), तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धिः अस्तु ॥ व्याख्या—यस्य मूर्धा यन्मूर्धा, तस्मिन् । यस्य = शङ्करस्य मूर्ध्नि = ललाटे । शशिनः —शशः अङ्करूपोऽस्ति अस्येति शशी, तस्य—शशिनः = चन्द्रस्येत्यर्थः । कला = षोडशो भागः, 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । जाह्नवीफेनलेखेव = जह्नोः अपत्यं कन्या जाह्नवी = गङ्गेत्यर्थः । जाह्नव्याः फेनः = डिण्डीरः, 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः, जाह्नवीफेनस्य लेखा=चिह्नमिव, विराजते-इति शेषः । तस्य धूर्जटेः -धूः=भारभूता जटिः=जटा यस्य सः तस्य= शङ्करस्य, प्रसादात् = अनुग्रहात् । सतां=सज्जनानां विद्यार्थिनाम् , साध्ये = साधितुं योग्ये स्वाभिलषिते एतद्ग्रन्थाऽध्ययनारम्भके कार्ये, सिद्धिरस्तु=पारगामित्वं भवतु ।

भाषान्तरम्—जिन शङ्करजी के ललाटमें चन्द्रकी एक कला गङ्गाजी के फेन (गाज) की रेखा के समान सुशोभित है, उन शङ्करजीकी प्रसन्नतासे सब सत्पुरुषों के कार्यों की निर्विघ्न सिद्धि हो ॥ १ ॥

ग्रन्थस्योपादेयतां दर्शयति—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

अ०—श्रुतः अयं हितोपदेशः संस्कृतोक्तिषु पाटवम् सर्वत्र वाचां वैचित्र्यम् नीतिविद्यां च ददाति ॥ व्या०—श्रुतः = आकर्णितः,—गुरुमुखात् आकर्णनपूर्वकमधिगतो वा इति यावत् अयम्—एष पुरोवर्ती हितोपदेशः—हितः = हितकरः उपदेशो यस्मात् तादृशः 'हितोपदेश'नामा ग्रन्थः (इदं कर्तृपदम्), संस्कृतोक्तिषु—संस्कृतस्य = संस्कृतभाषायाः उक्तयः = भाषणानि तासु—इत्यर्थः। पाटवम् = पटोर्भावः पाटवम् = चतुरताम् (ददाति), सर्वत्र = सर्वस्मिन् सम्यग्व्यवहारे वाचाम् = गिराम् 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इत्यमरः। वैचित्र्यम् = नवनवार्थप्रकाशित्वम् (ददाति), नीतिविद्यां च = नीयते अनया लोकोऽभिमतम् अनया इति नीतिः = सामदानभेददण्डोपायचतुष्टयमुपायः, विद्यतेऽनया ज्ञायते नीतिः सा नीतिविद्या = नीतिज्ञानसाधनं शास्त्रम्, सामदानादिउपायज्ञानं ददातीत्यर्थः॥

भा०—इस हितोपदेश के श्रवण करने से संस्कृत भाषा में व्युत्पत्ति, सभी प्रकार के व्यवहारों में निपुणता तथा नीति का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विद्याप्रशंसा

अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

अ०—प्राज्ञः अजरामरवत् विद्याम् अर्थं च चिन्तयेत्। मृत्युना केशेषु गृहीत इव धर्ममाचरेत् ॥ व्या०—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव इति प्राज्ञः, स्वार्थे अण् धीमान् मनुष्य इत्यर्थः। न विद्यते जरा यस्य सः, अथवा न जीर्यते इत्यजरः, न म्रियते इत्यमरः, अजरश्चासौ अमरश्चेति अजरामरः, स इव—तेन तुल्यम् अजरामरवत् = जरामरणरहित इवेत्यर्थः। विद्याम् = शास्त्रज्ञानकलाज्ञानादिकम् अर्थं च = द्रव्यं च चिन्तयेत्—उपार्जयेत्। मृत्युना = अन्तकेन केशेषु = शिरोरुहेषु, गृहीत इव = धृत इव धर्मं = पुण्यम्। आचरेत् = अनुतिष्ठेत् ॥

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या तथा द्रव्य (धन) का उपार्जन करे और मृत्यु इसके ले जाने के लिये हमारे सिर के केश (चोटी) पकड़े हुए है ऐसा समझ कर सदा धर्माचरण करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

अ०—(तत्त्वज्ञाः) सर्वदा अहार्यत्वात् अनर्घ्यत्वात् अक्षयत्वाच्च सर्वद्रव्येषु विद्यैव अनुत्तमं द्रव्यम् अस्तीति आहुः ॥ व्या०—(तत्त्ववेत्तारः सत्यासत्यविवेचकाः) सर्वदा = सर्वकालम् अहार्यत्वात् = हर्तुं योग्या हार्या हार्या न भवतीति अहार्या तस्या भावः = अहार्यत्वम्, तस्मात् अहार्यत्वात् = चौरादिभिरपहर्तुम् अयोग्यत्वा

वित्यर्थः । अनर्घत्वात्=नास्ति अर्घो मूल्यं यस्याः सा अनर्घा=अमूल्या, तस्या भावः अनर्घत्वम् , तस्मात् , अनर्घत्वात् , द्रव्यादिमूल्येनाऽपि प्राप्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । अक्षयत्वात्=नास्ति क्षयः=नाशः स्थूलपदार्थवत् क्लेदनदहनपरिणामाद्यात्मकः शीघ्र विनाशो यस्याः सा इति अक्षया, तस्या भावस्तस्मात् । व्यये कृते वृद्धिशीलत्वादिति यावत् । सर्वद्रव्येषु=सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि=सुवर्णरजताद्यात्मकानि रत्नाद्यात्मकानि अन्यानि च यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि, तेषु मध्ये विद्या एव, अनुत्तमम्=उत्कृष्टं पराकाष्ठां गतम् , द्रव्यम् (अस्तीति) आहुः=वदन्तीति । अत्र श्लोके–अनुमानत्रयम्=हेतुत्रयेण बोध्यम् ।

भा०—विद्वान् लोग सब धनों में से विद्या को ही उत्तम धन कहते हैं, क्योंकि चोर लोग उसकी चोरी नहीं कर सकते हैं, और मूल्य देने पर भी वह खरीदी नहीं जा सकती है, और दूसरे को देने (पढ़ाने) से कमती नहीं होती है, किन्तु बढ़ती ही रहती है, इसलिये श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव, नीचगाऽपि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

अ०—नीचगा अपि सरित् दुर्धर्षं समुद्रमिव (नीचगाऽपि) विद्या एव नरं नृपं संयोजयति, अतः (विद्या) परम् भाग्यं (उद्घाटयति)। व्या०—नीचगाऽपि= निम्नप्रदेशगामिन्यपि, सरित्=नदी, (तृणकाष्ठादिकम्) दुर्धर्षम् = दुःखेन धृष्यते आक्रम्यते इति दुर्धर्षं तम् , दुरतिक्रमम् दुष्प्रापमिति यावत् , समुद्रम्–मुद्राभिः= रत्नैः सहितः समुद्रः, तम्=अर्णवम् , इव=यथा (संयोजयति) तथा (नीचगा ऽपि) नीचं कुलस्वभावादिनाऽपकृष्टमपि पुरुषं गच्छतीति नीचगा, नीचैरधीता सत्यपीत्यर्थः नरं=जातिकुलाद्यपकृष्टं जनम् , विद्या एव दुर्धर्षं=दुष्प्रापम् , नृपम्= नॄन् पातीति नृपः, लोकरक्षको राजा, तम् , संयोजयति=सङ्गमयतीत्यर्थः, प्रापयतीति यावत् अतः परम्=इतः ऊर्ध्वं, भाग्यम्=दैवाधीनम् फलम् ।

भा०—जैसे नीचे प्रदेश में बहने वाली नदी तुच्छ तृणकाष्ठादिकको दुष्प्राप्य अथाह समुद्र में जा मिलाती है वैसे ही नीच पुरुषको प्राप्त होकर विद्या ही उस पुरुष को बड़े भारी राजा से मिलाती है । उसके बाद वह भाग्यानुसार फल पाता है ॥ ५ ॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

अ०—विद्या विनयं ददाति, विनयात् पात्रतां याति, पात्रत्वात् धनम् आप्नोति, धनात् धर्मं (करोति), ततः सुखम् (आप्नोति)। व्या०—विद्या विनयं=नम्रताम् , ददाति (जनयतीति शेषः), विद्यायुक्तः नम्रो भवतीति भावः । विनयात्= नम्रत्वात् (हेत्वर्थे पञ्चमी, एवमग्रेऽपि) पात्रतां=सत्पात्रत्वम् , याति=प्राप्नोति,

(विनयवान् जन इति शेषः) पात्रत्वात् = सत्पात्रत्वात्, धनार्जनसमर्थत्वात् विद्यासम्पन्नत्वाद्वा धनम् = सुवर्णरजतादिरूपम् अर्थम् आप्नोति विद्वान् कार्ये नियुक्तः सन् कार्यपरिसमाप्त्या प्रसादितात् स्वामिनः विपुलं धनं लभते इति भावः। धनात् = कीर्तिसम्पादितात् धनात् धर्मम् = यागदानादिरूपं पुण्यम्, धर्मं यान्ति-इति शेषः। ततः = तस्मात् पुण्यात् सुखम् = स्त्री-पुत्र-समृद्धि-अतिथ्या-रोग्यादिभिः सर्वदा आनन्दम् अनुभवतीति शेषः।

भा०—मनुष्य विद्या को पढ़ने से विनयवान् बनता है, विनयवान् होने से ही वह सुपात्र बनता है, सुपात्र होने से वह धन को प्राप्त करता है, धन से धर्मकार्य-यज्ञदानादि करके पुण्यशाली बनता है, पुण्यशाली होने से सांसारिक सभी सुख समृद्धि, स्त्रीपुत्र आदि से सदा सुखी रहता है ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥ ७ ॥

अ०—शस्त्रस्य शास्त्रस्य विद्या (भवति); द्वे विद्ये प्रतिपत्तये (भवतः) आद्या वृद्धत्वे हास्याय (भवति); (अतः) द्वितीया सदा आद्रियते। व्या०—शस्त्रस्य = खड्गादिकं धनुश्च तस्य सम्बन्धिनी; शास्त्रस्य = विधिनिषेधादिना लोकानामुपकारकम् आमोदिनि... इयं विद्या भवति, अस्ये कार्योपयोगित्वात् विद्यापदवाच्योरपि द्वयोर्विद्यात्वम्। एते द्वे विद्ये प्रतिपत्तये = लोककार्यसिद्धये भवतः। तयोर्मध्ये या आद्या = शस्त्रात्मिका विद्या सा तु वृद्धत्वे = वार्धक्ये सति दुर्बलत्वात् सामर्थ्याभावात् अतीति भावः, हास्याय = उपहासाय भवति अत एव द्वितीया (या) = शास्त्रविद्या सा तु सदा = सर्वदा बाल्ये यौवने वृद्धे वार्धक्येऽपि चेत्यर्थः। आद्रियते = लोकैः प्रशस्यते—आदृता भवतीति भावः। (अत्र श्लोके-'विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्येति' पाठान्तरम्)।

भा०—संसार में दो विद्यायें प्रसिद्ध हैं एक शस्त्रविद्या और दूसरी शास्त्रविद्या, इन दोनों को पढ़ने से मनुष्य की उन्नति होती है, किन्तु निर्बल (वृद्धादि) अवस्था में शस्त्र-विद्या से अपना रक्षण तथा विजयादि नहीं कर सकते हैं इसलिये शस्त्रविद्या हँसी कराती है शास्त्रविद्या तो तरुण-निर्बल सभी अवस्थाओं में सुख देनेवाली है इसलिये द्वितीय विद्या-शास्त्र विद्या ही प्रशंसित है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

अ०—यत् नवे भाजने लग्नः संस्कारः अन्यथा न भवेत्। तत् इह कथाच्छलेन बालानां नीतिः कथ्यते। व्या०—यद्यस्मात्कारणात्, (यथा) नवे = नूतने = अपक्वे, भाजने = मृत्पात्रादौ लग्नः = अङ्कितः संस्कारः = रेखादिचिह्नम् अन्यथा = अन्य-

प्रकारो विलीनो वा न भवेत् (तथा) यत्=यस्माद्धेतो, नवे=नूतने विद्यासंस्काररहिते, भाजने=विद्यापात्ररूपे बालान्तःकरणे, लग्नः=सङ्क्रान्तः, संस्कारः=विद्यासंस्कारः, अन्यथा=विपरीतो न भवेत्। तत्=तस्माद्धेतो, इह=अस्मिन् ग्रन्थे, कथाच्छलेन—कथा=काककूर्मादीनां कल्पितोपाख्यानम्, तदेव छलं तेन, बालानाम्=प्रथमं संस्कृतभाषायां प्रवेशाऽभिलाषुकाणाम् (बोधार्थमिति शेषः) कथ्यते=उपदिश्यते। मया विष्णुशर्म्मणेति शेषः।

भा०—बालकों का हृदय मृत्तिका के नये घट के समान निर्मल होता है, इसलिये नये घटादि में खींचे हुए रेखा आदि के चिह्न—बरतन फूटने तक नहीं जाते, वैसे ही बालकों के निर्मल अन्तःकरणों में उपदेश द्वारा किये गये शुभ संस्कार भी जीवन पर्यन्त दूर नहीं होते, इसलिये मैं (विष्णुशर्मा) बालकों को मनोरञ्जक नीतियुक्त कथाएँ कहकर उपदेश देने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च।
पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अ०—(मया) पञ्चतन्त्रात् तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् आकृष्य मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, एव च लिख्यते। व्या०—मया (विष्णुशर्मणा) पञ्चतन्त्रात्='पञ्चतन्त्र'नामकग्रन्थात्, तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात्=महाभारत-कामन्दकीयादे नीतिशास्त्रान्तरात्, आकृष्य=समाहृत्य सङ्गृह्य च, मित्रलाभः=मित्रस्य लाभ प्राप्ति, सुहृद्भेद=सुहृदो भेद=वैमनस्यम्, विग्रहः=युद्धम्, सन्धि=मेलनं चेति लिख्यते एवेति।

भा०—मैं नीति के प्रतिपादक पञ्चतन्त्र तथा महाभारतादि ग्रन्थों से बालकों का हित करने वाली कथायें एकत्रित करके मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, इन चार प्रकरणों में पर्यवसित ऐसा यह 'हितोपदेश' नाम का ग्रन्थ लिखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम्। तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत्। स भूपतिरेकदा केनाऽपि पाठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव।

व्या०—भागीरथीतीरे='भगीरथ'नाम्ना राजकुमारेण आनीता या गङ्गा सा भागीरथी, तस्या तीरे तटे, पाटलिपुत्रनामधेयम्=नाम एव इति नामधेयम्, 'पाटलिपुत्र' इति (पटना) नामधेय यस्य तत् 'पाटलिपुत्र'नामकं, नगरं=पुरम् अस्ति=वर्तते। तत्र=तस्मिन्निति तत्र=पाटलिपुत्रनगरे, सर्वस्वामिगुणोपेतः=स्वम् ऐश्वर्यं प्रजेशनशीलत्वरूपम् अस्ति अस्य इति स्वामी=राजा, स्वामिनो गुणा=

कौमोदयम्, सर्वे च ते स्वामिगुणाः सर्वस्वामिगुणाः तैः उपेतः=युक्तः, सुदर्शने नाम=सुष्ठु सुन्दरं दर्शनं यस्य सः सुदर्शनः 'सुदर्शन'नामा, नरपतिः=नरान् पाति रक्षतीति पतिः, नराणां पतिः नरपतिः=राजा आसीत्=अभूत्। स नृपतिः=असौ 'सुदर्शन'नामा नृपतिः, नृणां पतिः नृपतिरिति विग्रहः। एकदा=एकस्मिन् काले केनापि=कस्मिचित्पुरुषेण विदुषा, पठ्यमानम्=पठ्यते यत् पठ्यमानम् श्लोकयोः द्वयम्-श्लोकद्वयम् 'अनेके'-त्यादिरूपं पठ्यमानं शुश्राव, शुश्राव=आकर्णितवान्।

भा०—भागीरथी गङ्गाके तीर पर 'पाटलिपुत्र' (पटना) नाम का एक नगर है उस नगर का राजा 'सुदर्शन' नाम का था, वह राजाओं के सब गुणों से युक्त था उस राजाने एक समय किसी द्वारा पढ़े जाते हुए इन दो श्लोकों को सुना (जो आगे कहे जा रहे हैं।)

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ १० ॥

व्या०—सर्वस्य=निखिलजनस्य अनेकसंशयोच्छेदि, न एके=अनेके, अनेके च ते संशयाः अनेकसंशयाः। अनेकसंशयानाम् उच्छेदि, इत्यनेकसंशयोच्छेदि=बहुविधधार्मिक-राजनीतिक-सामाजिकैतिहासिक-संशयनिरासकमित्यर्थः। परोक्षार्थस्य=अक्षणाम्—इन्द्रियाणां परः इति परोक्षः परोक्षश्चासौ अर्थश्चेति परोक्षार्थः तस्य परोक्षार्थस्य=भूतभविष्यत्सूक्ष्मपदार्थस्येत्यर्थः। दर्शकम्=प्रत्यक्षमिव यथार्थज्ञानजनकम्, शास्त्रम् (एव) द्वितीयं दिव्यं लोचनं=नेत्रं भवतीति शेषः यस्य जनस्य तत् दिव्यलोचनरूपं शास्त्रम् नास्ति सः अन्धः एव।

भा०—सब मनुष्यों की स्थूल दोनों नेत्रों से अलग दिव्य नेत्र शास्त्र ही होता है क्योंकि शास्त्र से ही धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक संशय दूर होते हैं भविष्य में होने वाले इत्यादि ज्ञान भी शास्त्र से ही विदित होते हैं इसलिये ऐसा शास्त्र जिसके नहीं पास वह अन्ध के समान है ॥ १० ॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ ११ ॥

अ०—यौवनं, धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वम्, अविवेकिता—(इत्यमीषु) एकैकमप्यनर्थाय (भवति) (तर्हि) यत्र चतुष्टयं तत्र किमु ॥

व्या०—यूनो भावो यौवनम्=यौवनावस्था धनसम्पत्तिः=धनस्य सम्पत्तिः—अतिशय इत्यर्थः। प्रभुत्वम्=प्रभवति नियमनाय जनानां यः स प्रभुः तस्य भावः प्रभुत्वम्, स्वामित्वम् अधिकारत्वं नियामकत्वमिति यावत्, अविवेकिता विवेकस्य अभावः अविवेकिता न विवेकिनीति अविवेकिता—विवेकशून्यता अज्ञानमिति यावत्। एतेषां चतुर्णां मध्ये एकैकम्=प्रत्येकमपि अनर्थाय=दुष्कार्याय च भवतीति शेषः

शास्त्रनिषिद्धम् आपत्तिप्रद कर्म इत्यर्थं', तस्मै भवति=एकैकमप्यनर्थं जनयतीति भाव । तर्हि यत्र=यस्मिन् पुरुषे, चतुष्टयम्—यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता चेति चतुष्टयमपि एकत्रितं भवति, तत्र=पुरुषे, किमु=किं वक्तव्यम्, यतः स तु अनर्थानां खनि(कोश)रूप एव भवतीति भावः ।

भा०—जवानी, धनदौलत, आधिपत्य (अधिकार) और अज्ञानता (विवेकशून्यता) इन चारों में से एक एक भी बड़ा-बड़ा अनर्थ (अत्याचार) कराता है; तो चारों जहा एकत्रित हों वहा कौन अनर्थ नहीं होगा । अर्थात् सभी अनर्थ होंगे (महाराज सुदर्शन के पुत्रों में ये चारों उपस्थित थे) ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्याऽऽत्मन पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास ।

व्या०—इति = एतत् श्लोकद्वयम् आकर्ण्य=श्रुत्वा, आत्मनः=स्वस्य, अनधिगतशास्त्राणाम् = अधिगत शास्त्र यैस्ते अधिगतशास्त्रा , अधिगतशास्त्रा न भवन्ति ते अनधिगतशास्त्रा , तेषाम्=शास्त्रज्ञानशून्यानामित्यर्थं । अत एव नित्यम् = सर्वदा उन्मार्गगामिनाम्=कुत्सितो मार्गः उन्मार्गं उन्मार्गेण गच्छन्तीति उन्मार्गगामिन तेषाम्=कुपथप्रवृत्ताना द्यूतक्रीडादिव्यसनाऽऽसक्तानामित्यर्थ । पुत्राणां=स्वतनयानाम, शास्त्राऽनुष्ठानेन=अनुष्ठीयते तत् अनुष्ठानम् अभ्यास , अनुष्ठान न भवतीत्यननुष्ठानम्, शास्त्राऽनभ्यासः, (अर्थात्) शास्त्रविरुद्धाचरणम् इति यावत्, तेन हेतुना उद्विग्नमनाः = उद्विग्नं व्याकुलित मन = मानस यस्य स , चिन्ताऽऽकुलितः सन्नित्यर्थ , तादृश॰ स राजा 'सुदर्शन'नृपति , चिन्तयामास = शुशोच ।

भा०—इन दोनों श्लोकों को सुनकर विद्याध्ययन नहीं करनेवाले तथा सर्वदा शास्त्र निषिद्ध व्यसनों में चलने वाले अपने राजकुमारोंके शास्त्र-विरुद्धाऽऽचरण से दु खित 'सुदर्शन' महाराज चिन्ता करने लगे ।

चिन्तां निरूपयति='कोऽर्थ' इत्यादिना 'पुस्तकेषु चे'ति (२९) पर्यन्तेन—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षु' पीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

अ०—य न विद्वान् (भवति), न धार्मिक (भवति), (तेन) जातेन पुत्रेण क अर्थ (भवति) ? (यथा) काणेन चक्षुषा किंवा (भवति), चक्षु केवल पीडा एव (भवति) । व्या०—य' पुत्र न विद्वान् = वेत्तीति विद्वान् , पण्डित , विविधशास्त्रकलाविज्ञानी न भवति इति यावत् । न धार्मिकः=न धर्मानुशीलनरत' (भवति), (तेन) अविदुषा अधार्मिकेण पुत्रेण = 'पु'नामकनरकात् त्रायते इति पुत्र , तेन । जातेन = स्वस्मादुत्पन्नेनापि, क अर्थः=धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु क' पुरुषार्थ. (भवति) सिद्ध्यति ? न [illegible] सम्बन्धिजनपुत्रै' वर्तमानैरपि

स्वतनये सार्थके ... पितरस्तावदाप्नुवन्ति अथवा अपि पितरः स्वकर्मकृतमहापातकादिना ... (मोक्ष) गच्छन्ति अधार्मिकेण पुत्रेण तु धर्मादिकोऽपि पुरुषार्थो न सिध्यति। अत एवोक्तं 'पापिनो नोपतिष्ठन्ति स्वर्गं द्वारं ...' इति भावः। यथा (दृष्टान्तः) काणेन = नेत्रज्योतिर्विहीनेन पूयाद्युपेतेनैकेन चक्षुषा = नेत्रगोलकेन किं वा? = किं दर्शनादिकं फलं भवति? न किमपि फलं भवतीत्यर्थः, अतः तादृक् चक्षुः केवलं पीडैव = पीडाकरमेवेत्यर्थः।

भा०—जिस पुत्र में विद्या और धन नहीं है वैसा पुत्र दीर्घायु होने पर भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में से किसी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता इसलिये उसका जन्म निष्फल है। जैसे कि—नेत्रज्योतिहीन और कीचड़ भरी आँख से दर्शन आदि कोई भी काम नहीं होता। इसलिए वह निरर्थक है और दुःखदायी है॥ १२॥

पुनरुभावपि मूर्खतनयस्य शोकप्रदत्वमाह—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चाऽन्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥ १३॥

अ०—अजातमृतमूर्खाणाम् आद्यौ वरम्, अन्तिमः न च वरम्, आद्यौ सकृद् दुःखकरौ, अन्तिमस्तु पदे पदे (दुःखदो भवतीति शेषः)। भा०—न जातः अजातः अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च अजातमृतमूर्खाः तेषाम्, अजातः = अनुत्पन्नः ... मृतः = ... मूर्खः = विद्याशून्यः, तेषां मध्ये आद्यौ—अनयोः ... अजातमृतौ पुत्रौ, वरम् = श्रेष्ठौ—तृतीयापेक्षया ईषत् प्रियौ भवतः। अन्तिमः = मूर्खस्तु न वरमिति, यतः = यस्मात् आद्यौ = अजातमृतौ, सकृत् = एकवारं दुःखकरौ = क्लेशप्रदौ भवतः, अन्तिमः = मूर्खस्तु पदे पदे = प्रतिपदम्, क्षणे क्षणे, निरन्तरमिति यावत्, दुःखदो भवतीति।

भा०—'पुत्र का जन्म नहीं होना' अथवा 'जन्म होकर मर जाना' या 'जीवन पर्यन्त मूर्ख रहना'—इन तीनों प्रकार के पुत्रों में से—'जन्म नहीं होना' या 'जन्म होकर मर जाना' ये दोनों अच्छे हैं, किन्तु तीसरा—'जीवनपर्यन्त मूर्ख पुत्र' अच्छा नहीं है। क्योंकि अनुत्पन्न पुत्र का दोनों के अभाव ... होने पर तो एकबार दुःख होता है। मूर्ख पुत्र से तो ... क्षण-क्षण में दुःख होता है॥ १३॥

किञ्च—वरं गर्भस्रावो वरमपि च नैवाऽभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्याऽवजनिता।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसतिः
न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः॥ १४॥

अ०—गर्भस्रावः वरम्, न च एव अभिगमनम् अपि च वरम्। जातः प्रेतः वरम्, अजनिता कन्या अपि च वरम्, वन्ध्या भार्या वरम्, गर्भेषु वसतिः अपि च वरम्, (किन्तु) रूपद्रविणगुणयुक्तः अपि अविद्वान् तनयः न च वरम्।

व्या०-(प्रक्षिप्तोऽयं श्लोक) गर्भस्राव=गर्भस्य स्राव. गर्भस्राव =गर्भपात इत्यर्थं । वरम् = ईषत् प्रियम् । न एव अभिगमनम्=ऋतुमत्या पत्न्या सह सम्भोगाकरणम् अपि च वरम् = श्रेष्ठम् । जात =उत्पन्नोऽपि प्रेत = मृतः पुत्रश्च वरम्; अवजनिता= उत्पादिता कन्या अपि च वरम्, वन्ध्या=अप्रसूतसन्ताना भार्या अपि वरम्, गर्भेषु= कुक्षिषु वसति =स्थितिः अपि च वरम्, पुत्रस्य अप्रसव एव वरमिति भाव । किन्तु रूपद्रविणगणयुक्त=रूपञ्च द्रविणञ्च रूपद्रविणे, रूपद्रविणयो. गण. तेन युक्त =सौन्दर्ययुक्तः धनराशिसम्पन्नश्चेत्यर्थं. । अपि = निश्चयेन । अविद्वान्—विद्याशून्यः, मूर्ख इति यावत् । तनय पुत्र न वरम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥

भा०—जो पुत्र रूपयौवनधनादि से युक्त होने पर भी अगर विद्याशून्य हो-वह अच्छा नहीं, उससे तो गर्भ ही गिर जाना अच्छा है, अथवा ऋतुकाल में स्त्री का भोग न करना ही अच्छा है, अथवा मूर्ख पुत्र का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, अथवा कन्या उत्पन्न होना अच्छा है (पर मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है) ॥ १४ ॥

स जातो येन जातेन याति वंश. समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृत. को वा न जायते ॥ १५ ॥

अ०—येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति स जात , परिवर्तिनि संसारे मृत. को वा न जायते । व्या०—येन=पुरुषेण (पुत्रेण) जातेन = उत्पन्नेन (सता) वंश. = स्वकुलम्, समुन्नतिम् = सम्यग् उन्नति समुन्नतिस्ताम् = अभ्युदय गौरव च याति = प्राप्नोति, यो हि कुलदीपक इत्यर्थं', सः पुरुष जातः=सफलजन्मा भवति । परिवर्तिनि= परिवर्तते परिणमते प्रतिक्षणमिति परिवर्ती तस्मिन् परिणामस्वभावे; उत्पादविनाशशालिनीति यावत्, संसारे = भवे, मृत = निधनं गतः, मृत्वा इति यावत् , को वा व्यक्ति न जायते = न उत्पद्यते । अर्थात् प्राणिनां मरणोत्तर कर्मफलभोगार्थम् अवश्य जन्म ग्रहीतव्यम्, तत्र य कुलोज्ज्वलकारी, स एव पुरुषः (पुत्र) इत्यर्थं' ॥

भा०—जो पुरुष पैदा होकर अपने कुल की अच्छी उन्नति करता है, उसी का जन्म सफल है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील संसार में कुटुम्ब के भाररूप तो बहुत ही मरते रहते और पैदा होते रहते हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे, न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य ।
तेनाऽऽम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ १६ ॥

अ०—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे ससम्भ्रमात् यस्य कठिना न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी (भवति) (तदा) वन्ध्या कीदृशी भवति-वद । व्या०—गुणाः सन्ति येषां ते गुणिनः गुणवन्त इत्यर्थः । गुणिनां गणः=समूहः, तस्य गणना=श्रेष्ठवर्गेऽप्यग्रगण्यबोधिनी सङ्ख्या एकत्वादिरूपा तस्या आरम्भ =उपक्रम तस्मिन् सतीत्यर्थं । गुणवता सङ्ख्यासमये इति भाव । ससम्भ्रमात्—सम्भ्रमेण गौरवेण सहितं ससम्भ्रमं

तस्मात् सर्वोत्कर्षमित्यर्थः, यस्य (पुंसः) पुत्रस्य कठिनी=सर्वविद्वानसाधारण्यन गणिका (—भाषायां 'खड़ी' 'चाक' इति प्रसिद्धा) न पतति=सुजनसंख्यागणनार्थं न उपयुज्यते भवतीत्यर्थः। तेन=गुणगणगणनारहितेन पुत्रेण यदि अम्बा=माता, 'अम्बा माताऽथ बाला स्यादि'त्यमरः। पुत्रिणी=पुत्रवती भवति तदा=तर्हि वन्ध्या=अजातसन्तता कीदृशी=किंविधा भवति ? कथ्यताम्। मूर्खपुत्रवत्येपि वन्ध्यैवेति भावः। आर्यावृत्तम्।

भा०—जिस पुत्र का नाम गुणवान् और पुत्रों की गणना करते समय प्रथम नहीं लिया जाता, उससे माँ को यदि पुत्रवती कहें तो बतायो वन्ध्या कैसी होती है। ॥ १६ ॥

अपि च—दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः।
　　　विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥

अ०—दाने तपसि शौर्ये च विद्यायाम् अर्थलाभे च यस्य मनः (यशः इति पाठान्तरम्) न प्रथितं सः मातुः उच्चार एव। व्या —(यस्य पुरुषस्य मनः इत्येव सम्बन्धः) दाने=सत्पात्रेषु धनवितरणे। तपसि=तपस्यायां व्रतादिकार्यो। शौर्ये—शूरस्य भावः शौर्यं तस्मिन्=वीरताकार्येष्वित्यर्थः। विद्यायाम्=ज्ञानार्जने, अर्थलाभे-अर्थस्य=धनस्य लाभे=अर्जने यस्य पुरुषस्य मनः=अन्तःकरणम्, न प्रथितं=न सोत्साहतया व्याप्तम्। सः पुरुषः (पुत्रः) मातुः=स्वजनन्याः उच्चारः=पुरीषसमान इत्यर्थः, 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत्' इत्यमरः।

भा०—जिस पुरुष (पुत्र) का अन्तःकरण दान देने में तप करने में विद्या पढ़ने में तथा धन कमाने में उत्साहित नहीं रहता है वह पुरुष (पुत्र) माता के त्याग किये हुए मल के समान निरर्थक है ॥ १७ ॥

अपरञ्च—वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतैरपि।
　　　एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि ॥ १८ ॥

अ०—एकः गुणी पुत्रः वरम् (भवति), मूर्खशतैः अपि न (कोऽपि भूयते) एकः चन्द्रः तमो हन्ति तारागणैः न च (तमः हन्यते)। व्या०—एकः=एकमात्र गुणी=शास्त्रलोकविद्यादिगुणवान् पुत्रः=तनयः, वरम्=मनाक् प्रियो भवतीत्यर्थः। मूर्खशतैः अपि=मूर्खाणां शतानि तैः, मूर्खशतसंख्याकैरित्यर्थः, न च वरम् भूयते महत्सु मूर्खेषु अपि प्रिया न भवन्तीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तो यथा—एकः=एकाकी अपि चन्द्रः=शशी तमः=निविडान्धकारम् हन्ति=विनाशयति। तारागणैः ताराणामसंख्यकानाम् गणैः=समूहैरपि (तमः) न च (हन्यते)। अत्र क्वचित् 'मूर्खशतान्यपि' इति पाठान्तरम्। न च मूर्खशतं वरम्' इत्यपि पाठान्तरम्। न च तारागणोऽपि तत्' इत्यपि पाठान्तरम्।

भा०—जैसे एक ही तेजस्वी चन्द्रमा अपने तेज से समस्त अन्धकार को दूर करता है

किन्तु बहुत से भी तेजरहित ताराओं का समूह अंधेरे का नाश नहीं कर सकता, वैसे ही एक भी तेजस्वी पुत्र अपने सामर्थ्य से धन कमा कर अपने कुटुम्ब का दारिद्र्यरूपी अन्धेरा दूर करता है वही श्रेष्ठ है, परन्तु सैकड़ों मूर्ख पुत्र किसी काम के नहीं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद् वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः॥ १९ ॥

अ०—येन क्वापि पुण्यतीर्थे अतिदुष्करं तपः कृतम्, तस्य पुत्रः, वश्यः समृद्धः धार्मिकः सुधीः (च) भवेत्। व्या०—येन = पुरुषेण क्वापि = कस्मिंश्चिदपि, पुण्यतीर्थे= पुनाति इति पुण्यं = महापातकिनामपि पातकनाशनम्, तरति अनेनेति तीर्थम् = काशीप्रभृति, पुण्यं च तत् तीर्थञ्च पुण्यतीर्थं तस्मिन्, पापप्रध्वंसके त्रिविधतापो- द्धारके क्षेत्रे इति भावः। अतिदुष्करम्=अतिदुःखेन क्रियते यत् तत् अतिदुष्करम्= अतिकठिनं, बहुकष्टसाध्यमिति यावत्। तपः = भगवन्नामजपन मौन व्रतोपवास- यज्ञाद्यनुष्ठानात्मकं कर्म, कृतम् = अनुष्ठितम्, श्रद्धाऽऽदरनैरन्तर्याऽऽसेवितमिति यावत्। तस्य = तपस्विनः पुण्यशालिनः पुरुषस्य, पुत्रः = तनयः, वश्यः —वशम् अर्हतीति वश्यः = सदा पितुराज्ञासेवाऽऽदिपरः, समृद्धः = धनपुत्रकलत्राऽधिकार- वैभवादिपरिपूर्णः, धार्मिकः = यज्ञदानादिधर्मानुष्ठानपरः सुधीः = शोभना शास्त्रा- ध्ययनाऽऽसादितविचित्रप्रतिभावती धीः = बुद्धिर्यस्य इति सुधीः = शास्त्र-लोक- हृदयेतित्रयाऽनुकूलबुद्धिमानित्यर्थः। भवेत् = स्यात्।

भा०—जिस पुरुष ने पवित्र तीर्थस्थान में बहुत कठिन तप किया हो, उसी पुरुष के घर में पूर्व के पुण्य से अपने पिता की आज्ञा में रहने वाला तथा सेवा करने वाला, धन दौलत से सुखी, धर्म कार्य में प्रेमी और बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न होता है॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन्॥२०॥

अ०—हे राजन्! जीवलोकेषु नित्यम् अर्थागमः, अरोगिता च, प्रिया च प्रियवादिनी च भार्या, वश्यः पुत्रश्च, अर्थकरी विद्या च (एतानि) षट् सुखानि (भवन्ति)।

व्या०—हे राजन्! जीवलोकेषु=जीवानां प्राणिनां लोकाः=निवासस्थानानि इति जीवलोकास्तेषु, संसारे इत्यर्थः। नित्यम् = प्रत्यहं सदा, यावज्जीवनमिति यावत्। अर्थागमः —अर्थस्य = धनस्य आगमः = आयः। अरोगिता = निरोगिता, सदा शरीर- स्वास्थ्यमिति यावत्। प्रिया-प्रीणाति इति प्रिया = प्रीतिकरी, प्रियवादिनी-प्रियं वदतीति प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी चेत्यर्थः, भार्या-भ्रियते असौ सा भार्या=स्वस्त्री च। वश्यः = आज्ञावहः, पुत्रः = सुतश्च। अर्थकरी-अर्थं पुरुषार्थं करोतीति अर्थकरी = धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थप्रदेत्यर्थः। विद्या चेति, एतानि षट्प्रकारेण, सुखानि

भवतीति । औपच्छन्दसिकम् इति पाठान्तरम् । उपजातिः वृत्तम् ।

भा०—इस संसार में छः सुख हैं जैसे कि—प्रतिदिन पूर्ण धन प्राप्त होना। २—शरीर सदैव निरोग रहना। ३—अतिशय प्रेम करने वाली तथा ४—मीठा बोलने वाली धर्मपत्नी (का) मिलना ५—आज्ञापालक पुत्र पैदा होना और ६—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाली विद्या पढ़ना। ये छः न होवें तो जन्म व्यर्थ समझना है ॥ २० ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः ।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥ २१ ॥

अ०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः बहुभिः पुत्रैः कः धन्यः ? (भवति किन्तु) यत्र पिता विश्रूयते (तादृशः) कुलाऽऽलम्बी एकः पुत्रः वरम् । व्या०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः—कुशूलम् धान्यादिकं स्थापयितुं गर्तमिति कुशूलाऽऽपूरणम्, तेः वा तस्य आपूरणम् इति कुशूलापूरणम्, आढकैः परिमितैः—इति आढकाः = तदन्यपरिमाण विशेषाः, (एवं कि भूतार्थं सूचि कुशूलस्थापनम् । अतएव कुशूल प्रस्थस्य अल्प प्रमाणम् । आढकस्य परिमाणं भवेद् द्रोणो हि द्रोणश्च शूर्पं उच्यते । सार्धशूर्पो भवेत् खारी द्वे खार्यौ द्रोणपुष्कलम्) कुशूलाऽऽपूरणाय ये आढकाः तैः कुशूलापूरणाऽऽढकैः = (उदरपूर्तेः अथवा) उदरपूर्तिमात्रसाधनस्थैरित्यर्थः । बहुभिः अनेकैः, पुत्रैः कः पुरुषः धन्यः = कृतकृत्यो भवतीत्याशयः । न कोऽपीति भावः । किन्तु—यत्र यस्मिन् पुत्रे सति पिता = जनकः, विश्रूयते = लोके कीर्त्यते लोके प्रख्यातो भवेदिति भावः । तादृशः कुलाऽऽलम्बी—कुलं वंशम् आलम्बते आश्रयतीति कुलालम्बी = वंशस्य अभ्युदयकरः कुलदीपकरूपः एकः अपि पुत्रः वरम् (बहुमूर्खपुत्रेभ्यः एकः धनवान् श्रीमान् श्रेयानिति भाव) ।

भा०—कुठी से परिपूर्ण धान के समान खानेवाले अनेक मूर्ख पुत्रों से कोई भी पुरुष सुखी नहीं होता किन्तु कुल का पोषण तथा अभ्युदय करने वाला बुद्धिमान् एक भी पुत्र—जिससे पिता लोकमान्य होता है—श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २२ ॥

अ०—ऋणकर्ता पिता शत्रुः (भवति) व्यभिचारिणी माता च (शत्रुः भवति) रूपवती भार्या च (शत्रुः भवति) अपण्डितः पुत्रः च (शत्रुः भवति) । व्या०—ऋणम् करोति ऋणकर्ता = ऋणगृहीता, पिता = जनकः, शत्रुः = शत्रुसमानो भवति तथा व्यभिचारिणी = परपुरुषेण सह (अन्यत्र) व्यभिचारं कुर्वती माता = जननी च शत्रुः भवति एवं रूपवती—रूपम् अस्ति अस्याः इति रूपवती = अतिसौन्दर्य-शालिनी, भार्या = पत्नी च शत्रुरूपा भवति । एवम्—अपण्डितः = अविद्वान् मूर्खः

एतादृश पुत्र अपि शत्रुवद् दु खदो भवतीति ।

भा०—'जो कष्ट देने वाला हो'—वही 'शत्रु'–कहलाता है । इसलिये ऋण करने वाला पिता ऋण करके कष्ट दे तो वह भी शत्रु ही है और व्यभिचार करनेवाली माता, कुरूप पति को नहीं चाहने वाली रूपवती स्त्री तथा मूर्ख रहकर सदा के लिए दु ख देनेवाला पुत्र भी शत्रुसमान हैं ॥ २२ ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नर. ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ॥ २३ ॥

अ०—गुणवान् नर यस्य कस्य प्रसूत. अपि (लोकैः) पूज्यते, वंशविशुद्ध' अपि धनु' (यदि) निर्गुण (तदा) किं करिष्यति ॥ व्या०—गुणवान्–गुणा सन्ति अस्येति गुणवान्=गुणशाली, नर =मनुष्य , यस्य कस्य=श्रेष्ठस्य अधमस्य वा वंशस्य (सम्बन्धे षष्ठी) प्रसूत =जात अपि (लोकै') पूज्यते=सम्मान्यते । तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तो यथा–वंशविशुद्धः–वंशो=वेणु विशुद्ध'=सशक्तो यस्य स =सुदृढवेणुनिष्पन्नोऽपीत्यर्थं, धनु =चाप , यदि निर्गुण –निर्गतो गुणो=ज्या यस्य स निर्गुणः=ज्याहीन , तदा किं कार्यं=शत्रुहननादिरूप करिष्यति ? अर्थात् न करिष्यतीति । तथा निर्गुणेन पुत्रेण किं स्यादिति भाव ।

भा०—उत्तम बाँस का बनाया हुआ भी धनुष जब तक रस्सी में नहीं ताना जाता, तब तक किसी भी (शत्रु–मारणादि) कार्य में समर्थ नहीं होता, वैसे ही श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ भी मनुष्य जब तक किसी गुण(कला) को नहीं सीखता तब तक किसी भी काम को सन्तोषपूर्वक सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

अ०—हा हा पुत्रक ! गतासु एतासु रात्रिषु (त्वया) न अधीतम् , तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौ इव, सीदसि । व्या०—हा हेति खेदे । हे पुत्रक ! पुत्र एवेति पुत्रक , तत्सम्बुद्धौ हे पुत्रक ! एतासु गतासु=अतीतासु रात्रिषु=निशासु, गतेष्वहर्निशेष्वित्यर्थं । त्वया न अधीतम्=शास्त्रादिकं नाऽभ्यस्तम् , तेन हेतुना त्वं विदुषां=धीमतां मध्ये उपस्थित सन् , पङ्के=कर्दमे, गौरिव=गोवत् सीदसि, गोवद् अवसन्नो भवसीत्यर्थं ।

भा०—जैसे कि कीचड़ में गई (धँसी) हुई गौ बाहर निकलने की बुद्धि नहीं होने से बाहर नहीं आ सकती, वैसे ही तुम भी विद्वानों की सभा में जाकर विद्या रहित होने से उस सभा को जीतकर श्रेष्ठता को नहीं पा सकोगे, इसलिये विद्या पढ़ना चाहिए ॥ २४ ॥

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्त. क्रियन्ताम् ? यतः—

व्या०—तत्=तस्माद्धेतो , इदानीम्=एतर्हि काले, एते मम पुत्राः, कथं=केन

प्रकारेण गुणवन्तः—गुणाः सन्ति येषामिति गुणवन्तः, विद्याविनयादिगुणसहिता इत्यर्थः। क्रियन्ताम् = विधीयन्ताम् ? यतः = यस्मात् हेतोः—

भा०—विद्याविहीन पुत्र भी क्या भी (सफल नहीं होते) इसलिये—हे मेरे पुत्र किस प्रकार से गुणी बनाये जावें ? क्योंकि—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥२५॥

अ०—नराणाम् आहारनिद्राभयमैथुनञ्च—एतत् पशुभिः समानम् (भवति) तेषां धर्मो हि अधिकः विशेषः (भवति), धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः (भवन्ति)।

व्या०—नराणाम्=मनुष्याणाम्, आहारः निद्रा च भयञ्च मैथुनञ्च तेषां समाहारः द्वन्द्वः एतत्=आहारादिकं चतुष्टयं पशुभिः समानम्=पशुतुल्यमित्यर्थः। किन्तु तेषां मनुष्याणां धर्मः हि=धर्म एव अधिकः विशेषः=पशुभ्यो व्यावर्तको गुणो भवति। अतो यदि मनुष्याः धर्महीनास्तदा आहारादिचतुर्भिः पशुभिः समानाः इत्यर्थः।

भा०—मनुष्यों में और पशुओं में—खाना सोना डरना और मैथुन करना ये चारों क्रियायें तो समान ही हैं इसलिए मनुष्य और पशु दोनों में भेद नहीं है। केवल मनुष्यों में एक अधिक गुण धर्म है यह धर्म ही मनुष्यों का पशुओं से भेद करता है यह धर्म अगर मनुष्य में न हो तो वह मनुष्य पशु ही है ॥ २५ ॥

यतः—धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

अ०—यस्य धर्मार्थकाममोक्षाणाम् एकोऽपि न विद्यते, अजागलस्तनस्य इव तस्य जन्म निरर्थकं (भवति)। व्या०—यस्य=पुरुषस्य धर्मस्य अर्थस्य कामस्य मोक्षस्य तेषाम्, चतुर्विधपुरुषार्थानामित्यर्थः। एकः अपि न विद्यते=नास्ति अजा=छागी तस्याः गलस्य स्तनस्य इव=यथा निरर्थकत्वम् तथा तस्य=धर्मादिपुरुषार्थरहितस्य पुरुषस्य जन्म=धारणम् मनुष्यशरीरयोगः, निरर्थकम्=निष्फलम् इत्यर्थः।

भा०—जैसे बकरी के गले में वर्तमान स्तन दूध रहित होने से निरर्थक कहा जाता है वैसे ही जिस पुरुष में धर्म अर्थ, काम और मोक्ष, इनमें से एक भी न हो, उस पुरुष का मनुष्यजन्म निष्फल है ॥ २६ ॥

यच्चोच्यते—आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २७ ॥

अ०—(यच्च) आयुः, कर्म च वित्तञ्च, विद्या, निधनमेव च एतानि पञ्च अपि गर्भस्थस्य एव देहिनः सृज्यन्ते। व्या०—(यच्च विधीयन्ते इत्यन्वयः) आयुः=जीवनसमयः, कर्म=व्यापारादि स्वकृतकर्मोद्भवसंपत्समुदायः, वित्तं=धनादिसम्पत्तिः, विद्या=विविधकलाशास्त्रादिज्ञानम् निधनं=मरणम् एतानि

आयुरादीनि पञ्चापि, गर्भस्थस्यैव = जननीगर्भस्थितस्यैव प्रथमयापूर्वमेव, देहिन — देह शरीर भोगस्थानत्वेन अस्ति अस्य = आत्मन इति देही, तस्य = प्राणिन. इत्यर्थ, तत्सम्बन्धे सृज्यन्ते = निर्धार्यन्ते ।

भा०—सब प्राणियों के लिये जन्म से पहले पाँच वस्तुएँ निर्धारित की हैं १–आयुष्य, २–प्रारब्धानुसार सुख दुःख देने वाले कर्म, ३–धनवैभवादि, ४–विद्या = व्यावहारिक ज्ञान, अथवा कला–विज्ञानादि, (पशु आदि में भी बहुत से विज्ञानी मिलते हैं) ५–निमित्त मरण होना हो ॥ २७ ॥

किञ्च—अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाऽहिशयनं हरेः ॥ २८ ॥

अ०—महताम् अपि अवश्यभाविनो भावा भवन्ति, (यथा) नीलकण्ठस्य नग्नत्वम् (भवति), हरे महाऽहिशयनञ्च (भवति) । व्या०—महताम्=दिव्यैश्वर्यशालिनामपि नृपाणां देवानामपि चेति भाव, अवश्य भविष्यन्तीति अवश्यभाविन = अवश्यमेव भवितव्या, भावा सुखदुःखादयो धर्माः, भवन्ति=आपतन्ति, अत एवोदाहरति–नीलकण्ठस्येति । नील, विषपानेन कृष्णरूप कण्ठे यस्य स, तस्य=दिव्यैश्वर्यशालिनोऽपि महादेवस्य, नग्नत्वम् = दिगम्बरत्व, वर्तते । अथ च हरेः=विष्णो, महांश्चासौ अहि महाऽहि =शेष, तस्मिन् शयनम् इति महाऽहिशयनम्, 'महाहिशयनम्' इति पाठान्तरम् । शेतेऽस्मिन्निति शयन शय्या ।

भा०—प्रतापी और ऐश्वर्यवाले महान् पुरुषों को भी संसार में दैवाधीन होने वाले सुख दुःख, वैभव, दारिद्र्य आदि अवश्य ही होते हैं, जैसे कि स्वयं महादेवजी को भी वस्त्राभाव से नग्न रहना पड़ता है और विष्णु को शय्या के अभाव से शेषनाग पर सोना पड़ता है ॥ २८ ॥

अन्यच्च—यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगद. किं न पीयते ॥ २९ ॥

अ०—यद् अभावि (भवति), तद् न भावि (भवति), (यत्) भावि चेत् (भवति), तत् अन्यथा न (भवति) इति अय चिन्ताविषघ्न अगद किं न पीयते (जनैः) । व्या०—'यत्=यद् वस्तु, अभावि=भविष्यतीति भावि, न भावि अभावि= भविष्यत्काले असम्भवीत्यर्थं । तद् वस्तु, न भावि = न भविष्यत्येवेति । यच्च वस्तु भावि=अवश्यसम्भव चेत् ! तद् अन्यथा = अन्यप्रकारेण, न भावि' इति=एव प्रकारेण, अय = ज्ञानरूप, चिन्ता एव विष गरल तद् हन्तीति चिन्ताविषघ्नः=चिन्तारूपविषनाशक, अगद –नास्ति गद =रोगो यस्मात् स अगद =औषधम्, किं= कथम्, न पीयते = न सेव्यते ।

भा०—'शरीरधारियों' को जो नहीं होने वाला कार्य है वह किसी प्रयत्न से भी नहीं

इसी ओर को होंठ जाता है वह मिलता नहीं—ऐसा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि विद्या दूर होती है ॥ १९ ॥

एतत्कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदालस्यवचनम् ।

व्या०—एतद्दैवमिति न वक्तव्यम्—इत्यादिकम् कार्येऽक्षमाणाम् इति समास, न क्षमा अक्षमाः, कार्येऽक्षमाः कार्याऽक्षमाः, तेषाम् कार्यसिद्धिसामर्थ्यविहीनानामित्यर्थः। केषाञ्चित् आलस्यवचनम् = अलसानां भाव आलस्य आलस्येन प्रयुक्तं वचनम् आलस्यवचनम् बोध्यमिति शेषः। आलस्ययुक्ताः कापुरुषाः वदन्ति—दैवात् सर्वं भवति अस्माभिर्न यतितव्यमिति।

भा०—यह कार्य करने में असमर्थ आलसी किसी मनुष्य का आलस्ययुक्त वचन है।

पुरुषकारेऽप्यपेक्ष्यमाह—यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ २० ॥

अ०—यथा हि एकेन चक्रेण रथस्य गतिः न भवेत् तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति। व्या०—यथा एकेन = अद्वितीयेन चक्रेण = चक्रेण रथस्य गतिः = गमनं न भवेत् = न जायते तथा = तद्वत् पुरुषकारेण विना = पुरुषप्रयत्नम् दैवम् = भाग्यम् अदृष्टमिति यावत् न सिद्ध्यति = न सफलं भवति।

भा०—जैसे कि रथ का पहिया एक चक्र (पहिये) से नहीं चल सकता, वो ही सकता है वैसे ही दैव अकेला कुछ भी फल नहीं दे सकता, पुरुषार्थ के प्रयत्न करने से दैव सफल होता है ॥ २० ॥

तथा च—पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ २१ ॥

अ०—(यत्) पूर्वजन्मकृतं कर्म (भवति) तत् दैवम् (भवति) इति (विद्वद्भिः) कथ्यते तस्मात् (नरः) अतन्द्रितः (सन्) पुरुषकारेण यत्नं कुर्यात्। व्या०—यत् कर्म = धर्माधर्मात्मकमदृष्टं क्रिया पूर्वं च तत् जन्म पूर्वजन्म तस्मिन् जन्मनि = प्राग्भवे कृतम् = अनुष्ठितम् तत् = पूर्वजन्मकृतं कर्म, दैवम् = भाग्यम् इति विद्वद्भिः कथ्यते = व्यपदिश्यते। पूर्वजन्मकृतशुभाशुभकर्मसमुत्पन्नम् धर्माधर्मात्मकमेव दैवमिति भावः। तस्मात् हेतोः लोकः नरः, अतन्द्रितः = आलस्यं त्यक्त्वा इति तन्द्रितः, न तन्द्रितः अतन्द्रितः = आलस्यं विहाय पुरुषकारेण = पुरुषप्रयत्नेन पुरुषव्यापारबलसमर्थोद्यमेन। यत्नं = सर्वदा प्रयत्नम् कुर्यादिति।

भा०—दैव अर्थात् पूर्व जन्म में किये हुए धर्म-अधर्म का फल ही कहलाता है उससे अधिक और दैव नहीं है इसलिये पुरुषार्थ का अवलम्ब करके सावधानतापूर्वक सब कार्यों में यत्न करना चाहिए ॥ २१ ॥

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽप्तुमर्हति ॥ ३२ ॥

अ०—दैवमपि सञ्चिन्त्य (जन) आत्मनः उद्योग न त्यजेत्, (यत) अनुद्योगेन तिलेभ्य. तैलानि (जनः) आप्तुम् अर्हति । व्या०—दैवमपि सञ्चिन्त्य = 'अहं किं करवाणि यथा मम दैवं वर्तते तथा भविष्यति' इति मत्वा, जनः=अभ्युदयाभिलाषी, आत्मनः=स्वस्य, उद्योगं = व्यापार चेष्टां, प्रवृत्तिमिति यावत् , न त्यजेत्= न परिहरेत् , यतः अनुद्योगेन=व्यापारानुकूलप्रवृत्त्यकरणेन तु तिलेभ्यः=तैलपूर्णेभ्यः अपि तिलेभ्यः, तैलानि अपि (जनः) निरुद्योगी पुरुष आप्तु=प्राप्तु नार्हति ।

भा०—'भाग्य से ही सब होता है, मेहनत से कुछ नहीं' ऐसा सोचकर पुरुष को उद्योगहीन नहीं होना चाहिए क्योंकि मिलने योग्य तैलप्राप्तिरूप फल भी तिलों में से बिना प्रयत्न नहीं मिलता, इसलिये उद्योग करना चाहिए ॥ ३२ ॥

अन्यच्च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

अ०—लक्ष्मी उद्योगिन पुरुषसिंहम् उपैति, कापुरुषा –'दैवेन देयम्' इति वदन्ति दैव निहत्य आत्मशक्त्या पौरुष कुरु, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति, अत्र कः दोषः।

व्या०— लक्ष्मीः=सम्पत्तिः, उद्योगिनम्–उद्योगः=यत्नः अस्ति अस्य इति उद्योगी तम् उद्योगिनम् = प्रयतमानमित्यर्थ., पुरुष सिंहम्–पुरुष. सिंह इवेति=(उपमित-समासः) पुरुषसिंहस्तम्=पुरुषश्रेष्ठम्, उपैति = आश्रयति । दैवेन=भाग्येन, देयम्–दातुं योग्य देयम् , सम्पादनीयमित्यर्थ. इति= एव तु कापुरुषाः–कुत्सिताः पुरुषाः कापुरुषा. = सामर्थ्य (पौरुष) हीनाः एव पुरुषा , वदन्ति = कथयन्ति, अत दैव = भाग्याऽऽधारमात्रम् , निहत्य = दूरीकृत्य, आत्मनः शक्त्या=स्वस्य सामर्थ्येन, यथा सामर्थ्यमित्यर्थं , पौरुषम् =पुरुषप्रयत्नम् , उद्योगमिति यावत् , कुरु=त्व विधेहि । तादृशे यत्ने कृते सत्यपि यदि कार्यं न सिद्ध्यति = न सम्पद्यते, तदा अत्र = यत्ने प्रयतमानस्य पुरुषस्य को दोष = का त्रुटि , इति मार्गणीयमिति शेष ।

भा०—भाग्य में लिखी हुई भी लक्ष्मी (धन दौलत) पुरुष को प्रयत्न किये बिना नहीं मिलती, इसलिये 'भाग्यमें जो होगा वह मिलेगा व्यर्थ प्रयास नहीं करना' ऐसा जो निर्बल पुरुषोंका वचन है उसका ख्याल न करके अपनी शक्ति के अनुसार पुरुष को प्रयत्न करते रहना चाहिए, प्रयास करने पर भी अगर लक्ष्मी न मिले तो प्रयास करने में क्या त्रुटि रह गई है ? यह खोज करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

यथा मृत्पिण्डत कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति ।
एवमात्मकृत कर्म मानव प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

अ०—यथा कर्ता मृत्पिण्डत. यद् यद् इच्छति, तत् तत् कुरुते, एवं मानवः

आत्मकृतं कर्म प्रतिपद्यते। भा॰—यथा = यद्वत् कर्ता = कुम्भकारः, मृत्पिण्डात् मृत्तिकापिण्डात्, मृत्तिकासमूहात् इत्यर्थः, यत् यत् कार्यमिच्छति तत् तदेव कुरुते निर्माति एवम् एवम्प्रकारेण मानवः = मनुष्यः, आत्मकृतम् = आत्मना कृतम्, आत्मकृतम् = स्वकृतम् कर्म = शुभाशुभकर्मफलमित्यर्थः, प्रतिपद्यते = लभते।

भा॰—जैसे मिट्टी के पिण्डसे भी यथारुचि यथायोग्य प्रयत्न करनेवाला कर्ता मनचाहा फल को प्राप्त करता है वैसे ही सभी कार्यों में प्रयत्न करनेवाला पुरुष भी अपने किये हुए कर्म के फल को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

अपरञ्च—काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः।

न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

अ॰—काकतालीयवत् प्राप्तं निधिम् अग्रतः दृष्ट्वा अपि दैवं स्वयं न आदत्ते (किन्तु) पुरुषार्थमपेक्षते। भा॰—काकतालीयवत् = काकतालीयन्यायेनेत्यर्थः (काकस्य आगमनकाले एव अकस्मात् तालस्य पतनवत्) आकस्मिकदैवयोगात् समुपस्थितम् निधिम् = धनराशिम् अग्रतः = पुरतः, दृष्ट्वा = निरीक्ष्यापि, दैवं तत् न स्वयम् आदत्ते न ददाति अपि तु पुरुषार्थम् = स्वकर्तव्यतया पुरुषप्रयत्नम् अपेक्षते = अवलम्बते अतः पुरुषार्थः कर्तव्यः।

भा॰—काकतालीय न्याय से (जैसे कि कौवा बैठा और उसी समय दैवयोग से ताड़ का फल गिर पड़ा), वैसे दैवयोग से उपस्थित रत्न आदिक धन को भी जब तक प्रयत्न करके हाथ से न उठावें तब तक स्वाधीन नहीं होता है इसलिये प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३५ ॥

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

अ॰—हि उद्यमेन कार्याणि सिध्यन्ति न (तु) मनोरथैः, सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगाः न हि प्रविशन्ति। भा॰—हि = यस्मात्कारणात्, उद्यमेन = उद्योगेन कार्याणि = बहुप्रकाराणि सिध्यन्ति = सफलानि भवन्ति। न तु केवलं मनोरथैः = इच्छामात्रेण सिध्यन्तीति पूर्वोक्तमेव। तथाऽनुरूपदृष्टान्तमाह—सुप्तस्य = निद्रितस्य अव्यवसितस्य निरुद्यमस्येति यावत् सिंहस्य = केसरिणः मुखे = आननमध्ये मृगाः = हरिणादयः, न हि प्रविशन्ति = न हि आयान्तीति।

भा॰—जैसे उद्यम नहीं करने वाले सिंह के मुख में मृग स्वयं आ कर नहीं गिरते, उद्यम करने से ही मिलता है वैसे उद्यम करनेवाले पुरुष को ही सब अर्थ प्राप्त होता है केवल मनोरथ मात्र से कुछ भी नहीं होता ॥ ३६ ॥

तथा चोक्तम्—माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।

न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३७ ॥

अ०—येन, बाल न पाठित, (तद्बालकस्य) माता शत्रुः पिता वैरी (भवति) यथा हंसमध्ये बको न शोभते (तथा स बाल) सभामध्ये (न शोभते)।

व्या०—येन = मातापित्रोरन्यतरेण, बाल =पुत्र न पाठित=न शिक्षित ,(तद्बालकस्य) सा माता शत्र =अहितकारिणी, स पिता च वैरी=अहितकारी भवति, सः अनधीतो बालः यथा-हंसानां मध्य हंसमध्यं तस्मिन्, बको न शोभते तथा विबुधानां सभा-मध्ये-सभाया =परिषद् मध्य सभामध्य तस्मिन्, सभामध्ये =विबुधजनसम दीत्यर्थ, न शोभते =न सम्यग् आदृतो भवतीति ।

भा०—माँ बाप का चाहिए कि अपना प्रजा (सन्तति) का अवश्य विद्याध्ययन में नियुक्त करें । विद्या नहीं पढाने से माँ बाप शत्रु कहाते हैं और जैसे हंसों के मध्य में बगुला शोभा तथा आदर नहीं पाता है, वैसे विद्याहीन सन्तति भी विद्वानों के मध्य में शोभा और आदर नहीं पाती ॥ ३७ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३८ ॥

अ०—रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवा (अपि) विद्याहीना (पुरुषा) निर्गन्धा किंशुका इव न शोभन्ते । व्या०—रूप=शरीरसौन्दर्यम्, यौवन=तरुणत्वम्, ताभ्यां सम्पन्ना, सौन्दर्यशालिनो यौवनशालिनश्चेत्यर्थ । विशाल=महत् मान्य, श्रेष्ठमिति यावत् । तादृश यत् कुलं=वंश , तस्मिन् सम्भव =जनिर्येषान्ते तादृशा , श्रेष्ठवंशसम्भूता अपीत्यर्थं , विद्यया हीना विद्याहीना=गुणहीना, सन्त इत्यर्थ , तादृशा पुरुषा (कर्तृपदम्), निर्गन्धा -निर्नास्ति गन्ध =आमोदो येषान्ते निर्गन्धाः=सुगन्धात्मकगुणरहिता , किंशुका=पलाशपुष्पाणीव, सौन्दर्ययुक्ता अपि न शोभन्ते=शोभादरौ न लभेते इति भावः ।

भा०—जैसे सुन्दर लाल रूप युक्त और कोमल होने पर भी पलाशका पुष्प गन्धरहित होनेसे आदरणीय नहीं होता, वैसे ही सौन्दर्य, यौवन, श्रेष्ठकुल में जन्म आदि होनेपर भी गुण (विद्यादिकला) शून्य पुरुष का आदर नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अपरञ्च—पुस्तकेषु च नाऽधीतं नाऽधीतं गुरुसन्निधौ ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥ ३९ ॥

अ०—(येन) पुस्तकेषु च न अधीतम्, गुरुसन्निधौ च न अधीतम्, (स) स्त्रियाः जारगर्भ इव सभामध्ये न शोभते । व्या०—येन बालेन, पुस्तकेषु=नीत्यादिशास्त्रेषु, न अधीतम् = यथाशक्ति स्वयं न पठितम्, न वा गुरुसन्निधौ च = गुरो सन्निधौ = शिक्षागुरो सकाशेऽपीत्यर्थ , न अधीतम्, शास्त्रमिति शेष । (स) तादृशो बाल स्त्रिया =रमण्या , जारगर्भ इव-जारस्य गर्भ जारगर्भ =व्यभिचारेण उत्पन्नो बाल , इव =यथा, न शोभते, तथा सभामध्ये-सभाया मध्ये =लोकसमाजे इत्यर्थ , न शोभते =न उत्कर्षतया शोभां वहतीत्यर्थ ।

भा०—जैसे व्यभिचारसे उत्पन्न हुआ पुत्र वर्णसंकर होनेके कारण वंशसमुदाय में श्रेष्ठ नहीं कहाता, वैसे पुत्रको मैं ना गुरु के सामने जिसने विद्या का अभ्यास नहीं किया, वह सज्जनसमाज में बैठकर के सम्मानित नहीं होता है॥ ३९॥

एतच्चिन्तयित्वा राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः! श्रूयतां मम वचनम्—'अस्ति कश्चिद् एवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यम् उन्मार्गगामिनाम् अनधिगतशास्त्राणाम् इदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः?'

भा०—स राजा = सुदर्शननृपतिः, एतत् = उक्तं सर्वं चिन्तयित्वा = विचार्य पण्डितसभाम्-पण्डितानां = पण्डा-विवेकोज्ज्वला मतिः जाता येषां तेषां व्यवहारादि-निपुणविदुषाम् सभां = मण्डलीम कारितवान् = कारयामास। तदा स नृपः सभां प्रति उवाच = उक्तवान्, भो भोः = सम्बोधनार्थकमव्ययम् आदरे द्विरुक्तिः। पण्डिताः = हे विद्वांसः, भवद्भिः मम वचनं = मे कथनम् श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्। तदेव कथमाह—अस्तीति कश्चिद्-कोऽपि, एवम्भूतः-एवंप्रकारकविशिष्टगुणोपेतः, विद्वान् —वेत्ति इति विद्वान् = विदुषजनः, पण्डितः, अस्ति = वर्तमानः सभायां वर्तते। यः = यः पण्डितः, नित्यं = सर्वदा, उन्मार्गगामिनाम्-उत् = उद्गतः कुत्सितः मार्गः = पन्थाः कुमार्गः, उन्मार्गे गच्छन्ति ते उन्मार्गगामिनः, तेषाम् अनधिगतशास्त्राणाम् वाऽ अनधिगतशास्त्राणाम्—अधिगतं पठितं शास्त्रं यैस्ते अधिगतशास्त्राः, ते न भवन्तीति अनधिगतशास्त्रास्तेषाम् एतादृशानाम् अपि शास्त्राभ्यासविमुखानामित्यर्थः, मम = मे पुत्राणां = तनयानाम् इदानीम् = अस्मिन् काले, अध्ययनसमये व्यतीतेऽपि यौवनकाले इत्यर्थः, नीतिशास्त्रोपदेशेन—नीतेः प्रतिपादकं शास्त्रं नीतिशास्त्रं तस्य उपदेशः = शिक्षा तेन पुनर्जन्म—पुनः = द्वितीयम् जन्म = शास्त्राध्ययनेन मनुष्यजन्मनोऽन्यतारूपं जन्म कारयितुं समर्थः = शक्तो भवतीति।

भा०—इस प्रकार बहुत विचार करके वह राजा ने पण्डितों की एक बड़ी सभा बुलाई। उसमें राजा सुदर्शन ने कहा कि हे माननीय पण्डितगण! मेरी प्रार्थना सुनिए—कोई ऐसा विद्वान् है जो कि शास्त्र तथा धर्म से विमुख मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का उपदेश देकर विद्यासम्बन्धी नया जन्म दे सके?'

यतः—काचः काञ्चनसंसर्गाद् धत्ते मारकतीर्द्युतीः।

तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥ ४०॥

अ०—(यथा) काचः काञ्चनसंसर्गात् मारकतीः द्युतीः धत्ते, तथा मूर्खः सत्सन्निधानेन प्रवीणतां याति। भा०—यथा यद्वत्, किञ्चिन्मात्रहरितद्युतिः काचः-अल्पमूल्यो-ऽपि काञ्चनस्य = सुवर्णस्य संसर्गः = सम्बन्धः तस्मात्, (हेत्वर्थे पञ्चमी)। मारकतीः मरकतस्य इमाः इत्यर्थः मारकत्यः ताः मारकतीः (विकारभिन्नत्वात् नाति-

पिशङ्गहरिद्रूपा किन्तु मण्याऽभाः), द्युतीः, कान्तीरिति यावत् धत्ते=धारयति। तथा=तद्वत् , मूर्खः=मूढः, अकुशल इति यावत् , एतादृशः जनः, सतां=पण्डितानां, सन्निधानेन=सहवासेन, प्रवीणतां=निपुणतां, स्ववहार(कुशलताधर्मश्रद्धादिकं याति=विन्दति ।

भा०—जैसे काच हल्का रंग का होने पर भी सुवर्ण के साथ रखने से मरकतमणि की कान्ति के समान तेजस्वी कान्तिवाला हो जाता है वैसे ही सद्गुणवाले पुरुषों के सहवास से दुर्बुद्धि वाला पुरुष भी सद्गुणवान् हो जाता है ॥ ४० ॥

उक्तं च—हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४१ ॥

अ०—हे तात ! हीनैः सह समागमात् मतिः हीयते हि, समैः च समताम् एति, विशिष्टैः च विशिष्टताम् (एति) । व्या०—हे तात ! हे प्रिय ! 'स्निग्धे पितरि पूज्ये च तातशब्दः प्रयुज्यते' इति । हीनैः=स्वाऽपेक्षया न्यूनस्वभावबुद्धिगुणादिभिः पुरुषैः सह समागमात्=सदा सहयोगात् , मतिः=स्वकीयबुद्धिः गुणाः स्वभावश्चेति, हीयते=नीचतां याति, हि=निश्चयार्थं । अथ च समैः=स्वसमानगुणशालिभिः समागमात् स्वबुद्ध्यादिकं समतां=समानस्थितिम्, यादृशं भवेत् तथैवेत्यर्थः, एति=प्राप्नोति । अथ च विशिष्टैः=स्वाऽपेक्षया गुणादिभिरुत्कृष्टैः सह समागमात्तु विशिष्टताम् ,,महतीं स्थितिमिति यावत् , एति प्राप्नोति ।

भा०—नीच पुरुषों के संग से श्रेष्ठपुरुष भी नीच काम करने वाला हो जाता है, समानगुणी जन के संग से अपनी यथास्थिति में ही रहता है और श्रेष्ठपुरुष के संग से नीच भी श्रेष्ठ हो जाता है इसलिए महापुरुषों का संग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तत् मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ।'

व्या०—अत्र=अस्मिन् , अन्तरे=अवसरे, विष्णुशर्मनामा='विष्णुशर्मा' इति नाम यस्य सः (बहुव्रीहिः) तादृशः, सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः—सकलानि च तानि नीतिशास्त्राणि चेति सकलनीतिशास्त्राणि, तेषां तत्त्वं=गूढाऽभिप्रायः, तत् जानाति इति, सकलशास्त्रेषु विद्वान् इत्यर्थः, महापण्डितः=विबुधाऽग्रगण्यः । बृहस्पतिरिव=सुरगुरुरिवेत्युपमा, अब्रवीत्=अकथयत् । हे देव ! हे राजन् ! एते राजपुत्राः=राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः , महाकुलसम्भूताः=महाकुले सम्भूताः महाकुलसम्भूताः=श्रेष्ठराजकुले लब्धजन्मानः सन्ति, तत्=तस्माद्धेतोः , एते, मया=विष्णुशर्मणा, नीतिं=नीतिशास्त्रम् , ग्राहयितुं=सम्यग् बोधयितुं, शक्यन्ते ।

भा०—राजा के निवेदन के बाद उसी समय 'विष्णुशर्मा' नाम का पण्डित जो कि सकल नीतिशास्त्र को जानता था और बृहस्पति के समान था उसने कहा—हे राजन् ! उत्तम-

कुल में उत्पन्न हुए इन राजपुत्रों को मैं नीतिशास्त्र का ज्ञान करा सकता हूँ।

यतः—नाऽद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् पाठ्यते बकः ॥ ४२ ॥

अ०—अद्रव्ये निहिता काचित् (अपि) क्रिया फलवती न भवेत् (यथा) बकः व्यापारशतेनापि शुकवत् (कदाऽपि) न पाठ्यते। व्या०—अद्रव्ये—न द्रव्यम् अद्रव्यं तस्मिन् अयोग्ये पात्रे इत्यर्थः। निहिता=प्रयुक्ता काचिदपि क्रिया=शिक्षात्मिका फलवती=सफला फलशालिनी न भवेत्। तत्र दृष्टान्तम्—यथा बकः=बकनामा पक्षी अपात्रत्वात् व्यापारशतेनापि—व्यापाराणां शतं तेन=बहुना प्रयत्नेनापि शुकवत्=यथा स्वल्पप्रयासेन शुकः पाठ्यते तद्वत् पाठ्यते इत्यर्थः। केनापि न पाठ्यते=पठितुमपि पाठयितुं न शक्यते इति।

भा०—जो कुपात्र है उसमें प्रयत्नपूर्वक किया हुआ भी कार्य सफल नहीं होता जैसे कि बगुला मनुष्य वाक्य बोलने का ज्ञान नहीं रखते हैं अतः प्रयत्नपूर्वक किया हुआ शिक्षण भी उनमें सफल नहीं होता है और तोता का (ज्ञान होने से) शिक्षण सफल होता है। वैसे इन गुणवान राजपुत्रों में मेरा प्रयत्न सफल होगा ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ॥ ४३ ॥

अ०—अस्मिन् तु गोत्रे निर्गुणं अपत्यं न उपजायते (यथा) पद्मरागाणाम् आकरे काचमणेः जन्म कुतः। व्या०—अस्मिन् गुणवतिस्मिन् श्रेष्ठतमे भवदीये गोत्रे=वंशे निर्गुणम्—न विद्यन्ते गुणा यस्य तत् निर्गुणं=गुणशून्यम् अपत्यमिति यावत् सन्तानम्। अपत्यम्—न पतन्ति पितरः अनेनेति अपत्यं=सन्ततिः, न उपजायते—न प्रादुर्भवति। यथा (दृष्टान्तम्)—पद्मरागाणाम्—पद्मस्य राग इव रागो येषां ते इति पद्मरागाः=कमलान्तर्गतरक्तिमकान्तिमन्तो मणिविशेषाः तेषाम् आकरे—उत्पत्तिस्थाने खनिविशेषे काचमणेः=काचस्य गुणपार्थिववस्तुविशेषस्य जन्म=उत्पत्तिः, कुतः=कस्मात् सम्भवति अर्थात् न सम्भवत्येव।

भा०—बुद्धिमान् तथा गुणवान् राजा के वंश में बुद्धिमान् और गुणवान् ही सन्तति उत्पन्न होती है मूर्ख और गुणहीन नहीं होती है। जैसे कि मणि के उत्पत्तिस्थान में से मणि ही पैदा होता है काँच नहीं होता। इसलिए बुद्धिमान् तथा गुणी इन राजपुत्रों को अल्प समय में नीति का शिक्षण दे सकता हूँ ॥ ४३ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे भवत्पुत्रान् नीतिशास्त्राभिज्ञान् करिष्यामि। राजा सविनयं पुनरुवाच।

व्या०—अतः अस्मात् हेतोः, महाकुलप्रसूतत्वेन उपदेशग्रहणयोग्यत्वात् इत्यर्थः। अहं=विष्णुशर्मा षण्मासाभ्यन्तरे—षड्संख्यका मासाः षण्मासाः तेषाम्

अभ्यन्तरं = मध्यं तस्मिन्, षण्णां मासानामपरिसमाप्तौ यावदित्यर्थः । भवत = राज्ञ, पुत्रान् = कुमारान्, नीतिशास्त्रम् अभिजानन्तीति नीतिशास्त्राभिज्ञास्तान् = नीतिनिपुणान्, करिष्यामि = विधास्यामीति । तत राजा = सुदर्शन, सविनयम्-विनयेन सह वर्तमानं यथा स्यात्तथा = सप्रश्रय, पुन. = भूय उवाच = उक्तवान् ।

भा०—इस हेतुसे (बुद्धिमान् होने के कारण) छ मास के अन्दर आपके पुत्रों को नीतिशास्त्रमें निपुण कर दूगा । इसके बाद सुदर्शन राजाने फिर नम्रतापूर्वक कहा—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठित. ॥ ४४ ॥

अ०—कीट अपि सुमन सङ्गात् सतां शिर-आरोहति, अश्मा अपि महद्भि सुप्रतिष्ठित (सन्) देवत्व याति । व्या०—कीट = क्षुद्रजन्तु, अपि=स्पर्शनाऽनर्होऽपि सुमन सङ्गात्—सुमनसां = कुसुमानां सङ्ग = योग तस्मात्, पुष्पेऽवस्थानादित्यर्थ, सतां = महापुरुषाणां राजादीनाम्, शिर = मस्तकम्, आरोहति = आश्रयति, शिरसि स्थानं लभते इत्यर्थ । एवम् अश्मा = प्रस्तर, अपि = निकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि, महद्भि = श्रोत्रियपुरुषै (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय संस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्व त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते) । सुप्रतिष्ठित- = वेदमन्त्रादिना प्रतिष्ठां नीत, सन्, देवत्व = लक्ष्मीनारायणादिदेवभावम्, याति = प्राप्नोति ।

भा०—जैसे क्षुद्रजन्तु कीडा भी पुष्प के योग से बडे २ पुरुषों के शिर पर जा बैठता है और पत्थर भी बडे पुरुषोंसे मूर्तिरूपसे स्थापित करने पर देवभाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही मेरे पुत्र मूर्ख होनेपर भी आप जैसे विद्वान् के आश्रय में रहने से गुणवान् हो जायेंगे ॥४४॥

अन्यच्च—यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४५ ॥

अ०—यथा द्रव्यम् उदयगिरे सन्निकर्षेण दीप्यते, तथा हीनवर्ण अपि सत्सन्निधानेन दीप्यते । व्या०—यथा=यद्वत्, द्रव्यम्=उदयाचलसमीपस्थं चाकचिक्या दियुक्तपाषाणादिकम्, उदयगिरे =उदयाचलपर्वतस्य सन्निकर्षेण (हेत्वर्थे पञ्चमी) सामीप्यादित्यर्थ, दीप्यते=प्रकाशते, दीप्तिमद् भवति । तथा = तद्वत्, हीनवर्ण अपि—हीन निकृष्ट वर्ण जातिर्यस्य, अथवा हीना वर्णा अक्षराणि यस्य स=जात्याऽपकृष्ट अक्षरज्ञानशून्यो वेत्यर्थ, एतादृश पुरुषोऽपि । सतां=महताम्, विबुधानामिति यावत्, सन्निधानं=सहवास, आश्रयणमिति यावत्, तेन (हेत्वर्थे तृतीया), महतामाश्रयणादित्यर्थ । दीप्यते = शोभते, उत्कर्षं लभते इत्यर्थं ।

भा०—जैसे तेजहीन श्वेत पत्थर आदि वस्तु उदयाचल के समीप में रहने से तेजस्वी बन कर चमकती है, वैसे छोटी जाति में उत्पन्न हुआ अथवा कुछ भी नहीं पढा हुआ ऐसा पुरुष भी बडे पुरुष के आश्रय से बड़ा बन जाता है ॥ ४५ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥४८॥

अ०—गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य दोषाः भवन्ति यथा आस्वाद्यतोयाः, प्रवहन्ति समुद्रम् आसाद्य अपेयाः भवन्ति । व्या० - गुणाः=विद्याविनयादयो धर्मास्तेषां ज्ञातारस्तेषु, गुणज्ञेषु गुणान् जानन्ति इति गुणज्ञास्तेषु=गुणग्राहकेषु पुरुषेषु सत्सु गुणाः, गुणाः=गुणत्वेन भासमानाः, सद्गुणा इति यावत्, भवन्ति=सम्पद्यन्ते । ते एव=विद्यादयो गुणाः, निर्गुणं=गुणरहितं कुपात्रम् प्राप्य=आसाद्य, दोषाः=दोषत्वेन भासमानाः दुर्गुणाः, भवन्ति=सम्पद्यन्ते । अत्र दृष्टान्त-माह—यथा, आस्वाद्यतोयाः—आस्वाद्यं=सुपेयं मधुरं तोयं=जलं यासु ताः नद्यः ता वा इति आस्वाद्यतोयाः=सुपेयमधुरजलयुक्ताः, प्रवहन्ति=प्रकर्षेण वहन्ति । किन्तु ता समुद्रं=लवणोदधिम् आसाद्य=प्राप्यैव क्षारीभूताः, अपेयाः=न पेयाः, पातुं न योग्या इति अपेयाः—जलक्षारत्वात् पानायोग्या भवन्ति इति ।

भा०—जैसे जल जब तक नदियों में रहता है तब तक मधुर पीने लायक होता है और समुद्रमें जाने से खारा हो जाने से पीने लायक नहीं रहता है, वैसे ही अच्छे २ गुण भी लायक (गुणज्ञ) पुरुषों को मिलने से बड़े सद्गुण होते हैं और कुपात्र को मिलने से गुण भी दुर्गुण दोषरूप हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम्' इत्यु-क्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो (करे) बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान् ।

व्या०—तत्=तस्मात्कारणात्, यतः सद्गुणलाभाय [illegible] पात्रं नास्ति अस्मत् देशे इत्यर्थः । भवन्तः पूज्याः विष्णुशर्मा पण्डितः (सम्मानार्थे बहुवचनप्रयोगः) एतेषाम्=पुरः समुपस्थितानाम् अस्माकं पुत्राणाम् [illegible] सुदर्शनस्य तन-यानाम् नीतिशास्त्रोपदेशाय—नीतिरेव शास्त्रं तस्य उपदेशः=शिक्षा, तस्मै इत्यर्थः, प्रमाणम्('प्रमाणं नित्यमर्यादाशास्त्रेषु प्रमातरि' इत्यमरः) [illegible] प्रमातरि ॥ इति वैजयन्तीवचनात् 'प्रमाणम्' इति एकवचनं [illegible] 'वेदाः प्रमा-णम्' इतिवत्) प्रमातारः=प्रमाणभूता इत्यर्थः । इति=इत्थम् उक्त्वा=कथ-यित्वा सः सुदर्शनो राजा तस्य—विष्णुशर्मणः विद्वच्छिरोमणेः विष्णुशर्मणः पण्डितस्य, (करे=हस्ते) बहुमानपुरःसरं—पुरः सरति इति पुरःसरम्, बहुमानः पुरःसरो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् अतिसम्मानपुरस्सरमित्यर्थः, पुत्रान्=स्वसुतान् सम-र्पितवान्=समर्पयामास ।

भा०—महाराज सुदर्शन बोले कि हे महात्मन् ! आप ही सबसे श्रेष्ठ हैं—इसलिये इन मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का शिक्षण देने के लिये आप (विष्णुशर्मा) ही प्रमाणभूत हैं ऐसा कहकर राजाने उन विष्णुशर्मा पण्डित के हाथ में अति आदरपूर्वक अपने राजकुमारों को सौंप दिया ।

अथ मित्रलाभ-प्रस्तावः

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—भो राजपुत्राः शृणुत—

व्या०—अथ=समर्पणानन्तरम्, प्रासादपृष्ठे-प्रासादस्य=सौधस्य राजभवनस्य, पृष्ठम्=उपरिभाग चन्द्रशाला तस्मिन्, सुखोपविष्टानाम्—सुखम् उपविष्टाः तेषां शान्तिपूर्वक स्थितानामित्यर्थः। राज्ञ पुत्रा राजपुत्रा तेषां=नृपस्य तनयानामित्यर्थः। पुरस्तात्=समक्षम्। प्रस्तावस्य=अवसरसङ्गते., क्रमः=रीतिः तेन, अवसरं प्राप्येत्यर्थः, स विष्णुशर्मा पण्डित अब्रवीत्=कथयामास (वक्ष्यमाणमिति शेषः)। भो राजपुत्राः=भो—इति सम्बोधने, हे राजतनयाः यूयम् आकर्णयत।

भा०—राजपुत्रों के सुपुर्द करने के बाद राजभवन के ऊपर छतपर सुखपूर्वक बैठे हुए राजपुत्रों के सामने अवसर देखकर विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—हे राजपुत्रो! सुनो—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥ १॥

अ०—धीमतां काल. काव्यशास्त्रविनोदेन गच्छति, मूर्खाणां (तु काल) व्यसनेन निद्रया कलहेन वा (गच्छति)। व्या०—धिय. सन्ति एषामिति धीमन्त तेषां=विदुषामित्यर्थ., काल=आयुःसमयः, काव्यम्—कवे. कर्म काव्यं=रसान्वितं व्याख्यानं वचनमिति यावत्, तदेव शास्त्रम् इति काव्यशास्त्रम्, तेन यो विनोदः=आनन्दः तेन काव्यशास्त्रविनोदेन=आलोचने श्रवणे वा सति रसजनकवाक्यसमूहात्मकशास्त्रजनिताऽऽनन्देनेत्यर्थ, गच्छति=व्यतीतो भवति, न तु व्यर्थो गच्छति। मूर्खाणां=शास्त्रविमुखानां (तु काल=आयु समय.) व्यसनेन—व्यस्यते चित्तम् अनेनेति व्यसनं तेन=सुरापानद्यूतक्रीडामृगयादिव्यसनेनेत्यर्थः। निद्रया=दिवानिद्रया, स्वप्नतुल्यया तामसाशाऽऽपन्नया मद्यपानादिजन्योन्मत्ताऽवस्थयेति यावत्। कलहेन=विवादेन वा, गच्छति=अतिवर्तते। इति।

भा०—बुद्धिमान् लोग अपने जीवन-समय को नीतिशास्त्रादि में बिता कर सार्थक करते हैं और मूर्खलोग तो जुवा खेलना आदि व्यसनों में या तो क्लेश टंटा में अपने जीवन समय को बरबाद करते हैं, इसलिये अपने को नीतिशास्त्र के चिन्तन में विनोद करना चाहिए॥ १॥

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयिष्यामि। राजपुत्रैरुक्तम्—आर्य! कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच—शृणुत यूयम्, सम्प्रति मित्रलाभ. प्रस्तूयते, यस्याऽयमाद्यः श्लोक.।

व्या०—तद्=तस्मात्, 'यत धीमतां काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति' इत्य-

स्मार्तोऽतोऽस्त्विति शेषः, भवतां = युष्माकम् (राजपुत्राणाम्), विनोदाय = कौतुकाय अहम् (विष्णुशर्मा) काककूर्मादीनाम्—काकश्च कूर्मश्च काककूर्मौ, तौ आदिर्येषां ते तेषां = काककूर्महरिणमूषकप्रभृतीनामित्यर्थः विचित्रां = विविधां रसवतीं, मनोहारिणीमित्यर्थः, कथाम् = उपाख्यानम् वार्तामिति यावत् कथयिष्यामि = वक्ष्यामि (इत्युक्त्वा) राजपुत्रैः—राज्ञः पुत्राः राजपुत्रास्तैः = राजकुमारैः, उक्तम् = अभिहितम् । आर्य ! = पूज्य ! कथ्यताम् (कथा भवद्भिरिति शेषः)। तदनन्तरम् विष्णुशर्मा पण्डितः, उवाच = उक्तवान् शृणुत = अवधत्त राजपुत्राः, प्रस्तुत = सावधानम् आकर्णयत सम्प्रति = एतस्मिन् समये मित्रलाभः—मित्रस्य = सुहृदो लाभः = प्राप्तिः मित्रलाभस्तन्नामकः प्रस्तूयते = प्रारम्भणार्थं प्रारभ्यते 'मित्रं कीदृगपि, कीदृग् मित्रं कर्तव्यम् केन प्रकारेण वा मैत्री लभ्यते इत्येतद् सर्वं कथयामि । यस्य = मित्रलाभाख्यस्य कथानकस्य अयं = वक्ष्यमाणः, आद्यः—आदौ भवः प्रथमस्य श्लोकः = अनुष्टुप्छन्दोरूपकविता, अस्तीति शेषः ।

भा०—श्रीमान् पुत्रो! इस समय कथाविनोद से ही आनन्द होना चाहिये इसलिये आपके विनोद के लिये मैं काक, कूर्म आदि की विचित्र मनोरंजक कथायें कहूँगा। तब राजपुत्रों ने कहा—आर्य ! कहिये। (इसके बाद) विष्णुशर्माजी ने कहा—आप लोग सुनिए, इस समय मित्रलाभ नाम की कथा प्रारम्भ करता हूँ जिसका यह पहिला श्लोक है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाऽऽखुवत् ॥ २ ॥

अ०—असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः काककूर्ममृगाऽऽखुवत् कार्याणि आशु साधयन्ति । व्या०—न विद्यन्ते साधनानि = अश्वगजरथपदातिप्रभृतीनि साधनानि येषान्ते असाधनाः साधनरहिता इत्यर्थः। वित्तेन = सुवर्णरूप्यादिद्रव्येण हीनाः = रहिताः, दरिद्रा इत्यर्थः। बुद्धिः विद्यते येषान्ते बुद्धिमन्तः = बुद्धिमन्ति प्रतिभैश्वर्यवन्त इति यावत् ('बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा। प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विदुः ॥' इति) सौहार्दं = परस्परमित्रत्वं हृदयं येषान्ते सुहृदः, अतिशयेन सुहृदः इति सुहृत्तमाः = परस्परम् अतिशयेन सौहार्दम् आपन्नाः सर्वकार्यैकमत्याः सन्तः काकश्च (वायसः) कूर्मश्च (कच्छपः) मृगश्च (हरिणः) आखुश्च (मूषकः) इति काककूर्ममृगाऽऽखवः, ते इवेति काककूर्ममृगाऽऽखुवत् । आशु = शीघ्रम् कार्याणि—आरब्धकार्याणि साधयन्ति = सम्पादयन्ति ।

भा०—जैसे काक-कूर्म-हरिण-चूहा इन चारों के पास कोई साधन तथा धन नहीं था, तो भी अपनी बुद्धिमत्ता से साथ साथ मिलता है ऐसा ठीक असाध्य कार्य को भी सिद्ध किया वैसे धन-जनादिक साधन तथा धनहीन भी बुद्धिमान् मित्रगण मिलकर असाध्य कार्य को भी सिद्ध कर सकते हैं ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्–

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिद् अवसन्नायां रात्रौ अस्ताचलचूडाऽवलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं पाशहस्तं व्याधम् अपश्यत् । तम् आलोक्याऽचिन्तयत्–अद्य प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातम्, न जाने किम् अनभिमतं दर्शयिष्यति, इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः ।

व्या०–राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः=राजकुमाराः, ऊचुः=कथयामासुः, एतत्='असाधना' इत्यादिश्लोकोक्तं यत् काकादीनां निदर्शनं (दृष्टान्तम्) तत् कथम्=केन प्रकारेणाऽस्ति ? इत्येवं प्रश्नानन्तरम्, सः=विष्णुशर्मा पण्डितः, अब्रवीत्=अकथयत्–गोदावरीतीरे–गोदावर्याः=गोदावरीनामनद्याः, तीरं=कूलं तस्मिन्, विशालः=विस्तृतशाखादिपरिकरः, शाल्मलीतरुः='शाल्मली'नामा तरुः=वृक्षः, अस्ति=विद्यते । तत्र=तस्मिन् वृक्षे, नानादिग्देशात्–दिक् च देशश्च तयोः समाहारः दिग्देशम्, नाना च तत् दिग्देशं चेति तस्मात्=विभिन्नदिशः विभिन्नदेशाच्चेत्यर्थः, आगत्य=एत्य, रात्रौ=निशायाम्, पक्षिणः–पक्षाः विद्यन्ते एषाम् इति पक्षिणः=खगाः पतत्रिणः, निवसन्ति=रात्रिकालं यापयन्ति । अथ गच्छति समये, कदाचित्=एकस्मिन् समये, रात्रौ=निशायाम्, अवसन्नायां=क्षीणायाम्, प्रभातायां सत्यामिति यावत्, भगवति—भगाः=ऐश्वर्याणि सन्ति अस्य भगवान् तस्मिन्=ऐश्वर्यशालिनि, कुमुदिनीनायके–कुमुदिन्याः नायकः तस्मिन्=कुमुद्वतीपतौ, चन्द्रमसि=शशाङ्के, अस्ताचलस्य चूडा=शिखरम्, तदवलम्बते इति अस्ताचलचूडावलम्बि तस्मिन्, अस्तं गते सतीत्यर्थः । लघु=द्रुतं पतनम् उड्डयनं यस्य सः 'लघुपतनकः', लघुपतनक इति नाम=अभिधानं यस्य सः=लघुपतनकनामा, वायसः=काकः, प्रबुद्धः=प्रकर्षेण जागरितः, सन्, द्वितीयम्–द्वयोः पूरणः द्वितीयस्तं द्वितीयम्=अन्यम्, कृतान्तमिव—कृतं सृष्टम् अन्तयति मारयति यः कृतान्तस्तं यममिव, अटन्तम्—अटतीति अटन्तः=भ्रमन्तम्, पाशहस्तम्–पाशः=जालं हस्ते यस्य सः पाशहस्तस्तं=करगृहीतजालम्, व्याधं कञ्चित् मृगयुम्, अपश्यत्=ददर्श । तं=मृगयुम्, अवलोक्य=साक्षात्कृत्य, सः वायसः अचिन्तयत्=चिन्तां कृतवान्, अद्य=अस्मिन् दिवसे, प्रातरेव=प्रभातसमये निद्रात्यागाऽवसरे एव, अनिष्टदर्शनम्—न इष्टः अनिष्टस्तस्य=अनभिलषितस्य अमङ्गलरूपस्य व्याधस्य दर्शनम्=अवलोकनम्, दैवात् जातं सम्भूतम्, न जाने=अहं (काकः) न वेद्मि, किम् अनभिमतं=किंविधम् अशुभम्, दर्शयिष्यति=घटयिष्यति, इत्युक्त्वा–इति वाक्यमुच्चार्य, तदनुसरणक्रमेण—तस्य व्याधस्य अनुसरणं=पश्चात् गमनं, तस्य क्रमः =

काचरत्नम् तेन व्याकुलः = विशेषेण आकुलः सन् चकितः = चञ्चलः।

भा०—तब राजपुत्रों ने कहा—भगवान् अब हमें भी सिद्ध करने में [illegible] का वृत्तान्त बताना सो किस प्रकार है ? विष्णुशर्मा ने कहा (कथा शुरू की)—गौतम नाम की नदी के किनारे पर एक विशाल पीपल का वृक्ष है उस वृक्ष पर बहुत से पक्षियों देश-देशान्तरों से आकर रात्रि बिताते थे, एक बार आकाशमण्डल में अन्धकार छा जाने पर जब मनुष्य अस्त हो गये, तब एक 'लघुपतनक' नामक काक ने काली ही यम के समान और हाथ में पाश ले के घूमते हुए एक व्याध को देखा, व्याध को देख कर काक सोचने लगा आज प्रातःकाल में ही अमाङ्गलिक (अशुभसूचक) दर्शन हुआ न मालूम यह किस प्रकार का अनिष्ट (आपत्ति) करेगा। इतना कहकर उस व्याध के पीछे वह काक व्याकुल होकर चल दिया।

यतः—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ ३॥

अ०—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च दिवसे दिवसे मूढम् आविशन्ति न तु पण्डितम्। व्या०—यतः कारणमाह—शोकेति। शोकस्थानसहस्राणि = निमित्तानि तेषां सहस्राणि, सहस्रशः शोकस्य निमित्तभूतानि [illegible] भयस्य स्थानानि = निमित्तभूतानि तेषां शतानि शतशः भयकारणानि [illegible] दिवसे दिवसे = प्रतिदिनमित्यर्थः। मूढम् = मूर्खं पुरुषम् आविशन्ति = [illegible] न तु पण्डितं = बुद्धिमन्तं पुरुषम् तानि शोकादिस्थानानि पराभवन्तीति।

भा०—मूर्ख मन अपने स्वभाव से ही प्रतिदिन शोक और भय के कारणों को प्राप्त करता है न कि विद्वान् क्योंकि विद्वान् जन अपनी निपुणता से ही शोक के कारणों को भी दूर कर देते हैं इसलिये काक भी अपने बुद्धानुसार व्याधनाश हेतु न जाने पावे ऐसा प्रयास करने में प्रवृत्त हुआ॥ ३॥

अन्यच्च—विपविप्यमिदमवश्यं कर्त्तव्यम्।
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम्।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति॥ ४॥

अ०—उत्थाय उत्थाय अद्य मरणव्याधिशोकानां किं निपतिष्यति (इति महद्) भयम् उपस्थितम् (तत्) बोद्धव्यम्। व्या०—किञ्च विषयिणाम् = [illegible] (आपद्विशेष) मिलनशीलं पुरुषम् इदं = वक्ष्यमाणरूपं तु, अवश्यं = निश्चयम् एव कर्त्तव्यम् = अनुष्ठेयम्। तदेवाह—उत्थायेति। प्रतिदिनं [illegible] इत्यर्थः। अद्य = अस्मिन् दिवसे मरणं = मृत्युः, व्याधिः = रोगः [illegible] शोकः = इष्टवियोगजन्यदुःखम्, तेषां मध्ये किम् = किमपि मरणं व्याधिः शोको वा, निपतिष्यति = समेष्यति। इति = इत्येवं प्रकारेण यत् यत् महत् = [illegible] भयं = भयविषयम् उपस्थितं = प्राप्तं स्यात् तत् सर्वं बोद्धव्यम्।

भा०—इस संसार में अपना संरक्षण चाहने वाले जनों का यह कर्तव्य है कि-रोजाना प्रातःकाल उठकर मरण या दुःख अथवा शोक इन तीनों में से जो आज आने वाला हो- उसका विचार करके तब उस महान् भय को दूर करने के प्रयत्न में सावधान बने ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम्। स च तत्र प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोत-राजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणान् अवलोकयामास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान् प्राह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः', तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि प्रायेणाऽनेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम्।

व्या०—अथ व्याधाऽनुगमनाऽनन्तरम्, (कुत्रचित्स्थले) तेन पूर्वोक्तेन व्याधेन, तण्डुलानां कणास्तान्=तण्डुलखण्डानित्यर्थः, विकीर्य=भूमौ विक्षिप्य, जालं=पत-त्रिप्रभृतिबन्धनरूपं जालम्, विस्तीर्णं—भूमौ तण्डुलकणोपरि प्रसारितम्, (क्वचि-त्पुस्तके-'विस्तीर्य' इति पाठः तस्य प्रसार्य इत्यर्थो बोध्यः) स च=पूर्वोक्तः व्याधः, तत्र=समीपप्रदेशे, प्रच्छन्नः=लतागुल्मादौ तिरोहितो भूत्वा, स्थितः=वर्तते स्म, अस्मिन्नेव काले=समये, चित्रग्रीवनामा-गिलति अनया सा ग्रीवा, चित्रा=नानारूप-वती ग्रीवा यस्य सः=चित्रग्रीवनामक इत्यर्थः। कपोतानां राजा इति कपोतराजः=वृद्ध पारावतः, सपरिवारः परिव्रियन्ते एभिः इति परिवारास्तैः सहितः सपरिवारः=परि-जनसहितः, वियति=गगने,=गच्छन् उड्डयन् सन्, तान् विकीर्णान् तण्डु-लकणान्, अवलोकयामास=ददर्श। ततः=दर्शनाऽनन्तरम्,कपोतराजः स पारा-वताधिपतिः, तण्डुलकणलुब्धान्—तण्डुलानां कणास्तण्डुलकणाः, तण्डुलकणानां लुब्धास्तान्, तण्डुलखण्डलोलुपान् कपोतान् प्रति आह=उवाच, अत्र=एतस्मिन्, निर्जने=न विद्यन्ते जना यत्रेति निर्जनं तस्मिन् मनुष्यसञ्चरणशून्ये, वने=कानने तण्डुलकणानां कुतः=कस्माद् हेतोः, सम्भवः=उत्पत्तिः, निर्जनवने तण्डुलसम्भवो भवेन्न वा इति, प्रथमम् निरूप्यतां=निपुणतया विचार्यताम्, यतः विना विचारं कणभक्षणे प्रवृत्तौ कृतायां सत्याम् अहम्, इदं=साहसम्, भद्रं=सुखदं न पश्यामि अनेन साहसोत्पादकेन, तण्डुलकणानां लोभेन, अस्माभिः सर्वैः कपोतैरपि, प्रायेण= बाहुल्येन, तथा=व्याघ्रेण कङ्कणप्रदर्शनं स्नानार्थं प्रेरितः पङ्के निमग्नः पान्थः पश्चा-न्मारितः तादृशाऽवस्थं, भवितव्यमिति।

भा०—इसके बाद उस व्याध ने चावल के कणों को पृथ्वीपर छींटकर ऊपर से जाल को फैला दिया और वह व्याध पास के छोटे पेड़ों के निकट छिपकर बैठ गया, उसी समय 'चित्रग्रीव' नाम के कबूतरों के राजा ने अपने परिवार-सहित आकाश में उड़ते २ उन चावल के कणों को देख लिया, उसके बाद उन चावल के कणों को खाने के लिये लोभी कबूतरों से

कपोतराज ने कहा—इस मनुष्यरहित वनमें चावल के कणों का संभव कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता है) इसलिये प्रथम इस बात का विचार करिये। (चावल चरने से मैं कपोतराज अपना) कल्याण नहीं देख रहा हूँ इन चावलों के कणों के लोभसे चरने से भी ऐसा ही (जैसा कि किसी कड़े के लोभ से एक पान्थी भी सोने के कड़ून के लोभ से तालाब के कीचड़ में फँस कर मरना पड़ा) होना पड़ेगा।

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः सम्मृतो यथा ॥ ५ ॥

अ०—कङ्कणस्य तु लोभेन सुदुस्तरे पङ्के मग्नः पथिकः वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः यथा सम्मृतः। व्या०—कङ्कणस्य=सुवर्णमयकराऽऽभूषणस्य वलयस्य तु लोभेनाऽऽकाङ्क्षया तु, सुदुस्तरे=अतिदुःखेनापि तरितुम् असमर्थं सुदुस्तरं तस्मिन् अतिपारे दुस्तर्के, पङ्के=कर्दमे मग्नः=निपतितः पथिकः=पन्थानं गच्छतीति पथिकः=अध्वनीनः वृद्धव्याघ्रेण=जीर्णशार्दूलेन सम्प्राप्तः=आक्रान्तः सन् यथा=येन प्रकारेण सम्मृतः=मृत्युं गतः, अस्माभिरपि प्रायेण तथा भवितव्यम्, इत्यन्वयः।

भा०—जैसे सोने के कड़े के लोभ से एक पान्थी भाग के बड़ने से तालाब में स्नान के लिये गया और वहाँ के गहरे कीचड़ में फँस गया, तब बाघने उसे मार खाया (वैसे चरने से भी मरना होगा) ॥ ५ ॥

कपोताः ऊचुः—'कथमेतत्' सोऽब्रवीत्—

कथा १

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्—एको वृद्धो व्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्' ततो लोभाऽऽकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्—भाग्येनैतत् सम्भवति किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया।

व्या०—कपोताः=अन्ये पारावताः, ऊचुः=अवदन् एतत् व्याघ्रेण पथिकस्य मारणं वृत्तं तत् कथं=केन प्रकारेण जातम्? इत्येवं पृष्टे सति सः—कपोतराजः अब्रवीत्=अभ्युवाच—अहं कपोतराजः एकदा=एकस्मिन् समये दक्षिणारण्ये=दक्षिणदिशि वर्तमाने तत् अरण्यं=वनम्, दक्षिणं=दक्षिणदिशाभवं च तत् अरण्यं चेति तस्मिन् 'दक्षिणारण्ये' इति पाठः, चरन्—चरति इति चरन्=भ्रमन् सन् (भक्ष्यमाणम्) अपश्यम्। तथा हि—एकः वृद्धः कश्चित् व्याघ्रः=विशेषेण आजिघ्रति=घ्राणेन आजिघ्रति इति व्याघ्रः स्नातः कृतस्नानः कुशाः सन्ति हस्ते यस्य सः कुशहस्तः, तथाभूतः सन् सरसि पुष्पितकमलं यस्मिन् इति तडागस्य तीरे तस्मिन्

तटे इत्यर्थः ब्रूते=कथयति—भोः भोः पान्थाः !=(आदरे द्विरुक्तिः) हे हे पथिकाः !, इदं=मम करस्थितम्, सुवर्णस्य कङ्कणं सुवर्णकङ्कणं=स्वर्णमयं कराऽऽभूषणं वलयम्, युष्माभिः गृह्यताम् । ततः लोभेन आकृष्टः तेन लोभाकृष्टेन=लुब्धेन केनचित् पान्थेन=मार्गगेण, आलोचितं=चिन्तितम् , भाग्येन=पूर्वजन्मकृतपुण्येन दैवेन वा, एतत् बहुमूल्यं सुवर्णकङ्कणम् , सम्भवति=सम्यक् प्राप्तं भवति, किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे आत्मनः=स्वस्य सन्देहः=मरणशङ्का यस्मिन् कार्ये वर्तते आत्मसन्देहस्तस्मिन् , मरणसन्देहास्पदकार्ये इत्यर्थः, प्रवृत्तिः=साहसप्रयत्न , न विधेया=न कर्तव्या ।

भा०—कबूतरों ने पूछा—व्याघ्र ने पथिक को मार डाला यह कथा किस प्रकार है ? तब 'चित्रग्रीव' नाम का कबूतर कहने लगा—मैंने दक्षिणदिशा के 'दण्डक' वन में घूमते २ देखा कि-एक वृद्ध व्याघ्र स्नान करके हाथ में कुश लेके तालाब के किनारे बैठकर बोलता था कि हे यात्री लोग ! यह सोने का कड़ा ले लो, ऐसा सुनकर लोभ के अधीन हो के एक यात्री ने सोचा कि भाग्य से सुवर्ण का कड़ा मिला है, लेकिन जान के खतरे वाले कार्य में साहस की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

यतः—अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

अ०—अनिष्टाद् इष्टलाभे अपि शुभा गतिः न जायते, यत्र विषसंसर्गः आस्ते तद् अमृतम् अपि मृत्यवे (भवति) । व्या०—न इष्टम् अनिष्टं तस्माद् अप्रियाद् अहितकरात् व्याघ्रादे इष्टस्य लाभः इष्टलाभस्तस्मिन्=स्वेप्सितकङ्कणलाभेऽपि, शुभा=कल्याणदा, गतिः=गम्यते इति गतिः फलं दशापरिणाम इति यावत् , न जायते=न सम्पद्यते । तत्र दृष्टान्तम्—यत्र=यस्मिन् , अमृते, विषस्य=गरलस्य, संसर्गः=किञ्चिन्मात्रसम्बन्धः , मिश्रणभावात्मकः , आस्ते=वर्तते, तत्=तादृशम् , अमृतमपि=मृत्युनिवारकमपि, मृत्यवे=मरणाय भवति ।

भा०—जैसे अमृत यद्यपि बहुत इष्ट वस्तु है, तो भी विष का संसर्ग होने से उसको त्याग देना चाहिये, वैसे ही अनिष्ट करने वाले प्राणीसे अपनी इच्छित वस्तु को ग्रहण करने से भी आखिर में दुःख होता है, इसलिये सोने का कड़ा भी त्याग देना चाहिए ॥६॥

किन्तु सर्वत्राऽर्थार्जनप्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

अ०—नरः संशयम् अनारुह्य भद्राणि न पश्यति, पुनः संशयम् आरुह्य यदि जीवति, (तदा) पश्यति । व्या०—किन्तु=परन्तु, सर्वत्र=सर्वस्मिन् स्थले, अर्थानाम् अर्जनं अर्थार्जनम्, तस्य प्रवृत्तिः तस्याः=धनैकत्रीकरणप्रयत्ने इत्यर्थः , सन्देह एव-

[illegible] भवति। तथा च सन्देहे [illegible] तद [illegible]। नरः = मनुष्यः, संशयम् अनारुह्य = असिमन्कार्ये [illegible] जीविष्यामि मरिष्यामि वा इत्येवम् आरुह्य [illegible] भद्राणि = शुभ [illegible] न पश्यति = न लभते। पुनःकिन्तु, संशयं [illegible] सन्देहम् [illegible] यदि जीवति = [illegible], तदा भद्राणि पश्यति = लभते, इति।

भा०—मनुष्य के सन्देह में पड़े बिना कभी उस को शुभ [illegible] हो जाता है लेकिन उस सन्देह को दूर करके 'इस की सिद्धि हो, या तो मरण हो'—ऐसा विचार करके ही कार्य करना चाहिये ऐसा करने से ही उस की सिद्धि होती है॥ ७॥

तन्निरूपयामि तावत्। प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम्?'। व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्—कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः?

व्या०—[illegible] कङ्कणं वर्तते न वा इति [illegible] तावदिति [illegible] निरूपयामि = कङ्कणस्य विचारं करोमि [illegible] प्रकाशम् = [illegible], ब्रूते = कथयति, स पान्थ इति शेषः। कुत्र = कस्मिन् स्थाने तव (व्याघ्रस्य) कङ्कणम् वर्तते इति शेषः। [illegible] हस्तं प्रसार्य = विस्तीर्य दर्शयति पान्थायेति शेषः। तत् दृष्ट्वा पान्थः [illegible] मारात्मके [illegible] मारात्मकस्त्वयि = हिंस्रे, त्वयि = भवति विश्वासः कर्तव्यो भवेत्। हिंस्रे न विश्वासभूमिः [illegible] भवतीति भावः।

भा०—[illegible] ऐसा [illegible] यह पान्थ बोला—'तुम्हारा कङ्कण कहाँ है?' (यह सुनकर) व्याघ्र ने अपना हाथ [illegible] कङ्कण दिखाया। उसके बाद पान्थ बोला 'तू हिंसा करने वाला क्रूर प्राणी है, इसलिये मैं कैसे विश्वास करूँ?'

व्याघ्र उवाच—शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामहम् अतीव दुर्वृत्त आसम्। अनेकगोमानुषाणां वधात् मे पुत्रा मृता दाराश्च वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमुपदिष्टः—'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तः न कथं विश्वासभूमिः?।

व्या०—[illegible] शार्दूलः, [illegible]। रे पान्थ! [illegible] [illegible] प्राक् एव यौवन [illegible] भावी [illegible], यौवनस्य दशा, तस्याम् यौवनदशायाम्, अहम् (व्याघ्रः) अति = [illegible] दुर्वृत्तः

वृत्तम्-आचरणं यस्य सः अतिदुर्वृत्त'=हिंसादिदुराचरणः, आसम्=अभूवम् । अनेन गोमानुषाणां=गावश्च मानुषाश्च गोमानुषा , अनेके च ते गोमानुषाश्च अनेकगोमानुषा स्तेषाम् , बहूनां गवां मानुषाणाञ्चेत्यर्थ । वधात्=हननात्, हननजन्यपापपुञ्जादिति यावत् । मे=मम, पुत्राः=तनुजा , दाराश्च=गृहिणी च, मृताः=निधनं गता , अहं च (व्याघ्र.) वंशेन हीन. वंशहीन =निर्वंशो जातोऽस्मि । तत =वंशनाशानन्तरम् , केनचिद् धार्मिकेण=धर्मम् उपदिशति य स धार्मिकस्तेन धर्मोपदेष्ट्रा पुरुषेणेत्यर्थ , अहं (व्याघ्र) उपदिष्ट =उपदेशेन नियन्त्रितोऽस्मि, आज्ञाऽङ्कितोऽस्मीति यावत् । भवान्=त्वम्, दानधर्मादिकम्-दानमेव धर्मं दानधर्मं , दानधर्म' आदिर्यस्य तत् दानधर्मादिकं दानप्रभृतिपुण्यकर्मं, चरतु इति=करोत्वित्यर्थं । तदुपदेशात्=तस्य धार्मिकस्य पुरुषस्य उपदेश'=आज्ञात्मकं शिक्षणं तस्मात्, इदानीं=वर्तमानाऽवस्थायाम्, अहम्=(व्याघ्र) स्नानशीलः=स्नान शीलं यस्य स , त्रिसन्ध्य स्नानकर्ता, वृद्ध'= जीर्णशरीर , अत एव गलितनखदन्त =नखाश्च दन्ताश्च नखदन्तम् , गलितं=पतितं नखदन्तं यस्य स गलितनखदन्त -हस्ते नखरहित मुखे दन्तरहितश्चेत्यर्थं । तादृश सन् , दाता=दानकर्ता, कथं=केन हेतुना, न विश्वासभूमि.=विश्वासस्य भूमि - स्थानं, पात्रम् ? न भवामि किन्तु भवाम्येवेत्यर्थं ।

भा०—व्याघ्र ने कहा-अरे यात्रिन् ! सुनो, प्रथम ही युवावस्था में मैं बहुत हिंसामय कर्म करता था, बहुत से गौ और मनुष्योंको मारता था, उस पाप से मेरे पुत्र तथा स्त्री सब मर गये, मैं निर्वंश हो गया । उसके बाद कोई एक धार्मिक पुरुष ने मुझको उपदेश दिया कि 'तुम दान आदिक धर्म करो' । उसके उपदेश से इस वृद्धावस्था में नित्य त्रिकाल- स्नान सन्ध्या करनेवाला और वृद्ध होने से मुख में दांत हीन, हाथ में नख हीन ऐसा मैं (व्याघ्र) विश्वास का पात्र क्यों नहीं हूँ ? (अर्थात् विश्वासपात्र ही हूँ) ।

उक्तञ्च—इज्याऽध्ययनदानानि तप' सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ ८ ॥

अ०—इज्याऽध्ययनदानानि तप सत्य धृति क्षमा अलोभ इति अय धर्मस्य अष्टविध' मार्गं स्मृत । व्या०—इज्या=यज्ञ , अध्ययन=स्ववेदशास्त्रादिपठनम् , दान सत्पात्रे वितरणं, तानि, तपः=चान्द्रायणादितपश्चर्या, सत्यम्=ऋतम् , धृति - धैर्यम् , दुःखसहिष्णुतेति यावत् , क्षमा=क्षान्ति , अलोभः=अस्पृहा, तृष्णाराहित्यमिति यावत् । अय धर्मस्य अष्टविध =अष्टौ विधा प्रकारा यस्य स.=अष्टधा, मार्गं =उपाय , स्मृत =कथित , शास्त्रेषु विद्वद्भिरिति शेष' ।

भा०—शास्त्रों में धर्म आठ प्रकारका कहा है, जैसे-यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तप, सत्य, धीरत्व, क्षमा और अलोभ । (इनमें से मैं दान करता हूँ, सत्य बोलता हूँ, लोभ नहीं करता, इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

अ०—तत्र पूर्वः चतुर्वर्गः दम्भार्थमपि सेव्यते उत्तरः चतुर्वर्गः तु महात्मनि एव तिष्ठति । व्या०—तत्र=तेषु अष्टस्वेषु मध्ये, पूर्वः=प्रथमोक्तः, चतुर्वर्गः=चतुर्णां समाहारः इज्याध्ययनदानतपसां वर्गः दम्भार्थम् अपि दम्भात् इत्यर्थः इति दम्भार्थम्=धनादिप्राप्त्यर्थम्, दम्भेनापीत्यर्थः । सेव्यते=अनुष्ठीयते, क्रियते इति शेषः । उत्तरः चतुर्वर्गः=सत्यधृतिक्षमालोभात्मकः वर्गः, महात्मनि = महान्=उदारः आत्मा=चित्तं चरितं वा यस्य सः इति महात्मा तस्मिन् महात्मनि=धार्मिके सत्पुरुषे एव तिष्ठति=वर्तते इति ।

भा०—संसारमें पहलेके चार यज्ञादि दिखावा और धन के लिए भी, अर्थात् दम्भ से भी, कर सकते हैं । लेकिन सत्य धीरज क्षमा और अलोभ ये चार तो महापुरुषों में ही गुण हैं और इनमें कल्याण के लिये ही उपयोगी हैं । (अलोभ तथा सत्य गुण हैं मैं महात्मा हूँ इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ९ ॥

मम चैतावान् लोभविरहः, येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् दातुमिच्छामि तथाऽपि 'व्याघ्रो मानुषं खादति' इति लोकाऽपवादो दुर्निवारः ।

व्या०—मम=व्याघ्रस्य एतावान्=इयान् लोभविरहः=लोभस्य विरहः त्यागः, लोभाभावो वास इत्यर्थः । येन=लोभाभावेन स्वहस्तस्थमपि=स्वस्य हस्तः स्वहस्तः, स्वहस्ते तिष्ठतीति तं स्वहस्तस्थं=स्वकराऽवस्थितमपि सुवर्णस्य कङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् जनायापि दातुम्=अर्पयितुम् इच्छामि=अभिलषामि तथापि=एवं लोभ परित्यागे सत्यपि व्याघ्रः=शार्दूलः, मानुषं=मनुष्यादिकम् खादति=भक्षयति इत्येवं लोकापवादः=जनापवादः, दुर्निवारः=दुःखेनापि निवारयितुम् अशक्यो भवतीति ।

भा०—मैंने यहाँ तक लोभका त्याग कर दिया है कि—अपने हाथ का सोने का कङ्कण भी जिस किसी को देना चाहता हूँ । तो भी 'व्याघ्र मनुष्यों को खा जाता है' ऐसा लोकापवाद मिटाने से नहीं मिटता ।

यतः—गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

अ०—गतानुगतिकः लोकः धर्मे कार्ये द्विजमपि यथा (तथा) उपदेशिनीं कुट्टनीं नो प्रमाणयति । व्या०—गतस्य=गतवतः पूर्वजैरनुसृतस्य मार्गस्य अनुगतिः=अनुसरणं यस्य सः गतानुगतिकः, पूर्वैर्जनैराऽचरितमार्गानुसारी,

श्लोक=श्लोकानां समुदाय, धर्मे=धर्मनिर्धारणे, यथा गोघ्नं गां हन्ति इति गोघ्नस्तं= गोहत्याकारिणम्, द्विजम् = अपि यथा द्वाभ्यां संस्काराभ्यां जन्मयज्ञोपवीताभ्यां जायते शुद्धयति स द्विज', तं=विप्रम्, अपि-इव, धर्मे नो प्रमाणयति इत्यग्राऽन्वय.। तथा उपदेशिनीम् = उपदेशप्रदाम्, कुट्टनीं=शम्भली परपुरुषपरनार्यो. व्यभिचार कारयित्रीं स्त्रीम्, नो प्रमाणयति = प्रमाण न करोति ।

भा०—जैसे गोहत्या करने वाला ब्राह्मण तथा व्यभिचार कराने वाली स्त्री (शुभाऽऽचरण करते हुए भी) धार्मिक उपदेश करने से प्राचीनधर्मानुयायी मनुष्यों में आदरणीय नहीं हैं। (वैसे ही मैंने प्रथम बहुत हिंसा की है पर इस समय हिंसादोष रहित होने-पर भी मेरे वचन में विश्वास नहीं हो सकता परन्तु सचमुच मैं विश्वासपात्र हूँ) ॥ १० ॥

मया च धर्मशास्त्राणि अधीतानि । शृणु—

भा०—मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़ा है। सुनो—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्त्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥

अ०—हे पाण्डुनन्दन ! यथा मरुस्थल्यां वृष्टिः, (सफला भवति यथा च) क्षुधाऽऽर्त्ते भोजनम्, (सफलं भवति) तथा दरिद्रे (यत्) दान दीयते, (तत्) सफलं भवति । व्या०—हे पाण्डुनन्दन ! पाण्डो ='पाण्डुनाम्नो राज्ञः, तनयः=सुत' युधिष्ठिर, तत्सम्बुद्धौ हे युधिष्ठिर ! यथा मरुस्थल्यां=जलशून्ये शुष्कप्रदेशे वृष्टि = वर्षणम्, सफल=सार्थक भवति, यथा च क्षुधया आर्तः क्षुधार्तः तस्मिन्=क्षुधा-पीडिते जने, भोजन=भोजनवस्तुदानम्, सफल भवति, तथा दरिद्रे=धनहीने, यद् दान दीयत तत् सफल=बहुफल भवति इति ।

भा०—हे युधिष्ठिर ! जैसे कि सूखी भूमि में वृष्टि सार्थक होती है और भूखे को भोजन देना सार्थक होता है वैसे ही निर्धन को धनदान देना बहुत सार्थक है, (ऐसा मान कर मैं दान देता हूँ, तुम ले लो) ॥ ११ ॥

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ १२ ॥

अ०—यथा आत्मन. प्राणा अभीष्टा (भवन्ति) तथा भूतानामपि ते (भवन्ति) साधव आत्मौपम्येन भूतानामपि दयां कुर्वन्ति । व्या०—यथा आत्मन =स्वस्य, प्राणा =असव, अभीष्टाः=प्रिया, भवन्ति तथा भूतानामपि=स्वभिन्नानां सर्वेषां शरीरिणामपि, ते=प्राणा अभीष्टा भवन्ति । अत एव, साधवः=सज्जना आत्मौप-म्येन=उपमाया भाव औपम्य आत्मन औपम्य तेन स्वतुलनयेत्यर्थः । भूताना-मपि=सर्वशरीरिणाम् अपि, उपरि, दया=प्राणाऽनुकूलां कृपाम् कुर्वन्ति ।

भा०—अपने प्राण जैसे अपने को प्यारे हैं, वैसे ही सब जीवों को उनके प्राण

[illegible] ॥ १२ ॥

अन्यच्च—प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

अ०—पुरुषः प्रत्याख्याने दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये च आत्मौपम्येन [illegible] अधिगच्छति । व्या०—पुरुषः=मनुष्यः (स्वयम्) [illegible] [illegible] [illegible] ॥

भा०—[illegible] ॥ १३ ॥

अन्यच्च—मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

अ०—यः परदारेषु मातृवत् परद्रव्येषु लोष्ठवत् सर्वभूतेषु आत्मवत् पश्यति स पण्डितः । व्या०—यः=पुरुषः परदारेषु=अन्येषां दारा ([illegible]) [illegible] । मातृवत् [illegible] इति मातरः [illegible] । पश्यति इति शेषः । [illegible] । लोष्ठवत्=लोष्ठेषु इव [illegible] । [illegible] इत्यर्थः । आत्मवत्=आत्मनि इव [illegible] । पश्यति सः पुरुषः पण्डितः=विद्वान् [illegible] महापुरुष इति भावः ।

भा०—जिस पुरुष की परस्त्रियों में अपनी माता के समान भावना हो तथा परधन (वस्तु) में ढेले के समान [illegible] भावना हो तथा सब जीव में आत्मभाव दृष्टि हो, वही महापुरुष कहाता है (अर्थात् [illegible] ही महापुरुष कहाते हैं) ॥ १४ ॥

त्वञ्च अतीव दुर्गतः, तेन तत् तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तम्—

—त्वञ्च=त्वं च, अतीव=अत्यन्तम्, दुर्गतः=दुरवस्थापन्नो निर्धन असि तेन हेतुना तत्=कङ्कणम्, तुभ्यं=भवते दातुम्=अर्पयितुम् अहं सयत्नः [illegible] सुवर्णकङ्कणस्य दानम् [illegible] निश्चितमिति ।

भा०—तुम बहुत गरीब हो इसलिये सुवर्ण का दान तुम जैसे को देनेके लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ । शास्त्र में वैसे ही बताया गया है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १५ ॥

अ०—हे कौन्तेय ! दरिद्रान् भर, ईश्वरे धन मा प्रयच्छ, (यत) व्याधितस्य औषध पथ्य भवति, नीरुजस्य औषध किम् ? व्या०—हे कौन्तेय ! कुन्त्या अपत्य पुमान् कौन्तेय , तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय ! हे युधिष्ठिर ! दरिद्रान्=निर्धनान् , भर=अन्न-वस्त्रादिना प्रतिपालय, ईश्वरे=धनवति पुरुषे, धन मा प्रयच्छ=न देहि, यत व्याधितस्य=व्याधि सञ्जातोऽस्य इति व्याधितस्तस्य रोगिण इत्यर्थ । औषध=भेषजम्, पथ्यं=पथः अनपेत पथ्य हितकर भवति । नीरुजस्य=नास्ति रुजा यस्य स नीरुजस्तस्य रोगहीनस्य औषधै कि प्रयोजनमस्ति? (अर्थात् न किमपि प्रयोजनमस्तीति)।

भा०—हे युधिष्ठिर राजन् ! निर्धनों का पालन करो, धनी को धन देना निष्प्रयोजन होता है, कारण कि—रोगी को औषध देना सफल होता है, निरोगी को देने से कोई लाभ नहीं । (इसलिये हे यात्रिन् , मैं तुझे देता हूँ) ॥ १५ ॥

अन्यच्च—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदु. ॥ १६ ॥

अ०—दातव्यमिति यद् दान देशे काले च अनुपकारिणि पात्रे दीयते, तद्दानं सात्विक विदु । व्या०—दान दातव्यमिति मि स्वार्थभावनया यत् धनादिदान देशे= तीर्थस्थले, काले=पुण्यपर्वणि, अनुपकारिणि=उपकार प्रतिलाभोऽस्ति अस्य इति उपकारी स न भवतीति अनुपकारी तस्मिन् प्रत्युपकाररहिते, पात्रे=सत्पात्रे ब्राह्मणादौ, (अनुपकारिणे इति चतुर्थ्यन्तपाठे तु—'पात्रे' इत्यपि, पाति धर्मं इति पाता तस्मै इति व्युत्पत्त्या धार्मिकायेत्यर्थक चतुर्थ्यन्त बोध्यम्) दीयते तद्दानं सात्विक=सात्विकभावान्वित पुण्यप्रदम्, विदु =विद्वांसो जानन्ति ।

भा०—जिसका बदला लेने की आशा न हो, और 'देना ही' ऐसा समझ कर जो दान पवित्र देश काल में सत्पात्र को दिया जाता है—वही सात्त्विक दान शास्त्र में कहा गया है । (इसलिये मैं तुमको बदले की आशा विना देता हूँ, ले लो) ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणमिदं गृहाण । ततो यावदसौ तद्वच.प्रतीतो लोभात् सर स्नातुं प्रविष्ट, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षम । तं पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि ! अतस्त्वामहमुत्थापयामि' इत्युक्त्वा शनै शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृत. स पान्थोऽचिन्तयत्—

व्या॰—तदनन्तरमसौ निर्धनाय सत्याय सुताय तुभ्यमेव दातुमिच्छामीति हेतोः, अतस्त्वमिमम् पुरोवर्तिनि सरसि=सरोवरे स्नानमाचमनकर्म कृत्वा, स्नात्वैव शुचो भूत्वेति भावः। इदं सुवर्णस्य कङ्कणम् गृहाण=स्वीकुरु, ततः=व्याघ्रवचनाश्रवणा-नन्तरम्, यावत्त्वमिमम् वचो, लोभाकृष्टमनसा तद्वचसि जातविश्वासः व्याघ्रस्य वचसि प्रतीतो विश्वस्तः सन् 'जातविश्वासः' इति पाठान्तरम्। असौ पान्थः, सरः स्नातुं प्रविष्टः, प्रविशति इति पाठान्तरम्। सरोवरे स्नानाय प्रविशति तावदस्मिन्नेव क्षणे, महापङ्के पङ्कः तस्मिन्=पङ्कमध्ये निमग्नः=नितराम् अतीव मग्नः अव-पादे निपतितः सन् पलायितुम्=अपसरणाय अशक्नुवन्, अक्षमः सन्, अहमवश्य म्रिये इति मत्वा भयाकुलः अभूत। तदनन्तरं पङ्के पतितमपि पान्थम्, तं=दृष्ट्वा व्याघ्रेणोक्तम्, व्याघ्रः अवदत्=अकथयत् अहह! अहो खेदे, हा हा महापङ्के=पङ्कमध्ये पतितः=मग्नः, त्वम्, अतः=अस्मात् कारणात्, अहं (व्याघ्रः) त्वाम् (पान्थम्) उत्थापयामि=निष्कास्य जीवयामि इत्युक्त्वा=इत्यवधार्य शनैःशनैः समुपागत्य शनैः शनैः—धीरं धीरम्, तेन व्याघ्रेण उपगम्य=समीपं गत्वा, धृतः=सम्यग् आक्रान्तः, सः पान्थः=स पान्थः (पथिकः) अचिन्तयत्=मनसा चिन्तितं चकार।

भा॰—तुमको ही देता हूँ इसलिये तालाब में स्नान करके पवित्र होके सुवर्ण का कङ्कण ग्रहण करो। ऐसा सुन कर लोभ से व्याघ्र के वचन में विश्वास रख कर तालाब में स्नान करने को पैठ गया कि एकाएक भारी कीचड़ में फँस गया और भागने को असमर्थ हो गया। उस पान्थ को कीचड़ में पड़ा हुआ देख कर व्याघ्र बोला—अहा हा! तुम भारी कीचड़ में फँस गये हो, मैं तुमको बाहर निकालता हूँ। व्याघ्र ने ऐसा कह कर धीरे से पान्थ के पास जाकर पान्थ को पकड़ लिया, तब पान्थ विचार करने लगा कि—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथाऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥१७॥

अ॰—दुरात्मनः (धर्माऽऽचरणे इति शेषः) धर्मशास्त्रं पठति इत्यपि कारणं न, (भवति) वेदाध्ययनमपि (कारणं) न च (भवति), किन्तु अत्र-(धर्माचरणे) तथा स्वभाव एव अतिरिच्यते, यथा गवां पयः प्रकृत्या मधुरं भवति। व्या॰—दुरात्मनः दुः=दुष्ट आत्मा=भावना आचारो वा यस्य सः दुरात्मा, तस्य दुरात्मनः दुष्ट-स्वभावस्य, (धर्माऽऽचरणे=धर्मानुष्ठाने) धर्मशास्त्रम्=धर्मस्य प्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् तत् पठति=अधीते दुरात्मा इति शेषः। इत्यपि कारणं न भवति=दुरात्मना धर्मशास्त्रम् अधीतं चेत् तेनापि किं फलम्? न किञ्चित्, धर्मे-शास्त्राध्ययने कृतेऽपि दुरात्मभावस्य अविनाशाद् इत्यर्थः। एवं वेदाध्ययनं=वेद-स्य=ऋग्यजुःसामाथर्वनाम्नामध्ययनम् अध्ययनम्=पठनमपि दुरात्मनो धर्माचरणे

(कारणं) न च भवति। किन्तु अत्र = धार्मिकप्रवृत्तौ, स्वभाव एव=जन्मना तादृश सात्त्विकभाव एव, अतिरिच्यते = मुख्यकारणत्वेन परिगणनां वहति। यथा तत्र दृष्टान्तम् = गवां पयः दुग्धम् , प्रकृत्या = स्वभावेनैव, मधुरम् = अमृतसम-स्वादु, भवति। वशस्थवृत्तम्।

भा०—जैसे गौ का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है, वैसे ही जो व्यक्ति स्वभावसे ही सत्त्वगुणी सत्पुरुष हो उसकी ही धर्म में प्रवृत्ति होती है और जो स्वभाव से ही दुष्ट हो, उसने चाहे कई धर्मशास्त्र और वेद का अध्ययन भले ही कर डाला हो तो भी उसकी दुष्टता तथा अधर्माचरण दूर नहीं होते। (इसलिये दुष्टात्मा व्याघ्र–जैसे का शास्त्राध्ययन दूसरों को फँसाने के लिये ही है, धर्माचरणार्थ नहीं) ॥ १७ ॥

किञ्च—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

अ०—अवशेन्द्रियचित्तानां क्रिया हस्तिस्नानमिव (निष्फला भवति) क्रियां विना ज्ञानं दुर्भगाऽऽभरणप्रायः भारः (भवति)। व्या०— इन्द्रियाणि=श्रोत्रादीनि, चित्तानि=मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकाऽन्तःकरणानि, अवशानि इन्द्रियाणि चित्तानि च येषान्ते तेषाम्=इन्द्रियाऽन्तःकरणवशीभूतानामित्यर्थः। क्रिया=सन्ध्यावन्दना-त्मिका नित्या, व्रतयज्ञात्मिका नैमित्तिका, यावत्य. क्रिया इत्यर्थः। हस्तिस्नान-मिव = हस्तः = शुण्डादण्डः अस्ति अस्य स हस्ती, हस्तिन. स्नान तद्विव, यथा हस्ती स्नात्वा पुनः स्वदेहं धूलीविकिरणेन मलिनीकरोति, अतस्तस्य स्नानं निष्फ-लम्, तद्वदित्यर्थं। निष्फला = फलरहिता भवति, पुनः पापाचरणादिति भाव.। तथा क्रियां विना=इन्द्रियविजयरूप शास्त्रोक्त वा यज्ञाद्यनुष्ठानमन्तरेण, ज्ञान= केवलधर्मशास्त्रादिजन्यबुद्धिरपि दुर्भगाऽऽभरणप्राय·—भगं = पतिसौभाग्यम् , दुः = नास्ति पतिसौभाग्यरूप भग यस्याः सा दुर्भगा, विधवेति यावत् , तस्याः आभ-रणम् = अलङ्कार., तत्प्रायः = तत्तुल्यः, भार एव = विधवाधीरताऽऽभूषणानि न शोभावहानि, किन्तु भाररूपाण्येव, अथवा दुर्भगाया अन्यायाः भरणम् आजीवनं पोषणं यथा भाररूप तथा निष्क्रिय ज्ञानं निरर्थक भारभूतमित्यर्थं।

भा०—जैसे हाथी स्नान करके फिर अपने शरीर को धूलि से मलिन कर लेता है, इस लिये उसका स्नान करना व्यर्थ है, वैसे ही इन्द्रियाधीन पुरुष सन्ध्या–यज्ञादि करके फिर पाप करता है इसलिए उसका सन्ध्यादि करना निष्फल है और इस हेतु से ही जैसे विधवा स्त्री को आभूषण धारण करना भाररूप है, वैसे इन्द्रियाधीन पुरुष का धर्मादि कार्य सब भार (क्लेश) रूप हो जाता है ॥ १८ ॥

'तन्मया भद्रं न कृतम् , यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः' । तथा चोक्तम्—

व्या०—तत्=तस्मात्, मया (यात्रिणा) भद्रं=सुखद कर्म, न कृतम्=न आचरितम्, यत्=यस्मात्, अत्र=अस्मिन्, मारात्मके=हिंस्रस्वभावे व्याघ्रे, विश्वास· कृत इति।

भा०—इसलिये मैंने यह अच्छा काम नहीं किया, जो कि—इस हिंसक व्याघ्र में विश्वास किया। कहा भी है :—

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

अ०—नखिनां शस्त्रपाणीनां नदीनां तथा शृङ्गिणां स्त्रीषु राजकुलेषु च विश्वासो नैव कर्तव्यः। व्या०—नदीनां = स्रोतस्वतीनां सरिताम्। सर्वे पतन्ति वेगान्ते तस्य पातयन्त्येवोपान्तस्थजनमित्यर्थः। शस्त्राः सन्ति येषामिति शस्त्रिणस्तेषां व्याघ्रादीनामित्यर्थः। नखानि विद्यन्ते एषाम् इति नखिनस्तेषां सिंहव्याघ्राणाम गोमहिषमेषादीनामित्यर्थः (सर्वत्र सम्बन्धे षष्ठी) स्त्रीषु = नारीषु। राज्ञां कुलानि तेषु = राजवंशोत्पन्नेषु च विश्वासः न कर्तव्यः, कदाचित् हानिकरत्वात्।

भा०—जिनका विश्वास न हो जैसे कि—नदियाँ, शस्त्रधारी सींगवाले नख वाले, स्त्रियाँ और राजपुरुष, इनका विश्वास नहीं करना (क्योंकि इनकी मनुष्य को कोई क्षण स्थिति न होने से क्या ये मनुष्य को कष्ट में गिराते हैं) ॥ १९ ॥

अपरञ्च—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ २० ॥

अ०—(लोके) सर्वस्य स्वभावा हि परीक्ष्यन्ते इतरे गुणाः न (परीक्ष्यन्ते) हि सर्वान् गुणान् अतीत्य स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते। व्या०—सर्वस्य = प्राणिमात्रस्य स्वभावाः = प्रकृतयः हि = निश्चयं यथा तथा, परीक्ष्यन्ते = सम्यक् आलोच्य विचार्यन्ते इतरे = दानधर्मविद्यादयो गुणाः न परीक्ष्यन्ते,कोऽपीति शेषः। हि = यस्मात् हेतोः, सर्वान् = समस्तान् गुणान् = विद्यादीन् श्रेष्ठतमान् अपि गुणान् अतीत्य = अतिक्रम्य स्वभावः प्रकृतिः मूर्ध्नि शिरसि सर्वोत्कर्षे, वर्तते।

भा०—प्रकृतिस्वभाव ही सब सद्गुण और दुर्गुणों को लांघ कर प्रधान रहता है। इस लिये सभी के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है न कि अन्य गुणों की ॥ २० ॥

अन्यच्च—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी ।
विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥ २१ ॥

अ०—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी असौ विधुरपि विधियोगाद् राहुणा ग्रस्यते। इह ललाटे लिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः (भवति)। व्या०—स हि = प्रसिद्धः सः, गगने विहर्तुं शीलमस्य इति गगनविहारी = आकाशे विहरणशीलः, कल्मषस्य = पापस्य ध्वंसकारी नाशकः, दशशतकराः अंशवः ध्वंसं नाशं करो-

तीति कल्मषध्वंसकारी=सर्वपापघ्नः, सर्वाऽन्धकारघ्नो वा । दशाऽवृत्त शतं दशशतं= सहस्र करान् रश्मीन् धरतीति दशशतकरधारी=सहस्रांशुः सूर्यः, अथ च ज्योतिषां= ग्रहनक्षत्राणाम्, मध्यचारी = मध्यविहारी, असौ = प्रसिद्ध , विधु. = चन्द्रमा , अपि, विधि = दैवम्, तस्य योगात् = नियमात् , राहुणा=विधुन्तुदेन सैंहिकेयेन, ग्रस्यते= कवलीक्रियते (आच्छाद्यते) । इह=जगति, ब्रह्मणा यत् शुभाऽशुभम्, ललाटे=भाले, लिखित=निश्चित्य निहितम, तत् प्रोज्झितुम् = अन्यथाकर्तुं हातुम, क जन समर्थ = शक्त ? न कोऽपीत्यर्थः ।

भा०—आकाश में चलने वाला, पापों का नाश करने वाला सूर्य और तारागणों के मध्य में रहने वाला चन्द्रमा ये दोनों दैवाधीन होकर राहु से ग्रस्त हो जाते हैं । इसलिये विधाता से ललाट में लिखा हुआ भाग्य कभी बदलता नहीं है, ('मार्ग में चलते कङ्कण के लोभ से व्याघ्र द्वारा मरना, या तो कङ्कण पाना' जो लिखा होगा, सो हो जायगा) ॥२१॥

इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण धृत्वा व्यापादितः खादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन' इत्यादि । अत एव सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यमिति ।

व्या०—इति=उक्तप्रकारेण, चिन्तयन्=चिन्तां कुर्वन्नेव, असौ = अयं यात्री, व्याघ्रेण=शार्दूलेन, धृत्वा=गृहीत्वा, आक्रम्य, व्यापादित =नखैर्विदारित , खादितश्च । अत =अविचार्य कर्मकर्ता मरणमाप्नोतीति हेतो परिणामे शुभाऽशुभविचारमकृत्वा, कर्म = किमपि कार्यं, न कर्तव्यम् । अहम् (वृद्धकपोतराज) ब्रवीमि = कथयामि, 'कङ्कणस्येत्यादि' । अत एव सर्वथा = येन केनाऽपि प्रकारेण, अविचारित = प्राक् सम्यग् अनालोचित कर्म = किमपि कार्यं न कर्तव्यमिति ।

भा०—ऐसा विचार करते हुए उस यात्री को व्याघ्र ने मारकर खा डाला । इसलिये मैंने कङ्कण के लोभ का दृष्टान्त दिया । उसका सारांश यह है कि अपने को भी अविचारित काम नहीं करना चाहिए ।

यत —सुजीर्णमन्नं सुविचक्षण सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

अ०—सुजीर्णम् अन्नम्, सुविचक्षण सुत , सुशासिता स्त्री, सुसेवित नृपति , सुचिन्त्य च उक्तम्, सुविचार्य यत् कृतम्, (तत्) सुदीर्घकालेऽपि विक्रियां न याति ।

व्या०—सुष्ठु जीर्णं परिपाकमापन्नम्, अन्नं = भुक्तान्नम्, सुष्ठु विचक्षण = शिक्षित , सुत = तनय , सुष्ठु शासिता = वश नीता, स्त्री = भार्या, सुष्ठु सेवित = आराधित , नृपति = राजा, सुचिन्त्य = सम्यक् पूर्वाऽपर विचिन्त्य = विविच्य, च

उक्तं=कथितम्, सुविचार्य=सम्यक् परीक्ष्य यत् कृतम्=अनुष्ठितम्। तत् सर्वं सुदीर्घकालेऽपि=सुदीर्घकालेऽपि बहुतरसमयेऽपि=चिरकालेऽपि विक्रियां=विकारम्, अन्यथाभावम्, न याति=न प्राप्नोति। वंशस्थवृत्तम्।

भा०—जैसे पचे हुए भोजन से कभी भी विकार नहीं होता है, सुशिक्षित पुत्र से दुःख नहीं होता है, पतिव्रता स्त्री अधर्म नहीं करती है, भली प्रकार सेवा किया हुआ राजा हानिकारक नहीं होता है, विचारकर बोलने से क्लेश नहीं होता है, वैसे ही विचार करके काम करने से भविष्य में कभी भी दुःख नहीं होता है। (इसलिये विचार करके चावल खाने के लिये जाना चाहिये)॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित् कपोतः सदर्पमाह—आः! किमेवमुच्यते?—

व्या०—एतद्वचनम्=कपोतराजाभिहितं वचनम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य कश्चित् कपोतः=अन्यतमः कश्चिदेकः, कपोतः=पारावतः, सदर्पम्=दर्पेण सहितं सदर्पं=साहङ्कारम्, आह=ब्रवीति—आः=अपवादे, एवं=विचारसहितम् एतत्प्रकारं वचनम्, किमुच्यते=कथं कथ्यते।

भा०—इस कबूतर का वचन सुनकर कोई दूसरा कबूतर अहंकार के साथ बोल उठा—और ऐसा व्यर्थ वचन क्यों बोलते हो (इसके बोलने का काम मत करो क्योंकि)—

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैवं विचारे च भोजनेऽपि प्रवर्तनम्॥ २३॥

अ०—आपत्काले उपस्थिते हि वृद्धस्य वचनं ग्राह्यम्, सर्वत्र एवं विचारे (सति) भोजनेऽपि प्रवर्तनं न स्यात्। व्या०—हि=यस्मात् कारणात् आपत्काले=आपत्तौ विपत्तिकाले आपदः सङ्कटस्य समये उपस्थिते=प्राप्ते, वृद्धस्य=वयोवृद्धस्य ज्ञानवृद्धस्य गुणवृद्धस्य च, वचनम्=उपदेशवाक्यम्, ग्राह्यम्=अवश्य स्वीकार्यम्, न तु सर्वत्र, यतः सर्वत्र=सर्वस्मिन् कार्ये विषये, एवम्=वृद्धवचनं ग्राह्यमिति विचारे=विचारे कृते सति भोजनेऽपि=आहारेऽपि प्रवर्तनं=प्रवृत्तिः न स्यात्।

भा०—बड़ी बड़ी आपत्तियों आने पर वृद्ध पुरुषों के वचनों को मान कर कार्य करना चाहिये। अन्य कार्य में भी वृद्धों के वचनों को मानने लगे, तो भोजन-जैसा साधारण कार्य भी स्वतन्त्रता से न हो सकेगा। (इसलिये चावल खाने को जाना चाहिये)॥ २३॥

यतः—शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा?॥ २४॥

अ०—भूतले शङ्काभिः अन्नं पानं च सर्वम् आक्रान्तम्, कुत्र प्रवृत्तिः कर्तव्या, कथं नु वा जीवितव्यम्। व्या०—भूतले=भूमण्डले पृथिव्याम्, शङ्काभिः=भयैः, अन्नम्=अद्यते इति अन्नं भक्ष्यम्, पानं=पीयतेऽनेनेति पानं जलादिकम्, सर्वम् आक्रान्तं=व्याप्तम्। एवं सति कुत्र=कस्मिन् विषये प्रवृत्तिः=

प्रयत्न, कर्तव्या, नु=(प्रश्ने) तर्हि पृच्छामि, (हे चित्रग्रीव!) कथं वा=केन प्रकारेण, जीवितव्यं=प्राणितव्यम्? अतः संशयमात्रेण तण्डुलेच्छा न त्यक्तव्या।

भा०—संसार में खान-पानादि सब पदार्थों में प्रतिकूल होने का संशय रहता ही है, शङ्कामात्र से प्रवृत्ति का निरोध करने से जीवन चलना भी दुर्गम होगा॥ २४॥

तथा चोक्तम्—ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः॥ २५॥

अ०—ईर्ष्यी घृणी तु असन्तुष्टः क्रोधनः नित्यशङ्कितः परभाग्योपजीवी च एते षट् दुःखभागिनः (भवन्ति)। व्या०—ईर्ष्या=पराऽभ्युदयाऽसहिष्णुता विद्यते अस्य इति ईर्ष्यी=परोत्कर्षाऽसहिष्णुः, घृणा विद्यते अस्य इति घृणी, सन्तोषरहितः, सतृष्ण इति यावत्। क्रोधनः=कोपनस्वभावः, कुपनशील इति यावत्। नित्यशङ्कितः=सर्वदा शङ्कायुक्तः, परस्य भाग्यं परभाग्यम्, परभाग्येन उपजीवतीति परभाग्योपजीवी=पराधीनजीवन इत्यर्थः। एते षट्=षट्संख्यकाः जनाः, दुःखं भजन्ते इति दुःखभागिनः=क्लेशभाजः भवन्ति।

भा०—ईर्ष्यादिक सब दुःख के कारण हैं, इस हेतु से ईर्ष्यावाला, घृणा (नफरत) करने वाला, तृष्णावाला, क्रोधवाला, शङ्कावाला, पराधीन जीवनवाला मनुष्य दुःख को ही पाता है। (इससे निःशङ्क होकर चावल खाने को जाना चाहिये)॥ २५॥

एतच्छ्रुत्वा तण्डुलकणलोभेन नभोमण्डलादवतीर्य सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः।

व्या०—एतद्=अव्यवहितपूर्वमुक्तं वचनम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, तण्डुलानां कणाः तण्डुलकणाः, तेषां लोभस्तेन, नभसः=गगनस्य मण्डलम् तस्मात्, अवतीर्य=अवरुह्य, सर्वे कपोताः=पारावताः, तत्र=जालाच्छादिते तण्डुलयुक्ते भूतले, उपविष्टाः=निषण्णाः।

भा०—पूर्वोक्त वचन सुन कर चावलकणों के लोभ से आकाश में से नीचे उतर कर सब कबूतर जाल पर बैठ गये।

यतः—सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः।
छेत्तारः संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः॥ २६॥

अ०—सुमहान्ति शास्त्राणि धारयन्तः बहुश्रुताः संशयानां च छेत्तारः अपि लोभमोहिताः क्लिश्यन्ते। व्या०—सुमहान्ति=महार्थप्रतिपादकानि अनेकानि, शास्त्राणि=वेदवेदाङ्गादीनि, धारयन्तः=पठन्तः, बहुश्रुताः=बहूनि श्रुतानि येषां ते, विपुलज्ञानसम्पन्नाः, अत एव च संशयानां=बहुविधसन्देहानाम्, छेत्तारः=निराकर्त्तारः पण्डिता अपि, लोभेन मोहिताः लोभमोहिताः=लोभपरवशाः सन्तः, क्लिश्यन्ते=क्लेशमापद्यन्ते।

भा०—वेद-शास्त्रों को पढ़े हुए और हर तरह के सन्देहों को दूर करने वाले पण्डित लोग भी लोभ से दुःख पाते हैं (तो मालकों के लोभी इन पक्षियों को आपत्ति आने में क्या आश्चर्य ?) २६ ॥

अन्वय—लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

अ०—(यथावत् बोध्य)। व्या—लोभात् = धनाद्यभिलाषात्, क्रोधः = कोपः, प्रभवति = जायते एवमेव लोभात् कामः = विषयभोगवासना, प्रजायते एवमेव लोभात् मोहः = विचारवैमुख्यम् अविवेकित्वमिति यावत् नाशः = मृत्युः च जायते अत एव लोभः पापस्य = सर्वविधापकारस्य कारणं = मूलं भवतीति ।

भा०—लोभ से लोभनीय वस्तु का प्रतिरोध करने वाले पर क्रोध होता है और लोभ से ही विषयों के बारे में मन लगने से कामवासना पैदा होती है और लोभ से हा पापाचरण करने वाले को सत्-असत् का विचार भी नहीं सूझता इससे कभी प्राणहानि भी हो जाती है अतः लोभ ही सब पापों का कारण है ॥ २७ ॥

अन्वय—असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथाऽपि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥२८॥

अ०—हेममृगस्य जन्म असम्भवं (भवति) तथाऽपि रामः मृगाय लुलुभे । समापन्नविपत्तिकाले पुंसां धियः अपि प्रायः मलिनाः भवन्ति । व्या—हेम = सुवर्णस्य मृगस्य हरिणस्य जन्म = उद्भवः, असम्भवम् असम्भवपरिहितमेव तथाऽपि सुवर्णमृगो न भवतीति जानन्नपि, रामः = रमन्ते योगिनोऽस्मिन् इति रामः दाशरथिः भगवान् मृगाय = सुवर्णहरिणाय लुलुभे = लोभाधीनो बभूव । यतः समापन्नाः प्राप्ताः विपदः समापन्नविपत्तयः = विपत्प्राप्तयः, तासां काले तस्मिन् पुंसां = विदुषामपि जनानां धियः बुद्धयः, प्रायः = बाहुल्येन मलिनाः = मोहिताः कर्तव्याकर्तव्यविचारशून्याः भवन्ति ।

भा०—सुवर्ण का हरिण हो ही नहीं सकता है तो भी श्री रामचन्द्र भगवान् सुवर्णमृग में लुब्ध हो गये इस दृष्टान्त से निश्चय होता है कि विपत्ति आने के समय में बड़े पुरुषोंकी बुद्धि भी मलिन (विचारशून्य) हो जाती है (फिर कबूतरोंकी बुद्धि के लिये क्या कहना !) ॥२८॥

अनन्तरं ते सर्वे जालनिबद्धा बभूवुः, ततो यस्य वचनात् तत्रावलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

व्या०—अनन्तरम् इति अनन्तरम् ते सर्वे कपोताः जालेन निबद्धाः = संयताः बभूवुः । ततः = तदनन्तरम् यस्य = वृद्धकपोतस्य वचनात् = वाक्यकथनात् तत्र = तस्मिन् प्रदेशे भूतले अवलम्बिताः = अवतरणम्, तं = कपोतम् ते सर्वे कपोताः, तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

भा०—बैठने के बाद वे सब कबूतर जाल में बंध गये, तब जिस (कबूतर) के कहने से वे सब कबूतर, जालयुक्त भूतल में उतरे थे, उस (कबूतर) का तिरस्कार करने लगे ।

यत —न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्ति· स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥२९॥

अ०—(कश्चित्) गणस्य अग्रत न गच्छेत् , कार्ये सिद्धे फल समम् (भवति) यदि कार्यविपत्ति स्यात् , तत्र (सर्वैः) मुखर हन्यते । व्या०— गणस्य=समूहस्य, मण्डलस्येति यावत् । अग्रत =अग्रे अग्रयायी भूत्वेत्यर्थ , न गच्छेत्=न प्रवर्त्तेत, यत कार्ये =चिकीर्षिते कर्मणि, सिद्धे = निष्पन्ने सति तु, फलम्=इष्टलाभ , समम्=तुल्यम्, समांश भवतीति। यदि चेत् कार्यविपत्ति·=कार्यस्य चिकीर्षितस्य विपत्ति =अनिष्पत्ति , स्यात्, तदा तत्र=तस्मिन् विषये, तेषु मध्ये वा, सर्वे , मुखर =मुख-वाक् अस्ति आज्ञाप्रदत्वेन अस्य इति मुखर =आज्ञाकारी प्रवर्त्तक इत्यर्थ । हन्यते=तिरस्क्रियते इति ।

भा०—किसी भी कार्य में समुदाय का नेता नहीं होना, क्योंकि कार्यसिद्धि होने पर सब समानफलभागी बनते हैं और कार्यसिद्धि नहीं होने से नेता को ही अपयश तथा तिरस्कार का पात्र (सब) बनाते हैं ॥ २९ ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच —नाऽयमस्य दोषः । यत·—

भा०—प्रवर्तक कबूतर के तिरस्कार को सुनकर चित्रग्रीव ने कहा—इस (प्रवर्तक कबूतर) का यह दोष नहीं । क्योंकि —

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति वन्धने ॥ ३० ॥

अ०—हित अपि आपतन्तीनाम् आपदा हेतुताम् आयाति, हि मातृजङ्घा वत्सस्य बन्धने स्तम्भीभवति । व्या०— हित अपि=यो हितकर सोऽपि, आपतन्तीनाम्= आगच्छन्तीनाम् , अवश्यम्भाविनीनाम्, आपदां = विपदाम् , हेतुता=निमित्तकारणताम् , आयाति =आप्नोति । हि यत मातु जङ्घा मातृजङ्घा = परमहितकारी अपि स्वजनन्या ऊरुप्रदेश , वत्सस्य बन्धने = संयमने, स्तम्भीभवति = न स्तम्भ अस्तम्भ , अस्तम्भः स्तम्भो यथा सम्पद्यमानस्तथा भवति इति स्तम्भीभवति, बन्धनस्तम्भो भवतीति ।

भा०—सदा हित करनेवाले जन भी अवश्य आनेवाली आपत्तियों में निमित्तभूत हो जाते हैं, क्योंकि गौ की जाँघ कभी (दोहन के समय) बछड़े का बन्धनस्तम्भरूप भी होती है । इसलिये यह कबूतर निर्दोष है ॥ ३० ॥

अन्यच्च—स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षम· ।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डित· ॥ ३१ ॥

[illegible]

[illegible]

विपत्स्वपि [illegible] अभ्युदये [illegible] धैर्यम[illegible] [illegible] । यथा—

[illegible]

[illegible]

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

[illegible]

भा०—आपत्काल में धीरता रखना, समर्थ होने पर भी क्षमा रखना, स में चतुर होना, युद्ध में शूर वीर होना, कीर्ति में रुचि होना, शास्त्रों में महापुरुषों के ये सब स्वभाव जन्मसिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

अ०—सम्पदि यस्य हर्षो न (भवति), विपदि विषादो न (भवति), रणे च भीरुत्वं (न भवति), तं भुवनत्रयतिलक सुत (काचित्) जननी विरल जनयति। व्या०—सम्पदि = सम्पत्तौ सत्याम् , यस्य = यज्जनस्य, हर्षः = आनन्दातिशयः, न भवति, विपदि=विपत्तौ सत्याम्, विषादः=खेदः अनुत्साहः, न भवति, अथ च रणे= संग्रामे सति, भीरुत्वं=भयशीलत्वम्, न भवति, तं=तादृशगुणयुक्तम्, अत एव भुवन-त्रयतिलकम्–भुवनानां=स्वर्गमर्त्यपातालानां त्रयं, तस्य तिलकः विशेषकः, तम्–त्रिलोकश्रेष्ठमित्यर्थः। सुतं=पुत्रम्, काचित् जननी=माता, विरलं=स्तोकं यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् कदाचित् क्वचिदिति यावत् , जनयति=प्रसूते। आर्यावृत्तम्।

भा०—सम्पत्ति का लाभ होने पर जिसको हर्ष नहीं है, विपत्ति आने पर जिसको शोक नहीं है और युद्ध के मौके पर जिसको कुछ भी भय नहीं है, ऐसे गुणोंसे युक्त त्रिलोकपूज्य पुत्र को कभी कोई माता जन्म देती है ॥ ३७ ॥

अन्यच्च—षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

अ०—इह भूतिमिच्छता पुरुषेण निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधः आलस्यं दीर्घसूत्रता (इति) षट् दोषाः हातव्याः। व्या०—इह=अस्मिन् संसारे, भूतिं=सम्पदम्–अभ्युदयम् इच्छता = वाञ्छता, पुरुषेण=जनेन, निद्रा=स्वापः, तन्द्रा=जाड्यम्, कार्याऽनुत्साहः, भयं=भीरुस्वभावः, क्रोधः = कोपनम् , आलस्यं=परिश्रमविधुरता, दीर्घं=चिरकालेन सूत्रम्=ईप्सितकार्यव्यवस्था यस्य सः, तस्य भावः, चिरक्रियतेति अर्थः। इति षट्-सङ्ख्याकाः दोषाः, हातव्याः = सर्वथा त्यक्तव्याः इति।

भा०—इस संसार में अभ्युदयकी इच्छावाले लोग–'निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता'—इन छह दोषों का त्याग करें ॥ ३४ ॥

इदानीमपि एवं क्रियताम्—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादाय उड्डीयताम्।

भा०—अब भी ऐसा करो कि हम सब एकचित्त होकर जाल को लेकर उड़ चलें।

यतः—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

अ०—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका (भवति यथा) गुणत्वमापन्नैः तृणैः मत्तदन्तिनो बध्यन्ते। व्या०—अल्पानामपि=निर्बलानां क्षुद्राणां वस्तूनामपि संहतिः=समुदायः मेलनम् अपरस्य साधिका कार्यसाधिका=महत्तरकार्यस्य सम्पादयित्री भवति। तत्र दृष्टान्तमाह—तृणैरिति। यथा गुणत्वं=रज्जुभावम् आपन्नैः=प्राप्तैः तृणैः=निर्बलैः तृणवासैः मत्ताः ये दन्तिनः मत्तदन्तिनः=बलवन्तः करिणः, बध्यन्ते=नियम्यन्ते।

भा०—जैसे बहुत तृणों की बनाई हुई रस्सी मदोन्मत्त हाथी को बाँधती है। वैसे ही निर्बल तथा क्षुद्र चीजें भी मिलकर बड़े कार्य को सिद्ध करती हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

अ०—पुंसाम् अल्पकैः अपि स्वकुलैः सह संहतिः श्रेयसी तुषेणापि परित्यक्ताः तण्डुलाः न प्ररोहन्ति। व्या०—पुंसाम्=मनुष्याणाम् अल्पकैः अपि=निर्बलैः स्वकुलैः कुलोत्पन्नैरपि स्वकुलैः=स्वस्य कुटुम्बिभिः आत्मीयजनैर्वा सह, संहतिः=मेलनम् एकता श्रेयसी=कल्याणकारी भवति। तत्र अर्थान्तरन्यासमाह—तुषेणेति। यथा तुषेण=छिलकेनापि तुषेण परित्यक्ताः=वियुक्ताः, तण्डुलाः, न प्ररोहन्ति=न अङ्कुरम् अङ्कुरयितुं समर्था भवन्ति इति।

भा०—मनुष्यों को अपने छोटे और निर्बल भी कुटुम्बियों से मेल रखना ही अच्छा है, क्योंकि चावल भी अपने छिलके से अलग होने पर अङ्कुर को पैदा नहीं कर सकता ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादाय उत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तान् अवलोक्य पश्चाद्धावितोऽचिन्तयत्—

टी०—सर्वे=समस्ताः, पक्षिणः=कपोताः, इति=उक्तप्रकारेण विचिन्त्य=मनसि कृत्वा जालं=पाशम् आदाय=नीत्वा, उत्पतिताः। अनन्तरम्=उड्डयनात् परम् सः=पूर्वोक्तः, व्याधः, सुदूरात्=अतिदूरम् जालस्य अपहारकान् तान्=कपोतान् अवलोक्य पश्चात्=पृष्ठतः, धावितः सन् अचिन्तयत्।

भा०—ऐसी सलाह करके सब कबूतर जाल को लेकर उड़ गये, तब वह व्याध भी जाल लेकर जाते हुए कबूतरों को देखकर दूर तक पीछे-पीछे दौड़ता हुआ विचार करने लगा—

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा ॥ ३७ ॥

अ०—एते विहङ्गमास्तु संहताः मम जालं हरन्ति तु यदा निपतिष्यन्ति तदा मे वशम् एष्यन्ति। व्या०—एते विहायसा आकाशेन गच्छन्तीति विहङ्गमाः=कपोताः, संहताः=मिलिताः सन्तः, मम (व्याधस्य) जालं=पाशम् हरन्ति=नीत्वा

पलायन्ते, तु=किन्तु, यदा भूतले निपतिष्यन्ति=अवतरिष्यन्ति, तदा मे (व्याधस्य), वशम्, पुष्यन्ति=प्राप्स्यन्तीति।

भा०—ये सब कबूतर मिलकर मेरे जाल को ले जा रहे हैं, लेकिन जब पृथिवी पर उतरेंगे तब अवश्य मेरे हाथ आ जायेंगे ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः। अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः-'स्वामिन्! किमिदानीं कर्तुमुचितम्?' चित्रग्रीव उवाच—

व्या०—ततः=अनन्तरम्, किन्तु इति यावत्, तेषु पक्षिषु=कपोतेषु, चक्षुषोर्विषयस्तम्=चक्षुर्ग्राह्यताम्, अतिक्रान्तेषु=अतीत्य गतेषु सत्सु, सः=धावन्, व्याधः निवृत्तः=जालाशामपि विहाय स्वस्थानं प्रति गतः। अथ=अनन्तरम्, ते कपोताः, लुब्धकं=व्याधम्, निवृत्तं दृष्ट्वा=प्रतिसृतमवलोक्य, ऊचुः=कपोतराजं पप्रच्छुः, स्वामिन्! (वृद्धसम्बोधने), इदानीम्=अस्मिन् समये, किं=कीदृशः व्यापारः, कर्तुम्=अनुष्ठातुम्, उचितं=योग्यः, तदा चित्रग्रीवः, उवाच=उक्तवान्।

भा०—लेकिन जब वे कबूतर अदृश्य हो गये, तब व्याध घर लौट गया। उसके बाद व्याध को लौटे हुए देखकर सब कबूतरों ने वृद्ध कबूतर से पूछा—स्वामिन्! अब क्या करना चाहिये? चित्रग्रीव ने जवाब दिया—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३८ ॥

अ०—माता मित्रं पिता च इति त्रितयं स्वभावाद् हितम् (भवति)। अन्ये च कार्यकारणतः हितबुद्धयः भवन्ति। व्या०—माता=स्वजननी, मित्रं=स्वाभाविकसुहृत्, पिता=स्वजनकश्च, इति=एतत्, त्रितयं=त्र्यवयवम्, हितं=सर्वदा स्वभावत एव हितकरं भवति। अन्ये=एभ्यस्त्रिभ्य इतरे तु, कार्यं च कारणं च ताभ्याम्, केचित् कार्यवशात्, केचिच्च कारणवशात्, हितबुद्धयः=हिता बुद्धिर्येषान्ते हितकरा भवन्ति इति।

भा०—माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से ही हित करने वाले होते हैं और दूसरे तो कार्य कारण रूपी स्वार्थ के लिए हितकारी बन जाते हैं ॥ ३८ ॥

तन्मे मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः, हिरण्यकश्च सर्वदा अपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति।

व्या०—तत्=तस्मात्, मित्रस्य सदा हितकरत्वात्, मे मित्रं=मम गाढसुहृत्

'हिरण्यक' इति नाम्ना प्रसिद्धः, मूषिकाणां राजा इति मूषिकराजः 'गण्डकी' नामनद्यास्तीरे तस्मिन् चित्रे च वने च तरिमन्, विवरमित्याद्यं करोति । स हिरण्यकः अस्माकं=सर्वेषां कपोतानाम् पाशान्=बन्धनान् छेत्स्यतीत्यन्तो विचारयिष्यति इति=इत्येवम् आलोच्य=विचार्य सर्वे कपोताः, हिरण्यकस्य विवरं=बिलम् तस्य समीपं=निकटम्, गताः । हिरण्यकः, सर्वदा=सततम् अपायस्य=नाशस्य विनाशस्य मा भूदिति आशङ्कया तथा शतद्वारं=शतं द्वाराणि निर्गमप्रवेशमार्गा यस्य तत् तादृशम्, विवरं=बिलं भूमिमध्यगर्तम्, कृत्वा निवसति=निर्भयः सन् वसति ।

भा०—इसलिए मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के किनारे चित्रवन में रहता है, वह इन सभों के बन्धनों को काटेगा । ऐसा विचार करके सब कबूतर हिरण्यक के निवासस्थान (बिल) पर गये । हिरण्यक भी सदा विपत्ति की शङ्का से सैकड़ों मुख का बिल बनाकर रहता है ।

ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितः तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक ! कथमस्मान् न सम्भाषसे ।' ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्—आः ! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः—

व्या०—ततः विवरं प्रति गमनानन्तरम् हिरण्यकनामा मूषिकराजः कपोतानाम् अवपातः=वेगात् पतनम् तस्मात् भयम् तस्मात् चकितः सम्भ्रान्तः सन् तूष्णीं=मौनम्, स्थितः=तस्थौ । ततः चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, उवाच=उक्तवान्, सखे=मित्र ! हिरण्यक ! कथं=केन हेतुना अस्मान् कपोतान् न सम्भाषसे न सम्भाषयसि ततः=चित्रग्रीवोक्तिश्रवणानन्तरम् हिरण्यकनामा मूषिकराजः, तस्य चित्रग्रीवस्य वचनं शब्दं, प्रत्यभिज्ञाय=ज्ञात्वा परिचय ससम्भ्रमं—सम्भ्रमेण=आनन्दोत्साहेन सहितं यथा स्यात् तथा, विवरात् बहिर्निःसृत्य निर्गत्य अब्रवीत्=कथितवान् आः (आश्चर्यबोधकम्) पुण्यवान्=पुण्यसहित अस्मि पुण्यात्मा अस्मि=भवामि, यत् मेऽस्य मम मित्रसुहृत् मित्रम् आयातीति चित्र कोमलं हृदयं यस्य सः सुहृत्प्रियकारी सुहृदित्यर्थः प्रियसुहृत्प्रकारेणायातः तथा चित्रग्रीवः समायातः=आगतः ।

भा०—फिर बिल पर कबूतरों के आने के बाद कबूतरों के आने की आवाज से भयभीत होकर वह हिरण्यक चुपचाप ही रहा, तब चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक ! हमसे क्यों नहीं बोलते हो ? हिरण्यक अपने मित्र के उस वचन को पहचान कर बड़ी आनन्द उत्साह के साथ बाहर आया और बोला—अहो ! मेरा पुण्योदय हुआ क्योंकि आज मेरे मित्र चित्रग्रीव आये हैं ।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ३९ ॥

अ०—यस्य मित्रेण सम्भाष, यस्य मित्रेण संस्थिति', यस्य मित्रेण सलाप, (भवति) इह तत. पुण्यवान् नास्ति । व्या०—यस्य=जनस्य, मित्रेण=सुहृदा सह, सम्भाषः=सम्यग् वार्तालाप भवति, यस्य=जनस्य, मित्रेण सह, संस्थितिः= एकत्र वास भवति, यस्य=जनस्य, मित्रेण सह संलापः=परस्पररहस्यविचारादिक च भवति, इह=अस्मिन् ससारे, तत =तस्माजनात्, पुण्यवान्=पुण्यशाली, अन्य कश्चिदपि नास्तीति ।

भा०—जिसका मित्र के साथ सम्भाषण होता हैं, जिसका मित्र के साथ रहना होता है, तथा जिसका मित्र के साथ रहस्य विचार होता है, उस पुरुष के समान पुण्यशाली दूसरा कोई नहीं है ॥ ३९ ॥

अथ पाशवद्धांश्चैतान् दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच—सखे ! किमेतत् ? चित्रग्रीव उवाच—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्' ।

व्या०—अथ=बहिर्नि'सरणानन्तरम्, एतान्=कपोतान्, पाशवद्धान्=पाशेन वद्धास्तान्, दृष्ट्वा, सविस्मय =विस्मयेन आश्चर्येण सहित सन्, क्षण=क्षणमात्रम्, स्थित्वा=स्तब्धत्वेनाऽवस्थाय, (स हिरण्यक) उवाच=उक्तवान्, सखे !=मित्र ! चित्रग्रीव ! एतत् पाशबन्धनम्, किं=किं किमित्त जातम् ? चित्रग्रीव उवाच= प्रत्युक्तवान्—सखे ! = मित्र हिरण्यक ! एतत् अस्माक=सर्वेषां कपोतानाम्, प्राग्भवं प्राक्तनम्, प्राक्तन च तज्जन्म, प्राक्तनजन्म, तस्मिन् कृत कर्म तस्य, पूर्वभवकृताऽनिष्टस्येत्यर्थ, फल=परिणाम अस्तीति ।

भा०—बाहर आने के बाद जाल से बँधे हुए सब कबूतरों को देखकर आश्चर्य के साथ क्षणमात्र स्तब्ध हो के हिरण्यक बोला-मित्र चित्रग्रीव ! यह बन्धन कैसे हुआ ? चित्रग्रीव ने कहा-मित्र हिरण्यक ! यह बन्धन हमारे पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है ।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

अ०—यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाऽशुभम् आत्मकर्म (भवति) विधातृवशात् तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तावच्च तत्र च तच्च उपैति । व्या०—यस्मात्=यत्कारणाच्च, येन=कारणेन च, यथा=येन

प्रकारेण च, यदा = यस्मिन् काले च यद् = यादृशं च यावत् = यत्परिमाणं च, यत्र च = यस्मिन् स्थाने च शुभम् अशुभं च शुभाशुभम् = पुण्यं पापं च आत्मकर्म = आत्मना स्वस्य कर्म कर्तव्यं भवति । विधातृवशात् = विधाता दैवं तस्माद् विधातृवशात्, तस्माच्च कारणात् तेन च करणेन तथा च = तेन च प्रकारेण, तदा च = तस्मिन् काले, तावत् परिमाणं च, तत्र च स्थाने तद् = तादृशं शुभाशुभं कर्म, उपैति = उपस्थितं भवति ।

भा०—जिस कारण से जिस करण से जिस प्रकार से जिस काल में जैसा, जितना जीव-द्वारा जहाँ जहाँ जो-जो शुभ या अशुभ कर्म कर भोगना किया होता है भाग्यवश से उस कारण से उस करण से, उसी प्रकार से उसी समय में वैसा ही जीव या वहाँ उसी स्थान में वह शुभाऽशुभ कर्म फलरूप में परिणत हो के उपस्थित हो जाता है ॥ ५० ॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।
आत्माऽपराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ५१ ॥

अ०—रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि एतानि च देहिनाम् आत्मापराधवृक्षाणां फलानि (भवन्ति) । व्या०—रोगः = शारीरव्याधिः शोकः = मानसिकचिन्ता च परीतापः = आपत्तिजा वेदना च बन्धनं = पाशादिभिर्बन्धनं च व्यसनं = ... वा, इति रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि (इतरेतरद्वन्द्वः—'... इति परिभाषा) एतानि = ... देहिनां = शरीरिणाम् आत्मापराधवृक्षाणाम् = आत्मनः स्वेषाम् अपराधाः दुष्कर्माणि ते एव वृक्षास्तेषाम् फलानि = परिणामाः सन्तीति ।

भा०—रोग, शोक, वेदना, बन्धन, व्यसन आदि आपत्तियाँ जो शरीरधारियों को होती हैं वे सब अपने किये हुए कर्म रूप वृक्ष के फल हैं ॥ ५१ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकः (सः मूषिकः) चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति स्म । चित्रग्रीव उवाच—मित्र ! मा मैवं कुरु (किन्तु) प्रथमम् अस्मदाश्रितानाम् एतेषां तावत् पाशांश्छिन्धि मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि । हिरण्यकोऽप्याह—अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थो भवामि ? तद् यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत् तव पाशं छिनद्मि । तदनन्तरमप्येतेषां बन्धनं यावत् शक्यं छेत्स्यामि । चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवं तथाऽपि यथाशक्ति बन्धनमेतेषां खण्डय । हिरण्यकेन उक्तम्—आत्मपरित्यागेन यद् आश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिवेदिनां सम्मतम् ।

भा०—इतना सुनकर [illegible] वह हिरण्यक नामा चूहा, चित्र-

ग्रीवस्य = कपोतराजस्य, बन्धनं = पाशनियन्त्रणम्, छेत्तु = विदारयितुम्, सत्वर = द्रुतम्, उपसर्पति = चित्रग्रीवस्य समीपे गच्छति, तत्र = तस्मिन् समये, चित्रग्रीवः = कपोतराज, उवाच = उक्तवान्, मित्र ! = सुहृद् ! हिरण्यक ! मा मा = न हि न हि, एव = प्रथम मम बन्धनच्छेदनप्रयासम, कुरु = विधेहि, किन्तु प्रथम = पूर्वम्, अस्मान् आश्रिता अस्मदाश्रितास्तेषाम् = अस्मद्रक्षयाणाम् एतेषां कपोतानाम्, तावत् = साकल्येन, पाशान् = बन्धनानि, छिन्धि त्व विदारय, पश्चात् = अनन्तरम्, मम (चित्रग्रीवस्य) बन्धन = पाशम, छेत्स्यसि = विदारयिष्यसि, हिरण्यकनामा मूषिकराजः, अपि, आह – ब्रवीति, अहम् अल्पशक्तिः = अल्पा लघ्वी शक्तिः सामर्थ्यं बलं यस्य स, स्वल्पबलवान् भवामीति। किञ्च मे (हिरण्यकस्य) दन्ताः = दशना, कोमला, जर्जरिताश्च भवन्तीति तत् = तस्माद्धेतो, एतेषां = सर्वेषां कपोतानाम्, पाशान् = बन्धनानि, छेत्तु = विदारयितुम् कथ = केन प्रकारेण, समर्थः = क्षमः भवामि, तत् = तस्माद् असमर्थत्वाद्धेतोः, मे = मम, दन्ताः = दशना, यावत् = यावत्समय, न त्रुटयन्ति = भग्ना न भवन्ति, तावत् = तदवधिकालम्, तव (ते चित्रग्रीवस्य) पाशं = बन्धनम्, छिनद्मि = अह खण्डयामि, तदनन्तर = ते बन्धनच्छेदनात् परम्, एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धनमपि यावत् शक्यम् = यावता यत्नेन छेत्तु शक्यते तावत्, छेत्स्यामि = खण्डयिष्यामि, (एतच्छ्रुत्वा) चित्रग्रीव = कपोतराज, उवाच – एवम् अस्तु = यत् तवाऽभिमत तदेव भवतु, तथाऽपि पूर्वम् एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धन यथाशक्ति – शक्तिम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाशक्ति = यावच्छक्य तावत्, खण्डय = त्वं विदारय, ततो हिरण्यकेन मूषिकराजेन उक्तम् – आत्मन = स्वस्य परित्यागः = हतिः तेन = स्वविनिमयेनेत्यर्थः। आश्रितानाम् = अनुजीविनाम्, यत् परिरक्षण = परित्राणम्, तत् नीतिवेदिनाम – नीतिं विदन्ति इति नीतिवेदिनस्तेषां = नीतिज्ञानाम्, न सम्मतम्।

भा०—यह सुनकर हिरण्यक नाम का चूहा चित्रग्रीव नामक कपोतराज के बन्धन को काटने के लिये शीघ्रता से जाता है। इतने में चित्रग्रीव ने कहा—मित्र ! ऐसा मत करो। प्रथम हमारे आश्रित इन सब कबूतरों के बन्धन काटो, पीछे मेरा बन्धन काटना, तब हिरण्यक ने कहा—मैं अल्पशक्ति वाला हूँ—और मेरे दांत निर्बल हैं, इसलिये इन सब के बन्धनों को कैसे काट सकूँगा, तो भी जब तब मेरे दांत नहीं टूटेंगे तब तक तुम्हारे (चित्रग्रीव के) बन्धन को काट डालूं, उसके बाद सबके बन्धनों को जहाँ तक बन सकेगा काटूंगा। तब चित्रग्रीव ने कहा—अच्छा वैसा ही सही, तो भी जहाँ तक बन सके, इन सबके बन्धनों को पहले काटो। तब हिरण्यक ने कहा—अपने को छोड़कर आश्रितों का रक्षण करना यह नीतिज्ञों का सम्मत नहीं है।

यतः—आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥ ४२॥

अ०—आपदर्थे धनं रक्षेत्, धनैरपि दारान् रक्षेत्। दारैरपि धनैरपि आत्मानं सततं रक्षेत्।

व्या०—आपदां=दुर्भिक्षादिविपदाम् अर्थम्=निवारणं तस्मिन् आपत्तिपरिहारार्थमित्यर्थः। धनं=द्रव्यसुवर्णादिकम् रक्षेत्=संगृह्य कोषे स्थापयेत्, धनैरपि=बहुभिः सुवर्णादिभिरपि सर्वस्वविनिमयेनाऽपीति भावः। दारान्=स्त्रियं पत्नीम् रक्षेत्=पालयेत् दारैरपि धनैरपि च=दारधनादिविनिमयेन च आत्मानं=स्वम् सततं=नित्यकालम् रक्षेत्=पालयेदिति।

भा०—दुर्भिक्ष आदि आपत्तियों दूर करने के लिये धन का संग्रह करना और धनको भी छोड़ कर विपत्ति में पड़ी हुई स्त्री की रक्षा करना और स्त्री तथा धन दोनों को छोड़ कर भी आपत्तिग्रस्त अपनी (आत्मा की) रक्षा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

अन्वय—धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान् निघ्नता किन्न हतं? रक्षता किं न रक्षितम्॥ ५३॥

अ०—प्राणाः धर्मार्थकाममोक्षाणां संस्थितिहेतवः (भवन्ति) तान् निघ्नता किं न हतम् (भवति) रक्षता (च) किं न रक्षितं (भवति)। व्या०—प्राणाः=असवः, स्वजीवनमिति भावः। धर्मस्य अर्थस्य कामस्य मोक्षस्य तेषां चतुर्णां पुरुषार्थानामित्यर्थः। संस्थितिहेतवः—संस्थितेः=संरक्षणस्य हेतवः=कारणानि भवन्ति। तान्=प्राणान् निघ्नता=विनाशयता जनेन किमपि वस्तु न हतं=न विनाशितं भवति? तान् प्राणान् रक्षता=पोषयता च जनेन किं वस्तु न रक्षितम्? अर्थात् सर्वमेव रक्षितमिति।

भा०—प्राण ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के कारण हैं इसलिये प्राण के नाश करने वालों ने क्या नाश नहीं किया? अर्थात् सब कुछ नाश किया और प्राण (जीवन) का रक्षण करने वालों ने किस चीज का रक्षण नहीं किया? अर्थात् सबका रक्षण किया है ॥ ५३ ॥

चित्रग्रीव उवाच—सखे! नीतिस्तावद् ईदृश्येव किन्त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थस्तेनेदं ब्रवीमि।

व्या०—चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, हिरण्यकम् उवाच सखे=मित्र! हिरण्यक! (तावत् वाक्यालङ्कारे) नीतिः, ईदृशी=एवमिव वर्तते इति ईदृशी, भवता याऽधुना कथ्यते स्वविनिमयेन आत्मरक्षणम् आत्मरक्षणमित्येतादृशी, एवमस्ति नीतिमार्गः, किन्तु परन्तु, अहम्, अस्माकम् आश्रितास्तेषाम्=तेषां कपोतानाम् दुःखं सोढुम् सर्वथा=सर्वप्रकारेण असमर्थः=समर्थो न भवामि, तेन हेतुना, इदम्='अस्मदाश्रितानां बन्धनं प्राक् छिन्धि' इति वचनम्, ब्रवीमि=कथयामि।

भा०—चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक ! नीति तो तुमने कही वैसी ही है, लेकिन क्या करूँ, अपने अनुजीवियों के कष्ट को सहन करने के लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, इस लिये ऐसा बोल रहा हूँ।

यतः—धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४४ ॥

अ०—प्राज्ञः परार्थे एव धनानि जीवितञ्च उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति सन्निमित्ते त्यागः वरम्। व्या०—प्राज्ञः = प्रज्ञ एव प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, परार्थे=परेषाम् अर्थः प्रयोजनं तस्मिन्, परकार्यसिद्ध्यर्थम्, धनानि = रूप्यकादीनि, जीवितञ्च= आत्मप्राणांश्च, उत्सृजेत्=त्यजेत्। कुतः ? इत्याह—विनाशे=धनस्य विनाशे, जीवितस्य च मरणे, नियते सति = निश्चिते सति, सन्निमित्ते—सत् = शोभनम्, उत्तमं निमित्तं—कारणं परोपकाररूपं तस्मिन्, सत्कार्यसिद्धावित्यर्थः। त्यागः=धनजीवितयोर्विसर्जनम्, वरम् = ईषत्प्रियं भवतीति।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य परोपकारमें ही अपने धन तथा जीवन का उपयोग करें, क्योंकि धन तथा जीवनका नाश कभी न कभी जरूर होगा, इससे सत्कार्यमें लगाना अच्छा है ॥४४॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

व्या०—अयं=वक्ष्यमाणप्रकारः, अपरः=द्वितीयोऽपि, असाधारणः=न साधारणः असाधारणः—मुख्यः, हेतुः = कारणं भवतीति—

भा०—यह भी एक दूसरा मुख्य कारण है—

जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद् भविष्यति ॥ ४५ ॥

अ०—मया सह एषां जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यम्, (भवति) तद् ब्रूहि, मत्प्रभुत्वफलं किं कदा भविष्यति ? व्या०—मया = चित्रग्रीवेण, सह, एषाम् = एतेषां सर्वेषां कपोतानाम्, जातिः=कपोतत्वम्, द्रव्यं = पक्षचञ्च्वादिसम्पत्, बलं=शक्तिः सामर्थ्यं, तेषाम्, चकारेण सहवासादीनां संग्रहः। साम्यम्=एकरूपता अस्ति। तत्= तर्हि एवं सति, ब्रूहि = कथय, मम प्रभुत्वं मत्प्रभुत्वं तस्य फलं=मम आधिपत्यस्य कर्तव्यफलम्, किं=किंरूपम्, कदा = कस्मिन् समये, भविष्यति, नैव भविष्यतीति।

भा०—मेरे साथ इन सब के जाति, सम्पत्, बल ये सब बराबर हैं, मेरे में इन सबका आधिपत्य ही अधिक है। अब कहिये अगर मैं इनका इस वक्त रक्षण न करूँ, तो दूसरा आधिपत्य का कौन सा फल होगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम्।
तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान् ममाश्रितान् ॥ ४६ ॥

अ —एते कर्णं विना ममाऽन्यिके नैव त्यजन्ति तद् मे प्राणव्ययेनापि एतान् ममाश्रितान् जीवय। व्या०—एतेऽमी मे सर्वे कपोताः, कर्णमनुकृत्य, विना=ऋते मम अन्तिकं=समीपम्, नैव त्यजन्ति=मुञ्चन्ति, तत्=तस्मात् हेतोः मे=मम प्राणानां व्ययः विनिमयस्तेन अपि एतान् मम आश्रितान्=मदनुजीविनः सेवारतान् कपोतान् जीवय=रक्ष प्रथमं रक्ष।

भा०—ये सब कबूतर केवल मेरी सेवा ही करते हैं, तो भी मेरा साथ नहीं छोड़ते हैं इसलिये मेरे जीवन के बदले से भी मेरे आश्रित इन सब की रक्षा करो॥५६॥

मित्र—मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिपूरितेऽत्र कलेवरे।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र मे॥५७॥

अ०—मित्र! मांसमूत्रपुरीषास्थिपूरिते विनश्वरे अत्र कलेवरे आस्थां विहाय मे यशः पालय। व्या०—हे मित्र!=हे सखे!, मांसं च=पिशितम्, मूत्रं च पुरीषं च अस्थि च तैः पूरितं पूर्णं तस्मिन् विनश्वरे=नाशशीले, अत्र=अस्मिन् कलेवरे=देहे आस्थां=ममताम् आदरम्, विहाय=परित्यज्य मे=मम यशः=मदनुजीविरक्षणाख्यां कीर्तिम्, पालय=रक्ष। मांसमूत्रपुरीषास्थिभिर्निर्मितेऽस्मिन्निति पाठान्तरम्।

भा०—हे मित्र मांस मूत्र मल हड्डियों इन सबसे भरे हुए इस अनित्य शरीर में ममता को त्याग कर मेरे शरणागतरक्षणरूप यश की रक्षा करो॥५७॥

अपरञ्च पश्य—यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम्॥५८॥

अ०—यदि अनित्येन मलवाहिना कायेन नित्यं निर्मलं यशः लभ्येत नु तत् किं लब्धं न भवेत्? व्या०—यदि=चेत्, न नित्यम् अनित्यं तेन=विनाशिना मलानि वहतीति मलवाही, तेन=मूत्रपुरीषादिदूषितेनाऽशुचिना, कायेन=शरीरेण नित्यं=अविनाशि ध्रुवम् निर्मलं=विशदम् यशः=कीर्तिः, लभ्येत=प्राप्येत 'नु' पृच्छायां वितर्के वा' इत्यमरः। नु=भोः हिरण्यक! तत्=तर्हि किं वस्तु न लब्धं भवेत् का वस्तु न प्राप्तं अर्थात् सर्वोऽपि लब्ध इति।

भा०—यदि अनित्य तथा मलवाही अशुद्ध शरीर से नित्य और विशुद्ध यश मिले, तो क्या नहीं मिला अर्थात् सब कुछ मिला॥५८॥

अन्यच्च—शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥५९॥

अ०—शरीरस्य गुणानाञ्च अन्तरम् अत्यन्तं दूरं (भवति), शरीरं क्षणविध्वंसि (भवति), गुणाः कल्पान्तस्थायिनः (भवन्ति)। व्या०—शरीरस्य=कायस्य गुणानां=दयादाक्षिण्यप्रभृतीनां च अन्तरं=भेदः विरुद्धता, अत्यन्तम्=अतिशयेन दूरम्=अधिकम् महदन्तरमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—शरीरमिति। शरीरं=कायः

क्षणविध्वंसि = क्षणेन अकस्माद् विध्वसते नश्यति, क्षणभङ्गुरमित्यर्थः । धर्मादयो गुणास्तु कल्पान्तस्थायिन = कल्पस्य महाप्रलयस्य अन्त' शेषस्तं यावद् तिष्ठन्ति इति कल्पान्तस्थायिन , महाप्रलयपर्यन्तं स्थितिमन्त इत्यर्थः ।

भा०—शरीर और गुणों में महान् विभेद है, क्योंकि शरीर तो अकस्मात् क्षणमात्र में नष्ट होने योग्य है और धर्मादि गुण तो महाकल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकित सन् अब्रवीत्—'साधु मित्र ! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते' । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां कपोतानां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यक सर्वान् सादरं सम्पूज्य आह—सखे चित्रग्रीव ! सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ सति दोषमाशङ्क्य आत्मनि अवज्ञा न कर्तव्या ।

व्या०— हिरण्यक , इति = चित्रग्रीवस्य इत्येवं वचनम् , आकर्ण्य, प्रहृष्टमना = प्रहृष्टं सन्तुष्टं मनो यस्य स तादृश , अत एव च पुलकितः=पुलका. रोमाञ्चा सञ्जाता अस्येति पुलकितः रोमाञ्चगात्र सन् , अब्रवीत् , हे मित्र ! साधु साधु = त्वया शोभनमुच्यते, अनेन आश्रितवात्सल्येन = आश्रितेषु वात्सल्य स्नेहाऽतिशयस्तेन, त्रैलोक्यस्याऽपि = त्रयाणां लोकानां समाहार , त्रिलोकी, (समाहारद्विगु' ईप् च) त्रिलोकी एव त्रैलोक्य तस्य अपि, प्रभुत्व=स्वामित्वम् , त्वयि=भवति, युज्यते=युक्तं भवति, तेन=हिरण्यकेन, एवमुक्त्वा=इत्येव प्रशंसावाक्यमभिधाय, सर्वेषां कपोतानां, बन्धनानि=पाशा , छिन्नानि=विदारितानि, ततो हिरण्यकः सर्वान्=अशेषान् कपोतान्, सादरम् = आदरेण सहित यथा स्यात् तथा, सम्पूज्य = सम्यक् पूजयित्वा, आह = उक्तवान् , सखे ! चित्रग्रीव ! अत्र = एतस्मिन् , जालबन्धनविधौ सति = जालेन बन्धनं तस्य विधि भवनम्, तस्मिन् सति, दोष=स्वस्य अविमृश्यकारितारूपमपराधम्, आशङ्क्य = विचिन्त्य, आत्मनि=स्वस्मिन् , अवज्ञा=स्वस्याऽनादरः, न कर्तव्या त्वया इति ।

भा०—चित्रग्रीव का वचन सुनकर हिरण्यक आनन्दित और पुलकित होकर बोला—हे मित्र चित्रग्रीव ! तुमने ठीक कहा, आश्रितों पर इस प्रकार के वात्सल्य से तुम्हारे में त्रिलोकी के प्रभुत्व की योग्यता है, ऐसा कहकर उस हिरण्यक ने सब कबूतरों के बन्धनों को काट डाला । उसके बाद हिरण्यक आदरपूर्वक सब कबूतरों की पूजा करके बोला—मित्र चित्रग्रीव ! इस जाल के बन्धन में अपने अविचार्यकारितारूप अपराध को मानकर आत्मा के प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं करना ।

यत'—योऽधिकाद् योजनशतात् पश्यतीहामिषं खग. ।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

व्या०—इह य खग योजनशतात् अधिकाद् आमिषं पश्यति, स एव प्राप्तकालस्तु

पाशबन्धं न पश्यति। व्या०—इह=अस्मिन् लोके, का शब्द—खे=आकाशे भ्रमति इति खगः=पक्षी, योजनशतात्=योजनानां शतं तस्मात्, अतिविप्रकृष्टादपि दूरात्, कुणपं=आमिषम्, शवमपि दूरे स्थितमपि वीक्षते। आमिषं=मांसमित्यर्थः, परन्तु स एव खगः, प्राप्तकालस्तु=प्राप्तः कालः (मृत्युः) यस्य सः सन् तु=पुनः, पाशस्य बन्धनम्=व्याधविस्तीर्णजालम् न पश्यति=नावलोकयतीति।

भा०—इस जगत् में खग (नाम) पक्षी सौ योजन पर की दूरी से भी मांस आदि को देखता है किन्तु जब उसकी मृत्यु निकट आती है तब वह सामने स्थित जाल को भी नहीं देख सकता॥५०॥

अन्यच्च—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।

मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥

अ०—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं च मतिमतां दरिद्रतां विलोक्य मे मतिः (भवति) अहो! विधिः बलवान् इति।

व्या०—शशः चिह्नरूपः अस्ति यस्य इति शशी चन्द्रमाः दिवाकरः सूर्यस्तयोः ग्रहपीडनम् ग्रहेण राहुणा पीडनम् ग्रसनम्। गजभुजङ्गमयोः=गजः हस्ती भुजङ्गमः=सर्पस्तयोरपि=बलेन बुद्ध्या च अतिसमर्थयोरपि तयोः बन्धनं=रज्ज्वादिना मन्त्रादिना च संयमनम्। मतिमतां—मतिः प्रशस्ता अस्ति येषां ते मतिमन्तस्तेषां=विद्वत्पण्डितानां। दरिद्रस्य भावः दरिद्रता ताम्=धनाभावं च विलोक्य=दृष्ट्वा मे=मम, मतिः=बुद्धिः, अहो!=आश्चर्ये विधिः=दैवम् बलवान्=प्रबलः सर्वनियामकम् इति=इत्याकारिका भवति। द्रुतविलम्बितवृत्तम्।

भा०—चन्द्र तथा सूर्य को भी ग्रह (राहु) का पीड़ा देखकर हाथी तथा साँप के बन्धन तथा बन्दी के बन्धन देखकर और विद्वान् होने पर भी दरिद्रता देखकर—मुझे विचार होता है कि—सबका कारण (भाग्य) बलवान् है॥५१॥

अन्यच्च—व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं

बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।

दुर्नीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः

कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि॥५२॥

अ०—व्योमैकान्तविहारिणः अपि विहगाः आपदं सम्प्राप्नुवन्ति निपुणैः अगाधसलिलात् समुद्रात् अपि मत्स्याः बध्यन्ते। इह किं दुर्नीतम् अस्ति? किं सुचरितम्? स्थानलाभे कः गुणः (अस्ति)? हि व्यसनप्रसारितकरः कालः दूरादपि गृह्णाति। व्या०—व्योम्नि आकाशे एकान्ते एकः अन्तः यस्मिन् तस्मिन्

विहरन्ति इति व्योमैकान्तविहारिण' = गगनगामिन इत्यर्थः। तादृशा अपि विहगाः=पक्षिण, आपदं=विपत्तिपाशबन्धनादिरूपाम्, सम्प्राप्नुवन्ति=अधिगच्छन्ति। निपुणै' = मत्स्यवधनिष्णातैः, अगाधसलिलात्—अगाधानि=अतलस्पर्शानि सलिलानि=जलानि यस्मिन् स' तस्मात् = तादृशादपि समुद्रात्=पारावारात्, मत्स्या'= मीना, बध्यन्ते=ध्रियन्ते। इह = अत्र संसारे, किं दुर्नीत = किं दुश्चरितम् अस्ति, (किं प्रश्ने)। किं च सुचरितं=सुनीतिः अस्ति ? स्थानलाभे=स्थानस्य निष्पाप-प्रदेशस्य लाभः प्राप्ति' तस्मिन् सति, वा क गुणः अस्ति ? हि =यस्मात्, व्यसनप्रसारितकर —व्यसने विपदि प्रसारितौ विस्तारितौ करौ हस्तौ येन स तादृशः, कालः = मृत्युः, दूरादपि, गृह्णाति = स्वग्रासतां प्रापयति।

भा०—केवल आकाश में विहार करने वाले निरपराध पक्षी भी आपत्तियों को पाते हैं, धीवर लोग अगाध समुद्र से भी निरपराध मत्स्यों को पकड़ लेते हैं, तो फिर इस जगत् में क्या सुनीति और क्या दुर्नीति। दोनों में कुछ भेद मालूम नहीं पडता और उत्तमस्थान मिलने पर भी क्या लाभ है ? क्योंकि काल (मृत्यु) विपत्ति रूप हाथों को फैलाकर दूर से ही सबको पकड़ लेता है ॥ ५२ ॥

इति प्रबोध्य आतिथ्यं कृत्वा आलिङ्ग्य च तेन संप्रेषितश्चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ, हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः।

व्या०—इति=इत्थम्, तेन हिरण्यकेन, प्रबोध्य=आश्वासनं विधाय, आतिथ्य = न तिष्ठति भोजनादिकम् एकस्थले इति अतिथिः, तस्य सेवा आतिथ्यम्, कृत्वा= विधाय, आलिङ्ग्य=आश्लिष्य, सम्प्रेषित' = विसृष्ट', चित्रग्रीवनामा कपोताऽधिपः, परिवारेण सहित' सपरिवार', यथेष्टदेशान्=स्वाभिमतप्रदेशान् प्रति, ययौ=जगाम, हिरण्यकनामा मूषिकराजोऽपि स्वस्य विवर स्वविवरम्, प्रविष्टः।

भा०—हिरण्यक ने ऐसी सान्त्वना देकर और अतिथिसत्कार करके आलिङ्गन (परस्पर मिल) कर चित्रग्रीव को विदा किया, चित्रग्रीव अपने परिवार के साथ स्वेच्छित देशों के प्रति गया, हिरण्यक भी अपने बिल में घुस गया।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धना ॥ ५३ ॥

अ०—(अनेन) यानि कानि शतानि मित्राणि च कर्तव्यानि, कपोता मूषिकमित्रेण मुक्तबन्धना, (बभूवु) पश्य। व्या०—यानि कानि च=यादृशानि तादृशानि नीचानि महान्ति वा, शतानि=बहुशतसङ्ख्याकानि, मित्राणि=सखाय', कर्तव्यानि=जनैः विधेयानि। कपोताः=ब्रहव पारावता, मूषिक एव मित्र तेन=क्षुद्रेण उन्दुरुमित्रेण, मुक्तबन्धना'=मुक्त छिन्न जालस्य बन्धन येषान्ते, तादृशा, बभूवु, पश्य=त्वदेतद् अवलोकय।

भा०—छोटे या बड़े सब ही मित्र करने चाहिये, क्योंकि देखिये उस कबूतर यूथपति मित्र से भी बन्धन से छुट्टी पाई ॥ ५३ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यम् इदमाह—'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीं कर्तुमिच्छामि अतस्त्वं मां मैत्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि' एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराऽभ्यन्तर एवाह—'कस्त्वम्' ? स ब्रूते—लघुपतनकनामा वायसोऽहम् । हिरण्यको विहस्याऽऽह—का त्वया सह मैत्री ?

व्या०—अथ=अनन्तरम् सर्ववृत्तान्तदर्शी=सर्वं च तत् वृत्तान्तं च सर्ववृत्तान्तं तत् पश्यति इति सर्ववृत्तान्तदर्शी—चित्रग्रीवहिरण्यकयोर्वार्तालापरूपवृत्तान्तद्रष्टा 'लघुपतनक'नामा काकः=वायसः साश्चर्यम्=आश्चर्येण सहितं यथा स्यात् तथा, इदम्=वक्ष्यमाणवचनम् आह=कथयामास अहो ! (आश्चर्यबोधकमव्ययम्)। हे हिरण्यक ! त्वं श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः, असि=भवसि। अतः=अस्मात् हेतोः, अहम् (वायसः) अपि त्वया (हिरण्यकेन) सह, मैत्रीं=सौहार्दं बन्धुत्वम् कर्तुम् इच्छामि=वाञ्छामि। अतः=अस्मात् हेतोः, त्वं=भवान् माम् (वायसमपि), मैत्र्येण=मित्रभावेन अनुग्रहीतुम्=अनुग्रहं कर्तुम् अर्हसि=योग्योऽसि मां मित्रं कृत्वा कृतार्थं कुरु इति भावः। हिरण्यकः (मूषकः) अपि एतत्=काकोक्तम् श्रुत्वा=समाकर्ण्य विवरस्य अभ्यन्तरम् तस्मात् विवरमध्यत एव आह=उवाच त्वं=भवान् कः नाम्ना कस्त्वं च को व्यक्तिविशेषः असि ? सः वायसः ब्रूते=कथयति अहम् 'लघुपतनक'नामा वायसः=काकजातीयः अस्मि। तदा हिरण्यकः विहस्य=हास्यं कृत्वा आह=उवाच त्वया (काकेन) सह मैत्री=मित्रता, का ?=कीदृशी स्यात् ? तुच्छेन वायसेन सह मैत्री न युज्यते।

भा०—इसके बाद सब वृत्तान्त को देखने वाला लघुपतनक नामक कौआ आश्चर्यपूर्वक इस प्रकार बोला— हे मित्र हिरण्यक ! तुम प्रशंसा के योग्य (श्रेष्ठ व्यक्ति) हो इसलिये मैं भी तुमसे मैत्री करना चाहता हूँ, मित्रता से मुझको अनुगृहीत करो। हिरण्यक (चूहे) भी ऐसा सुनकर बिल के भीतर से ही बोला—'तू कौन है ?' काक बोला—'मैं लघुपतनक नाम का कौआ हूँ।' तब हिरण्यक हँस कर बोला—'तुम्हारे साथ मित्रता कैसी ?'

यतः—यद् येन युज्यते लोके बुधस्तत् तेन योजयेत् ।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ॥ ५४ ॥

अ०—लोके येन यत् युज्यते बुधः तत् तेन सह योजयेत्, अहम् अन्नम् (अस्मि) भवान् भोक्ता (अस्ति) प्रीतिः कथं भविष्यति ? व्या०—लोके=संसारे, येन व्यक्तिविशेषेण सह यत्=यो व्यक्तिविशेषः युज्यते=योग्यतां युक्तो भवति बुधः=धीमान् जनः तत्=व्यक्तिविशेषम्, तेन=योग्यव्यक्तिविशेषेण सह योजयेत्=

अहं मूषिकः, अतः = काकस्य भक्ष्यम् अस्मि, भवान् = च काकः, मम मूषिकस्य भोक्ता = अत्ता अस्ति । तथा च आवयोः, भक्ष्यभक्षकयोः, प्रीतिः = सौहार्दं, कथं केन प्रकारेण, भविष्यति = सम्पत्स्यते ? न कथमपीत्यर्थः ।

भा०—संसार में जो जिसके साथ जोड़ने योग्य होता है, बुद्धिमान् जन उसी के साथ उसको जोड़ता है । मैं (चूहा) तेरा (काक का) खाद्य (भोजन) हूँ और तू (काक) मुझ को (चूहे को) खाने वाला है । तब कैसे प्रीति हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥५४॥

अपरञ्च—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेः कारणं मतम् ।
शृगालात् पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥५५॥

अ०—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः विपत्तेः कारणं मतम् , (भवति) शृगालात् पाशबद्धः असौ मृगः काकेन रक्षितः । व्या०—भक्षितुं योग्यः भक्ष्यः, भक्ष्यश्च भक्षकश्च तयोः = खाद्यखादकयोः , प्रीतिः सौहार्दं, कदाचित् अवश्यम् , आपत्तेः = आकस्मिकविनाशस्य, कारणं = निमित्तम् असाधारणहेतुः , मतं = विदुषां सम्मतमस्तीति । विपत्तेरेव (कारणमिति पाठान्तरम्) तथा हि—शृगालात् = भक्षककपटमित्रात् जम्बुकात् पाशेन जालेन बद्धः नियमितः, असौ = अयोग्यमित्रभावदृष्टान्ततया स्मरणविषयीभूतः , मृगः = भक्ष्यनिष्कपटहरिणः , काकेन = केनचित् वायसेन बन्धुरूपेण, रक्षितः = पाशादुन्मोचितः ।

भा०—भक्ष्य और भक्षक इन दोनों की प्रीति विपत्ति में हेतु बन जाती है, जैसे मित्र शृगाल द्वारा जाल में फँसाये गये मृग को कौआ ने बचाया ॥ ५५ ॥

वायसोऽब्रवीत्—कथमेतत् ? हिरण्यकः कथयति—

भा०—लघुपतनक नाम का कौवा बोला—'शृगाल द्वारा फँसाये गये मृग को काक ने मुक्त किया' यह कथा किस प्रकार है । हिरण्यक कहता है—

कथा २

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानी । तस्यां चिरात् महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचित् शृगालेनाऽवलोकितः । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—आः ! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र ! कुशलं ते ?' मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्' ? स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम् । अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवत् एकाकी निवसामि, इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि, अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यमिति' । मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु' ।

व्या०—मगधदेशे=मगधाख्ये जनपदे, चम्पकवती=चम्पकवतीनाम्ना प्रसिद्धा, अरण्यानी=महारण्यम् (महत्त्वार्थे ङीप् आनुक् च), अस्ति=विद्यते। तस्याम्=अरण्यान्याम्, मृगकाकौ=मृगकाकौ हरिणवायसौ उभौ चिरात्=बहुसमयात् महता=स्नेहेन परमेण, च स्नेहेन=प्रेम्णा प्रेमपूर्वकौ इत्यर्थः। निवसतः=वासं कुरुतः। हृष्टपुष्टाङ्गः=हृष्टानि पुष्टानि च अङ्गानि यस्य सः=पुलकितमांसलशरीरः इत्यर्थः। स्वेच्छया=स्वस्य (मृगस्य) इच्छया=अभिलाषेण तथा, भ्राम्यन्=भ्रमन्निति इति भ्राम्यन्=भ्रमणं कुर्वन् स च मृगः=एणीपतिः स हरिणः, केनचित्=केनापि अपरिचितेन शृगालेन=जम्बुकेन अवलोकितः=दृष्टः। शृगालः=जम्बुकः, तं=मृगम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य अचिन्तयत्=चिन्तनं कृतवान् आः=आश्चर्य! कथं=केन प्रकारेण सुललितम्=अतिरमणीयं मधुरस्वादु। एतन्मांसम्=एतस्य मृगस्य मांसं भक्षयामि=खादामि। भवतु=अस्तु—एतत्कथनमित्यर्थः। तावत्=प्रथमम्, विश्वासम्=विश्वासं प्रति अस्य हरिणस्य विश्वासमात्मनः उत्पादयामि=अहं जनयामि इत्यालोच्य आलोच्य=विचिन्त्य उपसृत्य=मृगसमीपे गत्वा, अब्रवीत्=अकथयत् शृगालः मित्र! सखे हरिण! केनापि कुशलक्षेमेण वर्तते? तेन मृगेण उक्तम्—त्वम् (जम्बुकः) कः=को व्यक्तिविशेषोऽसि? जम्बुकः ब्रूते=कथयति अहं 'क्षुद्रबुद्धि'नामा—क्षुद्रा=स्वल्पा बुद्धिर्विचारशक्तिर्यस्य सः इति, क्षुद्रबुद्धिः एव नाम यस्य सः इति क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकः=शृगालः, अस्मि अत्रारण्ये=एतस्मिन् वने, बन्धुहीनः—बन्धुभिर्मित्रैः हीनः=रहितः सन् एकाकी अद्वितीय एव मृतवत्=मृत इव निवसामि=वासं करोमि इदानीम्=अधुना, त्वाम्=भवन्तम् मित्रम्=सुहृदम् आसाद्य=प्राप्य सबन्धुः=बन्धुना सहितः पुनः जीवानां संसारिणां लोके=स्थितौ प्रविष्टोऽस्मि इत्यर्थः। अधुनेदानीं तव (हरिणस्य) अनुचरेण=सेवकेन सहचरेण वा, मया (शृगालेन) सर्वथा भवितव्यमिति। मृगेणोक्तम्—हरिणेन कथितम्, एवमस्तु तथा अस्तु=अनुचरो भूत्वा सहनिवासी भव।

भा०—'मगध' देशमें चम्पकवती नाम का एक बड़ा अरण्य है। उस अरण्यमें बहुत समयसे हरिण और कौआ ये दोनों गाढ़ प्रेम से रहते थे। स्वेच्छा से घूमते फिरते हृष्टपुष्ट अङ्ग वाले उस मृग को किसी शृगाल ने देखा। मृग को देखकर शृगाल ने सोचा—'अरे! हां! यह सुन्दर मांस कैसे खाने को मिले? अच्छा, प्रथम इसको विश्वस्त करूं' ऐसा विचारकर समीप जाके बोला—मित्र हरिण! तुम कुशल से हो? मृग बोला—'तुम कौन हो?' शृगाल बोला—मैं क्षुद्रबुद्धि नाम का शृगाल हूं और इस वन में बन्धु-बान्धव रहित मरे के समान अकेला होकर रहता हूं लेकिन अब तुम जैसे मित्र को पाकर फिर मित्रसहित होकर जीवलोक की स्थिति में प्रविष्ट हुआ हूं। अब तुम्हारा अनुचर बनकर मैं तुम्हारे साथ ही रहूंगा। मृग बोला—अच्छा, ऐसा ही हो।

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति, तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?' मृगो ब्रूते—'जम्बुकोऽयमस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता, तन्न भद्रमाचरितम्'।

व्या०—तत. पश्चात्=तदनन्तरम्, भगवति=ऐश्वर्यवति, मरीचिमालिनि=मरीचीनां किरणानां माला=मण्डलम् अस्ति अस्य इति मरीचिमाली तस्मिन्, सवितरि=सूर्ये, अस्तम्=अस्ताद्रिं गते याने सति=सायङ्काले, तौ=मृगशृगालौ, मृगस्य वासभूमिं=निवासस्थानम् गतौ=जग्मतुः, तत्र=तस्यां वासभूमौ, 'चम्पक'-वृक्षस्य शाखा तस्याम्, मृगस्य चिरमित्रम्=चिरकालीन सखा, 'सुबुद्धि'नामा=शोभना बुद्धिर्यस्य स, सुबुद्धि नाम यस्य स इति सुबुद्धिनामा, काक=वायस निवसति=वास करोति, तौ मृगशृगालौ, दृष्ट्वा=अवलोक्य, काकः अवदत्=उवाच, सखे! मित्र! चित्राङ्ग!, अयम्=एष उपस्थित, द्वितीय=अपर, क=नाम्ना जात्या च कोऽस्ति? मृग=स हरिण., ब्रूते=कथयति, अय जम्बुकः=शृगाल, आवयो, सख्य=मित्रताम्, इच्छन्=अभिलषन्, आगत अस्ति, काक=स वायसः, ब्रूते, मित्र चित्राङ्ग! अकस्मात्=विना परीक्षण झटिति, आगन्तुना सह=नूतनाऽऽगतेन अज्ञातकुलस्वभावेन सह, मैत्री=सख्यम्, न युक्ता=न योग्या, तत्=तस्मात् हेतो, त्वया भद्र=क्षेमकर, न आचरितम्=न अनुष्ठितम्।

भा०—उसके बाद भगवान् किरणमण्डलयुक्त सूर्य के अस्त हो जाने पर वे (शृगाल-मृग) दोनों मृग के निवासस्थल मे गये उस निवासस्थल में चम्पा के वृक्ष की शाखा पर मृग का प्राचीन मित्र सुबुद्धिनाम का कौवा रहता था, उन दोनों (शृगाल-मृग) को देख कर बोला-मित्र चित्राङ्ग! यह दूसरा कौन है? मृग बोला-यह जम्बुक है और अपने दोनों से मित्रता करने को आया है। काक बोला-मित्र चित्राङ्ग! एकदम अनजान व्यक्तिसे मित्रता करना उचित नहीं है, इसलिये तुमने यह ठीक नहीं किया।

तथा चोक्तम्—अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः ॥ ५६ ॥

अ०—अज्ञातकुलशीलस्य कस्यचित् वासो न देय, हि मार्जारस्य दोषेण जरद्गव गृध्र हत। व्या०—कुलं च शीलञ्च कुलशीले, न ज्ञाते अज्ञाते, अज्ञाते कुलशीले यस्य स तस्य=अपरिचितवंशस्वभावस्येत्यर्थं, कस्यचित् अपि व्यक्ते, वास=स्वगृहे आश्रय, न देय=न दातव्य। हि=यत, मार्जारस्य=कस्यचित् अपरि-

स्थितस्य बिडालस्य दोषेण = अपराधेन विश्वस्तेन जरद्गवः = जरद्गवो नामा
पक्षी हतो यस्य सः दीर्घकर्णो दृष्टः जरद्गवनामा पक्षी गृध्रः अन्यो पक्षिभिः
हतः = विनाशितः ।

भा०—जिसके कुल स्वभाव आदि अपरिचित हों ऐसे किसी भी व्यक्ति को आश्रय
नहीं देना चाहिये क्योंकि अपने आश्रय में स्थित बिलाव के दोष से एक गीध बेचारा मारा
गया था ॥ ५८ ॥

तौ प्राहतुः—'कथमेतत् ?' काकः—कथयति ।

भा०—वे मृग और शृगाल दोनों बोले—गीध और बिलाव की कथा किस प्रकार
है ? सो कहो अब कहता है—

कथा ३

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः । तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकात् गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाऽऽहारात् किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य तस्मै ददति तेनाऽसौ जीवति तेषां शावकरक्षां करोति । अथ कदाचित् दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान् भक्षयितुं तत्राऽऽगतः । ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्गवेन उक्तम्—कोऽयमायाति ? दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा ! हतोऽस्मि' यतोऽयं मां व्यापादयिष्यति ।

व्या०—भागीरथीतीरे—भगीरथस्य इयम् इति भागीरथी (पुरा कपिलस्य शापेन दग्धान् स्वपूर्वपितामहान् सगरसुतान् उद्धर्तुं सूर्यवंशीयो भगीरथो नाम राजा तपस्तप्त्वा गङ्गां स्वर्गात् पृथिव्यामवतारयामास इति तत आरभ्य गङ्गायाः 'भागीरथी' संज्ञा) तस्याः तीरे तस्मिन् = तटे गृध्रकूटनाम्नि गृध्राः पक्षिणः वसन्ति कूटे यस्य सः गृध्रकूटः तन्नाम यस्य सः गृध्रकूटनामा तस्मिन् पर्वते = महीधरे महान् = विशालः पर्कटीवृक्षः = पर्कटीवृक्षः अस्ति = विद्यते तस्य = पर्कटीवृक्षस्य कोटरे = गह्वरान्तर्गते दैवदुर्विपाकात् = दैवस्य भाग्यस्य दुर्विपाकः परिणामः तस्मात् गलितनखनयनः = गलिताः नखाः नयने च यस्य सः (नखनयनरहितः) जरद्गव इति नाम यस्य सः जरद्गवनामा, गृध्रः = गृध्रजातीयः प्रतिवसति = निवसति । (अथ = तदनन्तरम्) तद्वृक्षवासिनः = तस्मिन् पर्कटीवृक्षे वसन्ति इति तद्वृक्षवासिनः, पक्षिणः = खगाः, विहगाः, कृपया = दयया तज्जीवनाय = तस्य जरद्गवस्य गृध्रस्य जीवनं रक्षणं तस्मै,

स्वाहारात् = स्वेषां पक्षिणाम् आहार खाद्य तस्मात् किञ्चित = कियन्मात्र खाद्यम्, उद्धृत्य = अतिरिक्तमवस्थाप्य, ददति = प्रयच्छन्ति । असौ=अय जरद्गव, तेन = पक्षिदत्तखाद्येन, जीवति=जीवनं निर्वाहयति, तेषा=तत्रस्थानां पक्षिणाम्, शावकरक्षाम् = शावकानां बालानां रक्षा = त्राणम् ताम्, च करोति । अथ=अनन्तर कदाचित्=एकस्मिन् समये, दीर्घकर्णनामा = दीर्घौ लम्बमानौ कर्णौ श्रोत्रे यस्य स दीर्घकर्ण, स एव नाम यस्य स इति दीर्घकर्णनामा, मार्जारः=बिडाल, पक्षिशावकान्= पक्षिणां शावका बाला तान्, भक्षयितुम् = अत्तु खादितुम्, तत्र = पर्कटीवृक्षाऽधोभागे, आगत । ततः = तदनन्तरम्, आयान्तम् = आयाति इति आयान् त आयान्तम् = आगच्छन्त, त = बिडालम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य, भयेन आर्ता तै=भयविह्वलै, पक्षिणां शावका तै = पतत्रिबालैः, कोलाहलः=कलकलायमानः भयार्तनाद, कृतः= प्रारब्ध । जरद्गवेन = तेन जरद्गवनाम्ना वृद्धगृध्रेण, तत् = कोलाहल, श्रुत्वा = आकर्ण्य, उक्तम् = अभिहितम् । अयम्=एष दृष्टिविषय व्यक्ति, क ? किंजातीय किंनामा च ? आयाति = आगच्छति । दीर्घकर्ण = तन्नामा स मार्जारः, गृध्र = त गृध्र गृध्रपक्षिणम्, अवलोक्य, सभय = भयेन सहित यथा स्यात् तथा, आह = उवाच, हा ! हन्त ! हत = अह विनाशित, अस्मि=भवामि, यत = यस्मात् हेतो., अय = गृध्र माम् (बिडालम्) व्यापादयिष्यति = मारयिष्यति ।

भा०—भागीरथी गङ्गा के तट पर, 'गृध्रकूट' नाम के पर्वत पर पाकड़ का बड़ा वृक्ष है, उसकी कोटर (पोल) में दुर्भाग्यवाला तथा जीर्ण नख और नेत्र वाला ऐसा एक 'जरद्गव' नाम का गीध पक्षी रहता था। उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षिगण दया करके अपने अपने भोज्य वस्तुओं में से कुछ कुछ हिस्सा बचाकर उस गीध को देते थे, उससे गीध अपना जीवननिर्वाह करता था और पक्षियों के बच्चों की रक्षा करता था। एक समय 'दीर्घकर्ण' नाम का बिडाल उन पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये उस स्थल पर आ पहुँचा, आते हुए बिडाल को देखकर पक्षियों के बच्चे भयभीत होकर कोलाहल करने लगे, यह सुन कर जरद्गव गीध ने कहा—कौन इधर आ रहा है ! तब दीर्घकर्ण नाम का बिडाल उस गीध को देख भयभीत होकर बोला, हाय हाय ! मैं मारा जाता हूँ क्योंकि यह गीध मुझे मार (नोच) डालेगा ।

अथवा—तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नर. कुर्याद् यथोचितम् ॥ ५७ ॥

अ०—यावत् भयम् अनागत (भवति) तावत् भयस्य भेतव्यम्, तु भयम् आगत वीक्ष्य, नर यथोचित कुर्यात् । व्या०—यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, भय= भीतिकारणम् अनागत = उपस्थित न भवति, तावत्=तावत्कालपर्यन्तं, भयस्य = भयकारणात् (सम्बन्धे षष्ठी) भेतव्य = जनै त्रसितव्यम् । तु = किन्तु, भय=

नीतिम् आगतम् = उपस्थितम् वीक्ष्य = ज्ञात्वा, नरः यथोचितम् = यथायोग्यम्, प्रतिकुर्यात् = प्रतीकारं विदध्यात् ।

भा०—जब तक भय न आया हो तब तक भय से डरना चाहिये । लेकिन जब भय सामने आ गया तब तो उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५७ ॥

अधुनाऽतिसन्निधाने पलायितुमक्षमः । तद्यथा भवितव्यं तथा भवतु, तावद् विश्वासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि इत्यालोच्य समुपसृत्याब्रवीत्—'आर्य ! त्वाम् अभिवन्दे'। गृध्रोऽवदत्—'कस्त्वम् ?' सोऽवदत्—'मार्जारोऽहम्'। गृध्रो ब्रूते—'दूरम् अपसर नो चेद् हन्तव्योऽसि मया'। मार्जारोऽवदत्—श्रूयतां तावद् मद्वचनम्, ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः ।

व्या०—अधुना = इदानीम्, अतिसन्निधाने = जरद्गवस्य गृध्रस्यातिनिकटे आगतोऽस्मि अत एव पलायितुं = पलायनं कर्तुम् अक्षमः = असमर्थः अस्मि । तत् = तस्मात् असमर्थत्वात् हेतोः यथा = येन प्रकारेण भवितव्यम् तथा = तेन प्रकारेण भवतु = मरणं जीवनं वा यत्किमपि भवतु, किन्तु इत्यर्थः । तावत् = प्रथमम्, विश्वासं मां प्रति विश्वासभावम् उत्पाद्य = जनयित्वा, अस्य = जरद्गवस्य गृध्रस्य समीपे = निकटम् उपगच्छामि, इति = एवम्, आलोच्य विचार्य समुपसृत्य = जरद्गवस्य समीपं समागत्य अब्रवीत् = अभिहितवान् । आर्य = माननीय वृद्ध ! त्वाम् = भवन्तम्, अभिवन्दे = प्रणामं करोमि । गृध्रः = जरद्गवः, अवदत् = उवाच त्वं = भवान् कः ? किंनामधेयः असि ? सः = दीर्घकर्णः मार्जारः अवदत् = अकथयत् अहं मार्जारः = बिडालजातीयः, अस्मि । गृध्रः ब्रूते = कथयति दूरम् = दूरदेशम्, अपसर = गच्छ । नो चेत् = यदि न गमिष्यसि । तदा त्वं मया गृध्रेण हन्तव्यः = विनाशनीयः, असि = भवसि । मार्जारः = बिडालः, अवदत् = उक्तवान् तावत् = प्रथमम्, मम वचनं = मद्वचनं = मे वाक्यम् श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्, ततः = तदनन्तरम् यदि अहं (मार्जारः) वध्यः = वधार्हः एव भवामि । तदा हन्तव्यः = त्वया गृध्रेण विनाश्यः ।

भा०—अब अति समीप होने से मैं भाग भी नहीं सकता । अच्छा, जो होना हो वह हो लेकिन प्रथम गीध को विश्वास उत्पन्न करके समीप में जाऊँ । ऐसा सोचकर गीधके सामने जाकर बोला—आर्य गीध ! आपको मैं प्रणाम करता हूँ । गीध बोला—तुम कौन हो ? उसने कहा मैं बिलाव हूँ । गीध बोला—दूर जा यहाँ से नहीं तो मैं मार डालूँगा । बिलाव बोला—प्रथम मेरा वचन सुनिये, पीछे अगर मैं मारने योग्य हूँ तो मार डालिये

यतः—जातिमात्रेण किं कश्चिद् वध्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

अ०—(जनै॰) क्वचित् कश्चित् जातिमात्रेण वध्यते पूज्यते किम् ? अथवा व्यवहार परिज्ञाय वध्यः पूज्यः भवेत्। व्या०—क्वचित्—कुत्रचित् स्थाने, कश्चित् अपि व्यक्ति, जातिमात्रेण=जातिरेव जातिमात्र तेन=चाण्डालत्वेन हन्तव्यः, ब्राह्मणत्वेन पूज्य इत्येव जातिव्यवहारेण। किम् (प्रश्ने) पृच्छामि। वध्यते=हन्यते, पूज्यते=अर्च्यते ? वा। अथवा=किन्तु, व्यवहारम्=आचार श्रेष्ठ कनिष्ठ वा, परिज्ञाय-ज्ञात्वा, वध्यः=नाश्य, पूज्य =अर्च्यो वा भवेत् ? इति।

भा०—किसी भी स्थल में क्या जातिमात्र से ही कोई मारा जाता है या पूजा जाता है ? नहीं, किन्तु आचरण के अनुसार मारने योग्य और पूजने योग्य होता है॥ ५८॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?' सोऽवदत्—'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। युष्मान् 'धर्मज्ञानरताः प्रेमविश्वासभूमय.' इति पक्षिणः सर्वे सर्वत्र ममाग्रे प्रस्तुवन्ति, अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः। भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञाः, यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ?' गृहस्थधर्मश्च एष'—

व्या०—गृध्रः=जरद्गव पक्षी, ब्रूते=कथयति, ब्रूहि=कथय, किमर्थं=कस्मै प्रयोजनाय, आगतोऽसि ? स दीर्घकर्णनामा बिडाल, अवदत्=उवाच, अहम्, नित्य=त्रिसन्ध्य स्नाति, इति नित्यस्नायी, निरामिषाशी=आमिष मासम् अश्नाति भक्ष इति आमिषाशी, स न भवतीति निरामिषाशी, ब्रह्मचारी=ब्रह्म=ऊर्ध्वस्रोतसां व्रत चरितु शीलमस्य इति ब्रह्मचारी, चन्द्रस्य अयनमिव अयनम् अस्मिन् इति चन्द्रायणम्, चन्द्रायणमेव चान्द्रायणम् (एकैक ग्रास ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत् इति) तद्व्रत कृच्छ्रम्, आचरन्=अनुतिष्ठन्, अत्र=अस्मिन्, गङ्गायाः तीर तस्मिन् तिष्ठामि=निवसामि। सर्वे=गङ्गातीरस्था प्रायश सकलाः, पक्षिणः= पतत्त्रिण, सर्वदा सर्वस्मिन् काले, ममाग्रे=मम पुरत, युष्मान्=भवतः सर्वान्—धर्मश्च ज्ञान च धर्मज्ञाने धर्मज्ञानयो रता धर्मज्ञानरता, प्रेमा च विश्वासश्च प्रेमविश्वासौ तयो भूमयः स्थानानि तादृशा इति प्रस्तुवन्ति=प्रकर्षेण प्रशंसन्ति। अत =एतस्माद्धेतो, भवद्भ्य विद्यावयोवृद्धेभ्यः=विद्या च वयश्च विद्यावयसी, ताभ्यां वृद्धा महा अधिका तेभ्यः=तादृशेभ्य श्रीमद्भ्य॰। धर्म=धर्मस्वरूपम्, श्रोतु=ज्ञातुम्, इह भवतां सन्निधौ, आगतोऽस्मि। भवन्तश्च यूयञ्च, एतादृशाः= ईदृशा, धर्मवेत्तार सन्ति। यत्=येन धर्मज्ञानेन हेतुना, अतिथिं माम्=जिज्ञासु माम, हन्तुम्=नाशयितुम्, उद्यताः=प्रवृत्ता भवन्ति। (लज्जाजनक वचनमेतत्) एष.=अग्रे वक्ष्यमाण, गृहस्थधर्म =गृहे दारै सह तिष्ठन्ति इति गृहस्थास्तेषां धर्म, कर्त्तव्यविषय अ

भा०—दीन है क्या—नीच, कहां क्यों जाता है। बिडाल बोला—मैं नित्य स्नान करता हूँ, मांसादि नहीं खाता हूँ ब्रह्मचर्य व्रत पालता हूँ और चान्द्रायण व्रत भी करता हुआ इस वन में रहा करता हूँ। यहां के सब पक्षी मेरे पास आकर आप धर्मज्ञ हैं ऐसा और प्रेम तथा विश्वास के पात्र हैं—ऐसी आपकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध आप को समझ कर आप से धर्म का श्रवण करने आया हूँ। (किन्तु) आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं कि मुझ अतिथि को मारने को तैयार हो गये। गृहस्थधर्म ऐसा है—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः॥ ५९॥

अ०—गृहम् आगते अरौ अपि उचितम् आतिथ्यं कार्यम्, द्रुमः पार्श्वगताम् छेत्तुः छायां न उपसंहरते। व्या०—गृहं=भवनम् आगते=समुपस्थिते अरौ अपि शत्रौ अपि उचितम्=योग्यम् आतिथ्यम्=अतिथेः सत्कारः, कार्यम्=कर्त्तव्यम् तदेव दृष्टान्तेन दृढं करोति—द्रुम इति। द्रुमः=तरुः, पार्श्वगताम्=पार्श्वे आगतां समीपे स्थिताम् छायाम् छेत्तुः=कुठारादिना छेदकर्तुः अपि छायां न उपसंहरते=न आकर्षति।

भा०—अपने घर (आश्रम) में आये हुये शत्रु का भी अतिथि सत्कार करना चाहिए क्योंकि वृक्ष अपनी छाया को अपनी छाया काटने वाले पुरुष से नहीं हटाता है॥ ५९॥

किञ्च—यदि अन्नं नास्ति तदा सुप्रीतेनाऽपि वचसा तावदतिथिः पूज्य एव।

व्या०—किञ्च=अथवा, यदि=चेत् अन्नम्=भक्षणयोग्यं नास्ति=उपस्थितं न भवति तदा=तस्मिन् अवस्थायाम् सुप्रीतेनापि=सुमधुरेण प्रीतियुक्तेन अपि वचसा=वाक्येन अतिथिः=गृहागतः अभ्यागतः। पूज्यः=सत्कार्यः इति।

भा०—और यदि घर में अन्न तैयार न हो तो उस समय केवल मधुर वाणी से ही अतिथि सत्कार करने योग्य है।

तथा चोक्तं—तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ६०॥

अ०—तृणानि भूमिः उदकं चतुर्थी सूनृता वाक् च एतानि अपि सतां गेहे कदाचन न उच्छिद्यन्ते। व्या०—तृणानि=कुशकाशादिकम् भूमिः=निवसनार्थं स्थानम् उदकं=पानप्रक्षालनार्थं जलम् चतुर्थी=चतुर्थसंख्यापूरणी सूनृता=प्रियसत्या वाक्=वाणी च। एतानि अपि=एतानि तृणादीनि अपि सतां=साधूनां गेहे निवासे कदाचन=कदापि न उच्छिद्यन्ते=न अनुपस्थितानि भवन्ति।

भा०—तृणोंका बनाया आसन, भूमि, जल और चौथी सुमधुर वाणी ये चार तो साधु-जनों के घर में अवश्य होते हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ६१ ॥

अ०—बालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा गृहम् आगत, तस्य पूजा विधातव्या, अभ्यागत सर्वस्य गुरु। व्या०—बालो वा = शिशुर्वा, यदि वा वृद्धः=अथवा वृद्धावस्थ, युवा वा = यौवनावस्थो वा, (य कोऽपि भवेत्, किन्तु स्वस्य) गृह=निवासम्, आगतः=प्राप्त भवेत्, तर्हि तस्य=अतिथे, पूजा = सत्कारादिकम्, विधातव्या=कर्तव्या। यत सर्वस्य = जनस्य, अभ्यागतः = अतिथि, गुरुः = पूज्य।

भा०—बालक, वृद्ध या जवान, जो कोई घर में आया हुआ अतिथि है, उसका सत्कार करना चाहिये। क्योंकि अतिथि सबके लिये गुरुवत् पूज्य है ॥ ६१ ॥

अपरञ्च—निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६२ ॥

अ०—साधव निर्गुणेषु अपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति, चन्द्र, चाण्डालवेश्मन ज्योत्स्नां न हि संहरते। व्या०—साधव = सत्पुरुषा, निर्गुणेषु अपि=गुणरहितेषु अपि, सत्त्वेषु = प्राणिषु, दयां = कृपाम्, कुर्वन्ति = विदधति। तत्र दृष्टान्त—चन्द्र=शशी, चाण्डालवेश्मनः = चाण्डालस्य वेश्म तस्मात्, श्वपचादिगृहात्, ज्योत्स्नां=कौमुदीम् न हि संहरते = न आकर्षति। (चाण्डालवेश्मनि इति पा०)

भा०—साधुजन निर्गुण जीवों पर भी दया करते हैं, क्योंकि चन्द्रमा भी अपनी चांदनी को चाण्डाल के घर से हटा नहीं लेता है ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ६३ ॥

अ०—यस्य गृहात् अतिथि भग्नाश प्रतिनिवर्तते, सः तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यम् आदाय गच्छति। व्या०—यस्य = गृहस्थस्य, गृहात् = भवनात्, अतिथि = अभ्यागत, भग्ना = हता = अफला, आशा = अभिलाषा भिक्षेच्छा यस्य सः=अपूर्णमनोरथ सन्नित्यर्थ प्रतिनिवर्तते = प्रत्यावर्तते प्रत्यागच्छति। स = अतिथि, तस्मै = गृहिणे, दुष्कृत=स्वीयपापम्, दत्त्वा=प्रदाय, पुण्यञ्च = गृहस्वामिनः धर्मञ्च, आदाय = गृहीत्वा = अपहृत्य। गच्छति = याति।

भा०—जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट आता है, वह अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर और गृहस्वामी का पुण्य ले कर चला जाता है ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागत।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ६४ ॥

अ०—उत्तमस्य वर्णस्य गृहम् आगतः नीचः अपि यथायोग्यं, पूजनीयः, (यतः) सर्वदेवमयः अतिथिः। व्या०—उत्तमस्य=उत्कृष्टस्यापि वर्णस्य=ब्राह्मणादेः अपि गृहं=भवनम् आगतः=प्राप्तः, नीचः अपि=निकृष्टजातिरपि अतिथित्वापेक्षया अतिथिः, यथायोग्यं=यथोचितम् पूजनीयः=सम्माननीयः, (यतः) अतिथिः—अभ्यागतः सर्वदेवमयः=सर्वेभ्यः देवेभ्यः अनुपमस्वरूपः, भवतीति।

भा०—उत्तम ब्राह्मणादि के घर पर आया हुआ नीच वर्ण का भी अतिथि यथोचित सत्कार करने योग्य है। क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय होता है॥ ५४॥

मृगोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्च अत्र निवसन्ति तेनाऽहमेवं ब्रवीमि'। तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति ब्रूते च—मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणम् अध्यवसितम्। यतः परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्—'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्'।

व्या०—मृगः=हरिणः, अवदत्=अकथयत्, हि=यतः मार्जारः=बिडालः मांसरुचिः=मांसे रुचिः अभिलाषः यस्य सः=मांसाशी भवति। अत्र च अस्मिन् वृक्षकोटरे पक्षिशावकाः=पक्षिणां शिशवः निवसन्ति, तेन हेतुना, अहम् (मृगः) एवम्='दूरमपसर' इति वचनं ब्रवीमि=कथितवान् अस्मि। मार्जारः=बिडालः, तत्=मृगस्य वचनम् श्रुत्वा=आकर्ण्य, (हस्ताभ्याम्) भूमिं=पृथिवीम् स्पृष्ट्वा=संस्पृश्य कर्णौ=श्रवणयुगलम् स्पृशति आच्छादयति। ('मांसरुचिः' इत्येतत् मृगवचनश्रवणेन (बिडालः) आत्मानं पापस्पृष्टमात्मानं मन्यमानः तत्परिहाराय भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ च स्पृशतीति भावः) ब्रूते=कथयति च मया (बिडालेन) धर्मप्रतिपादकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम् श्रुत्वा=आकर्ण्य वीतरागेण (सता) वीतः गतः रागः मांसादिविषयतृष्णा यस्य सः तेन=रागरहितेन सता, इदम्=एतद्, दुष्करम्=अतिकष्टेन क्रियते इति दुष्करम्=अतिकष्टसाध्यम् चान्द्रायणम्=चन्द्रस्य अयनमिव अयनं यत्र मासाभ्यासो वर्तते, तत् व्रतम्, चान्द्रायणम् (पूर्णे ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत्) व्रतम्=नियमम्, अध्यवसितम्=अनुष्ठितम्, यतः=यस्मात् हेतोः, परस्परम्=अन्योन्यम् परस्परम् इति परस्परम्=अन्योन्यम्, विवदमानानाम्=विरुद्धमतप्रतिपादकानाम् अपि धर्मशास्त्राणाम्=मन्वादिधर्मशास्त्राणाम् अहिंसा=सर्वथा मनसा कर्मणा वाचा च हिंसाराहित्यमेव, परमः=श्रेष्ठतमः धर्मः=अस्ति इति अत्र अस्मिन् विषये, ऐकमत्यम्=एकम् अविरुद्धं मतम् अभिप्रायः तात्पर्यं वैकमत्यादि तेषां अत्र मतभेदः न सम्भवतीति भावः। सर्वेषु शास्त्रेषु प्राणिहिंसानुमतिर्न दृश्यते अतः मयापि हिंसेयं त्याज्या चरितमिति मदं परित्यागम् इतिभावनाभिति।

भा०—गीध बोला-'बिडाल मांस का प्रेमी होता है और इस वृक्ष पर पक्षियों के बच्चे रहते हैं इसलिए मैं यहाँ से चले जाने को कहता हूँ' ऐसा सुनकर बिडाल ने (दोनों हाथोंसे) पृथ्वी (मिट्टी) को छूकर दोनों कान छूए और कहने लगा–मैंने धर्मशास्त्र सुनकर मांसादि की तृष्णा छोडकर अतिकठिन चान्द्रायण व्रत किया है, क्योंकि परस्पर भिन्न भिन्न निर्णय बताने वाले धर्मशास्त्रों का 'अहिंसा परम धर्म है' इस बात में तो एक ही मत है।

यत—सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६५ ॥

अ०—ये नराः सर्वहिंसानिवृत्ता, ये च नरा सर्वसहा, सर्वस्य आश्रयभूताश्च, ते नरा स्वर्गगामिनः। व्या०—ये नरा =जना, सर्वहिंसानिवृत्ताः=सर्वेषां भक्ष्याऽभक्ष्याणां प्राणिनां हिंसा=हननम्, तस्या (पञ्चमी) निवृत्ता=पराङ्मुखा विरता भवन्ति, ये च नरा =जना सर्वसहा =सर्वंसुखदु खमानाऽपमानादिक सहन्ते इति सर्वसहाः=सर्वसहिष्णव भवन्ति। अथ च सर्वस्य=सुखिन दुःखिनो वा शरणागतस्य प्राणिनः, आश्रयभूता = आधारभूता', भवन्ति, ते नरा, स्वर्गं गच्छन्तीति स्वर्गगामिन.=स्वर्गवासिन भवन्ति।

भा०—जो लोग सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त हों तथा सर्वद्वन्द्वों के सहनशील हों और सबके आश्रयदाता हों, वे लोग अवश्य स्वर्गगामी होते हैं ॥ ६५ ॥

अन्यच्च—एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६६ ॥

अ०—एक धर्म एव सुहृत्, य निधने अपि अनुयाति, अन्यत् सर्वं तु शरीरेण सम नाश गच्छति। व्या०—एक = केवल, धर्म एव = एवकार इतरव्यावर्तक, धर्म एव नान्य इत्यर्थः। सुहृत् = मित्रं भवतीति। कुत ? इत्याह—य = धर्मः, निधनेऽपि = मरणे सत्यपि, अनुयाति = अभीष्टफलदानार्थम् अनुगच्छति, अन्यत् सर्वं तु = धर्माऽतिरिक्त पुत्रकलत्रादिक बाह्य वस्तुजात पुन, शरीरेण सम = कायेन सह, नाश = ध्वंसम्, गच्छति = प्राप्नोति।

भा०—एक धर्म ही मित्र है, क्योंकि वही मरने के समय साथ जाता है और सब पुत्र स्त्री आदि का सम्बन्ध शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है ॥ ६६ ॥

किञ्च—योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यताऽन्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्य प्राणैर्विमुच्यते ॥ ६७ ॥

अ०—य यस्य मांस यदा अत्ति, (तदा) उभयो अन्तर पश्यत। एकस्य क्षणिका प्रीतिः, अन्य प्राणै विमुच्यते। व्या०—य.=य. प्राणी, यस्य=प्राणिन, मांसं=पिशितम्, यदा =यस्मिन् काले, अत्ति = भक्षयति, तदा उभयो = भक्ष्यभ-

भक्ष्यभक्षकयोः अन्तरं=प्रभेदम् पश्यत=अवलोकयत पूर्वमिति शेषः । एकस्य=भक्षकस्य क्षणिकः, क्षणिका—क्षणमात्रस्थायिनी, प्रीतिः—तृप्त्युत्पन्नो भवतीति । अन्यः=भक्ष्यप्राणी तु प्राणैः=असुभिः, वियुज्यते=विमुच्यते इति ।

भा०—जो खाने वाला प्राणी का मांस खाता है उन दोनों में भेद तो देखिये । खाने वाले को क्षणमात्र तृप्ति होती है और दूसरे के प्राण ही जाते हैं ॥ १७ ॥

अपि च—मर्तव्यमिति यद् दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यस्तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ १८ ॥

अ०—पुरुषस्य मर्तव्यम् इति यद् दुःखम् उपजायते तेन अनुमानेन परः अपि परिरक्षितुं शक्यः । व्या०—पुरुषस्य=पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः तस्य जीवस्येत्यर्थः । 'मर्तव्यम्' इत्यवश्यं मरणं स्यादिति चिन्तया यद् दुःखं=आर्तत्वं उपजायते—उपस्थितं भवति तेनानुमानेन स्वस्य यथा मरणेन दुःखं भवति तथा अन्यस्यापि मरणम् अवश्यं दुःखदायकम् इति अनुमित्य परोऽपि आत्मभिन्नोऽपि प्राणी परिरक्षितुं=हिंसादिभ्यस्त्रातुं जीवयितुम् शक्यः=योग्योऽस्तीति । 'शक्यते चानुमानेन परेण परिरक्षितु'मिति पाठान्तरम् ।

भा०—अपने को (कहीं आपत्ति के समय) 'अब मेरा अवश्य मरण होगा' ऐसी चिन्ता से जितना दुःख होता है उतना ही दुःख दूसरे को भी होता है ऐसा समझकर कभी भी किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

शृणु पुनः—स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ॥ १९ ॥

अ०—(यद् उदरम्) स्वच्छन्दवनजातेन शाकेन अपि प्रपूर्यते । अस्य दग्धोदरस्य अर्थे कः महत् पातकं कुर्यात् । व्या०—यद् उदरम् इति शेषः । स्वच्छन्दवनजातेन=स्वच्छन्दः अभिप्रायो यस्मिन् तेन=स्वच्छन्देन स्वेच्छया स्वभावत इति यावत् वनात् जातम् वनजातस्तेन=इक्षुकर्णादिवनजालैर्भाग्यमुत्पन्नेनेत्यर्थः । शाकेनापि=(करणे तृतीया) शाकपत्रकन्दादिनापि प्रपूर्यते क्रियते यतो । अस्य=एतस्य दग्धोदरस्य=दग्धं च तदुदरं च दग्धोदरं तस्य दुष्टं=क्षुधा विशिष्टं उदरं तस्येत्यर्थः । अर्थे=निमित्ते कः=को जनः, महत् पातकं जीवहिंसात्मकम् अत्युत्कटं पापम् कुर्यात्=आचरेत् ? न कोऽपीत्यर्थः ।

भा०—और भी सुनो, जब वन में स्वाभाविक उत्पन्न शाक, पत्र आदि से भी पेट भर सकते हैं, तब उदर के लिए हिंसात्मक बड़ा पाप क्यों किया जाय ? ॥ १९ ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः । ततो दिनेषु गच्छत्सु असौ पक्षिशावकानाक्रम्य स्वकोटरमानीय प्रत्यहं खादति । अथ येषाम्

पत्यानि खादितानि; तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकाः खादिता इति (सर्वैः पक्षिभिः) निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'अज्ञातकुलशीलस्ये'त्यादि।

व्या०—स मार्जारः=दीर्घकर्णः, एवम्=इत्युक्तरूपेण, विश्वास्य=जरद्गवस्य मानसे विश्वासं जनयित्वा, तरुकोटरे=तरो पर्कटवृक्षस्य कोटरे कुत्रचिद् गह्वरप्रदेशे, स्थित=वास करोति। ततः दिनेषु गच्छत्सु=कियति काले व्यतीते सतीत्यर्थः। असौ=विडालः, पक्षिशावकान्=पक्षिणां शावकास्तान्, आक्रम्य=मारयित्वा, स्वकोटरं=निजनिवासगह्वरम्, आनीय=प्रापय्य, प्रत्यहम्=अहनि अहनीति प्रत्यहम् (वीप्सार्थेऽव्ययीभावो व्याप्त्यर्थे द्वितीया), प्रतिदिवसमित्यर्थः। खादति=भक्ति। अथ येषां=पक्षिणाम्, अपत्यानि=शावकाः, खादितानि=भक्षितानि, तैः=पक्षिभि, शोकार्तैः=शोकेन आर्त्ताः तैः, विलपद्भिः—विलपन्ति इति विलपन्त, तैः विलपद्भि=शोकदुःखितै विलाप कुर्वद्भिश्च सद्भिः, इतस्ततः=अस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे, जिज्ञासा—ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा=नष्टशावकाऽन्वेषणमित्यर्थं। समारब्धा। मार्जारः दीर्घकर्णः, तत्=पक्षिकृत शावकाऽन्वेषणम्, परिज्ञाय=ज्ञात्वा, कोटरात्=वासभूतगह्वरात्, निःसृत्य=निर्गत्य, बहि पलायित। पश्चात्=मार्जारपलायनोत्तरकाले, पक्षिभि इतस्ततः, शावकानिति शेषः। निरूपयद्भिः=अन्विष्यद्भि सद्भि, तत्र तरुकोटर=वृक्षगह्वरे, शावकास्थीनि=शावकानाम् अस्थीनि, प्राप्तानि—अवलोकितानि। अनन्तरम्=अस्थिप्राप्त्यनन्तरम्, अनेनैव=जरद्गवेन गृध्रेण एव अस्माकं शावकाः खादिताः इत्येव विनिश्चित्य=अध्यवस्य, स गृध्रः व्यापादितः=मारित। अत उक्तकथाऽऽत्मकदृष्टान्तस्य पूर्वं सम्भावितत्वाद् हेतो, अहं=लघुपतनकनामा ब्रवीमि 'अज्ञातकुलशीलस्येत्यादि' (श्लोकः)।

भा०—वह बिडाल इस प्रकार जरद्गव नामक गीध को विश्वास दिलाकर उस वृक्षकी कोटर में रहने लगा और प्रत्येक दिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ कर अपनी कोटर में लाकर खाने लगा। अब जिन जिन के बच्चों को वह खा गया था वे सब पक्षी शोकातुर हो विलाप करते हुए अपने बच्चों को खोजने लगे। वह बिडाल 'खोज होने लगी' इस बात को जानकर वृक्ष कोटर में से निकल कर अन्यत्र भाग गया। उसके बाद खोज करते हुए पक्षियों ने उस कोटर में अपने बच्चों की हड्डियाँ पायीं। तब सब पक्षियों ने 'इस जरद्गव नामक गीध ने ही हमारे बच्चों को खा लिया है' ऐसा निश्चय करके उस गीध को मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अज्ञातकुलशील' इत्यादि।

इत्याकर्ण्य स जम्बुक सकोपमाह-'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवा-

अपि मत्सकुलशील एव आसीत्। तत् कथं भवता सह एतस्य स्नेहाऽनुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?' ॥

व्या०—स जम्बुकः, इत्याकर्ण्येव कर्णं काकवचनम् आकर्ण्य=श्रुत्वा कोपेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह=जगाद। मृगस्य प्रथमदर्शनदिने—प्रथमे च तद्दर्शने च प्रथमदर्शनं प्रथमदर्शनस्य दिनं तस्मिन् भवान् अपि मृगस्य कुलशीलम्—कुलं च शीलं च कुलशीले न ज्ञाते कुलशीले यस्य सः तादृशः, सर्वथा परिचयरहित एव आसीदित्यर्थः। तत्-तर्हि अपि भवता सह एतस्य मृगस्य स्नेहाऽनुवृत्तिः=स्नेहस्य अनुवृत्तिः सम्बन्धः। उत्तरोत्तरम्=उत्तरस्मात् उत्तरमिति पञ्चमीतत्पुरुषः, कथम्=केन हेतुना प्रकारेण वा, वर्द्धते ?।

भा०—यह सुनकर सियार क्रोधपूर्वक बोला—'इस हरिण के मिलने के प्रथम दिन तुम भी तो हरिण के कुलशील को नहीं जानते थे तो भी तुम्हारे साथ इस हरिण का स्नेहभाव उत्तरोत्तर क्यों बढ़ता जाता है ?'।

यतः—यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राऽल्पधीरपि।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ७० ॥

अ०—यत्र विद्वज्जनो नास्ति तत्र अल्पधीः अपि श्लाघ्यः, निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते। व्या०—यत्र यस्मिन् प्रदेशे, विद्वज्जनः=वेत्ति इति विद्वान्, विद्वांश्चासौ जनः विद्वज्जनः पण्डितो लोकः, नास्तित्वं वर्तते तत्प्रदेशे, अल्पधीः अल्पा स्वल्पा धीः बुद्धिर्यस्य सः निकृष्टबुद्धिरपीत्यर्थः। श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः सम्मानार्हश्च भवतीति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह-निरस्तेति। पादैः मूलैः पिबतीति पादपः वृक्षः, निरस्ताः नष्टाः पादपाः यस्मात् सः तस्मिन्नवृक्षशून्ये देशे=प्रदेशे, एरण्डः एरण्डनामा क्षुपः तुच्छतरोऽपि एव द्रुमायते=अद्रुमः द्रुमो भवतीति द्रुमायते वृक्षत्वेन गणनां बिभर्ति यथा तथैव मत्सम्बन्धेनापि।

भा०—जहाँ कोई विद्वान् जन नहीं है वहाँ अल्प बुद्धि वाला भी प्रशंसनीय होता है जैसे कि—वृक्षशून्य देश में एरण्ड भी बड़ा वृक्ष कहा जाता है ॥ ७० ॥

अन्यच्च—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७१ ॥

अ०—लघुचेतसाम् अयं निजः परो वा' इति गणना, उदारचरितानां तु वसुधा एव कुटुम्बकम्। व्या०—लघुचेतसां—लघु क्षुद्रं चेतो मानसं येषां तेषां क्षुद्राशयानाम् अल्पबुद्धीनामित्यर्थः, निजः=आत्मीयः परो वा=अथवा अनात्मीयः, इति गणना=विचारणा, भवतीति शेषः। उदारचरितानां तु—उदारम्=औदार्ययुक्तं चरितं=स्वभावव्यवहारादिकं येषां तेषां=महानुभावानाम्, वसुधैव—वसुधापि पृथ्व्यपि सम्पूर्णमण्डलमेव, कुटुम्बकम्=आत्मीयवर्गोपमम् भवतीति शेषः।

भा०—हल्के चित्त वाले लोगों की–'यह अपना है–यह पराया है'–ऐसी बुद्धि होती है। उदार चित्तवाले तो समग्र पृथ्वी के जनों को ही कुटुम्बी मानते हैं ॥ ७१ ॥

यथा चाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि। मृगोऽब्रवीत्—'किमनेन उत्तरोत्तरेण ? सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम् ।'

व्या०—अयं = मत्समीपवर्ती, मृगः = हरिणः, यथा यादृक् मम बन्धुः = मित्रं भवति, तथा तादृक् भवान् अपि मम बन्धु, (ततः) मृगः अब्रवीत् = उक्तवान्, अनेन = एतादृशनिस्तत्त्वेन उत्तरोत्तरेण = उत्तरानुत्तरेण वाक्प्रपञ्चेन, किम् = अलमित्यर्थः । सर्वैः = अस्माभिः समस्तैः, विश्रम्भालापैः = विश्रम्भेण विश्वासेन आलापाः, सम्भाषास्तैः सुखम् = आनन्दम्, अनुभवद्भिः, स्थीयताम् ।

भा०—जैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे तुम भी मेरे मित्र हो। मृग बोला–इन निरर्थक उत्तर प्रत्युत्तरों से क्या काम है ? चलो, हम सब एक स्थान में सार्थक वार्तालाप का आनन्द लेते हुए बैठें।

यतः—न कश्चिद् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ॥ ७२ ॥

अ०—कश्चित् कस्यचिद् न मित्रम्, कश्चित् कस्यचिद् न रिपुः, व्यवहारेण मित्राणि तथा रिपवः जायन्ते । व्या०—कश्चिदपि जनः कस्यचिदपि जनस्य व्यक्तिविशेषस्य, मित्रं = बन्धु, न भवतीति । एवं कश्चिदपि जन, कस्यचिदपि जनस्य, रिपुः = शत्रुरपि न भवतीति । किन्तु व्यवहारेण = अनुकूलेन प्रतिकूलेन वा आचरणेन कार्येण वा, (लोकाः परस्पर) मित्राणि = सुहृदः बन्धव तथा रिपवः = शत्रवश्च, जायन्ते इति ।

भा०—स्वभाव से न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु है। किन्तु अच्छा बुरा व्यवहार होने से ही परस्पर मित्र और शत्रु हो जाते हैं ॥ ७२ ॥

काकेन उक्तम्—'एवमस्तु'। अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः। एकदा निभृत शृगालो ब्रूते–'सखे मृग! एतस्मिन्नेव वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति, तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि'। तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति। ततो दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तद् दृष्ट्वा पाशास्तत्र योजिताः। अनन्तरं पुनरागतो मृगः तत्र चरन् पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्–'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात् त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः ?'। अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्य उपस्थितोऽचिन्तयत्–'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धिरपि बाहुल्या-

स्मे भविष्यति। यतः एतस्य उत्कृत्यमानस्य मांसासृगलिप्तानि अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति'। स च मृगस्तं दृष्ट्वा प्रहर्षितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्'।

व्या०—काकेन उक्तम् = अभिहितम्, एवम् = भवता [illegible] भवतु। अथ = अनन्तरम् प्रातःसमये एव काकमुखवर्जः, [illegible] मतमूर्धेव गतः = अपगतः। एकस्मिन्नवसरे काले, [illegible] एकान्तस्थले मृगं मृगमिति [illegible]। सखे! एतस्मिन् [illegible] सस्यपूर्णे = सस्यैः परिपूर्णम् क्षेत्रं = कृषिभूमिम्, अस्ति = विद्यते। अहं तत्र [illegible] नीत्वा = प्रापय्य त्वां तत् क्षेत्रं दर्शयामि। तथा कृते सति = तेन [illegible] सति, स मृगः, प्रत्यहं = प्रतिदिवसम् तत्र क्षेत्रे गत्वा सस्यं खादति = भक्षयति। ततः = तदनन्तरं [illegible] = क्षेत्रपतिः [illegible] तत् दृष्ट्वा = क्षेत्रे भक्षितसस्यानि ज्ञात्वा, तत्र = क्षेत्रे [illegible] = पाशम् योजितवान्। अनन्तरं पुनः आगतो मृगः तत्र क्षेत्रे चरन् [illegible] [illegible] पाशैः बद्धः, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]! [illegible] [illegible] = मृगस्य [illegible] = भोजनम् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च अस्थीनि बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्तीति। [illegible] [illegible] मृगस्तं दृष्ट्वा प्रहर्षितः = [illegible] [illegible] ब्रूते—हे सखे! [illegible] तावत् = [illegible] मम बन्धनम् [illegible] त्रायस्व = रक्ष।

भा०—काक ने कहा—"ऐसा ही हो"। उसके बाद प्रातःकाल [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एक बार एकान्त में गीदड़ ने मृग से कहा— 'अरे मृग! इस वन के एक भाग में धान्यादि से परिपूर्ण एक खेत है। मैं तुमको उसके निकट ले जाकर दिखाता हूँ।' [illegible] के बाद वह मृग रोज खेत में जाकर धान्यादि खाने लगा। इस दिन बाद खेत के

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया। उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र विना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे।' वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—हे सखे जम्बुक! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो।

यतः—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
भार्य्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥ ७३॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात्। व्या०—आपत्सु=विपत्सु समुपस्थितासु मित्र=सुहृदम्, जानीयात्=परीक्षेत। युद्धे=समरे उपस्थिते सति, शूर=वीरम्, परीक्षेत। ऋणे=ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम्=अकपटं जनं परीक्षेत। वित्तेषु=धनेषु, क्षीणेषु=नष्टेषु सत्सु, भार्यां=स्वपत्नीम्, परीक्षेत। व्यसनेषु=दुःखदिवसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत।

भा०—आपत्ति में मित्र का, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है॥ ७३॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥ ७४॥

अ०—य उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धव। व्या०—य=जन अपरिचित सन्नपि, उत्सवे=विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने=विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे=दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे=प्रतिपक्षकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने=शवदाहस्थाने च, तिष्ठति=तनुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धव भवतीति बोध्यम्।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहाते हैं॥ ७४॥

जम्बुकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्ध' ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिता पाशा, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

म्ये भविष्यति। ततः एतस्य उत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तानि अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति'। स च मृगस्तं दृष्ट्वा उल्लासितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्'।

व्या०—काकेन उक्तम्=अभिहितम्, एवम्=भवता यदभिधीयते तथास्तु भवतु। अथ=पश्चात् प्रातःसमये सर्वे [illegible], यथाभिमतदेशोऽन्यत्र [illegible] गताः=प्रस्थिताः। एकदा=कस्मिंश्चित् काले, स शृगालः, निभृतम्=एकान्तस्थले मृगं प्रगमिति प्रोक्तः। सखे! एतस्मिन् वनैकदेशे=अरण्यस्यैकभागे सस्यपूर्णं=सस्यैः परिपूर्णम् क्षेत्रं=कृषिभूमिः, अस्ति=विद्यते। अहं तव=तद् [illegible] नीत्वा=प्रापय्य त्वां तद् क्षेत्रं दर्शयामि। तथा कृते सति=क्षेत्रे दर्शिते सति स मृगः प्रत्यहं=प्रतिदिवसम् तत्र क्षेत्रे गत्वा सस्यं खादति=भक्षयति। ततः=तदनन्तरं [illegible] गच्छतु [illegible], क्षेत्रस्य पतिना क्षेत्रस्वामिना तद् दृष्ट्वा=क्षेत्रे भक्षितसस्यानि ज्ञात्वा तत्र=क्षेत्रे, पाशाः=मृग[illegible], योजिताः। अनन्तरं पुनः आगतो मृगः तत्र क्षेत्रे चरन् पाशैः=[illegible], बद्धः सन् [illegible] पाशबद्धं मां [illegible] [illegible] [illegible] एव [illegible], [illegible] पाशात् त्रातुं=रक्षितुम् [illegible], अन्यः कः समर्थो भविष्यति? न कोऽपीत्यर्थः। अत्रान्तरे=तस्मिन्नेव समये सः जम्बुकः, तत्र क्षेत्रे आगत्य उप-स्थितः सन् [illegible]=[illegible] [illegible]। तावत्=[illegible] अस्माकम् [illegible]=कपटेन प्रबन्धेन [illegible] [illegible] जातः। मे [illegible], मनो-रथसिद्धिरपि=मनोऽभीष्टसम्पादनमपि, बाहुल्यात्=परिपूर्णतया, भविष्यति। यतः=यस्माद्धेतोः उत्कृत्यमानस्य=[illegible] छिद्यमानस्य [illegible] पाठः। एतस्य=मृगस्य मांसासृग्लिप्तानि=मांसेन असृजा रुधिरेण लिप्तानि (इत्थं [illegible]) तेन [illegible]=[illegible], अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च अस्थीनि बाहुल्येनाऽऽधिक्येन मम भोजनानि भवि-ष्यन्तीति। [स] [illegible] मृगस्तं जम्बुकं दृष्ट्वा, उल्लासितः=[illegible] सन् तं जम्बुकं ब्रूते—हे सखे! जम्बुक! तावत्=[illegible] च [illegible] [illegible] मम बन्धनं-पाशम् छिन्धि=[illegible] मां सत्वरं=शीघ्रं त्रायस्व=रक्ष।

अनु०—मृग ने कहा—'ऐसा ही हो'। इसके बाद प्रातःकाल सब अपने अपने अभीष्ट प्रदेशों को चले गये। एक बार एकान्त में गीदड़ ने मृग से कहा—'मित्र मृग! इस वन के एक भाग में धान्यादि से परिपूर्ण एक खेत है। मैं तुमको उसके निकट ले जाकर बताता हूँ।' बताने के बाद वह मृग रोज खेत में जाकर धान्यादि खाने लगा। कुछ दिन बाद खेत के

मालिक ने धान्य को खाये हुए देखकर खेत में जाल लगा दिया। उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र बिना दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है ?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और विचारने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे।' यह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश हो कर बोला—हे सखे जम्बुक ! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो और मेरी रक्षा करो।

यतः—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्य्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ ७३ ॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात्। व्या०—आपत्सु=विपत्सु समुपस्थितासु मित्र=सुहृदम्, जानीयात्=परीक्षेत। युद्धे=समरे उपस्थिते सति, शूर=वीरम्, परीक्षेत। ऋणे=ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम्=अकपट जनं परीक्षेत। वित्तेषु=धनेषु, क्षीणेषु=नष्टेषु सत्सु, भार्या=स्वपत्नीम्, परीक्षेत। व्यसनेषु=दुःखदिवसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत।

भा०—आपत्ति में मित्र की, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है ॥ ७३ ॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ७४ ॥

अ०—य उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति सः बान्धव। व्या०—य=जन अपरिचित सन्नपि, उत्सवे=विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने=विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे=दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे=प्रतिपक्षकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने=शवदाहस्थाने च, तिष्ठति=तनुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धव भवतीति बोध्यम्।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहाते हैं ॥ ७४ ॥

जम्बुकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्ध' ब्रूते च—'सखे ! स्नायुनिर्मिताः पाशाः, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

दन्तैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत् त्वया वक्तव्यं तत् कर्तव्यम्' इति। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्य इतस्ततोऽन्विष्यन् तथाविधं तं दृष्ट्वा उवाच— 'सखे ! किमेतत् ?' मृगेणोक्तम् 'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत्। तथा चोक्तम्—

व्या०—अनुक्षणम्=क्षणक्षणम्, पार्श्वं, मुहुर्मुहुः=वारं वारम् विलोक्य चिन्तितवान्=मनसि कृतवान् अयं पाशस्य बन्धः दृढः=कठिनतमः, वर्तते इति शेषः। (तावच्च स्वगतं) प्रोक्तं च—सखे मृग ! स्नायुनिर्मिताः—स्नायुभिः देहान्तर्गतसूक्ष्मनाडीविशेषैः, निर्मिताः=रचिताः, पाशाः=बन्धनरज्जवः सन्ति अद्=तस्मादेतान्, रविवासरे भट्टारकदिवसे चर्मविशेषत्वात् स्नायुनिर्मितपाशानामस्पृश्यत्वमेवेति हेतोरिति भावः। अथ, भट्टारकवासरे सूर्ये हि पूज्यत्वादित्वात् 'भट्टारक' इत्युच्यते, तस्य वासरे, एतान्=स्नायुपाशान् कथं दन्तैः=दशनैः, स्पृशामि ? मित्र ! मृग ! यदि (त्वं स्वकीये) चित्ते, अन्यथा=मम भीरुभावात् अहं गुरुतरं मन्यते अस्माकम्—इति कृत्वा विपरीतं कुत्सितमित्यर्थः। तादृशं कुर्वन् न मन्यसे चेत्। तदा प्रभाते त्वया यद् वक्तव्यं मोचनोपायकथनम्, तत् सेवकागमनात्पूर्वमेव मया कर्तव्यमिति। अनन्तरं=पश्चात्, सः काकः, प्रदोषकाले=सायंसमये, मृगमनागतमवलोक्य इतस्ततः=समन्तात् अन्विष्यन्=अन्वेषणं कुर्वन् सन्, तथाविधं=तादृशी विधा स्थितिर्यस्य तम् पाशबद्धमित्यर्थः। तं=मृगम्, दृष्ट्वा उवाच—सखे मृग ! एतत्=पाशबन्धनरूपम्, किं=किं निमित्तं भवतीति। मृगेण उक्तम्—एतत्=बन्धनम्, अवधीरितम्=अनादृतम् अस्वीकृतं यत् सुहृदः मित्रस्य वाक्यं वचनं तस्य फलं=परिणामः अस्ति।

भा०—गीदड़ने हिरन के बन्धन को बार-बार देख कर मन में सोचा कि 'यह बन्धन तो बड़ा मजबूत है।' और कहा कि—'मित्र हिरन ! स्नायु के बनाये हुए ये पाश हैं। आज रविवार के रोज मैं दाँतों से इनको कैसे छूऊँ ? क्योंकि रविवार को दाँत लगाना निषिद्ध है। मित्र मृग ! यदि तुम अपने चित्त में विपरीत नहीं मानो तो सुबह रखवाले के आगमन से पूर्व ही जो तुम कहोगे सो मैं करूँगा। इसके बाद वह कौवा सायंकाल के समय मृग को नहीं आया देखकर इधर-उधर खोजते खोजते बन्धन में बँधे हुए मृग को देखकर बोला— सखे मृग ! यह बन्धन कैसे हुआ ?' मृग बोला—'मित्र का वचन नहीं मानने का यह फल है' कहा भी है:—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः॥ ७१॥

अ०—यः हितकामानां सुहृदां भाषितं न शृणोति तस्य विपत् सन्निहिता स नरः

नर' शत्रुनन्दन.। व्या०—य.=अन., हितकामानां=हितम् अनुकूलम् इष्टं काम- यन्ते इति हितकामा. तेषा=हितार्थिनाम्. सुहृदाम्—शोभन हृदय येषान्ते तेषां= बन्धूनाम्, भाषितम्=उपदेशवचनम्, न शृणोति=नाङ्गीकरोति, तस्य=जनस्य, विपत्=विपत्ति, सन्निहिता=उपस्थिता निकटवर्तिनी भवति, सः=तादृश., नरः= जनः, शत्रुनन्दन'=नन्दयतीति नन्दन, शत्रूणामानन्दकरो भवतीति।

भा०—जो लोग हितकारक मित्रों के वचनों को नहीं मानते हैं उनको आपत्तियाँ शीघ्र आती हैं और वे शत्रुओं के आनन्ददाता बन जाते हैं, क्योंकि उनको आपत्तिमग्न देखकर शत्रु लोग खुश होते हैं ॥ ७५ ॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः क्वाऽऽस्ते?' मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव'। काको ब्रूते—'मित्र! उक्तमेव मया पूर्वम्।'

व्या०—काक ब्रूते=कथयति, सः वञ्चक.=प्रतारक शृगालः, क्व=कस्मिन्प्र- देशे, आस्ते=तिष्ठति? मृगेण उक्तम्—मन्मांसार्थी=मम मांसम् अर्थयते इति मन्मांसार्थी शृगाल', अत्रैव=प्रदेशे, तिष्ठति। काक ब्रूते–मित्र मृग! मया पूर्वं= प्रागेव, उक्तम्=अभिहितम्।

भा०—काक बोला—'वह ठग शृगाल कहाँ है?' मृग ने कहा—'मेरा मांस खाने की इच्छा रखने वाला वह यहीं ही है'। काक ने कहा—'वह तो मैंने प्रथम ही कहा था'।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम्।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७६ ॥

अ०—मे अपराध' न अस्तीति एतद् विश्वासकारण न, हि नृशंसेभ्य' गुणवता- मपि भय विद्यते। व्या०—मे=मम, अपराध=दोषः, नास्ति=न विद्यते, इति एतत्= एतावच्चिन्तनम्, विश्वासकारण—विश्वासस्य कारण विश्वासकारण=निसर्गक्रूरे प्रत्ययहेतु, न भवतीति शेष। हि निश्चयार्थं। नृशसेभ्य=नॄन् शसन्ति हिंसन्ति ये ते नृशसा तेभ्य, गुणवतामपि—गुणा सन्ति येषामिति गुणवन्त तेषां=निरप- राधानामपीत्यर्थ'। भयम्=अनिष्टाशङ्का, भवत्येव।

भा०—'मेरा कुछ भी अपराध नहीं है? इसलिये यह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं करेगा' ऐसा विश्वास कभी नहीं रखना चाहिये। क्योंकि क्रूर पुरुष निरपराधियों का भी पूर्ण अनिष्ट करता है, अत उससे डर रहता है ॥ ७६ ॥

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ ७७ ॥

अ०—गतायुष' दीपनिर्वाणगन्ध न जिघ्रन्ति, सुहृद्वाक्य न शृण्वन्ति, अरुन्धतीं न पश्यन्ति। व्या०—गतम् ... गतायुष'=निकटनिधना जना दीप-

[illegible]

भा०— [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ५८ ॥

[illegible]

भा०— [illegible]

[illegible]

[illegible]

भा०— [illegible]

शिन वशिन कृता' तेषां = वशमानीतानामित्यर्थः । अद्दधतां = श्रद्धां विश्वासं च कुर्वताम् , आशावताम्=आशाः स्वेष्टप्राप्तिविषयका मनोरथविशेषाः ताः सन्ति येषां तेषाम् = अर्थिनामित्यर्थः । किं = किं कार्यम् , वञ्चयितव्यं = वञ्चनया साधितव्यम् , अस्ति ? न किमपीत्यर्थः । उपजाति वृत्तम् ।

भा०—जगत् में मधुर वचनों से प्रलोभित किये हुए तथा कपट से वश में किये हुए एवं श्रद्धालु और आशावाले जनों को वञ्चित करना कोई अच्छा काम नहीं है, इसलिए तुमने यह काम अच्छा नहीं किया ॥ ७९ ॥

अन्यच्च—उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ॥८०॥

अ०—य. उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ पाप समाचरति, असत्यसन्ध तं जनं हे भगवति वसुधे ! (त्व) कथ वहसि ? व्या०—यः=जन., उपकारिणि—उपकरोतीति उपकारी तस्मिन् = उपकारतत्परे, विश्रब्धे = कृतविश्वासे, शुद्धमतौ=शुद्धा अकपटा विमला मतिर्यस्य स तस्मिन् = कपटरहिते, एतादृशे जने, पापं = कपटव्यापारम् , समाचरति=सम्यग् ज्ञात्वा करोति । असत्यसन्धम्=असत्ये कापट्यव्यवहारे सन्धा= प्रतिज्ञा यस्य त प्रतारणप्रधानम् , त तादृशम् , जनम् , हे भगवति ! =ऐश्वर्य-शालिनि पूज्ये वसुधे !=वसुन्धरे ! त्व कथं=केन प्रकारेण वहसि ? । आर्या जातिः ।

भा०—हे भगवति पृथिवी ! तुम ऐसे लोगों को कैसे धारण करती हो ? जो उपकारी, शुद्ध विचार वाले एव विश्वस्त जनों के साथ विश्वासघात का पाप करते हैं ॥ ८० ॥

दुर्जनेन समं सख्यं वैरञ्चाऽपि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाऽङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ८१ ॥

अ०—दुर्जनेन समं वैर सख्य चापि न कारयेत् । उष्ण अङ्गार' कर दहति शीतश्च कर कृष्णायते । व्या०—दुष्ट जनः दुर्जन तेन=खलेन समं=साधं, वैरं=शत्रुतां, तथा सख्य=मित्रतां चापि न कारयेत् । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—उष्ण इति । उष्णः= प्रदीप्त', अङ्गार =अलातम् , कर = तत्स्पृष्ट हस्त दहति, अथ च शीत' अनुष्ण. स 'कृष्णल' इत्यर्थः, कर कृष्णायते = कृष्ण करोति ।

भा०—दुर्जन से वैर अथवा मित्रता कुछ भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह दोनों स्थिति में अनिष्ट करता है, जैसे तप्त अङ्गार छूने से हाथ को जलाता है और ठण्डा होने पर छूने से काला करता है ॥ ८१ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

भा० —अथवा दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे रौति शनैर्विचित्रम् ।

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८२ ॥

अ०—मशकः खलस्य सर्वं चरितं करोति यतः पादयोः पतति पृष्ठमांसं खादति कर्णे किमपि विचित्रं कलं शनैः रौति छिद्रं निरूप्य अशङ्कः सहसा प्रविशति।
व्या०—मशकः = मशकजातीयः स्वेदजविशेषः, खलस्य = दुर्जनस्य सर्वं = समग्रम् चरितम् = आचरणं करोति। तदेव दर्शयति—पूर्वमिति। मशकः पूर्वं प्रथमं समीपं दुत्वा। पादयोः = चरणयोः चरणयोः, पतति ततः पृष्ठमांसम् पृष्ठे मांसं पृष्ठ-मांसं पृष्ठे स्थितम् मांसं खादति। कर्णे च गत्वा विचित्रं कलं मधुरं च किमपि अव्यक्तमर्थं शनैः शनैः रौति छिद्रम् = प्रवेशद्वारं निरूप्य = अवलोक्य अशङ्कः = भयरहितः सन् सहसा = झटिति प्रविशति। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

भा०—मच्छर में सब दुष्ट का सा चरित्र मिलता है—जैसे कि पहले प्रथम पैरों पर गिरता है, पीछे पीठ पर मांस खाता है, कानों में जाकर अव्यक्त बोलता है और छिद्र देखकर अकस्मात् प्रवेश करता है ॥ ८२ ॥

तथा च—दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥ ८३ ॥

अ०—दुर्जनः प्रियवादी चेत् एतत् विश्वासकारणं न जिह्वाग्रे मधु तिष्ठति हृदि तु हालाहलं विषम्। व्या०—दुर्जनः = खलः, प्रियवादी—प्रियं वदतीति प्रियवादी = मधुरभाषी एतत् = प्रियवादित्वं विश्वासकारणं = विश्वासस्य कारणं तु न भवति यतः दुर्जनस्य जिह्वाग्रे—जिह्वाया अग्रं तस्मिन् = रसनाग्रभागे मधु = सुमधुरं वचो मात्रं तिष्ठति अथ च हृदि = अन्तःकरणे तु हालाहलं विषं तिष्ठतीति।

भा०—दुर्जन पुरुष प्रिय बोलता है लेकिन प्रियवचन से भी उसका विश्वास नहीं करना, क्योंकि उसकी जीभ में ही मधुरता रहती है अन्तःकरण में तो हलाहलरूपी जहर भरा रहता है ॥ ८३ ॥

अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशम् आगच्छन् काकेन अवलोकितः। तमवलोक्य काकेन उक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। अहं तव चक्षुषी चञ्च्वा किमपि विलिखामि। यदा अहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे'। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः, अथा ऽसौ—'आः स्वयं मृतोऽसि!'—इत्युक्त्वा मृगं बन्धनात् मोचयित्वा पाशान् संवरीतुं (संग्रहीतुं) सत्वरो (सयत्नो) बभूव। ततः

कियद्दूरे अन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायित । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात् क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः ।

व्या०— अथ = अनन्तरम्, प्रभाते, लगुडहस्त लगुडो हस्ते यस्य सः एतादृश, क्षेत्रस्य पतिः स्वामी, त प्रदेश प्रति आगच्छन् = आव्रजन्, काकेनावलोकित = दृष्ट काकेन त क्षेत्रपतिम् अवलोक्य उक्तम् = मृगाय अभिहितम्–सखे मृग ! त्वम् आत्मानं=स्वशरीर, मृतवत् = मृतमिव, सन्दर्श्य = दर्शयित्वा, उदर वातेन = पवनेन, पूरयित्वा, पादान् = चरणान् स्तब्धीकृत्य=अस्तब्धान् स्तब्धान् कृत्वा इति स्तब्धीकृत्य, स्थिरीकृत्येत्यर्थः । तिष्ठ = अवस्थान कुरु, अह चञ्च्वा = चञ्चुअग्रेण, चक्षुषी = लोचने, किमपि = शनै शनै, विलिखामि = विकर्षामि, यदा अह शब्द = निनाद, करोमि = करिष्यामि, तदा, त्व सत्वर = झटिति, उत्थाय, पलायिष्यसे = धावित्वा अन्यप्रदेश गमिष्यसीति । स मृग काकस्य वचनेन = उपदेशानुसारेण, तथैव = यथाकथित तदवस्थ एव, स्थित = अवतस्थे । ततः तदुत्तर, क्षेत्रपतिना= क्षेत्रस्य पति तेन, हर्षोत्फुल्ललोचनेन हर्षेण उत्फुल्ले लोचने यस्य स तेन = पाशबद्धमृगदर्शनजन्यानन्दप्रयुक्तविस्फारितनेत्रेण तथाविध = तादृशी विधा पाशबद्धाऽवस्था यस्य स तादृश, मृगः = हरिण आलोकित, अथ = आलोकनानन्तरम्, असौ = क्षेत्रपति, आ = आश्चर्य, हर्ष अव्ययम् । स्वय=स्वेनैव मत्प्रयत्नमन्तरेणैव, मृतोऽसि = निधन गतोऽसि त्वम्, इत्येतत् उक्त्वा मृग, बन्धनात् = पाशात्, मोचयित्वा = मुक्तबन्ध कृत्वा, पाशान् = विस्तीर्णजालानि, सवरीतु-सङ्क्षेप्तुम्, सहर्तुमिति यावत्, सत्वर = शीघ्रयत्नो बभूव । तत = अनन्तर क्षेत्रपतौ, कियद्दूरे = किञ्चित् दूरम्, अन्तरिते=व्यतिगते सति, स मृग काकस्य शब्द पूर्वकृतसङ्केतानुसार श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायित = प्रधावितवान् । त = पलायमान मृगम्, उद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य, तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात्—क्रोधात्, निक्षिप्तेन = बलात् क्षिप्तेन, लगुडेन = दण्डेन, शृगाल = मध्ये स्थितो वञ्चको जम्बूक, व्यापादित = मारित मरण गत इति भाव ।

भा०—उस के बाद प्रभात में काक न उस खेत क मालिक को हाथ स डण्डा लेकर खेत में आते हुए देखा । उसे देख कर काक ने कहा—'मित्र हरिण ! तुम अपने को मृत के सदृश दिखाकर, श्वास से पेट को फुलाकर, पैरों को कड़ाई से फैलाकर पडे रहो, मैं चोंच से तुम्हारी आखों को धीरे धीरे नोचता (छूता) हू, जब मैं बोलूं, उसी समय तुम उठ कर एकदम भाग जाना'। वह मृग काक के कहने से वैसा ही मृतवत् हो गया तदनन्तर खेत के मालिक ने (दूर से ही) प्रसन्नतापूर्ण नेत्रों से फँसे हुए मृग को देखा, किन्तु समीप आने पर कहा—'अहा ! अपने से ही मर कर पडे हो'–ऐसा कहकर मृग को

जंगल से छूट करके काक को सम्बोधित करते करते थोड़ी दूर गया कि व्याध का फेंका हुआ और उसको लगकर वह शृगाल मर गया। तब क्षेत्रपति ने प्रसन्न हो कर पीछे से मारते हुए वृक्ष के ऊपर बैठे और से कहने लगे कि वह भागने से बीच में गिरा हुआ लगुड मार खाकर मर गया।

तथा चोक्तं—त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।

अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अ०—(जनः) अत्युत्कटैः पापपुण्यैः फलम् इहैव त्रिभिः वर्षैः त्रिभिः मासैः त्रिभिः पक्षैः त्रिभिः दिनैः अश्नुते। व्या०—अत्युत्कटैः = अतिशयितैः पापपुण्यैः—पापानि च पुण्यानि च तैः—अधर्मधर्माचारैः, अचिरकालं, फलम्—अनुभवसुखात्मकपरिणामम्, इहैव—अस्मिन्नेव जन्मनि, त्रिभिः वर्षैः—अब्दैः, वर्षत्रयेणेत्यर्थः। त्रिभिर्मासैः—मासत्रयेण त्रिभिः पक्षैः = पक्षत्रयेण, त्रिभिर्दिनैः = दिनत्रयेण वा अश्नुते = भुङ्क्ते।

भा०—अतिशय पाप पुण्य के फल इसी जन्म में तीन वर्ष में अथवा तीन मास में, तीन पक्ष में या तीन दिन में भोगना पड़ता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि।

भा०—इसलिये मैं कहता हूँ कि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि।

(इति मृगकाकशृगालकथा)

वायसः पुनराह—(काक ने फिर से कहा)—

भक्षितेनाऽपि भवता नाऽऽहारो मम पुष्कलः।

त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ ! ॥ ८५ ॥

अ०—हे अनघ ! भवता भक्षितेनापि मम पुष्कलः आहारो न, त्वयि जीवति चित्रग्रीव इव जीवामि। व्या०—हे अनघ ! निष्पाप ! भवता = त्वया, भक्षितेनापि खादितेनापि, त्वद्भक्षणेनाऽपीत्यर्थः। मम पुष्कलः—परिपूर्णस्तृप्तिदः, आहारः—भोजनं न भवतीति। किन्तु त्वयि = भवति जीवति—जीवति इति जीवन् तस्मिन् सति, चित्रग्रीवनामकः कपोतराज इव जीवामि (जीविष्यामीत्यर्थे लट्)।

भा०—हे निष्पाप ! हिरण्यक मूषिकराज ! तुमको खाने से मेरा भोजन भी पूर्ण नहीं होगा और तुम्हारे जीवित रहने पर मैं भी चित्रग्रीव के समान बहुत से आनन्द का अनुभव करूँगा ॥ ८५ ॥

अन्यच्च—तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।

सतां हि साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते ॥ ८६ ॥

अ०—पुण्यैककर्मणां तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः हि सतां साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते। व्या०—पुण्यैककर्मणां—पुण्यमेव एकं कर्म येषां ते पुण्यैक

कर्माजस्तेषाम्=धार्मिकाणामित्यर्थः। तिरश्चां=पश्वादीनामपि, विश्वासः=विश्रम्भ, दृष्ट=दृश्यते बहुधा। तत्र हेतुमाह=सतामिति। हि=यस्माद्धेतोः, सतां=धार्मिकाणां सत्पुरुषाणाम्, साधुशीलत्वात्-साधु=सौम्य हितकर कापट्यरहित शील येषान्ते साधुशीलाः, तेषां भावस्तस्मात्, स्वभाव=स्वेषां भाव हितकरत्वादिसद्गुणाऽनुरूपो निसर्गः, न निवर्तते=कदाचिदपि न विलीयते इति।

भा०—केवल पुण्यशील कार्यों को करनेवाले पशुओं का भी विश्वास करना चाहिये। क्योंकि जो साधु स्वभाव वाले होते हैं उनका सत्स्वभाव कभी नहीं बदलता है॥ ८६॥

किञ्च—साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम्।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया॥ ८७॥

अ०—प्रकोपितस्यापि साधोः मन विक्रियां न आयाति हि तृणोल्कया सागराम्भ. तापयितु न शक्यम्। व्या०—प्रकोपितस्य=प्रकर्षेण कोपितस्य क्रोधितस्यापि, साधोः=सज्जनपुरुषस्य, मनः=चित्त, विक्रियां=विकारम् न आयाति=न प्राप्नोति, हि, तथा हि तृणोल्कया=तृणस्य घासस्य उल्का अग्निज्वाला तया तृणवह्निशिखयेत्यर्थं। सागराम्भ=सागरस्य समुद्रस्य अम्भः जलम्, तापयितु=उष्ण कर्तुं, न शक्यमिति।

भा०—क्रोध दिलाने पर भी सत्पुरुषों के हृदय में कुछ भी विकार नहीं होता है, जैसे घास की अग्नि समुद्र के जल को गरम नहीं कर सकती है॥ ८७॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वम्, चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्य.'।

व्या०—हिरण्यकः स मूषिकराजः ब्रूते-त्व चपलः=चञ्चलप्रकृति. असि, चपलेन=चपलस्वभावेन अनेन, सह=सार्धम्, स्नेह सर्वथा=सर्वप्रकारेणापि न कर्तव्य इति।

भा०—हिरण्यक ने कहा—'तू चपल है, चपल स्वभाववालों के साथ किसी प्रकार से स्नेह नहीं करना चाहिये'।

तथा चोक्त—मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा।
विश्वासात् प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नो हितः॥ ८८॥

अ०—मार्जार महिष मेष काकः तथा कापुरुष एते विश्वासात् प्रभवन्ति, तत्र विश्वासः नो हित। व्या०—मार्जारः=बिडाल, महिष=लुलाय, मेष=उरभ्र, काकः=वायस, कापुरुष=कुत्सित पुरुष, एते पञ्च विश्वासात्=तेषु विश्वासकरणात्, प्रभवन्ति=अनिष्ट कर्तुं प्रभव समर्थाः भवन्ति। अत एव तत्र=तेषु पञ्चसु विश्वास कदाऽपि हित —हितकर', नो=न हि, भवति। (नोचित इति पाठान्तरम्)।

भा०—बिलाव, भैंसा, भेड़ा, काक तथा कापुरुष ये पांच विश्वास करने से ही अनिष्ट करने में समर्थ बनते हैं, उनका विश्वास कभी हितकारक नहीं होता॥ ८८॥

चित्राङ्गोऽवदत्—'शत्रुपक्षो भवानस्माकम् । शत्रुणा सन्धिर्न विधेयः' ।

व्या०—चित्राङ्गः=मृगवृत्ति अविचार्यकार्यमसीति चेत् । तदेवं दर्शयति शत्रुपक्ष इति । भवान् = त्वं चित्राङ्ग, अस्माकं=भूचिकानाम्, शत्रुपक्षः भवसीति । शत्रुणा सह सन्धिः = मेलनं न विधेय इति ।

भा०—और भी, तुम (कौआ) हमारी चूहिया जाति के शत्रु हो इसलिये शत्रु के साथ मेल नहीं रखना चाहिये ।

उक्तञ्च—शत्रुणा न हि सन्दध्यात् संश्लिष्टेनाऽपि सन्धिना ।

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ८९ ॥

अ०—सुश्लिष्टेनापि सन्धिना शत्रुणा न हि सन्दध्यात् । सुतप्तमपि पानीयं पावकं शमयत्येव । व्या०—सुश्लिष्टेनापि = सुदृढेनापि सन्धिना=सन्धानेन मेलनेन, शत्रुणा सह न हि सन्दध्यात्=नैव सन्मिलेत् । तदेव दृष्टान्तेन दृढयति—सुतप्तमिति । अग्निना अतीव तप्तमपि पानीयं पावकम् = वह्निं, शमयत्येवेति ।

भा०—शत्रु के साथ दृढ़ सन्धि करने पर भी उसका पूर्ण विश्वास कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि खौला हुआ भी जल आग को बुझा कर देता है ॥ ८९ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ९० ॥

अ०—विद्ययाऽलङ्कृतः सन् अपि दुर्जनः परिहर्तव्यः, मणिना भूषितः असौ सर्पः किं भयङ्करः न (भवति) । व्या०—विद्यया=शास्त्रपठनेन, अलङ्कृतः युक्तः सन् अपि दुर्जनः=दुष्टजनोऽपि स्यात् यदा तदा, परिहर्तव्यः=त्यक्तव्यः । तथाहि—मणिना भूषितः=शिरोरत्नेन अलङ्कृतः, असौ=पुरःस्थः, सर्पः=फणी किमिति अस्ते । भयङ्करः=भयावहो न भवति अर्थात् भवत्येवेत्यर्थः ।

भा०—दुर्जन पुरुष के विद्वान् होने पर भी उसका सर्वथा त्याग करना ही उचित है क्योंकि मणि से सुशोभित होने पर भी सर्प क्या भयानक नहीं होता है ॥ ९० ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।

नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९१ ॥

अ०—यत् अशक्यं तत् न शक्यम्, यत् शक्यं तत् शक्यमेव, उदके शकटं न याति स्थले च नौः न गच्छति । व्या०—यत्=कार्यम् अशक्यम्=सर्वथा साधयितुं न शक्यम् तत् न शक्यमेव=तत्कार्यं सर्वथा साध्यमेव न भवतीति । अत च यत् कार्यं शक्यं=सुसाध्यम्, तत्=कार्यं सर्वथा साध्यमेव भवति । तथा हि—उदके=जले, शकटं=रथवाहनविशेषः, न याति=न गच्छति । स्थले च, नौः=नौका न गच्छतीति ।

भा०—जो असम्भावित है वह कभी नहीं हो सकता और जो शक्य है वही सम्भव हो सकता है। जैसे जल में रथ नहीं चलता और स्थल में नौका नहीं चल सकती ॥ ९१ ॥

अपरञ्च—महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९२ ॥

अ०—यः महता अपि अर्थसारेण शत्रुषु विरक्तासु भार्यासु च विश्वसिति, तस्य जीवन तदन्तं (भवति)। व्या०—यः = जन', महता अपि = गुरुणाऽपि, अर्थसारेण = श्रेष्ठप्रयोजनेन, शत्रुषु = अनिष्टकारिषु, विरक्तासु = स्वस्मिन्नमनस्कासु, भार्यासु = स्त्रीषु च, विश्वसिति = विश्वास करोति, तस्य = विश्वस्तजनस्य, जीवनम् = आयु, तदन्तम = स विश्वास एव अन्तो नाशो यस्य तत् तदन्त भवतीति।

भा०—बड़े भारी प्रयोजन के लिये भी शत्रु में तथा अपने में स्नेहशून्य स्त्री में जो लोग विश्वास रखते हैं, उस विश्वास में ही उनका प्राणनाश हो जाता है ॥ ९२ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि ममैतावानेव सङ्कल्पः, यत् त्वया सह सौहृद्यम् अवश्यं करणीयमिति। अन्यथा अनाहारेणाऽऽत्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामीति'।

व्या०—लघुपतनकनामा काकः ब्रूते-मया सर्वं=समस्त भवदुक्त, श्रुतम्=आकर्णितम्, तथाऽपि=सर्वस्मिन् श्रुतेऽपि, मम एतावान् = वक्ष्यमाणस्वरूपः, सङ्कल्पः= मनोरथः, अस्तीति शेष। तदेव दर्शयति—यदिति। त्वया मूषिकेण सह सौहृद्य = मैत्र्यम्, अवश्य = निश्चयात्, करणीय = कर्तव्यमिति। अन्यथा=यदि मैत्र्य न करिष्यसि, तदा तव द्वारि = अङ्गणे, अनाहारेण = अनशनेन, आत्मान = शरीरम्, व्यापादयिष्यामि = नाशयिष्यामीति।

भा०—लघुपतनक काक ने कहा—'मैंने तुम्हारा कहना सब सुना, लेकिन मेरा तो यही सङ्कल्प है कि—तुम्हारे साथ मित्रता करना, अगर मित्रता नहीं करोगे तो तुम्हारे द्वार पर ही अनशन व्रत करके प्राण तज दूँगा'।

तथा हि—मृद्घटवत् सुखभेद्यो दु सन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ ९३ ॥

अ०—दुर्जनः मृद्घटवत् सुखभेद्य दु.सन्धानश्च भवति, सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्य आशु सन्धेयश्च (भवति)। व्या०—दुर्जन = दुष्टजन, मृदा निर्मित घटः मृद्घट स इव, सुखभेद्यः = सुखेन अनायासेन भेत्तु छेत्तु शक्यः, दु'सन्धान = दुष्कर सन्धान पुन सयोगो यस्य स एतादृशश्च भवतीति। सुजनस्तु = सज्जनस्तु, कनकघटवत् कनकेन निर्मित घट' स इव, दुर्भेद्यः दुःखेन महताऽऽयासेन भेत्तुं शक्यः, अथ च आशु = झटिति, सन्धेयः = सन्धातु योग्यो भवतीति।

भा०—मिट्टी का घड़ा जैसे सहज प्रहार से भी फूट जाता है और बहुत प्रयत्न करने पर भी फिर उन टुकड़ों का जोड़ना नहीं हो सकता है वैसे ही दुर्जन का स्नेह भी स्वल्प निमित्त से भिन्न हो जाता है और अनेक उपाय करने पर भी अच्छी तरह से नहीं हो सकता है और सोने का घट जल्दी फूटता नहीं है और फूटने पर सहज प्रयत्न से फिर जुड़ सकता है। ऐसे सज्जन का स्नेह भी सहज हेतु से नष्ट नहीं होता है और थोड़ा न्यून हो जाने पर भी फिर सहज उपाय से सम्पूर्ण बन जाता है ॥ ९३ ॥

किञ्च—द्रवत्वात् सर्वलोहानां निमित्तात् मृगपक्षिणाम्।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं दर्शनात् सताम् ॥ ९४ ॥

अ०—सर्वलोहानां द्रवत्वात्, मृगपक्षिणां निमित्तात्, मूर्खाणां भयाल्लोभाच्च सतां दर्शनात् सङ्गतं (भवति)। व्या०—सर्वलोहानां = सर्वेषां रजतकाञ्चनादीनां लोहानाम्, द्रवत्वात् = द्रवणशीलत्वात् (मेलनं भवतीति सम्बन्धः)। मृगपक्षिणाम् = मृगाणां पक्षिणां चैषाम्, निमित्तात् = घासे तृणे वा भोजनविषयकादिनिमित्तात्, मूर्खाणां भयात् = दण्डादिविषयकभयात्, लोभात् = किञ्चिद्द्रव्यप्राप्तिलोभेन च, सतां = सत्पुरुषाणाम्, दर्शनादेव = परस्परावलोकनमात्रादेव, सङ्गतं = मेलनम्, ऐक्यता इति यावत्। भवतीति शेषः।

भा०—सब प्रकार के धातुओं का मेल द्रवीभाव के कारण से होता है और पशु-पक्षियों का मेल खेतों में भोजनादि निमित्त से तथा मूर्खों का मेल भय से या लोभ से होता है और सत्पुरुषों का मेल दर्शन मात्र से ही हो जाता है ॥ ९४ ॥

किञ्च—नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः।
अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९५ ॥

अ०—सुहृज्जनाः नारिकेलसमाकारा हि दृश्यन्ते अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः। व्या०—सुहृज्जनाः = सत्पुरुषाः, नारिकेलसमाकाराः—नारिकेलेन समः सदृश आकारो येषान्ते = नारिकेलफलवत् बहिः कठिनाः, अन्तस्तु मधुरा इत्यर्थः। दृश्यन्ते अवलोक्यन्ते इति शेषः। अन्ये = दुर्जनास्तु बदरिकाकाराः = बदरिफलम् कोलफलस्य आकार इव आकारो येषान्ते बदरिकाफलवत् अन्तःकठिनाः बहिः स्निग्धाः पुरुषा इत्यर्थः। बहिरेव = बाह्यत एव मनोहराः = मनः हरन्ति इति मनोहराः = दूरतो रमणीया भवन्तीत्यर्थः।

भा०—सज्जन नारियल के फल की तरह ऊपर से कठोर और भीतर से अति मधुर रहते हैं। कुछ जन ऊपर से सुन्दर और भीतर से बेर के फल के समान अन्दर में बीज-कपाटादि के समान कठोरतादि दोष से युक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

अत एव सतां सङ्गतिरिष्यते। (अतः सत्पुरुषों की सङ्गति चाहते हैं)।

अन्यच्च—स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम्।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः॥ ९६॥

अ०—साधूनां स्नेहच्छेदेऽपि गुणाः विक्रियां न आयान्ति, हि मृणालानां भङ्गेऽपि तन्तवः अनुबध्नन्ति। व्या०—साधूनां=सज्जनानाम्, स्नेहच्छेदेऽपि=स्नेहस्य प्रणयस्य छेदेऽपि कदाचित् भङ्गेऽपि, गुणाः दयापरहितकरत्वादयः, विक्रियाम्=अन्यथाभावं, न आयान्ति=न प्राप्नुवन्ति, हि=तथा हि, मृणालानां=कमलनालानाम्, भङ्गेऽपि=छेदे सत्यपि, तन्तवः=तदन्तःस्थसूक्ष्मसूत्राणि, अनुबध्नन्ति=सुसंश्लिष्टा एव तिष्ठन्ति।

भा०—साधुजनों का स्नेह टूटने पर भी उनके गुण सदा सद्गुण ही रहते हैं, दुर्गुण नहीं हो जाते। क्योंकि कमल का नाल टूट जाने पर भी उनके अन्तर्नाल में ग्रथित तन्तु अलग नहीं होते हैं॥ ९६॥

अन्यच्च—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यञ्चाऽनुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥ ९७॥

अ०—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सुखदुःखयोः सामान्यं दाक्षिण्यम् अनुरक्तिः सत्यता च सुहृद्गुणाः। व्या०—शुचित्वं=पवित्रता अकृत्रिमत्वमित्यर्थः। त्यागिता=दानशीलता, शौर्यं=वीरता, सुखदुःखयोः=सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे, तयोः सुखदुःखयोः सुखे च दुःखे चेत्युभयत्र, सामान्यम्=समानभाव, दाक्षिण्यम्=औदार्यं सारल्यं च, अनुरक्तिः=सदाऽनुराग, सत्यता=सत्यस्य भाव, एतानि सर्वाणि, सुहृद्गुणाः=सुहृद गुणाः, मित्रगुणा भवन्ति।

भा०—पवित्रता, दानशीलता, शूरता, सुख-दुःख में समानता, उदारता, अनुराग, सत्यता ये सब मित्र के गुण हैं॥ ९७॥

'एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत् प्राप्तव्यः?' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिः निःसृत्याऽऽह—'आप्यायितोऽहं भवतामेतेन वचनामृतेन'।

व्या०—एतैः=प्रदर्शितरूपैः, गुणैः=स्वधर्मैः, उपेतः=युक्तः, भवदन्यः=भवत्तः मूषिकात् अन्यः अपरः, कः सुहृत्=मित्रभूतः, प्राप्तव्य इति। हिरण्यकोऽपि इत्यादि तद्वचनं=तस्य काकस्य वचनं विश्वासपूर्णवाक्यम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, बहिः=विवराद् बहिर्भागे, निःसृत्य=निर्गत्य, आह—भवतां=पूज्यानाम्, एतेन=पूर्वोक्तेन, वचनामृतेन=वचनम् अमृतमिव तेन अहम् आप्यायितः=द्रवीकृत, संतोषित इत्यर्थः।

भा०—'इन सब गुणों से युक्त तुम्हारे बिना दूसरा कौन मित्र मिलेगा?' इत्यादि वचन को सुनकर हिरण्यक अपने बिवर से बाहर निकल कर बोला—'आह! आपके अमृत वचनों से मैं बहुत प्रसन्नचित्त हुआ हूँ'।

तथा चोक्तम्—घर्मार्ते न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम्।
प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम्॥९८॥

अ०—सद्युक्त्या परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमं च सज्जनभाषितं यथा चेतसः प्रीत्यै प्रायः प्रभवति तथा घर्मार्ते सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली न प्रत्यङ्गमर्पितं श्रीखण्डविलेपनम् अपि न सुखयति। व्या०—सद्युक्त्या=उत्तमरचना-रीत्या, परिष्कृतम्=सुसंस्कृतम्, सुकृतिनाम्=पुण्यवताम् आकृष्टिमन्त्रोपमम्=आकृष्टिः आकर्षणं तदर्थं यो मन्त्रः स एव उपमा यस्य तत् वशीकरणमन्त्रसदृशं च सज्जनभाषितम्=महात्मवचनम्, यथा=यादृक् चेतसः प्रीत्यै प्रायः=बाहुल्येन प्रभवति=समर्थं भवति तथा=तादृक् घर्मार्ते=घर्मेण ग्रीष्मोष्मणा आर्तः तस्मिन् तथा, तादृशं जनमित्यर्थः (कर्म)। सुशीतलजलैः=सुशीतलानि च तानि जलानि च तैः अतिशीतलजलैः, कृतं स्नानं (कर्तृ) न सुखयति (प्रीणयति) इत्यन्वयः। एवं मुक्तावली=मुक्तानाम् अपि न सुखयति, एवं प्रत्यङ्गम्=अङ्गे अङ्गे इति प्रत्यङ्गं सर्वाङ्गे इत्यर्थः। अर्पितम्=अर्पितम्, श्रीखण्डविलेपनम्=श्रीखण्डस्य चन्दनस्य विलेपनं च न सुखयतीति। (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्)।

भा०—सुन्दर नीतिमय युक्तियों से सुसज्जित पुण्य, वशीकरण मन्त्र के समान सज्जनों का वचन जितना चित्त को प्रसन्न करता है उतना ग्रीष्मातप का भी शीतल जलों से स्नान मुक्ताहार तथा प्रत्यङ्ग में लिप्त चन्दन भी शान्ति नहीं देता है॥

अन्यच्च—रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम्॥ ९९॥

अ०—रहस्यभेदः याच्ञा नैष्ठुर्यं चलचित्तता क्रोधः निःसत्यता द्यूतम् एतत् मित्रस्य दूषणम् अस्ति।

व्या०—रहस्यस्य=गुप्तमन्त्रस्य भेदः=अन्यत्र प्रकाशनम्, याच्ञा=याचनम् प्रार्थना, नैष्ठुर्यम्=क्रूरता निर्दयता, चलचित्तता=चञ्चलम् अनवस्थितं चित्तं यस्य तस्य भावः, क्रोधः=कोपः, निःसत्यता=असत्यता मिथ्यावादित्वम्, द्यूतम्=अक्षक्रीडा च, एतत् सर्वं मित्रस्य=सुहृज्जनस्य दूषणम्=दूषकत्वात् दूषणरूपमित्यर्थः।

भा०—गुप्तबातों को अन्यत्र प्रकाश करना, याचना का भाव, क्रूरता, चञ्चल चित्त की अनवस्थितता, क्रोध रखना, असत्य बोलना, जुआ खेलना ये सब मित्रता के दूषण हैं॥ ९९॥

अनेन वचनक्रमेण तद् एकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते।

भा०—अनेन=पूर्वोक्तेन तव वचनक्रमेण=वचनानां क्रमः वचोविन्यासक्रमस्य

तेन् सत्=पूर्वोक्तम् असुहृद् , एकमपि=तदन्यतममपि, दूषणं त्वयि=भवति, न लक्ष्यते=न प्रतीयते इति ।

भा०—इन सब पूर्वोक्त तुम्हारे वचनों से मालूम होता है कि उनमें से एक भी दूषण तुम्हारे में नहीं है ।

यत—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते ॥ १०० ॥

अ०—पटुत्व सत्यवादित्व कथायोगेन बुध्यते, अस्तब्धत्वम् अचापल्यं प्रत्यक्षेण अवगम्यते ॥

व्या०—पटुत्व=दक्षता, सत्यवादित्वं=सत्य वदतीति सत्यवादी तस्य भाव , सत्यपरायणतेत्यर्थ । कथायोगेन, कथाया , वार्तया योग प्रसङ्गस्तेन, बुध्यते=ज्ञायते अनुमीयते । अस्तब्धत्वम्=जाड्यराहित्यम् , उत्साहवत्त्वमिति यावत् । अचापल्यम्=चपलस्य भाव चापल्य चञ्चलता तन्न भवतीति अचापल्य स्थिरता, धीरतेति यावत् । प्रत्यक्षेण=दर्शनेनैव, अवगम्यते=प्रतीयते इति ।

भा०—वाक् चतुरता तथा सत्यवादिता ये दोनों वार्तालाप से मालूम होते हैं, और प्रत्यक्ष से तो उत्साह शक्ति तथा धीरता ये दोनों निश्चित होते हैं (अत तुम मित्रता के योग्य हो) ॥

अपरञ्च—अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत् स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०१ ॥

अ०—स्वच्छान्तरात्मन सौहार्दम् अन्यथैव भवेत्, हि शाठ्योपहतचेतसः वाणी अन्यथा प्रवर्तते । व्या०—स्वच्छः=कापट्यादिशून्यः निर्मल , अन्तरात्मा=अन्तःकरण मानस यस्य स तस्य निर्दोषान्त करणस्येत्यर्थः । सौहार्दं=सुहृदो भाव मित्रता, अन्यथैव=अन्यप्रकारेणैव, भवेत् , हि=निश्चयार्थ । अथ च शाठ्योपहतचेतसः=शठस्य भावः शाठ्य धूर्तता तेन उपहत व्याप्तं चेतो यस्य तस्य धूर्तस्येत्यर्थ । वाणी=वार्तालाप , अन्यथा=अन्यप्रकारेण, प्रवर्तते=नि सरतीति ।

भा०—स्वच्छान्त करण वाले की मैत्री दूसरी रीति से ही (उत्तम भाव से ही) होती है और शठात्मा पुरुष की तो वाणी दूसरे ढङ्ग से निकलती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०२ ॥

अ०—दुरात्मनाम् मनसि अन्यद् वचसि अन्यत् कर्मणि अन्यद्, महात्मनां मनसि एक वचसि एकं कर्मणि एकम् । व्या०—दुरात्मनाम्=दुष्टान्त करणानां जनानाम् । मनसि=हृदये, अन्यत्=अन्यप्रकार वर्तते, वचसि=वाक्ये, अन्यत् तदन्यथा वर्तते, कर्मणि=कर्तव्यविषये [illegible]

कुसुमानां तु, मनस्विनश्च कुसुमस्येव वदपि तथैव एकम्, अन्यमपि तथैवैकम्, वासुदेवकर्मसु अविपरीतमेव वर्तते इति।

भा०—जैसे फूलों के गुच्छे की दो गतियां होती हैं—या तो वह सब लोगों के सिर पर रहता है या वन में ही मुरझा जाता है, वैसे ही मनस्वी पुरुष या तो सब के सिर पर रहता है या वन में ही रहता है। महात्मा पुरुष के हृदय में जो रहता है वही सोचते हैं और वैसा ही करते हैं ॥ १२ ॥

'तद्भवतु भवतः अभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयोः अन्योऽन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः विस्रम्भालापैश्च कियत्कालोऽतिवर्तते। एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! वायसस्य कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते—

व्या०—तद्भवतु भवतः अभिमतमेव = अभिलषितमेव भवतु—अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यकः = मूषिकराजः, मैत्र्यं = सख्यम् विधाय = कृत्वा भोजनविशेषैः = भोजनार्थं भक्ष्यभोज्यपदार्थानां विशेषैः वायसं = काकम् सन्तोष्य = तुष्टं कृत्वा, विवरं = बिलं प्रविष्टः। ततः वायसः = काकः अपि स्वस्थानं प्रतिगतः। ततः प्रभृति = तस्माद् दिवसात् आरभ्य तयोः = काकमूषिकयोः, अन्योऽन्याहारप्रदानेन = अन्योऽन्यस्मै आहारस्य प्रदानेन कुशलस्य प्रश्नैः, विस्रम्भस्य विश्वासस्य आलापैः कथाभिः, कियत्कालः = कियान् समयः, अतिवर्तते व्यतीयाय इति। लघुपतनकः काकः एकदा हिरण्यकं मूषिकमाह—सखे! वायसस्य = काकस्य कष्टेन लभ्यः आहारो यस्मिन् तत् तादृशम् इदम् = एतत् स्थानं = स्थलं, वर्तते। तदेतत् = तस्माद्धेतोः एतत् परित्यज्य = विहाय, स्थानान्तरं = अन्यत् स्थानं गन्तुमिच्छामि। हिरण्यकः ब्रूते—कथयति—

भा०—अच्छा 'तुम्हारी इच्छानुसार ही हो' ऐसा कह कर हिरण्यक मित्रता करके अनेकविध भोजन से काक को सन्तुष्ट करके अपने बिल में घुस गया, काक भी अपने निवास स्थान पर चला गया। उस दिन से दोनों का परस्पर भोजन देना, कुशल समाचार पूछना, वार्तालाप करना इत्यादि से कुछ समय व्यतीत हो रहा है। एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—'मित्र! काक का भोजन इस स्थान में अति कठिनाई से मिल रहा है। अतः इस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाना चाहता हूँ'। हिरण्यक बोला—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।

इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत् ॥ १०३ ॥

अ०—दन्ताः केशाः नखाः नराः स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते मतिमान् इति विज्ञाय स्वस्थानं न परित्यजेत्। व्या०—दन्ताः = दशनाः, केशाः = कचाः, नखाः = करजाः,

नराः=मनुष्या, स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्तः, न शोभन्ते, अत मतिमान्=बुद्धिमान्, इति विज्ञाय=इत्येवं सम्यग् विविच्य, स्वस्थानं= स्वस्य आत्मनः स्थानं योग्यपदम्, न परित्यजेत्=विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत्।

भा०—दाँत, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे॥ १०३॥

काको ब्रूते—'मित्र! कापुरुषस्य वचनमेतत्'।

भा०—काक ने कहा—'मित्र! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है।

यतः—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥ १०४॥

अ०—सिंहा सत्पुरुषाः गजाः स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काकाः कापुरुषाः मृगा तत्रैव निधनं यान्ति। व्या०—सिंहाः=केसरिणः, सत्पुरुषाः=सज्जनाः, गजाः= करिणः, स्थानं=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य=परित्यज्य, गच्छन्ति। किन्तु काकाः= वायसाः, कापुरुषाः=कुत्सिताः पुरुषाः निर्बलपुरुषाः, मृगाः=हरिणादयः, तत्रैव= स्वनिवासे एव, निधनं=मरणं, यान्ति=गच्छन्ति।

भा०—सिंह, सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं॥ १०४॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापाऽर्जितम्।
यद् दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः॥ १०५॥

अ०—मनस्विनः वीरस्य स्वविषयः कः? विदेशो वा कः स्मृतः, (स) यं देशं श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जितं कुरुते। दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहः यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैः आत्मनः तृष्णां छिनत्ति। व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतसः, वीरस्य=शूरस्य, स्वविषयः=स्वस्य विषयः देशः कः? विदेशः=परदेशः वा कः? स्मृतः=कथितः। (स) वीरः, यं, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितम्=बाह्वोः प्रतापेन अर्जितः स्वायत्तीकृतः तम्, भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थः। कुरुते। यतः दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्राः प्रधानदन्ताः, नखाः, लाङ्गुलः=बालधिः (लाङ्गूल इति दीर्घप्रयोगः साधुः, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोनुरोधादनुसन्धेयः) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य सः, एतादृशः सिंहः=मृगेन्द्रः, यद् वनं (कर्म), गाहते=प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=हताः व्यापादिता ये द्विपेन्द्राः द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः गजाः, द्विपानाम् इन्द्राः श्रेष्ठाः तेषां रुधिरैः

मांसादिभिः, आत्मना=स्वयं भुक्त्वा आत्मवृत्तिकल्पनां, विदधाति=विधापयति स्वजीविकां करोतीति यावत्। (सूर्प्रियमित्रेति वृत्तम्)।

भा०—सम्पूर्ण सिंह और पुरुष की ओर का अपना देश और ओर का घर देश है। अर्थात् धीरे नहीं। वह जिस देश में जाता है वहीं अपने भुजबल से ही जीवनवृत्ति हाथियों को मार करके ही रहता है। क्योंकि दन्त नख पूँछ ये तीन शस्त्र हैं जिनसे ऐसा सिंह जिस वन में जाता है वहीं अपने बल से हाथियों को मारकर अपनी जीवनवृत्ति चलाता है ॥ १०५ ॥

हिरण्यको ब्रूते—'मित्र क्व गन्तव्यम् ?

भा०—हिरण्यक ने कहा—मित्र, कहाँ जाओगे ?

तथा चोक्तम्—चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।
नासमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥ १०६ ॥

अ०—बुद्धिमान् एकेन पादेन चलति एकेन तिष्ठति परं स्थानम् असमीक्ष्य पूर्वम् आयतनं न त्यजेत्। व्या०—बुद्धिमान्=बुद्धिर्विवेकोऽस्यास्तीति बुद्धिमान् जनः, एकेन पादेन=चरणेन, चलति=गच्छति एकेन अपरेण च पादेन तिष्ठति=स्थिराधारमवलम्बते तथा परम्=अग्रिमम्, आयास्यमानं स्थानम्, असमीक्ष्य=सम्यक् अपरीक्ष्य अनवलोक्य पूर्वम्=प्रथमम् स्थानं न त्यजेत्।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य एक पैर से चलता है और एक पैर से टिका रहता है, अर्थात् आगे देख देखकर चलता है। इसलिये प्राप्त करने योग्य स्थान की ठीक ठीक परीक्षा किये बिना प्रथम स्थान नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १०६ ॥

वायसो ब्रूते—मित्र! अस्ति सुनिरूपितं स्थानम्। हिरण्यकोऽवदत्—'किं तत्?' वायसः कथयति—अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः कूर्मः सहजधार्मिकः प्रतिवसति। पश्य मित्र!—

व्या०—वायसलघुपतनको ब्रूते—मित्र! हिरण्यक! सुनिरूपितं=सम्यक् परीक्षितं स्थानम्=स्थलम् अस्ति। हिरण्यकः=मूषिकराजः, अवदत्—'किं तत् निरूपितमिवार्थं तत्स्थानमिति'। वायसः कथयति—दण्डकारण्ये=दण्डकं च तदरण्यं च तस्मिन् दण्डकारण्येऽरण्ये। कर्पूरवद् गौरम् इति (पुरा दण्डो नाम इक्ष्वाकुवंशीयो राजा शुक्राचार्यस्य कन्यां बलात्कृतवान्, ततः स कुपितशुक्राचार्यशापेन राज्यसहितः भस्मीभूतः तत्र विजनं स्थानं च अरण्यं जातम्, तत आरभ्य 'दण्डकारण्य'मिति नाम इति रामायणी कथा)। गौराभिधानम्—कर्पूरवत् गौरम् इति कर्पूरगौरम्=शुभ्रजलम् तदेव गुणानुरूपम् अभिधानं यस्य तदिति। सरः=सरोवरम्, अस्ति=विद्यते। तत्र सरोवरे। चिरकालोपार्जितः=बहुकालेन उपार्जितः मित्रभावेन प्राप्तः, मे=मम सुहृत्=मित्रम्, सहजधार्मिकः सहज धार्मिकः स्वभावात् धर्मशील 'मन्थराभिधानः' मन्थर-

इति नाम यस्य तथोक्त, कूर्मः=कच्छपः, प्रतिवसति=वासं करोति, मित्र!=सखे!, पश्य अवधानं कुरु, शृणु इति यावत्—

भा०—काक ने कहा—'मित्र हिरण्यक! एक सुपरिचित स्थान है।' हिरण्यक ने कहा—'कौन सा?' काक ने कहा—दण्डक वन में कर्पूरगौर नामक सरोवर है, वहाँ पर बहुत काल से परिचित स्वभाव से धार्मिक मेरा प्रिय मित्र 'मन्थर' नाम का कच्छप रहता है। ख्याल करो मित्र!—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित् तु महात्मनः॥ १०७॥

अ०—सर्वेषां नृणां परोपदेशे पाण्डित्यं सुकरं, तु कस्यचिन्महात्मनः धर्मे स्वीयम् अनुष्ठानं (सुकरम्)। व्या०—सर्वेषां=यावताम्, नृणां=मनुष्याणाम्, परोपदेशे=परस्मै परस्य वा उपदेशवचनं तस्मिन्, पाण्डित्यम्=पण्डितस्य भाव. नैपुण्यम्, सुकरम्=सुखेन क्रियते तत् सुकरम् अकठिनं भवति, तु=किन्तु, कस्यचित्, महात्मनः=सत्पुरुषस्य, धर्मे, स्वीयम्=स्वकीयम्, अनुष्ठानम्=वचनानुरूपवर्तनं भवतीति।

भा०—परोपदेश करने में पाण्डित्य दिखाना सब मनुष्यों को सहज है। परन्तु—अपने धार्मिक अनुष्ठान का आचरण कोई एक महात्मा ही करता है॥ १०७॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति। हिरण्यकोऽप्याह—तत्किमत्राऽवस्थाय मया कर्तव्यम्?

व्या०—स च कूर्म, भोजनविशेषैः=भोजनानां विशेषा बहुविधास्तै, अनेकविधपक्वान्नैरित्यर्थ। मां=मां काक, संवर्धयिष्यति=ससम्मान पालयिष्यति, पुष्टिं प्रापयिष्यतीत्यर्थ। हिरण्यक मूषिक अपि आह—तत्=तस्मात् एतादृशभोजनदातु मित्रस्य सत्त्वादिति हेतो, मया=मूषिकेण, अत्र=एतस्स्थले शुष्कभूते प्रदेशे, अवस्थाय=स्थित्वा, किं कर्तव्यम्? किन्तु गन्तव्यमेवेति भावः।

भा०—वह कच्छप अच्छे भोजनों से मुझको पुष्ट करेगा। हिरण्यक ने भी कहा—तब तो मैं भी यहाँ रह कर क्या करूँगा?

यत—यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धव।
न च विद्यागम कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत्॥ १०८॥

अ०—यस्मिन् देशे सम्मान. न, वृत्ति न, बान्धवश्च न, कश्चित् विद्यागमश्च न, त देशं परिवर्जयेत्। व्या०—यस्मिन् देशे=स्थलविशेषे, सम्मान=सम्यक् मानः सत्कार, नास्ति, वृत्ति=जीवनसाधनम्, नास्ति, बान्धवश्च=बन्धुरेव बान्धव सुहृज्जन, नास्ति, कश्चिदपि, विद्यागम=विद्याया शिक्षाया आगम प्राप्ति नास्ति, त देश, विज्ञ पुरुष अवश्यम्, परिवर्जयेत्=परित्यजेत्।

भा०—जिस देश मे सम्मान, जीविका, बन्धुजन तथा किसी प्रकार की विद्याप्राप्ति न हो उस देश का त्याग करना चाहिये॥ १०८॥

अन्वय—धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥ १०९ ॥

अ०—यत्र धनिकः श्रोत्रियः राजा नदी पञ्चमस्तु वैद्यः, पञ्च न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् । व्या०—यत्र = यस्मिन्नगरे, धनिकः = धनवान् यस्यास्तीति धनी स एव धनिकः, श्रेष्ठी इति इत्यर्थः । श्रोत्रियः = "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारात् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते" इत्युक्तलक्षणः श्रोत्रियः, राजा = प्रजापालने नृपतिः, नदी = जलपूर्णा सरित्, पञ्चमस्तु वैद्यः = रोगचिकित्सकः, एते पञ्च यत्र देशे नगरे वा न विद्यन्ते = न सन्ति विद्यमानाः तत्र तस्मिन् देशे नगरे वा, वासं = निवासस्थानम्, न कारयेत् न कुर्यात् स्थातव्यं मित्र ।

भा०—जिस देश में या नगर में धनवान्, वैदिक ब्राह्मण, प्रजापालक राजा, जलपूर्ण नदी और पाँचवाँ वैद्य, ये पाँच न रहते हों उस देश या नगर में वास नहीं करना चाहिये ॥ १०९ ॥

अन्वय—लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ॥ ११० ॥

अ०—यत्र लोकयात्रा, भयं लज्जा, दाक्षिण्यं त्यागशीलता पञ्च न विद्यन्ते तत्र संस्थितिं न कुर्यात् । व्या०—यत्र = यस्मिन् स्थाने, लोकयात्रा = लोकानां यात्रा जीवनयात्रोपायः, भयं = राजादिभ्यो भयम्, लज्जा = निन्द्यकर्मभ्यो लज्जा, दाक्षिण्यं = औदार्यं अनुकूलता च त्यागशीलता = त्यागस्य विसर्जनस्य शीलं स्वभावो येषां तेषां भावः, दानशीलत्वम् । एते पञ्च यत्र स्थाने, न विद्यन्ते तत्र स्थाने संस्थितिं = सदा वासम् न कुर्यात् ।

भा०—जिस स्थान में लोकयात्रा (जीविका), राजभयादिक लज्जा, उदारता और दानशीलता ये पाँच न हों उस स्थान में वास नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

अन्वय—तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १११ ॥

अ०—मित्र ! यत्र ऋणदाता वैद्यः श्रोत्रियः सजला नदी च चतुष्टयं नास्ति तत्र न वस्तव्यम् । व्या०—हे मित्र ! सखे ! यत्र = यस्मिन् प्रदेशे ऋणदाता = ऋणस्य दाता उत्तमर्णः नास्ति वैद्यः = विद्या आयुर्वेदः अस्यास्तीति वैद्यः (स्वार्थे) सुचिकित्सकः, श्रोत्रियः = श्रुतिमधीते वेत्ति वेदविद् श्रोत्रियः वैदिकब्राह्मणः नास्ति सजला = सजल सहिता, नदी सरित् न नास्ति, एतच्चतुष्टयं (चत्वारः अवयवाः इति चतुष्टयं तयप्) यत्र प्रदेशे न विद्यते तत्र स्थाने कदापि न वस्तव्यम् ।

भा०—हे मित्र सखा ! जिस देश में ऋण देने वाला तथा वैद्य और वैदिक ब्राह्मण, एवं जलपूर्ण नदी ये चार न हों उस प्रदेश में नहीं बसना चाहिये ॥ १११ ॥

अतो मामपि तत्र नय । वायसोऽवदत्—'एवमस्तु' ।' अथ वायसस्तेन मित्रेण सह विचित्रालापसुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादेव लघुपतनकम् अवलोक्य उत्थाय यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्याऽप्यतिथिसत्कारं चकार ।

व्या०—अतः अस्मात् स्थानात्, माम् (मूषिकम्) अपि, तत्र=कूर्मस्थले, नय=प्रापय, त्वमिति शेषः । वायसः=काकः, अवदत् एवम्=तथा, अस्तु भवतु इति । अथ=पश्चात्, वायसः=काकः, तेन=मूषिकेण मित्रेण सह, विचित्रालापसुखेन विचित्राश्च ते आलापाः, तेभ्यः सुखं तेन, विविधवार्ताजन्याऽऽनन्देनेत्यर्थः । तस्य पूर्वोक्तस्य कर्पूरगौराख्यस्य सरसः, समीपम् अन्तिकं, ययौ जगाम । ततः=सरोनिकटे गमनानन्तरम्, मन्थरः तन्नामा कूर्मः, दूरादेव, लघुपतनकं नाम वायसम्, अवलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय=जलादुत्तीर्य, यथोचितम्=यथायोग्यम्, आतिथ्यं काकस्य सत्कारम्, विधाय=कृत्वा; मूषिकस्य अपि=हिरण्यकस्यापि, अतिथिसत्कारम् आतिथ्यविधानम्, चकारेति ।

भा०—इसलिए मुझे भी वहाँ ले चलो ।' काक बोला—'अच्छा ऐसा ही सही' । उसके बाद काक मित्र हिरण्यक के साथ अनेक वार्तायें करते हुए उस सरोवर के समीप में गया । और—'मन्थर' नामक कच्छप ने दूर से ही 'लघुपतनक' मित्र काक को देखकर उठकर यथायोग्य अतिथि सत्कार करके मूषिक का भी आतिथ्य सत्कार किया ।

यतः—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११२ ॥

अ०—गृहम् आगतः बालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा, तस्य पूजा विधातव्या, सर्वत्र अभ्यागतो गुरुः । व्या०—गृहम्=स्वनिवासभूमिम्, आगतः अकस्मादुपस्थितः, बालः यदि वा वृद्धः युवा वा यः—कश्चिद्भवति, तस्य सर्वविधस्य अतिथेः, पूजा=अभ्युत्थानादिना सत्कारपूजा, विधातव्या=कर्तव्या, यतः अभ्यागतः=अतिथिः, सर्वत्र=आश्रमचतुष्टयेऽपि, गुरुः=गुरुवत् सेव्य इति ।

भा०—घर आये हुये बालक अथवा युवा अथवा वृद्ध चाहे कोई भी अतिथि हो, उसकी पूजा तथा सत्कार अवश्य करना चाहिये, क्योंकि सब आश्रमियों के लिये अतिथि गुरुतुल्य है ॥ ११२ ॥

तथा—गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११३ ॥

अ०—अग्निः द्विजातीनां गुरुः, ब्राह्मणः वर्णानां गुरुः, पतिः एकः स्त्रीणां गुरुः, अभ्यागतः सर्वत्र गुरुः । व्या०—अग्निः=वह्निः, द्विजातीनां=ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां त्रिवर्णानां, गुरुः=पूजनीयः, पतिः=भर्ता एकः=मुख्य एव, स्त्रीणां=नारीणाम्, गुरुः=

पूजनीयः, देवरूपेण भवति तस्मात्तस्तु—अतिथिरिति, सर्वदेवमयोऽत एव सत्कारार्ह पूज्य सत्करणीय इति ।

भा०—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों का गुरु अग्नि है, ब्राह्मण चारों वर्णों का गुरु है स्त्री का पति ही गुरु है और अतिथि सबके पूजनीय है ॥ ११३ ॥

अपरञ्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ११४ ॥

अ०—उत्तमस्यापि वर्णस्य गृहम् आगतः नीचः अपि यथायोग्यं पूजनीयः अतिथिः सर्वदेवमयः । व्या०—उत्तमस्य=सर्वश्रेष्ठस्यापि, वर्णस्य ब्राह्मणादीनां चतुर्वर्णीयस्य गृहं=निवासस्थानम् आगतः अतिथित्वेन समुपस्थितः । नीचः जघन्यकर्मणा तज्जातीयोऽपि चाण्डालोऽपि, यथायोग्यं=यथोचितम् पूजनीयः=सत्करणीयः, यतः, अतिथिः सर्वदेवमयः=सर्वे च ते देवाश्च तन्मयः तत्स्वरूप इति ।

वायसोऽवदत्—'सखे ! मन्थर ! सविशेषपूजामस्मै विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः, एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यात्' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् । ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह—'भद्र ! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणम् आख्यातुमर्हसि' । हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि श्रूयताम्—

व्या०—वायस अवदत्—सखे मन्थर ! कच्छप ! अस्मै हिरण्यकनाम्ने मूषिकराजाय सविशेषपूजाम्=विशेषेण सह वर्तमानां यथा स्यात् तथा पूजां सत्कारं त्वं विधेहि । यतः अयं मूषिकराजः, पुण्यकर्मणाम्=पुण्यं कर्म येषां ते पुण्यकर्माणः तेषां सुकृतां क्रियामितवर्णः धुरीणः=धुरि अग्रे स्थितः, अयं च कारुण्यरत्नाकरः कारुण्यस्य=दयायाः रत्नाकरः समुद्रभूतः अस्तीति । सर्पराजः=सर्पराजः शेषनागः, यदि जिह्वासहस्रद्वयेन—द्वे सहस्रे जिह्वानां इति जिह्वासहस्रद्वयं, जिह्वानां सहस्रद्वयेन तेन द्विसहस्रसंख्यकाभिरपि इत्यर्थः । एतस्य=मूषिकराजस्य गुणस्तुतिं गुणानां स्तुतिं वर्णनं कर्तुं कदाचित् कस्मिंश्चित् अनिर्धारितकाले समर्थः=शक्तिमान् भवेत् स्यात् । इत्युक्त्वा चित्रग्रीवस्य=कपोतराजस्य उपाख्यानं=वृत्तान्तम् वर्णितवान्=कथितवान् । ततः तदनु मन्थरः=तन्नामा कच्छपः हिरण्यकं मूषिकराजं, सादरम्=आदरसहितं सम्पूज्य=सम्यक् पूजयित्वा आह—भद्र ! साधो ! मूषिकराज ! आत्मनः स्वस्य कथेति यावत् । निर्जनवनागमनकारणम्=निर्जनं च तद् वनं तस्मिन् आगमनं तस्य कारणं हेतुं तत् आख्यातुम् कथयितुम् अर्हसि ।

अर्हसि=योग्योऽसि, हिरण्यकः=मूषिकराजः, अवदत्, कथयामि, श्रूयताम्=आकर्ण्यताम् ।

भा०—काक ने कहा—सखे मन्थर ! इन मूषिकराज की पूजा विशेष रूप से करो, क्योंकि धार्मिकों में अग्रगण्य, करुणा के समुद्ररूप, हिरण्यक नामके ये मूषिकराज हैं, शेषनाग भी दो हजार जीभों से इनके गुणों का वर्णन करने में कदाचित् (कल्पान्तर में) पार पा सकते हैं। ऐसा कहकर चित्रग्रीव नामक कपोतराज का आख्यान सुनाया । उसके बाद मन्थर नामक कच्छप आदरपूर्वक हिरण्यक की पूजा करके बोला—'सौम्य ! भद्र ! आपका इस निर्जन वन में आने का क्या कारण हुआ सो बताइये ।' हिरण्यक नामक चूहे ने कहा—'कहता हूँ सुनो—

कथा ४

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽऽवसथः । तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति। स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति, अहं च तदन्नम् उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः, तेन सह नानाकथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। तं तथाविधं दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच—'सखे किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ?'

भा०—चम्पकाभिधानायां='चम्पका'इत्यभिधा यस्याः सा तस्याम्, नगर्यां=पुर्याम्, परिव्राजकाऽऽवसथः=सर्वं परित्यज्य व्रजन्ति इति परिव्राजकाः सन्यासिनः, तेषाम् आवसथः आश्रमः अस्ति । तत्र आश्रमे, 'चूडाकर्णो' नाम='चूडाकर्ण' इति नाम्ना प्रसिद्धः, परिव्राजकः=सन्यासी, प्रतिवसति। स च चूडाकर्णः, भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहितं=भिक्षया प्राप्तम् अन्नं भिक्षान्नं (मध्यमपदलोपी समासः) ओदनादिकं भोजनात् अदनात् अवशिष्टं च तत् भिक्षान्नं तेन सहितं युक्तम्, भिक्षापात्रम्=काष्ठकपालात्मकं भाजनम्, नागदन्तके=नागस्य करिणः दन्त इव दन्तोऽग्रे यस्य स नागदन्तः स एव नागदन्तकः नागदन्तसदृशे गृहभित्तौ प्रोथिते दारुमयकीलके इत्यर्थः । अवस्थाप्य=निधाय, स्वपिति=निद्रां करोति । अहञ्च उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं प्रतिदिनं, तदन्नम् अवशिष्टान्नं भक्षयामि । अनन्तरं=कियति समये गच्छति सति चूडाकर्णस्य प्रियसुहृद्, 'वीणाकर्णो' नाम परिव्राजकः सन्यासी, समायातः उपस्थितः, चूडाकर्णः सन्यासी तेन वीणाकर्णेन सन्यासिना सह नानाकथाप्रसङ्गावस्थितः नाना बहुविधाः याः कथाः तासां प्रसङ्गः अवतारणं तस्मिन् अवस्थितः समासक्तः अपि, मम त्रासार्थं त्रासाय इदमिति त्रासार्थम्, मम भयप्रदर्शनार्थम्, जर्जरवंशखण्डेन वंशस्य खण्डः वंशखण्डः, जर्जरः जीर्णः वंशखण्डः यष्टिकारूपः तेन, भूमि-

स्थानकभूमिषु, भक्ष्यत्वमभ्यावर्जितवान्। तं चूडाकर्णम्, तथाविधम् अन्यमनस्कं दृष्ट्वा वीणाकर्णो वदति—'सखे! चूडाकर्ण! किमिति विमनस्कः मम कथाविरक्तः कथायां विरक्तः निरुत्सुकः, अन्यासक्तः अन्यमनस्कः, भवान् भवतीति शेषः।

भा०—चम्पक नाम की नगरी में संन्यासी का आश्रम है। उसमें 'चूडाकर्ण' नाम का एक संन्यासी रहता है। वह भिक्षान्न को भोजन करके अवशिष्टान्न को पात्र में रखकर खूँटी पर लटकाकर सो जाता था। तब मैं प्रतिदिन कूद कूद कर उस अन्न को खाता था। एक बार उस चूडाकर्ण का मित्र 'वीणाकर्ण' नाम का संन्यासी वहाँ आया और चूडाकर्ण वीणाकर्ण के साथ विविध कथाओं में व्यासक्त होने पर भी मुझे डराने के लिये पुराने जर्जर बाँस के टुकड़े से जमीन में ताडन करता था। तब ताडन करते हुए उसको देखकर वीणाकर्ण ने कहा 'मित्र तुम मेरी कथा को छोड़कर अन्यत्र मन क्यों करते हो?'

यत—मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी।
स्नेहोऽधिकः सम्भ्रमदर्शनञ्च सदानुरक्तस्य जनस्य लक्षम्॥११५॥

अ०—मुखं प्रसन्नम् दृष्टिः विमला, कथानुरागः वाणी च मधुरा स्नेहः अधिकः, सम्भ्रमदर्शनञ्च सदा अनुरक्तस्य जनस्य लक्षणम्। श०—मुखम् = वदनम् प्रसन्नम् = प्रसादयुक्तं शोकशून्यमित्यर्थः। दृष्टिः = अवलोकनम् विमला = भ्रूभङ्गादिरहिता शून्यत्वरहितेत्यर्थः, कथानुरागः = कथायां वचने अनुरागः उत्साहः प्रवणमोदात्मक इत्यर्थः। वाणी वाक् च मधुरा = श्रुतिसुखदा मनोहरा इत्यर्थः। स्नेहः = प्रीतिः अधिकः = परिपूर्णः। सम्भ्रमदर्शनम् = सम्भ्रमेण त्वरया दर्शनम् अवलोकनम् पुनः पुनः दर्शनमित्यर्थः, एतत् सदा = सर्वदा, अनुरक्तस्य = स्नेहपरायणस्य प्रेमयुक्तस्य जनस्य = मित्रस्य लक्षणम् = चिह्नं भवतीति। (उपजातिवृत्तम्)

भा०—मुख पर प्रसन्नता, प्रेमवर्षिणी दृष्टि, बातों में प्रीति वाणी में मधुरता, अत्यन्त स्नेह और बारम्बार देखना, ये सब चिह्न सच्चे प्रेमी पुरुष में होते हैं॥ ११५॥

अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनममाननं दुश्चरिताऽनुकीर्तनम्।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्॥ ११६॥

अ०—अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनम् अमाननं दुश्चरितानुकीर्तनम् कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिः, जनस्य विरक्तभावस्य लक्षणम्। श०—दृष्टिः दर्शनं तस्या दानं दृष्टिदानं तत् न भवतीति अदृष्टिदानम् = अनवलोकनम्। कृतपूर्वनाशनम् = पूर्वं कृत-मिति कृतपूर्वम् तस्य नाशनम् = नाशः उपकारस्यानङ्गीकरणम्, अमाननम् = मानस्य अभावः अमाननम् सत्काराऽभाव इत्यर्थः। दुश्चरितानुकीर्तनम् = दुष्टानि कर्माणि च तानि चरितानि तेषां केवलम् अनुकीर्तनम् इत्यर्थः। कथाप्रसङ्गेन = कथायाः वार्तायाः प्रसङ्गेन प्रसक्त्या वार्तामध्य इत्यर्थः। नामविस्मृतिः नाम्नः विस्मृतिः एतत् सर्वं जनस्य मनुष्यस्य विरक्तभावस्य = उदासीनतायाः लक्षणं चिह्नं भवतीति।

भा०—दृष्टि न देना, किये हुए उपकार का अनङ्गीकार करना, सत्कार नहीं करना, दुराचरण को प्रकाशित करना, वार्ता प्रसङ्ग में याद भी नहीं करना, ये पाँच चिह्न मनुष्यों के विरक्त भाव को बताने वाले हैं ॥ ११६ ॥

चूडाकर्णेन उक्तम्—'भद्र ! नाहं विरक्तः, किन्तु पश्य अयं मूषिको ममाऽपकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति'। वीणाकर्णो नागदन्तमवलोक्याह—'कथमयं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद् दूरमुत्पतति ? तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम्।'

व्या०—चूडाकर्णेन सन्यासिना उक्तम्, भद्र सौम्य ! अहं न विरक्तः त्वया सह कथायाम्, किन्तु पश्य अवलोकय, अयम् अग्रवर्ती मूषिकः, मम अपकारी अपकरोति इति अपकारी हानिकर्ता, सदा प्रत्यहम्, उत्प्लुत्य, पात्रस्थं भिक्षाया पात्रे तिष्ठतीति तादृशम्, भिक्षान्नम्, भक्षयति खादति इति तद्भयार्थं भूमिं ताडयामि, न तु तव कथायामपि विरक्तो भवामीति भावः। वीणाकर्णः संन्यासी, नागदन्त=भित्तिप्रोथितम् अत्युच्चप्रदेशस्थं तं कीलकम्, अवलोक्य आह—'अयं मूषिकः, स्वल्पबलः अपि=स्वल्प कीलकप्राप्त्यर्थमपरिपूर्णं बलम् उत्पतनसामर्थ्यं यस्य सः तादृश सन्नपीत्यर्थं, एतावत् दूरम् अत्युच्चैः उत्पतति, तत् तस्माद् हेतोः, अत्र=उत्पतने, केनाऽपि कारणेन हेतुना भवितव्यम् स्थातव्यमिति।

भा०—चूडाकर्ण ने कहा—भद्र ! मैं तुम्हारी बातों में विरक्त नहीं हूँ, किन्तु देखो यह चूहा मेरा अपकार करने वाला है। यह रोजाना कूद कर पात्र में से भिक्षान्न को खा जाता है। तब वीणाकर्ण—ऊँची खूँटी को देखकर बोला—यह चूहा थोड़ा बलवाला होने पर भी इतना ऊँचा कैसे कूद सकता है, इसमें कुछ कारण होना चाहिए।

क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणञ्चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति।'

व्या०—क्षण=किञ्चित्काल, विचिन्त्य=विचार्य, उक्तम्=अत्र उन्दुरोः कूर्दने, कारणञ्च—हेतुस्तु, धनबाहुल्यमेव=धनस्य भूमिनिक्षिप्तद्रव्यस्य बाहुल्य विपुलत्वम् एव, प्रतिभाति=विज्ञायते इति।

भा०—सन्यासी ने थोड़ी देर तक विचार करके कहा—खूब धन ही इसके कूदने का कारण मालूम होता है।

यतः—धनवान् बलवांल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ ११७॥

अ०—सर्वं धनवान् लोके सर्वदा बलवान्, हि राज्ञामपि प्रभुत्वं धनमूलम् उपजायते। व्या०—सर्वं=समस्त, धनवान्=धनमस्याऽस्तीति धनवान् सुख-

नीतिः=अविषयमार्गो धनम्, लोके=संसारे सर्वस्मिन्=सर्वस्मिन् प्रदेशे, स्वदेशे परदेशे चेत्यर्थः। सर्वदा=सर्वस्मिन् काले, सुभिक्षे दुर्भिक्षे च समये धनवान्=धनं सर्वस्मिन् अस्ति तदस्यास्तीति धनवान् धनाढ्यस्मिन् भवतीति। हि=यतः, राज्ञामपि=नृपतीनामपि (यत्) प्रभुत्वं नृपतित्वमाधिपत्यमिति यावत् (अस्तीति शेषः) (तदपि) धनमूलम्=धनमेव मूलं यस्य तत् धनकारणकमेव, उपजायते=सम्पद्यते इति।

भा०—सकल धनवान् लोग इस संसार में सर्वत्र सदा ही बलवान् होते हैं क्योंकि राजा को भी प्रभुता धन के प्रभाव से ही प्राप्त होती है ॥ ११७ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चिरसञ्चितं मम धनं गृहीतम्। ततः प्रभृति प्रत्यहं निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दम् उपसर्पन् चूडाकर्णेनाऽवलोकितः। ततस्तेनोक्तम्—

व्या०—ततः=तदनन्तरम्, तेन परिव्राजकेन संन्यासिना खनित्रम्=खन्यतेऽनेनेति खनित्रं कुद्दालम्, आदाय=गृहीत्वा, विवरं=मम वासबिलम्, खनित्वा=विदार्य चिरसञ्चितम्=दीर्घसमयेन सञ्चितम्, मम धनं=अर्थजातम्, गृहीतम्=अपहृतम्। ततः प्रभृति=तस्मात्कालमारभ्य प्रत्यहं=प्रतिदिवसम् निजशक्तिहीनः=(अहं) निजस्य शक्तिः शरीरबलम्, तया हीनः शून्यः, सत्त्वोत्साहरहितः=सत्त्वं बलं वा तस्य उत्साहः धैर्यम् उद्योगो वा तेन रहितः शून्यः सन्। स्वाहारमपि=स्वस्य आहारम् उदरपूर्त्तिकरम् अपि उत्पादयितुम्=उपार्जयितुम्। अक्षमः=असमर्थः सन्, सत्रासम्=त्रासेन सहितं यथा स्यात् तथा मन्दं मन्दं=शनैः, शनैः, उपसर्पन्=अग्रतो गच्छन् मन्दगं चूडाकर्णेन=संन्यासिना अवलोकितः, स संन्यासी मां दृष्टवानित्यर्थः। ततः=दृष्ट्वा, तेन संन्यासिना, उक्तं=कथितम्—

भा०—इसके बाद खोदने का हथियार लेकर वह संन्यासी बिल को खोदकर बहुत काल से सञ्चित धन को लेकर चला गया ... मेरे धन के जाने से उस दिन से प्रतिदिन शरीरबल से हीन ... अपने पेट भरने के आहार को भी प्राप्त करने में असमर्थ होता हुआ मैं डरता डरता धीरे धीरे जा रहा था कि चूडाकर्ण नाम के उस संन्यासी ने मुझे देखा ... देखकर कहा।—

धनेन बलवाँल्लोके धनाद्भवति पण्डितः।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ ११८ ॥

अ०—लोके धनेन बलवान् धनात् पण्डितः भवति एनं पापं स्वजातिसमतां गतं मूषिकं पश्य। व्या०—लोके=जगति, धनेन=अर्थेन बलवान्=सामर्थ्यवान्

वान् भवति, धनात् च पण्डितः=बहुविधकलाकौशलवेत्ता भवति, एतम्=एतं गच्छन्त पापं=सत्यपि द्रव्ये पराद्रव्यादिहरणात्मकपापकर्तारम्, स्वजातिसमतां गतम्=स्वस्य उन्दुरो', जाति जातीया दरिद्रा मूषिका तत्समतां धनशून्यतया तत्सदृशतां गत, मूषिकं पश्य=अवलोकय । स्वमिति दोष ।

भा०—लोग धन से ही बलवान् तथा धन से ही पण्डित होते हैं, इस पापाचारी अपनी जाति के धर्म (दरिद्रता) को प्राप्त हुए मूषिक को तुम देखो ॥ ११८ ॥

किञ्च—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ११९ ॥

अ०—अर्थेन तु विहीनस्य अल्पमेधस' पुरुषस्य सर्वा क्रिया. ग्रीष्मे कुसरितो यथा (तथा) विनश्यन्ति । व्या०—अर्थेन तु=द्रव्येण च, विहीनस्य=विशेषेण रहितस्य, दरिद्रस्येत्यर्थः । अत एव अल्पमेधसः=अल्पा क्षुद्रा मेधा बुद्धिर्यस्य सः तस्य, पुरुषस्य, सर्वाः=समस्ता', क्रिया'=कार्याणि, ग्रीष्मे=ग्रीष्मसमये, कुसरितः=कुत्सिताः स्वल्पजलाः सरितः नद्यः, यथा नश्यन्ति, तथा विनश्यन्तीति ।

भा०—द्रव्यरहित तथा बुद्धिहीन मनुष्य की सब क्रियायें ग्रीष्म काल में छोटी नदियों की तरह सूख जाती हैं ॥ ११९ ॥

अपरञ्च—यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥१२०॥

अ०—लोके यस्य अर्थाः तस्य मित्राणि, यस्य अर्थाः तस्य बान्धवाः, यस्यार्थाः स पुमान्, यस्यार्थाः स हि पण्डित' । व्या०—लोके=संसारे, यस्य यज्जनस्य, अर्थाः=द्रव्याणि, विद्यन्ते, तस्य=पुरुषस्य, सर्वे मित्राणि=असुहृदोऽपि सुहृदो भवन्ति । यस्य च जनस्य, अर्था. भवन्ति, तस्य पुरुषस्य, सर्वे बान्धवाः=अबान्धवा अपि बान्धवा भवन्ति । यस्याऽर्थाः सन्ति स एव पुमान्, श्रेष्ठपुरुषत्वेन=प्रतिष्ठितत्वकित्सेन, ख्याप्यते, यस्य च जनस्य अर्थाः सन्ति, स एव पण्डितम्मन्यमानितो भवतीति ।

भा०—ससार में जिसके पास द्रव्य हो उसके सब मित्र बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो उसीके सब बान्धव भी बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो वह मनुष्य बड़ा गिना जाता है, जिसके पास द्रव्य हो वही पण्डित गिना जाता है ॥ १२० ॥

अपरञ्च—अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १२१ ॥

अ०—अपुत्रस्य गृह शून्यम्, सन्मित्ररहितस्य मूर्खस्य च दिश शून्या', दरिद्रता सर्वशून्या । व्या०—अपुत्रस्य=नास्ति पुत्रो यस्य स तस्य पुत्ररहितस्य मनुष्यस्य, गृहं=निवासभवनम् , शून्यम्=अप्रकाशितम् , निरर्थकमिव भवतीति । सन्मित्र-

दरिद्रस्य = तस्य धातु मित्रं सुहृत् तेन रहिता शून्या दशा, चतुः—अवलोकनीयेत्यर्थः। एतादृशस्य मूर्खस्य च = सर्वं मूर्खस्य जनस्य च, दिशः = प्राच्यादिदिक्समन्वितापि शून्याः = अवलोकिता भवन्ति। दरिद्रस्येति शेषः। दरिद्रता दुःखदायिका सर्वशून्या = सर्वविषयशून्यतासुखेत्यर्थः।

भा०—पुत्ररहित का घर सूना सा मालूम पड़ता है, बन्धुरहित मूर्ख पुरुष को सब दिशायें सूनी मालूम पड़ती हैं और दरिद्र को तो सब प्रकार से शून्यता दिखाई पड़ती है॥ १२१॥

अपरञ्च—दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम्।

अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम्॥ १२२॥

अ०—अल्पक्लेशेन। व्या०—दारिद्र्यात् = धनशून्यत्वात् वापि मरणात् मृत्योर्वा, (पञ्चम्यर्थे पञ्चमी) दारिद्र्यमपेक्ष्य मरणमल्पक्लेशमित्यर्थः। दारिद्र्यं दरिद्रता, अवरं = अधमं अवरं हीनं कष्टदम्, स्मृतं = कथितम् (बुधैः) दारिद्र्यमरणयोर्मध्ये मरणंमित्यर्थं तु अल्पक्लेशेन = अल्पमात्रया पीडया भवति तेन भवतीति। दारिद्र्यं तु अतिदुःसहम् = अति कष्टेन दुःखेन सह्यते यत् तत् अति दुःसहम् असह्यवेदनाकरमित्यर्थः।

भा०—दरिद्रता और मरण इन दोनों में दरिद्रता ही अधिक दोष वाला है क्योंकि मरण का तो थोड़ा सा ही दुःख होता है, दारिद्र्य तो जीवन भर दुःख देता है॥ १२२॥

अन्यच्च—तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव

अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥ १२३॥

अ०—तानि अविकलानि इन्द्रियाणि तदेव नाम सा अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनम्, स एव पुरुषः अर्थोष्मणा विरहितः क्षणेन अन्यः भवतीति एतद्विचित्रम्।

व्या०—इन्द्रियाणीत्यादिना अध्याहार्यम्। तानि = प्रथमदृष्टानि पुरुषस्य तानि सन्ति तान्येवेत्यर्थः। अविकलानि = विकलतारहितान्यपि कार्यक्षमतायुक्तान्यपि न भवन्ति इत्यविकलानि इन्द्रियाणि = चक्षुरादीनि सन्ति। तदेव नाम = यत्पूर्वमासीत् तदेव नाम अस्तीति। सा = धनवत्त्वावस्थायां यादृशी बुद्धिः आसीत् सा तादृश्येव अप्रतिहता तीक्ष्णा बुद्धिः अपि अस्तीति। तदेव = धनवत्त्वावस्थायां यादृशमासीत् तदेव तादृशमेव, वचनं = वाक् अस्ति। स एव = पूर्वमवस्थायां धनवत्त्वावस्थायां दारिद्र्यावस्थायां च एक एव अभिन्नः पुरुषः अस्ति। तथापि अर्थोष्मणा = अर्थस्य द्रव्यस्य ऊष्मणा गर्मीण विरहितः = शून्यः सन् क्षणेन = क्षणमात्रसमयेन अन्यः = अन्यः इव भिन्नः इव भवतीति एतत् परं विचित्रं = विस्मयकरं बोध्यम्।

भा०—धनावस्था में पुरुष की जो सतेज इन्द्रियाँ थीं, वे ही इन्द्रियाँ, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि, वही वाणी और वही पुरुष है, लेकिन धन की गरमी उतर जाने से क्षणमात्र में वह निस्तेज हो जाता है॥ १२३॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं-'ममाऽत्रावस्थानमयुक्तमिदानीम्'।

भा०—इस प्रकार चूडाकर्ण का सब कथन सुन कर मैंने सोचा कि इस दरिद्रावस्था में मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है।

तथा चोक्तम्—अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत् कुतः सुखम्॥ १२४॥

अ०—दैवे अत्यन्तविमुखे, पौरुषे यत्ने च व्यर्थे, मनस्विनः दरिद्रस्य वनात् अन्यत् कुत सुखम्। व्या०—दैवे=विष्टे अत्यन्तविमुखे (सति)=अत्यन्त विपरीते सति, पौरुषे=पुरुषस्य अय पौरुषः तस्मिन् पुरुषसम्बन्धिनि, यत्ने=प्रयत्ने च, व्यर्थे=विफले सति। मनस्विन=अभिमानधनस्य सगर्वस्य, दरिद्रस्य=धनशून्यस्य जनस्य, वनात् अन्यत्=वनमन्तरेण, कुत=कस्मात् स्थानात्, सुखं भवति? कस्मादपि नेत्यर्थ।

भा०—भाग्य के अत्यन्त विपरीत होने पर और पुरुष-प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर धनशून्य मनस्वी पुरुष को अरण्य से अतिरिक्त स्थान में कहीं भी सुख नहीं है॥ १२४॥

अन्यच्च—मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्॥ १२५॥

अ०—मनस्वी काम म्रियते, तु कार्पण्य न गच्छति, अनलः निर्वाणम् अपि आयाति, शीतता न याति। व्या०—मनस्वी=तेजस्वी अभिमानी जन काम=यथेष्टम्, म्रियते=प्राणान् विजहाति, तु=किन्तु, कार्पण्यं=दीनताम्, न गच्छति=न अङ्गीकरोति। यथा अनल=अग्नि, (जलेन) निर्वाण=विध्वसम्, अपि कामम् आयाति=प्राप्नोति, किन्तु, शीतताम्=अनुष्णतां तु, न याति=न स्वीकरोति।

भा०—तेजस्वी पुरुष मरण को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन दीनता की इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि अग्नि जल से नष्ट तक हो जाता है, किन्तु शीतता को कभी ग्रहण नहीं करता॥ १२५॥

किञ्च—कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा॥ १२६॥

अ०—मनस्विन कुसुमस्तवकस्येव द्वे तु वृत्ती, सर्वेषां मूर्ध्नि तिष्ठेद् वा, अथवा वने विशीर्येत। व्या०—मनस्विन=तेजस्विनः जनस्य, कुसुमस्तवकस्य इव=कुसु-

मार्गे कुसुमानां स्तबकः गुच्छः इव तु, हे कुसुमिते एव वृत्ती=व्यापारौ, भवतः, तत्र एका सर्वेषां=समस्तानाम्, मूर्ध्नि=शिरःस्थाने, शोभते इत्यर्थः। शिरोऽलङ्कारेण वा=अथवा वने=अरण्ये विशीर्येत=विनाशं गच्छेदिति।

भा०—पुष्पों के गुच्छ के समान की तरह मनस्वी के भी दो ही व्यापार होते हैं। या तो सबके सिर पर रहे रहना अथवा वन में ही गिरकर विनाश को प्राप्त करना॥ ११६॥

यच्चाप्यस्मै पतवृषुत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्।

भा०—पूर्व की यह वृत्तान्त कथन भी उचित नहीं है।

यतः—अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।

वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत्॥ १२७॥

अ०—मतिमान् अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च वञ्चनं च अपमानं च न प्रकाशयेत्। व्या०—मतिमान्=मतिः बुद्धिः अस्य अस्तीति मतिमान् धीमान् पुरुषः, अर्थनाशम्=अर्थस्य द्रव्यस्य नाशः क्षयः तम्, मनस्तापम्=मनसः अन्तःकरणस्य तापः दुःखं तम्, गृहे=स्वगृहस्थानामां, दुश्चरितानि च=अकार्याण्यसद्व्यापारानपि च, वञ्चनम्=परकृतं प्रतारणं च, अपमानम्=परकृतां अवज्ञां च इत्येतानि, न प्रकाशयेत्=अन्यस्मै न कथयेत्।

भा०—धीमान् मनुष्य को धननाश, मनोदुःख, घरवालों के दुश्चरित, पराये किये वञ्चन तथा अपमान इन पाँचों को प्रकाशित नहीं करना चाहिये॥ १२७॥

यच्चाऽप्येव याच्ञया जीवनं तदप्यतीव गर्हितम्।

भा०—और प्रतिकूल स्थान में भिक्षा माँग के जीवन चलाना ही भी अति निन्दित है।

यतः—वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः।

नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थ्यते जनः॥ १२८॥

अ०— विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितः अनलः वरम्, उपचारपरिभ्रष्टः कृपणः जनः न प्रार्थ्यते। व्या०— विभवहीनेन=विभवेन ऐश्वर्येण रहितः तेन पुरुषेण, प्राणैः=असुभिः, सन्तर्पितः=सम्यक्तृप्तः अग्निः, अनलः=वह्निः, स्यात् तदपि वरं=श्रेयस्करं भवेत्। उपचारपरिभ्रष्टः=उपचारात् व्यवहारात् शिष्टाचारात् परिभ्रष्टः च्युतः, कृपणः=क्षुद्रबुद्धिः जनः, न प्रार्थ्यते (याचितव्यः) न याच्यते।

भा०—सम्पत्तिहीन मनुष्य का अग्नि में प्रवेश करना उत्तम है किन्तु व्यवहारहीन लोभी आदमी से द्रव्य की याचना करना उचित नहीं है॥ १२८॥

अन्यच्च—दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते

निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।

निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो! निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १२९ ॥

अ०—यथावद्बोध्य। व्या०—जन इति अध्याहार्यम्। दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, ह्रियमेति=लज्जाम् आप्नोतीत्यर्थं। ह्रीपरिगतः=ह्रिया परिगत लज्जाव्याप्त, जन, सत्त्वात्=पराक्रमात्, परिभ्रश्यते=परिहीयते, निस्सत्व पराक्रमशून्य जन, परिभूयते=पराभवमाप्नोति, पराभवात्=तिरस्कारात्, निर्वेदं=स्वस्य धिक्कारम्, आपद्यते=अनुभवति, निर्विण्ण=चेखिद्यमान, शुच=शोकम्, एति=प्राप्नोति, शोकपिहित=शोकेन पिहितः आवृत, बुद्ध्या परित्यज्यते=तस्य बुद्धिर्नश्यति, इत्यर्थः। निर्बुद्धि=बुद्धिहीन, क्षयं=नाशम्, एति, इति अहो! आश्चर्यम्। निधनता=दरिद्रता, सर्वापदां=यावतां दु:खानाम्, आस्पद=स्थान कारणं भवतीत्यर्थं। (शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)।

भा०—दरिद्रता के कारण लज्जा आती है, लज्जा के मारे पराक्रमी कार्य नहीं कर सकते, अपराक्रमी का पराभव होता है, पराभव से दु:ख होता है, उसको शोक रहता है, शोक से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धिहीन का नाश होता है, अहो! दरिद्रता सभी आपत्तियों का स्थान है ॥ १२९ ॥

किञ्च—वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राऽभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम् ॥१३०॥

अ०—मौन कार्यम् इत्यपि वर, यत् अनृत वचनमुक्त न च (तत् वरं), पुंसां क्लैब्य वर परकलत्राऽभिगमन च न (वरं), प्राणत्यागः वरं, पिशुनवाक्येषु अभिरुचिश्च न (वर), भिक्षाशित्व वर, परधनास्वादनसुखं च न (वरम्)। व्या०—मौन-अभाषणम्, वर=मनाक् प्रियम्, श्रेष्ठमित्यर्थं। किन्तु-यत् अनृतम्=असत्यं वचन=वाक्यम्, उक्त=कथित भवति तत्त च वरमिति। एवम् पुंसां=पुरुषाणाम्, क्लैब्य=नपुंसकत्वम्, वर=मनाक्प्रियम्, किन्तु-परकलत्राऽभिगमन=कलत्र स्त्री तदभिगमन तत्सम्भोग न च वरमिति। एवम्, प्राणत्याग=प्राणानां जीवनस्य त्याग विनाश, वर=मनाक्प्रियः, किन्तु=पिशुनवाक्येषु=खलोक्तिषु, अभिरुचिः=अभिलाषः, न च वरम्, एव भिक्षाशित्व=भिक्षाभोजित्वम्, वरम्, किन्तु परधना स्वादनसुखम्=परस्य धन द्रव्य तस्य आस्वादनम् उपभोग तदात्मकं यत् सुखं तन्न वर (शिखरिणीवृत्तम्)।

भा०—मौन रहना उत्तम है किन्तु असत्य बोलना अच्छा नहीं, नपुंसक होना

अच्छा है किन्तु परस्त्री-गमन अच्छा नहीं, मरना अच्छा है किन्तु [illegible] अच्छी नहीं भिक्षा खाना अच्छा है पर पराया खाना अच्छा नहीं ॥ ११ ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाऽधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १११ ॥

अ० —शून्या शाला वरम्, दुष्टः वृषभः न च वरः खलु । वेश्या पत्नी वरम्, पुनः अविनीता कुलवधूः न । अरण्ये वासः वरम्, पुनः अविवेकाधिपपुरे न । प्राणत्यागः वरम्, पुनः अधमानाम् उपगमः न वरम् । व्या०— शून्या = पश्वादिरहिता, शाला = गोशाला अपि वरं = श्रेष्ठम्, दुष्टवृषभः = दुष्टश्चासौ वृषभः, वरः = श्रेष्ठः, न च खलु भवतीति । वेश्या = गणिका, धर्मेण स्वीकृता पत्नी वरम् पुनः = किन्तु अविनीता = न विनीता अनुकूलाचारविहिता इत्यविनीता पत्युरनुकूलाचाररहिता, कुलवधूः = कुलाङ्गना, न वरम् । अरण्ये = निर्जनवने वासः = वसतिः वरम्, पुनः = किन्तु अविवेकाधिपपुरे = नास्ति विवेकः विज्ञानं यस्य सः अविवेकः तादृशः अधिपः राजा यस्य तत् पुरं नगरं तस्मिन् वासो न वरमिति । प्राणत्यागः = मरणम्, वरम् पुनः = किन्तु, अधमानाम् = नीचानाम् उपगमः = समाश्रयः न वरमिति । (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा० —गोशाला का सूना रहना उत्तम है किन्तु उसमें दुष्ट बैल का रहना उत्तम नहीं । वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है किन्तु उद्दण्ड कुलवधू अच्छी नहीं । अरण्यवास अच्छा है किन्तु अविवेकी राजा के नगर में रहना उत्तम नहीं । मरना अच्छा है किन्तु अधम नीचों का समाश्रय अच्छा नहीं ॥ १११ ॥

अपि च—सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥ ११२ ॥

अ० —सेवा अखिलं मानम् इव ज्योत्स्ना तमः इव जरा लावण्यम् इव हरिहरकथा दुरितम् इव अर्थिता गुणशतमपि हरति । व्या० —सेवा = परसेवा, अखिलं = समस्तम्, मानम् = अभिमानं गौरवं यथा हरति । ज्योत्स्ना = कौमुदी तमः = अन्धकारं यथा हरति । जरा = वार्धक्यम् लावण्यम् = सौन्दर्यातिशयं यथा हरति । हरिहरकथा = हरिः विष्णुः हरः शङ्करः तयोः कथा गुणानुवादः, दुरितमिव = यथा दुरितं पातकं हरति तथा अर्थिता = याचकताऽतिशयिता गुणशतमपि = गुणानां शतमपि हरति ।

भा०—सेवा (नौकरी) जैसे गौरव का नाश करती है, चन्द्रमा जैसे अन्धकार का

नाश करता है, वृद्धावस्था जैसे सौन्दर्य का नाश करती है, हरि हर कथा जैसे पापों का नाश करती है, वैसे ही याचनावृत्ति सैकड़ों गुणों का नाश कर देती है ॥ १३२ ॥

तत् किमहं परपिण्डेन आत्मानं पोषयामि ? कष्टं भोः । तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् ।

भा०—तब फिर क्या मैं पराम्न से शरीर का पोषण करूँ? वह भी बड़ा कष्ट है, क्योंकि पराम्न भोजन भी एक यमालय जाने का स्वतन्त्र कारण है ।

अन्यच्च—**रोगी चिरप्रवासी परान्नभोज परावसथशायी ।**
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ॥ १३३ ॥

अ०—यथावद्धोध्य । व्या०—रोगी = दीर्घव्याधिग्रस्त , चिरप्रवासी = चिर प्रवसति दूरदेशे वास करोति, अथवा चिर प्रवसति प्रवासगमन करोतीति । तादृश. जन , परान्नभोजी = परस्य अन्न भुङ्क्ते इति, परान्नाद , परावसथशायी = परस्य आवसथ निवासभवन तस्मिन् शेते इति परगृहशयनशील इत्यर्थ । तादृश जन' यत् किमपि जीवति, तत् जीवन = मरणमेव मरणसमानमित्यर्थः । यच्च तस्य मरणं स च, अस्य = तादृशस्य जनस्य विश्राम शान्तिरिति । (आर्यावृत्तम्) ।

भा०—रोगी, बहुतकाल परदेशवासी, परान्नभोजी, परगृहनिवासी, इन चारों का जीवन मरणतुल्य है और मरण विश्राम के तुल्य है ॥ १३३ ॥

इत्यालोच्याऽपि लोभात् पुनरपि तदीयमन्नं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

भा०—ऐसा सोचते हुए भी लोभ से पुन उस सन्यासी के अन्न को खाने का (ग्रह = हठ) विचार मैंने किया ।

तथा चोक्त—**लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।**
तृषार्तो दु खमाप्नोति परत्रेह च मानव ॥ १३४ ॥

अ०—लोभेन बुद्धि चलति, लोभ तृषां जनयते, तृषार्त मानव परत्र इह च दु खम् आप्नोति । व्या०—लोभेन = धनलिप्सया, बुद्धि , चलति = विचलिता भवतीति, लोभ', = धनलोभ , तृषाम् = उत्कटेच्छाम् , जनयते = उत्पादयति, तृषार्तः = तृषया ऋत तृषार्तः धनतृष्णापीडित , मानव' = मनो अपत्य पुमान् मानव जन , परत्र = परस्मिन् लोके, इह च = अस्मिन् लोके च, दु ख = विविध कष्टम् आप्नोतीति ।

भा०—लोभ से बुद्धि चलायमान होती है, लोभ से धनकी उत्कटेच्छा होती है, धनेच्छावान् मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में बड़ा दु ख पाता है ॥ १३४ ॥

ततोऽहं मन्द मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाऽचिन्तयम्—'लुब्धो ह्यसन्तुष्टो नियतम् आत्मद्रोही भवति' ।

व्या०—तदा = तदनन्तरम् तेन = वीणाकर्णेन संभाषिता, कर्णोत्संजनो कर्णेते वा संजस्य चन्द्र तेन ताडितः = आहतः, मन्दं मन्दं = शनैः शनैः उप संत = पश्चात् अहम् अचिन्तयम् = विचारं कृतवान्-लुब्धः = धनलोलुपः असन्तुष्टः = सन्तोषशून्यः, तथा, नियतः = निर्गतसंयमः आत्मद्रोही ... तौ इति आत्मद्रोही सर्वविपद्भागी भवतीति।

भा०—इसके बाद उस वीणाकर्ण नामक संन्यासी द्वारा बाँस के डंडे से ... पिटा हुआ मैं धीरे-धीरे चलते-चलते सोचने लगा कि—लोभी और असन्तोषी ... जितेन्द्रिय आत्मद्रोही बनता है।

यथा च—धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १४५ ॥

अ०—यस्य मानसं न तुष्टम्, (तादृशो ना) धनलुब्धः, असन्तुष्टः, अनियतात्मा अजितेन्द्रियः, तस्य सर्वा एव आपदः (भवन्ति)। व्या०—यस्य जनस्य मानसम् अन्तःकरणम् न तुष्टं = सन्तोषपूर्णं भवति, तादृशो ना, धनलुब्धः = धने लुब्धः धनलोलुपः, असन्तुष्टः = तृष्णावान्, अनियतात्मा = नास्ति नियतः संयतः आत्मा स्वभावो यस्य सः संयमहीनः इत्यर्थः। अजितेन्द्रियः = न जितानि निगृहीतानि इन्द्रियाणि येन सः, अवशेन्द्रियः, इत्येतादृशस्य तस्य = जनस्य सर्वाः एव आपदः = विपत्तयः समापतन्तीति।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है ऐसा जो लालची, तृष्णावान्, संयमहीन इन्द्रियाधीन पुरुष है उसको सभी आपत्तियाँ आती हैं ॥ १४५ ॥

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १४६ ॥

अ०—यस्य मानसं सन्तुष्टं तस्य सर्वाः सम्पत्तयः, ननु उपानद्गूढपादस्य चर्मावृता इव भूः। व्या०—यस्य = जनस्य मानसम् = अन्तःकरणम्, सन्तुष्टं = तुष्टम् भवति तस्य = जनस्य सर्वाः = सकलाः, सम्पत्तयः = धनानि, भवन्तीति शेषः तत्र दृष्टान्तमाह—उपानदिति। उपानद्भ्यां चर्मपादुकाभ्यां गूढौ आवृतौ पादौ चरणौ यस्य तस्य जनस्य भूः = समग्रा पृथिवी चर्मावृता इव चर्मणा आवृता आच्छादिता इव भवतीति। ननु इति निश्चयार्थकमव्ययम्।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सब प्रकार की सुख-सम्पत्ति मिलती है। जैसे पैर में जूते पहिनकर चलनेवाले मनुष्य को समग्र पृथ्वी चमड़े से ही मढ़ा हुआ सा होता है ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १४७ ॥

अ०— सन्तोषामृततृप्तानां शान्तचेतसां यत् सुखं तद् धनलुब्धानाम् इतश्च इतश्च धावतां कुतः ? व्या०—सन्तोषामृततृप्तानां = सन्तोष' तृष्णाऽऽभाव' स एव अमृत तेन तृप्तानां तृप्तिमताम् , शान्तचेतसाम्=शान्तं क्षोभरहितं चेतः मनो येषा-न्ते तेषां स्थिरान्तःकरणानां जनानां, यत्=यादृशं सुखं भवति। तत्=तादृशं सुखम्, धनलुब्धानाम्=धने द्रव्ये लुब्धा लोलुपा' तेषाम्, इतश्च इतश्च धावतां= समन्तात् प्रदेशान्तरे परिभ्रमतां जनानाम् , कुतः=कस्माद्धेतो. स्यादिति।

भा०—सन्तोषरूप अमृत से तृप्त शान्तचित्तवाले जनों को जो सुख मिलता है, वह सुख धन के लोभी इधर उधर दौड़नेवाले को कहाँ से मिले ॥ १३७ ॥

किञ्च—तेनाऽधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येनाऽऽशा पृष्ठत. कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १३८ ॥

अ०—येन आशा' पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यम् अवलम्बितम्, तेन सर्वम् अधीतम्, तेन सर्वं श्रुतम् , तेन सर्वम् अनुष्ठितम्। व्या०— येन=पुरुषेण, आशा =विविधा-स्तृष्णा, पृष्ठत =पश्चात्, कृत्वा विहायेत्यर्थः। नैराश्यम्=आशाशून्यत्वम् , अवलम्बितम्=आश्रितम् , तेन=पुरुषेण, सर्वम् अधीतम्=सर्ववेदादिक पठितम् , तेन सर्वं श्रुत=नीतिशास्त्रादिकमाकर्णितम्। तेन च सर्वम् अनुष्ठित=तपश्चरणा-दिकमाचरितमिति।

भा०—जिसने आशाओं को पीछे रखकर निराशा का अवलम्बन किया है उसने सब पढ़ लिया, सब श्रवण कर लिया तथा सब अनुष्ठान भी कर लिया ॥ १३८ ॥

अपि च—असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीववचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १३९ ॥

अ०—असेवितेश्वरद्वारम् अदृष्टविरहव्यथम् अनुक्तक्लीववचन कस्यापि जीवन धन्यम्। व्या०—असेवितेश्वरद्वारम्=न सेवितम् अनाश्रितम् ईश्वरस्य धनवज्जनस्य द्वार गृहाऽङ्गणं यस्मिन् तत्, धनिकाऽधीनतानपेक्षमित्यर्थः। अदृष्टविरहव्यथम्= न दृष्टा विरहस्य इष्टजनवियोगस्य व्यथा कष्ट यस्मिन् तत्, इष्टवियोगजदुःखानु-भवरहितमित्यर्थ। अनुक्तक्लीववचनम्—न उक्तं क्लीवस्य दीनतायाः वचन यस्मिन् तत् 'मां रक्ष' इति वचनाऽवसराऽप्राप्तमित्यर्थ। एतादृश जीवन तु कस्यापि जनस्य धन्यमिति प्रशस्यतर भवतीति।

भा०—जिसको अपने जीवन में धनी के घर नहीं जाना पड़ा है और न तो स्वजनों के विरह का दुःख देखना पड़ा है तथा 'मैं असहाय हूँ, मेरा रक्षण करो' ऐसा दीन वचन नहीं बोलना पड़ा है ऐसे पुरुष का जीवन धन्य है ॥ १३९ ॥

यत'—न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य तृष्णया।
सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादर. ॥ १४० ॥

अ०—तृष्णया बाध्यमानस्य योजनशतं दूरं न सन्तुष्टस्य करगतेऽपि अर्थे आदरः न भवति। व्या०—तृष्णया = धनस्पृहया, बाध्यमानस्य = आकुलमानस्य जनस्य योजनशतमपि = योजनानां शतमपि शतयोजनदूरमपीत्यर्थः। न दूरमित्यनुभूते न भातीति। अत्र च सन्तुष्टस्य = सन्तुष्टस्य जनस्य तु, करगतेऽपि = करौ प्राप्त वस्मिन् हस्तगतेऽपीत्यर्थः। अर्थे = द्रव्यादिपदार्थे, आदरः = आस्था न भवति।

भा०—तृष्णा से आर्त मनुष्य को योजन सौ भी दूर नहीं मालूम होते हैं और सन्तोषी मनुष्य को हाथ में प्राप्त हुये भी पदार्थ में आदर नहीं होता ॥ १४ ॥

तदत्र अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान्।

भा०—इसलिये अब अपनी स्थिति के अनुकूल कार्य करने का निर्णय करना ही उचित है।

को धर्मो ? भूतदया किं सौख्यं ? नित्यमरोगिता जगति।

कः स्नेहः ? सद्भावः किं पाण्डित्यं ? परिच्छेदः ॥ १५१ ॥

अ०—जगति कः धर्मः भूतदया, किं सौख्यं नित्यमरोगिता कः स्नेहः, सद्भावः, किं पाण्डित्यं परिच्छेदः। व्या०—जगति=संसारे कः धर्मः=धर्मस्य किं स्वरूपम् ? (इति प्रश्नः) (उत्तरम्)—भूतदयेति भूतदया = भूतानां प्राणिनाम् उपरि दया करुणा च धर्मः भवतीति। किं सौख्यं = सुखस्य किं स्वरूपम् ? (इति प्रश्नः) नित्यं = सर्वदा, अरोगिता = नीरोगिता सुखम् (इत्युत्तरम्)। कः स्नेहः = स्नेहः किं स्वरूपः ? (इति प्रश्नः) सद्भावः = सद्भावो भावः, सर्वभूतेषु शुभचिन्तनरूपभाव एव स्नेहः (इत्युत्तरम्)। किं पाण्डित्यं = पाण्डित्यस्य किं स्वरूपम् ? (इति प्रश्नः) परिच्छेदः = कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमित्युत्तरम्। (आर्याछन्दः)

भा०—संसार में धर्म क्या वस्तु है ? प्राणि-मात्र पर दया करना धर्म है। सुख का क्या स्वरूप है ? सदा नीरोगी रहना ही सुख है। स्नेह का क्या स्वरूप है ? सद्भावना ही स्नेह है। पाण्डित्य किसको कहते हैं ? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना ही पाण्डित्य है ॥ १ १

तथा च—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।

अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे ॥ १५२ ॥

अ०—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं (भवति) विपत्तयः यदापन्नाः अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः पदे पदे स्युः। व्या०—परिच्छेदः हि = कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमिति भवति यतः विपत्तयः=विपदोऽपि यदापन्नाः=तस्मात् पाण्डित्यात् आपन्नाः न त्यक्ताः, विपदः इत्यर्थः। भवन्तीति शेषः। अपरिच्छेदकर्तॄणां = परिच्छेदस्य निर्णयस्य कर्तारः परिच्छेदकर्तारः ते न भवन्तीति अपरिच्छेदकर्तारस्तेषाम् अपरि-

स्वेष्टकर्तॄणाम्, निश्चयरहितानामित्यर्थः । विपदः=आपत्तयः, पदे पदे=कार्ये कार्ये भवन्तीति ।

भा०—पाण्डित्य को ही परिच्छेद कहते हैं, क्योंकि विपत्तियों का अन्त पाण्डित्य से होता है । परिच्छेद (कर्तव्याकर्तव्यविचार) नहीं करने वाले को आपत्तियाँ क्षण क्षण में आती रहती हैं ॥ १४२ ॥

तथा हि—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १४३ ॥

अ०—कुलस्यार्थे एकं त्यजेत्, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्, जनपदस्यार्थे ग्रामं (त्यजेत्) आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् । व्या०—कुलस्यार्थे=कुलस्य अर्थे कुलमर्यादाया रक्षणार्थम्, एकं=कमपि आत्मीय पुत्रदारादिकम्, त्यजेत्=परिहरेत् । ग्रामस्यार्थे=ग्रामस्य अर्थे स्वग्रामजनानाम् उपकाररक्षणाद्यर्थे तु, कुलं=कुटुम्बादिकम् त्यजेत्=परिहरेत्, जनपदस्यार्थे=जनपदस्य देशस्य अर्थे उपकाररक्षणाद्यर्थं च ग्रामं स्वजन्मभूमिम् त्यजेत्=परिहरेत्, आत्मार्थे=निजहितार्थं तु, प्रतिकूलां पृथिवीमपि=जनपदात्मिकां भूमिमपि, त्यजेदिति ।

भा०—कुल की मर्यादा के रक्षण के लिये घर के एक व्यक्ति का त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये और ग्राम की रक्षा के लिये कुलत्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये । देश की रक्षा के लिये ग्रामत्याग करना पड़े तो वह भी करना और देश का भी त्याग करने से आत्मरक्षा होती हो तो देश भी त्याग देना चाहिये ॥ १४३ ॥

अपर च—पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ॥१४४॥

अ०—निरायास पानीयं वा, भयोत्तर स्वादु अन्न वा, विचार्य, खलु, यत्र निर्वृतिः तत् सुखम् इति पश्यामि । व्या०—निरायासम्=नि नास्ति आयासः प्रयास यस्मिन् तत् पानीयं=जलं वा, भयोत्तरं=भय भीति उत्तरमुत्तरकाले यस्य तत्, भीतिसङ्कुलमित्यर्थ । स्वादु=सुमिष्टम्, अन्नं भोजनं वा, एतयोर्मध्ये विचार्य=सुचिन्त्य, खलु यत्र निर्वृतिः=यत्रानन्द निश्चयेन भवति, तत्सुखं=सुखकरमिति, पश्यामि=निर्धारयामीति ।

भा०—बिना प्रयास से मिला हुआ जल, और पीछे से विकार-प्रयुक्त दुःख का भय कराने वाला मिष्टान्न भोजन, इन दोनों में विचार करके जिससे शान्ति होती है वही सुखकर है—ऐसा निर्धारण करता हूँ ॥ १४४ ॥

इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः ।

ऐसा विचारकर मैं निर्जन वन में आया हूँ ।

कथा—वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणम्।
तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्॥

अ०—(वरं) द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणं तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं (यत्र तत्) व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं वनं वरम्, तु बन्धुमध्ये धनहीनजीवनं न (वरम्)।

व्या०—(तत्र वने) द्रुमालयः=द्रुम एव आलयः गृहं यस्य भवति। पत्रफलाम्बुभक्षणम्=पत्राणि फलानि अम्बूनि च [illegible] भवति। तृणानि शय्या=शयनस्थानं भवति। वसनं च=वस्त्रम्, वल्कलं=वृक्षत्वक् भवति। तादृशं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं=व्याघ्रैः गजेन्द्रैः च सेवितं [illegible] वनं वरम्=श्रेष्ठमिति मन्ये। किन्तु बन्धुमध्ये [illegible] धनहीनजीवनं [illegible] न वरमिति मन्ये। (वंशस्थविलं वृत्तम्)।

भा०—जिस वन में वृक्ष ही घर है [illegible] का भोजन तथा नदी का जल पीना है घास की शय्या है वल्कल के वस्त्र हैं ऐसे व्याघ्र-हाथियों से सेवित वन में रहना अच्छा है किन्तु कुटुम्ब के बीच में धनहीन जीवन अच्छा नहीं है॥ १४५॥

ततः अस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः।
अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

व्या०—तत=[illegible] अस्मत्पुण्योदयात्=अस्माकं पुण्यस्य पूर्वसञ्चितसुकृतस्य उदयात् परिपाकात् तस्मात् अनेन मित्रेण [illegible] स्नेहानुवृत्त्या=स्नेहस्य अनुवृत्त्या तथा [illegible] अनुगृहीतः=अहं कृपया युक्तः। अधुना=सम्प्रति च, पुण्यपरम्परया पुण्यस्य सुकृतस्य परम्परा पङ्क्तिस्तया [illegible]। भवदाश्रयः=भवतः [illegible] स्वर्ग एव=स्वर्गतुल्यः, मया प्राप्तः=लब्ध इति।

भा०—तब मेरे भाग्य के कारण हमारे पुण्योदय से इस मित्र ने स्नेहपूर्वक मुझको अनुगृहीत किया। और अब भी पुण्यवश से आप (कूर्म) का आश्रयस्थान स्वर्ग ही मैंने पाया।

यतः—संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सज्जनैः सह॥ १४६॥

अ०—संसारविषवृक्षस्य काव्यामृतरसास्वादः सज्जनैः सह सङ्गमः (इति) द्वे एव रसवत्फले। व्या०—संसारविषवृक्षस्य विषस्य वृक्षः विषवृक्षः, संसार एव विषवृक्षः तस्य काव्यामृतरसास्वादः=काव्यम् अमृतमिव इति काव्यामृतम् तस्य [illegible] तस्य आस्वादः अनुभवः, सज्जनैः=सज्जनैः सह [illegible]

सदा समागम इत्यर्थः। इत्येव द्वे एव, रसवत्फले-रसाः सन्ति अनयो इति रसवती, रसवती च ते फले च भवत इति।

भा०—संसार रूप विषवृक्ष के काव्यरूप अमृत का रसास्वादन और सत्पुरुष का समागम ये दो ही मधुर रसवाले फल हैं॥ १४६॥

अपरञ्च—सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम्।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्॥ १४७॥

अ०—असारे खलु संसारे सत्सङ्गः, केशवे भक्तिः, गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् इति त्रीणि साराणि भावयेत्। व्या०—असारे=सारशून्ये तुच्छे, संसारे=जगच्चक्रे, सत्सङ्ग=सतां साधुजनानां सङ्ग समागम, केशवे=परमेश्वरे, भक्ति=प्रेमातिशय, गङ्गाऽम्भसि=गङ्गाया अम्भ जल तस्मिन्, निमज्जनं=स्नानम्, इत्येतानि त्रीणि साराणि=स्थिरफलानि सन्तीति, भावयेत्=चिन्तयेत्।

भा०—असार संसार में सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति, गङ्गास्नान, ये तीन ही सार हैं, उनका सेवन करना चाहिये॥ १४७॥

मन्थर उवाच—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम्।
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाग्निना दह्यते॥ १४८॥

अ०—(जगति) अर्थाः पादरजोपमाः, यौवन गिरिनदीवेगोपमम्, आयुष्य जलबिन्दुलोलचपल, जीवन फेनोपम य निश्चलमति स्वर्गार्गलोद्घाटन धर्मं न करोति, स जरापरिणत पश्चात्तापहत शोकाग्निना दह्यते। व्या०—(जगति) अर्थाः=द्रव्याणि पादरजोपमा=पादस्य चरणतलस्य रज धूलि उपमा क्षणविप्रयोगित्वेन उपमान येषान्ते तादृशा भवन्ति। यौवन=तारुण्यम्, गिरिनदीवेगोपम=गिरे शिखरिण या नदी निर्झरिणी तस्या वेग उपमा क्षणस्थायित्वेन उपमान यस्य तत् तादृश भवतीति। आयुष्य=मनुष्यशरीरमपि जलबिन्दुलोलचपल=जलस्य बिन्दव कणा त इव लोल च तत् चपल चेति भवति, क्षणभङ्गुर भवतीत्यर्थः। जीवनम्=आयु, फेनोपम=फेनस्य उपमा अकस्मान्नष्टस्वभावत्वेन सादृश्य यस्य तत् तादृश भवतीति। (एतावताऽपि) यः निश्चलमति=निश्चला स्थिरा मतिर्यस्य, दीर्घदर्शीत्यर्थः। स्वर्गाऽर्गलोद्घाटन=स्वर्गस्य य अर्गल प्रतिबन्ध तस्य उद्घाटन विनाशक इत्यर्थः। तादृश धर्मं=सुकृत न करोति=नार्जयति। स जरा

पतितः=बरसा बहु विविधजनान्, अप च सततावर्त्तमानात् मरण-समये तापा वेदना तैव इतः=वयसा यत् शोकाग्निना=शोक एव अग्निः तेन पच्यते=पच्यमानस्तीमवतीति।

भा०—बन्धर मैं क्या—संसार में बन बादल की वृष्टि के समान नाशवान है यौवन पर्वत की नदी के वेग के समान अस्थिर है, मनुष्य की आयु जलबिन्दु के समान क्षण में नष्ट होने वाली है, जीवन फेन के समान नाशवान है तो भी जो दुर्बुद्धि मनुष्य स्वर्ग के देनेवाले शोभायमान धर्म को नहीं कर सकता है वह बाद में पीड़ित होकर पश्चात्ताप करता हुआ शोकाग्नि से जलता रहता है ॥ १४८ ॥

युष्माभिः मतिसञ्चयः कृतः, तस्यायं दोषः।

भा०—आपने भी धन इकट्ठा किया, उसका यह फल है।

यतः—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १४९ ॥

अ०—तडागोदरसंस्थानाम् अम्भसां परीवाह इव उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्। भा०—तडागोदरसंस्थानाम्=तडागस्य जलाशयस्य उदरं मध्यं तस्मिन् संस्था स्थितिर्येषां तानि तेषाम्, अम्भसां=जलानाम् परीवाहः=परिवाहः वहिर्निर्गमः स इव यथा रक्षणकारी भवति तथा उपार्जितानां=सञ्चितानाम् वित्तानां=द्रव्याणाम् त्यागः=दानं वितरणमेव हि रक्षणं=संरक्षणकारी भवतीति।

भा०—जैसे तालाब के बाद से अधिक जलों का बाहर निकलना ही उसकी रक्षा का उपाय है। वैसे ही अर्जित धन का त्याग अर्थात् इकट्ठा हुआ धन का दान देना ही रक्षा है ॥ १४९ ॥

अन्यच्च—यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः।

तदधो निलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५० ॥

अ०—मितम्पचः क्षितौ अधोऽधः वित्तं यत् निचखान तत् अग्रतः अधोनिलयं गन्तुं पन्थानं चक्रे। भा०—मितम्पचः=मितम् अल्पं स्वोदरमात्रपूरणार्थं पचतीति मितम्पचः कृपणः, क्षितौ=पृथ्वीतले यत्ते अधोऽधः=गर्भगतोऽधस्तात् वित्तं धनम् यत् निचखान=खानितवान्। तद्धनमेव अग्रतः=प्रथमत एव मरणात्पूर्वमेव अधोनिलयं गन्तुं=पातालं अधोगतिं कर्तुं पन्थानमधोमार्गमिति यावत्। चक्रे=करोतीति।

भा०—कृपण मनुष्य जो धन पृथ्वी में नीचे गाड़ता है वह (धन) उसके पहले ही उस कृपण को मरकर अधोगति में जाने का मार्ग बनाता है ॥ १५० ॥

यत —निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
परार्थभारवाहीव स क्लेशस्यैव भाजनम् ॥ १५१ ॥

अ०—य. निजसौख्य निरुन्धान. धनार्जनम् इच्छति, स परार्थभारवाही इव क्लेशस्यैव भाजनम् । व्या०—य =जन , निजसौख्य=निजस्य स्वमात्रस्य सौख्य तृप्ति शान्तिमयजीवनम् , निरुन्धान =निरुन्धन् सन् आत्मानं क्लेशयित्वेत्यर्थ. । धनार्जन=धनस्य द्रव्यस्य अर्जनम् सकलनम् इच्छति=अभिलषति । स = जनः, परार्थभारवाही इव=परार्थ परनिमित्त भारस्य काष्ठपाषाणादे गुरुपदार्थस्य वाही वहनकर्ता रासभ इव यथा क्लेशभाजन भवति तथा क्लेशस्य द्रव्योपार्जन-प्रयासस्य भाजन भवति, न तु तत्फल भुङ्क्ते ।

भा०—जो मनुष्य अपने को आराम न देकर केवल द्रव्योपार्जन ही करता है, वह मनुष्य दूसरे के लिये भार ढोने वाले गदहे की तरह केवल क्लेश का ही पात्र बनता है ॥

तथा चोक्त—दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवाम. किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५२ ॥

अ०—यदि दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनः (भवन्ति) तदा तेनैव धनेन वयं किं धनिनो न भवाम ? । व्या०—यदि पक्षे दानोपभोगहीनेन=दान च उपभोगश्च ताभ्यां हीनेन उपभोगेन च शून्येन, धनेन=विपुलेनाऽपि द्रव्येण जना धनिनो धनवन्तो भवन्ति । तदा=तस्मिन् पक्षे तेनैव धनेन=तस्य धनिन द्रव्येणैव, वय-मपि=द्रव्यशून्या वयमपि किं=कथम्, धनिनो न भवाम ? तस्मिन् द्रव्ये दानो-पभोगशून्यताया द्वयो समानत्वादिति भाव ।

भा०—अगर दान तथा उपभोग स शून्य जो द्रव्य है उससे यदि लोग धनी कहाते हैं तो हम भी उस (दूसरों के) धन से धनी क्यों न कहावें ? ॥ १५२ ॥

यत—धनेन किं ? यो न ददाति नाऽश्नुते
बलेन किं ? यश्च रिपून् न बाधते ।
श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत् ।
किमात्मना ? यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १५३ ॥

अ०—य न ददाति न अश्नुते (तस्य) धनेन किम् ? । यश्च रिपून् न बाधते (तस्य) बलेन किम् ? यश्च धर्मं न आचरेत् (तस्य) श्रुतेन किम् ? । य जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् ? । व्या०—य =धनाढ्यो जन, न ददाति = सत्पात्रे दान न करोति, न च अश्नुते=न स्वय भुङ्क्ते, तस्य=धनाढ्यस्य, धनेन, किं ?=किं साधित ? किं च फल ?, न किमपीत्यर्थं । यश्च=बली जन , रिपून्= शत्रून् , न बाधते=न पीडयति, तस्य बलवतः बलेनापि किम् ? बलस्य=

किं फलम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः। यस्य = प्राणान्यमपीडितो जनः, धर्म = सदाचारादिकं, न आचरेद् न पालयेत्, तस्य जीवितमात्रस्य जनस्य, सुखेनान्वासया-येनापि जीवनमात्रस्य किं फलं, न किञ्चिदित्यर्थः। यस्य = यथा जितेन्द्रियस्य जितानि संयमितानि इन्द्रियाणि येन स तादृशो न भवेत्, तस्य = मनुष्यजन्मनोऽपि किम् ? मोक्षसाधनसमर्थस्य मनुष्यजन्मनः अपि किं फलं न किञ्चिदित्यर्थः।

भा०—जो धनी न दान देता है न खाता है उसके धन का कोई फल नहीं है जो धनी पुरुष कुछ भी नहीं देता है उसका धन निष्फल है जो पण्डितजन धर्म नहीं करते हैं उनका पाण्डित्य निष्फल है वैसे ही जो जितेन्द्रिय नहीं है उसका जीवन ही निष्फल है ॥ १५३ ॥

अन्यच्च—असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥ १५४ ॥

अ०—कृपणस्य धनम् असम्भोगेन परैः सामान्यम् हानौ—'दुःखेन अस्य इदम्' इति सम्बन्धो गम्यते। भा०—कृपणस्य अन्यजनापेक्षया धर्मोपभोगम् असम्भोगेन उपभोगराहित्येन अनुपभुक्तमित्यर्थः। परैः—अन्यजनैः, सामान्यं = समानम् तुल्यमित्यर्थः। परन्तु हानौ = चौरादिना अपहृते सति दुःखेन = दुःखानुभवेन दुःखेन, 'अस्य कृपणस्य इदं द्रव्यम्' इति सम्बन्धः = स्वस्वामिभावरूपः गम्यते = ज्ञायते, नान्यथेति।

भा०—कृपण पुरुष का धन—भोगरहित होने से धन स्वामी के प्रति तथा अन्यों के प्रति समान है केवल द्रव्य का अपहरण मात्र होने से जिससे दुःख होता है उससे ही उसका सम्बन्ध मालूम हो जाता है ॥ १५४ ॥

अपि च—न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥ १५५ ॥

अ०—कृपणस्य धनं देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न, आत्मने च न याति (अपि तु) वह्नितस्करपार्थिवैः ह्रियते। भा०—कृपणस्य = अत्यन्तकृपणस्य जनस्य धनं द्रव्यम् देवाय न = देवपूजार्थं न याति विप्राय न = विप्रपोषणार्थं न याति बन्धुभ्यो न = बन्धूनाम् उपयोगाय च न याति किन्तु—वह्नितस्करपार्थिवैः = वह्निः अग्निः तस्कराः चौराः पार्थिवाः राजानः तैः ह्रियते = नश्यत् नीयते इत्यर्थः।

भा०—कृपण पुरुष का द्रव्य देवता के लिये, ब्राह्मण के लिये, बन्धुजनों के लिये और अपने खर्च के लिये उपयोग में नहीं आता है किन्तु अग्नि, चोर या राजा उसे हर जाता है ॥ १५५ ॥

तथा चोक्तं—दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
त्यागसहितञ्च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥१५६॥

अ०—प्रियवाक्सहित दानम्, अगर्वं ज्ञानम् , क्षमाऽन्वितं शौर्यम् , त्यागसहितञ्च वित्तम्, एतच्चतुर्भद्रं दुर्लभम् । व्या०—प्रियवाक्सहित=प्रिया मधुरा या वाग् वाणी तया सहित दान सत्पात्रे वितरणम्, अगर्वं=नास्ति गर्वो यस्य तद् अगर्वम् अभिमानरहित ज्ञानं=शास्त्रजन्यदिव्यविद्या, क्षमाऽन्वित=क्षमया तितिक्षया अन्वित युक्तम्, शौर्यं = शूरत्वम् , त्यागसहितञ्च =त्यागः दान तेन सहितञ्च वित्त द्रव्यम्, एतच्चतुर्भद्र=चतुर्णां भद्राणां समाहार' चतुर्भद्र कल्याणचतुष्टयम् , दुर्लभ= दुष्प्रापम् भवतीति ।

भा०—प्रियवचन-पूर्वक दान, गर्वरहित पाण्डित्य, क्षमायुक्त शूरता दानयुक्त द्रव्य, ये चारों श्रेय-पदार्थ दुर्लभ हैं ॥ १५६ ॥

उक्तञ्च—कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः ।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ १५७ ॥

अ०—नित्य सञ्चय कर्तव्य , अतिसञ्चय न कर्तव्य', सञ्चयशीलः असौ जम्बुकः धनुषा हतः पश्य । व्या०—नित्य सर्वदा, सञ्चयः=द्रव्यसङ्कलनम् , कर्तव्यः =विधेय., अतिसञ्चय =अत्यन्तं निरवधि. सञ्चयस्तु न कर्तव्यः, सञ्चयशीलः= कार्मुकेण, हत' =नाशित इति ।

भा०—सदा सञ्चय करना चाहिये, लेकिन उचित का त्यागकर अतिसञ्चय नहीं करना चाहिये । क्योंकि अतिसञ्चय करने वाला यह शृगाल धनुष से मारा गया ॥ १५७ ॥

तावाहतु —'कथमेतत ?' मन्थरः कथयति—

भा०—मूषिक तथा काक दोनों बोले-'यह जम्बुक का वृत्तान्त कैसा है ?' तब मन्थर कहने लगा—

कथा ५

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवीमध्यं गतः । तत्र तेन मृग एको व्यापादितः । ततो मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः शूकरो दृष्ट. । ततस्तेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेण हतः । शूकरेणाप्यागत्य प्रलयघनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो मुष्कदेशे हत. छिन्नद्रुम इव पपात ।

व्या०—कल्याणकटकवास्तव्य =कल्याणकटकनाम्नि देशे वास्तव्य वासकारी भैरवो नाम व्याध =मृगयुः, आसीत् । स च व्याधः, एकदा=एकस्मिन् समये, मांसलुब्धः=मांसे लुब्धः सतृष्ण सन् , धनु =कार्मुकम्, आदाय=गृहीत्वा, मृगं=

हरिणम्, अनिन्ये=आनीतवान्, अथ विन्ध्याटवीमध्ये विन्ध्यस्य विन्ध्याचलपर्वतस्य अरण्यात् अरण्यस्य मध्ये गतः, तम्=आगच्छन्तम् तेन=व्याधेन एकः मृगः=हरिणः व्यापादितः=मारितः, ततः तदनन्तरम्, मृगमादाय हरिणं गृहीत्वा, आगच्छता तेन=व्याधेन घोरा आकृतिः यस्य सः घोराकृतिः स्वरूपं यस्य स तादृशः शूकरः=वराहः, दृष्टः। ततः=तदनन्तरम्, तेन=व्याधेन मृगं=हरिणम्, भूमौ=पृथिव्याम्, निधाय=संस्थाप्य शरेण=बाणेन शूकरः=स वराहः, हतः=ताडितः, शूकरेणापि बाणाघातक्रोधवशात् शूकरेणापि आगत्य=व्याधसमीपं समुपेत्य प्रलयघन-घोरगर्जनं=प्रलयस्य प्रलयकालस्य घनः मेघः तस्य गर्जनमिव घोरं भयङ्करं गर्जनम् आस्फाल्यं कृत्वा स व्याधः मुष्कदेशे=मुष्कयोः हतः=ताडितः, स व्याधः छिन्नद्रुम इव=छिन्नः कर्तितः द्रुमः वृक्ष इव पपात=भूमौ पतितः।

भा०—'कल्याणकटक' नामक देश में भैरव नाम का व्याध रहता था, वह एक बार मांस के लोभ से व्याकुल होकर धनुष लेकर मृग को खोजता हुआ विन्ध्याचल पर्वत पर गया। वहाँ उसने एक मृग को मारा, मृग लेकर जाते हुए उस व्याध ने एक बड़ा शूकर को देखा, तब मृग को जमीन पर रख कर शूकर को बाण से मारा। बाण लगते ही क्रोध से भरे हुए उस शूकर ने चिंघाड़कर व्याध के अण्डकोष में प्रहार किया जिससे व्याध कटे हुए वृक्ष की तरह गिर पड़ा।

यतः उक्तम्—जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधिः पतनं गिरेः।
निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते॥ १५८॥

अ०—जलम् अग्निः विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधिः गिरेः पतनं किञ्चित् निमित्तम् आसाद्य देही प्राणैः विमुच्यते। व्या०—जलं=सलिलम्, अग्निः=वह्निः विषं=गरलम्, शस्त्रं=खड्गादिकम्, क्षुत्=बुभुक्षा भोजनाभावे प्राणशोषणम्, व्याधिः=ज्वरादिकम्, गिरेः पतनं=पर्वतादुच्चस्थानात्पतनमित्यर्थः, एतेषु एकम् किञ्चिन्निमित्तमासाद्य=प्राप्य देही=शरीरी, प्राणैः=असुभिः, विमुच्यते=त्यज्यते।

भा०—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, व्याधि, पहाड़ से पतन इनमें से किसी भी निमित्त से जीवधारी प्राणों से अलग हो जाता है॥ १५८॥

अथ तयोः पादास्फालनेन एकः सर्पोऽपि मृतः। अत्रान्तरे 'दीर्घरावो' नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान् मृतान् मृगव्याधसर्पशूकरान् अपश्यत्। आलोक्याचिन्तयच्च—'अहो! भाग्यम्! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्'।

व्या०—अथ तयोः=व्याधशूकरयोः, पादास्फालनेन पादाघातमात्रेण ताडितः सन्, एकः=कश्चित् सर्पः अपि मृतः=मरणं गतः। अत्रान्तरे=अस्मिन्नेव समये आहारार्थी=आहारम् अर्थयते इति आहारार्थी, दीर्घरावो नाम=दीर्घरावः नाम जम्बुकः

शब्दो यस्य सः तादृशनाम्ना ख्यात इति, जम्बुकः=शृगालः, परिभ्रमन्=परिभ्रमतीति पर्यटति इति परिभ्रमन् पर्यटन् सन्। तान् मृतान् मृगश्च व्याधश्च सर्पश्च शूकरश्चेति तान्, अपश्यत्। आलोक्य=दृष्ट्वा च, अचिन्तयत्=विचारं कृतवान्—अहो इति हर्षे, भाग्य=दैवम्, अद्य=अस्मिन्दिने, मे=मम, महद्भाग्यं समुपस्थितं=फलितम्।

भा०—और उस व्याध तथा शूकर के तड़फड़ाने से उसके पैरों से एक साँप मर गया। उस समय आहार के लिये घूमते हुए दीर्घराव नामक जम्बुक ने मरे हुये मृग, व्याध, सर्प, शूकर इन चारों को देखा। देख कर सोचा भी—ओह! भाग्य है, आज मुझे बड़ा भोजन मिल गया है।

अथवा—अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १५९ ॥

अ०—यथैव देहिनाम् अचिन्तितानि दुःखानि आयान्ति, तथा सुखान्यपि (आयान्ति) इति मन्ये। अत्र दैवम् अतिरिच्यते। व्या०—यथैव=यद्वत्, देहिनां=शरीरिणाम्, अचिन्तितानि=न चिन्तितानि आकस्मिकानि, दुःखानि=आपत्तय, आयान्ति, तथा सुखानि अपि आकस्मिकानि, आयान्ति। इति=अहं मन्ये, अत्र=अस्मिन् सुखदुःखागमने, दैव=भाग्यमेव, अतिरिच्यते=सर्वमूर्धन्यतया तिष्ठति।

भा०—जिस प्रकार शरीरधारियों को आकस्मिक दुःख आते हैं वैसे ही आकस्मिक सुख भी आते हैं, इनमें दैव ही प्रधान है ॥ १५९ ॥

भवतु, एषां मांसैः मासत्रयं समधिकं भोजनं मे भविष्यति।

भा०—अच्छा हुआ, इन सबके मांस से तीन महीने तक मेरा भोजन खूब चलता रहेगा।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ १६० ॥

अ०—नर एकं मासं याति, मृगशूकरौ द्वौ मासौ, (यातः) अहिः एकं दिनं याति, अद्य धनुर्गुणं भक्ष्य। व्या०—नरः=व्याधशरीरमांसम्, एकं मासम्=एकमासं व्याप्य, याति=भक्ष्यतां गच्छति, मृगश्च शूकरश्च तौ, मृगस्य मांसं शूकरस्य च मांसम्, द्वौ मासौ=मासद्वयं व्याप्य, याति इति। अहिः=सर्पमांसम्, एकं दिनं व्याप्य, याति=भक्ष्यतां गच्छति, अद्य=अस्मिन्दिने तु धनुर्गुणं=धनुषः कार्मुकस्य गुणं मौर्वीं चर्ममौर्वीमित्यर्थः, भक्ष्य=भक्षणीय इति।

भा०—मनुष्य मांस एक मास चलेगा, दो मास तक मृग तथा शूकर का मांस चलेगा, एक दिन साँप के मांस से गुजरेगा। आज तो यह धनुष की सूखी स्नायुमय रस्सी ही खा लेनी चाहिये ॥ १६० ॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि इत्युक्त्वा तथाऽकरोत्। ततश्छिन्ने स्नायुबन्धने द्रुतम् उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम्' (१५७) इत्यादि।

व्या०—ततः=तस्मात्, अमे क्षेत्रे मोचकस्यापीति हेतुकेत्यर्थः। प्रथमबुभुक्षायाम्=प्रथमा चासौ बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा तस्यां सत्याम्, इदं=पुरःस्थितम् निःस्वादु=निःस्वादम्, कोदण्डलग्नम्=कोदण्डे कार्मुके लग्नं धृतम्, स्नायुबन्धनम्=स्नायुः आन्त्रधातुः तस्या बन्धनं कण्ठसूत्रम् आन्त्रमित्यर्थः। खादामि=अद्मि। इत्युक्त्वा तथा=अन्नभोजनार्थमर्थम् अकरोत्। ततः तदर्थे सति स्नायुबन्धने=आन्त्रस्य बन्धने छिन्ने=त्रुटिते सति द्रुतम् उत्पतितेन=आकर्षणवशात् उत्क्षिप्तेन धनुषा=कार्मुकदण्डेन हृदि=हृदयप्रदेशे, निर्भिन्नः=आहतः, सः=दीर्घरावनामा शृगालः पञ्चत्वं=मरणं गतः। अतः=अस्माद्धेतोः, ब्रवीमि=कथयामि 'कर्तव्यः' इत्यादि।

भा०—इस हेतु से प्रथम भूख में यह स्वादरहित धनुष में बँधी हुई स्नायु को इसको खा लूँ ऐसा कहकर वैसे किया तब ताँत के टूटने पर तेज उछला हुआ धनुष शृगाल के हृदय में लगा और शृगाल मर गया, इसलिये मैं कहता हूँ कि—'कर्तव्य'—इत्यादि।

तथा च—यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ १६१ ॥

अ०—यद् धनं ददाति यद् अश्नाति धनिनः तदेव धनम्, अन्ये मृतस्य दारैः धनैरपि क्रीडन्ति। व्या०—यद् धनं ददाति=सत्पात्रे वितरणं करोति यद् च धनम् अश्नाति=स्वयं भुङ्क्ते, धनिनः=धनयुक्तस्य तदेव धनम् इति सार्थकं भवति। अन्ये अन्याः, मृतस्य=धनिनः, दारैः=कलत्रैः अपि धनैः अपि च क्रीडन्ति=आनन्दमनुभवन्तीति।

भा०—जो धन दान में दिया जाता है और अपने उपभोग में भी आता है वही धनवानों का धन कहलाता है दूसरा नहीं। क्योंकि उसके मर जाने पर धनवान् के धन तथा स्त्री से भी दूसरे ही लोग मौज करते हैं ॥ १६१ ॥

किञ्च—यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥ १६२ ॥

अ०—दिने दिने यद् विशिष्टेभ्यो ददासि, यच्च अश्नासि तत् ते वित्तम् (इति) अहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि। व्या०—दिने दिने=प्रतिदिनम् अहर्निशं यद्=यद्

द्रव्यम्, विशिष्टेभ्य =श्रेष्ठसत्पात्रेभ्य, ददासि=अर्पयसि, यच्च=धनम्, स्वयम् अश्नासि=स्वोपभोगार्थं व्यय नयसि, तत्=वित्तम्, ते=तवास्ति इति अह मन्ये=स्वीकरोमि। अथ च शेष=दानाऽशनाऽतिरिक्त द्रव्यन्तु, कस्यापि=कस्य-चिदन्यस्योपभोगार्थम्, रक्षसि=स्थापयसि इति ।

भा०—जिस द्रव्य का सत्पात्रों को दान देते हो और अपने भी उपयोग में खर्च करते हो वही तुम्हारा है और बाकी सब दूसरे के लिये ही रखते हो-ऐसा मैं समझता हूँ ॥१६२॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन ।

भा०—जाने दो, इस समय गई बातों के विवेचन से क्या काम है ?

यत —नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नरा. पण्डितबुद्धय. ॥ १६३ ॥

अ०—पण्डितबुद्धय नरा अप्राप्य न अभिवाञ्छन्ति, नष्ट शोचितु नेच्छन्ति, आपत्सु अपि न मुह्यन्ति । व्या०—पण्डितबुद्धय =पण्डितानां बुद्धिरिव बुद्धिर्येषान्ते स्थिरमतय, नराः=जना, अप्राप्य प्राप्तुं योग्य प्राप्य न प्राप्यम् अप्राप्यम्=अलभ्यम् नाभिवाञ्छन्ति=प्राप्तु नेच्छन्ति, नष्ट=नाश गत वस्तु च, शोचितु=शोकविषय कर्तुम्, नेच्छन्ति=नाभिलषन्ति । आपत्सु=दु खदविपत्तिषु प्राप्तासु सतीषु, अपि न मुह्यन्ति=मोह न कुर्वन्ति इति ।

भा०—पाण्डित्ययुक्त बुद्धिवाले मनुष्य अप्राप्य वस्तु का इच्छा नहीं करते हैं, नष्ट वस्तु का शोक नहीं करते हैं, आपत्ति में अधीर नहीं होते हैं ॥ १६३ ॥

तत् सखे ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् । यतः—

भा०—इसलिये सखे ! मूषिक ! तुमको सदा उत्साह-सहित रहना चाहिये । क्योंकि—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुष' स विद्वान् ।
सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ १६४ ॥

अ०—(जना) शास्त्राणि अधीत्य अपि मूर्खा भवन्ति, य पुरुष क्रियावान् स विद्वान्, औषधं नाममात्रेण सुचिन्तितम् आतुराणाम् अरोग न करोति । व्या०—(जना) शास्त्राणि, वेदादीनि अधीत्य=पठित्वा अपि, मूर्खाः=कुण्ठिताचरणा भवन्ति= भवतिष्ठन्ते । यस्तु पुरुषः=जन, क्रियावान्=अधीतिबोधाचरणप्रचारणवान्, स एव विद्वान्=यथार्थपण्डित । यथा औषध=भेषजम् । नाममात्रेण=तन्नाम्ना, सुचिन्तितमपि=बहु स्मृतमपि, आतुराणां=रोगिणाम्, अरोग=रोगध्वंसम्, न करोति । (उपजातिवृत्तम्) ।

भा०—ज्ञानी को पाकर भी लोग पूरे बने रहते हैं जो मनुष्य ज्ञान पाकर उस मुताबिक आचरण करते हैं वे ही यथार्थ विद्वान् हैं। खूब याद करने पर भी औषध का नाम रोगी के रोग का नाश नहीं करता है ॥ १६४ ॥

अन्यच—न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः॥

अ०—विज्ञानविधिः अध्यवसायभीरोः स्वल्पमपि गुणं न करोति। हि इह हस्ततलस्थितः अपि प्रदीपः अन्धस्य अर्थं प्रकाशयति किम् ? व्या०—विज्ञानविधिः= विशेषेण ज्ञायते इति विज्ञानं शास्त्रम् तस्य विधिः विधानम् उपदेश इति यावत्। अध्यवसायभीरोः=अध्यवसायात् अनुष्ठानात् भीरुः भयाकुलः तस्य आचरणशून्यस्येत्यर्थः। स्वल्पमपि=स्तोकमपि, गुणम्=उपकारं कार्यं न करोति। हि=यतः इह=भुवि हस्ततलस्थितः=हस्तस्य करस्य यत् तलं तत्र स्थितः=घृतः अपि प्रदीपः, अन्धस्य=चक्षुर्विहीनस्य जनस्य अर्थं=पदार्थं वस्तुजातं, प्रकाशयति किम् ?= प्रकटीकरोति किम् ? अर्थात् न प्रकाशयति (काक्वार्थोऽयम्)।

भा०—आचरणहीन पुरुष को शास्त्रोपदेश कुछ भी नहीं करता है जैसे इस लोक में हाथ में रक्खा हुआ भी प्रदीप अन्धे को प्रकाश नहीं करता है ॥ १६५ ॥

तदत्र सखे एवाऽवस्थितेन शान्तिः करणीया एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम्।

व्या०—तत् तस्माद्धेतोः, सखे ! मित्र ! अत्र=मम गृहे एवाऽवस्थितेन एवा-या अवस्थया अतिकष्टं शान्तिः=सुखस्थितिः, करणीया=कर्तव्या भीरता त्वया एतदपि=इयत् स्थितिरपि एतादृशावस्थायाम् अतिकष्टम्=अतिदुःखदम्, न मन्तव्यम्=नानुसन्धेयमिति।

भा०—इसलिये मित्र मूषक ! तुम वैसे अवस्था मेरे ही घर में व्यतीत करो यह मेरे घर में निवास करना भी कष्टकर मत मानना।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ १६६ ॥

अ०—आपतितं सुखं तथा आपतितं दुःखं सेव्यम् सुखानि च दुःखानि च चक्रवत् परिवर्तन्ते। व्या०—आपतितं=समुपस्थितम् सुखं सेव्यम्=अनुभवनीयम्। तथा=तेन प्रकारेण आपतितं दुःखमपि सेव्यम्=अनुभवनीयम् सुखानि च दुःखानि च, चक्रवत्=चक्रं यथा भ्रमति तथा परिवर्तन्ते=क्रमशः आयान्ति।

भा०—आया हुआ सुख और दुःख दोनों को सहन करना चाहिये। क्योंकि जगत् में सुख और दुःख चक्र की तरह घूमते (आते-जाते) रहते हैं ॥ १६६ ॥

अपरञ्च—निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः॥ १६७॥

अ०—मण्डूकाः निपानमिव, अण्डजाः पूर्णं सर इव, सर्वसम्पद विवशाः सोद्योगं नरमायान्ति। व्या०—मण्डूका=भेका, निपान=क्षुद्रजलाशयम्, इव, अण्डजा=अण्डेभ्यो जाता अण्डजा.=पक्षिण, पूर्णं=प्रभूतजलयुक्तम्, सरः=तडागमिव, सर्वसम्पदः=सर्वाश्च ता सम्पद सर्वसमृद्धय, विवशाः=सोद्योगजनाऽधीनाः सत्य, सोद्योगम्=उद्योगेन सहित तम्, नर=जनम्, आयान्ति=समुपतिष्ठन्ते इति।

भा०—मण्डूक जैसे जलाशय के प्रति जाते हैं, पक्षिगण जैसे पूर्ण सरोवर के प्रति जाते हैं वैसे ही उद्योगपूर्ण जन के प्रति सर्वसम्पत्तियाँ विवश होकर आ पडती हैं॥ १६७॥

अपि च—उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मी. स्वयं याति निवासहेतो.॥१६८॥

अ०—लक्ष्मी. निवासहेतोः स्वयम् उत्साहसम्पन्नम् अदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेषु असक्त शूर कृतज्ञ दृढसौहृदञ्च (जनम्) याति। व्या०—लक्ष्मीः=सम्पद्देवी, निवासहेतोः=निवास अवस्थानम् एव हेतुः निमित्त तस्मात् निवासार्थम्, स्वयम्=आत्मनैव, उत्साहसम्पन्नम्=उत्साहेन उद्योगेन सम्पन्न युक्तः तम्, अदीर्घसूत्रम्=दीर्घं चिरेण सूत्रयति सम्पादयति इति दीर्घसूत्र, स न भवति इति अदीर्घसूत्रः तम्, शीघ्रकार्यकारिणमित्यर्थः। क्रियाविधिज्ञम्=क्रियाणां कर्तव्यविषयाणां विधय विनियोगा. तान् जानाति विवेचयतीति क्रियाविधिज्ञ तम् यथायोग्यकार्यानुष्ठानवेत्तारमित्यर्थं। व्यसनेषु=मद्यद्यूतमृगयादिषु असक्तम्=न सक्त असक्त. तम्, अनिहितमानसमित्यर्थं। शूर=वीर्यवन्तम्, कृतज्ञम्=कृतम् उपकृत जानाति इति तम् कृतज्ञम्, उपकारवेत्तारमित्यर्थं। दृढसौहृदम्=दृढम् अन्तरायशून्य सौहृद मैत्री यस्य स तादृश जनम्, याति=अभिगच्छति। (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—लक्ष्मी निर्विघ्न निवासस्थान के लिये उत्साही, शीघ्रकार्यकारी, कर्तव्याकर्तव्य विवेकशाली, व्यसनशून्य, शूर-वीर, कृतज्ञ और दृढमित्र ऐसे जो पुरुष हैं उनके यहाँ स्वय जाकर रहती है॥ १६८॥

विशेषतश्च—विनाऽप्यर्थैर्धीर स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं श्वा किं धृतकनकमालोऽपि लभते॥१६९॥

अ०—धीरः कर्मी विनाऽपि बहुमानोन्नतिपदं लभते कृपणः कर्मी समग्रगुणोऽपि परिभवपदं याति । या रत्नकनकमालाऽपि स्वभावात् प्रकृत्या गुणसमुदायाभ्यधिकविरचना सैव दीप्तिं लभते किम् ? । व्या०—धीरः = सुदेही विदुषो जन कर्मी विनाऽपि = द्रव्याणि विनाऽपि बहुमानोन्नतिपदं = बहुमानो बहुधनेन उन्नतिः अभ्युदयः तयोः पदं स्थानं तादृशीं स्थितिमित्यर्थः, लभते प्राप्नोति इति । कृपणः = दैन्ययुतः जनः, कर्मी = द्रव्यैः समायुक्तः सन्नपि परिभवपदं = परिभवस्य अपमानस्य अपकृष्टतायाः वा पदं स्थानं याति । तथा हि—या = कुत्र, रत्नकनकमाला अपि = रत्नानां कनकस्य सुवर्णस्य माला येन वा तथाविधा सत्यपि, स्वभावात् = निसर्गात् प्रकृत्या = उत्पत्त्या प्रकाशमानात् गुणसमुदायाभ्यधिकविरचनात् = गुणानां शोभादीनां समुदयः समुदायः तस्य अधिका मार्गेण तस्या विरचना सुचिक्कणता बहुगुणयोगसंयोजिकामित्यर्थः । एतादृशीं सैवेयम् = सैवस्य इयं सैवी तम् दीप्तिं = कान्तिम् लभते = विन्दति किम् ? अर्थात् नैव विन्दति इति (शिखरिणी वृत्तम्) ।

भा०—धीर पुरुष द्रव्यहीन होने पर भी बहुसम्मान तथा अभ्युदय को पाते हैं और कृपणमनुष्य भी द्रव्य का परामव ही पाते हैं । यह बात यथार्थ है । क्योंकि कुत्ता सुवर्ण की माला धारण करने पर भी स्वाभाविक उत्पन्न होने वाली तथा शोभादिगुणसमूह से सुचित करने वाले सिंह की कान्ति (ऐश्वर्यशालिता) को कभी नहीं पा सकता ॥ १६९ ॥

किंच—धनवानिति हि मदस्ते किं गतविभवो विषादमुपयासि ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १७० ॥

अ०—धनवान् इति ते मदः किं गतविभवः विषादम् उपयासि हि मनुष्याणां पातोत्पाताः करनिहतकन्दुकसमाः । व्या०—धनी धनवान् = धनाढ्यः असि इति हृत्वैवमिव ते = तव मदः = अभिमानः, अस्ति तर्हि किं = कथम् ? गतविभवः = गता विनष्टा विभवा सम्पत्तयो यस्य सः एतादृशः सन् विषादं खेदम् उपयासि प्राप्नोसि । हि = यतः मनुष्याणां = जनानाम् पातोत्पाताः पातश्च उत्पातश्च पतनोत्थाने इति पातोत्पाताः अवनत्युन्नतयः । करनिहतकन्दुकसमाः = करेण हस्तेन निहतः ताडितः च कन्दुकः गेन्दुकः तेन समाः सदृशाः भवन्ति । (आर्यावृत्तम्) ।

भा०—मैं धनवान् हूँ ऐसा यदि तुमको मद है तो फिर विभव नहीं रहने पर क्यों शोक करते हो । क्योंकि—मनुष्यों की अवनति तथा उन्नति हाथ से मारे हुए गेंद की तरह होती रहती है ।

अन्यच्च—वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥ १७१ ॥

अ०—वृत्त्यर्थं न अतिचेष्टेत हि सा धात्रा एव निर्मिता, जन्तौ गर्भात् उत्पतिते

मातु स्तनौ प्रस्रवतः । व्या०—वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम्, अति चेष्टेत—अति प्रयासं न कुर्यात्। हि—यतः, सा—वृत्तिः, धात्रैव=विधात्रा एव, निर्मिता=प्रथमतः निर्धारिता भवति। यथा हि जन्तौ=बाले, गर्भात्=उदराशयात्, उत्पतिते=ऊर्ध्वं बहिः निःसृते सति, मातुः=जनन्याः, स्तनौ=पयोधरौ, निसर्गत एव प्रस्रवतः=पय मुञ्चतः।

भा०—जीविका के लिये अति चेष्टा नहीं करना, क्योंकि विधाताने ही जीविका का निर्माण किया है। बालक के गर्भ के बाहर आते ही उसके लिये माता के स्तनों से दूध बहता है ॥ १७१ ॥

अपि च सखे! शृणु (और भी सुनो मित्र)

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १७२ ॥

अ०—येन हंसा शुक्लीकृताः, शुकाश्च हरितीकृताः, येन मयूराश्च चित्रिताः, स ते वृत्तिं विधास्यति। व्या०—येन विधात्रा, हंसाः=हंसपक्षिणः, शुक्लीकृता=शुभ्रवर्णा कृताः, शुकाश्च=कीराश्च, हरितीकृताः=हरिद्वर्णाः कृताः, येन च विधात्रा, मयूराः=शिखिनः, चित्रिताः=विचित्रवर्णा कृताः उत्पादिताः, सः=स एव विधाता, ते=तव, वृत्तिं=जीविकाम्, विधास्यति=समुपस्थापयिष्यतीति।

भा०—जिस विधाता ने हंसों को सफेद बनाया, सुग्गों को हरा बनाया और जिसने मयूरों को रङ्गविरङ्गा बनाया, वही विधाता तुम्हारी भी जीविका चलायेगा ॥ १७२ ॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु, मित्र! (और भी बडे लोगों का रहस्य सुनो, मित्र!)

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ॥ १७३ ॥

अ०—अर्था अर्जने दुःखं जनयन्ति, विपत्तिषु तापयन्ति, सम्पत्तौ च मोहयन्ति, (अतस्ते) कथं सुखावहाः? । व्या०—अर्थाः=द्रव्याणि, अर्जने=उपार्जने सकलीकरणे, दुःखं=बहुप्रयास क्लेशं, जनयन्ति=उत्पादयन्ति। विपत्तिषु=चौरादिकृतहरणादिषु, तापयन्ति=परितापम् उत्पादयन्ति। सम्पत्तौ=बहुविधे ऐश्वर्ये सति, तु, मोहयन्ति=मदं जनयन्ति। (इत्यस्माद्धेतो अर्थाः) कथं=केन प्रकारेण, सुखावहाः=सुखम् आवहन्तीति सुखावहाः सुखसम्पादका भवन्ति, न कथमपीत्यर्थः।

भा०—धन को प्राप्त करने में भी कष्ट होता है, चोरादि के ले जाने से क्लेश होता है, खूब सम्पत्ति हो जानेसे मन्दोन्मत्तता आती है। अब कहो द्रव्य किस स्थिति मे सुखदायी है? ॥

अपरञ्च—धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥ १७४॥

अ०—यस्य धर्मार्थं वित्तेहा तस्य निरीहता वरम्। पङ्कस्य प्रक्षालनात् दूरात् अस्पर्शनं वरम्। व्या०—यस्य = जनस्य (अधर्मं कृत्वा पश्चात्तापात्) धर्मार्थं यागदानादिधर्माचरणार्थम् वित्तेहा = वित्तस्य धनस्य ईहा धनार्जनचेष्टा भवति तस्य = तज्जनस्य निरीहता = निः नास्ति ईहा चेष्टा यस्य तस्य भावस्तत्ता धनार्जनविराम एव वरं = श्रेष्ठ मङ्गलप्रदो भवति इति। तथा हि—पङ्कस्य = कर्दमस्य प्रक्षालनात् = कर्दमप्रक्षालनापेक्षया दूरात् = प्रथमत एव, अस्पर्शनं = न स्पर्शनं, वरं भवति।

भा०—(अधर्म करके उसके नाश के लिये) धर्मार्थ करने के लिये धनसंग्रह इत्यादि की चेष्टा करना, उससे धन प्राप्ति की चेष्टा ही नहीं करना श्रेयस्कर है जैसे कीचड़ में पैर डुबाकर फिर कीचड़ के धोने की अपेक्षा प्रथम से कीचड़ का स्पर्श ही नहीं करना ठीक है।

यतः—यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ १७५॥

अ०—आमिषं यथा आकाशे पक्षिभिः, भुवि श्वापदैः, सलिले मत्स्यैः भक्ष्यते तथा वित्तवान् सर्वत्र (भक्ष्यते)। व्या०—आमिषं = मांसम् (कर्मपदम्) यथा आकाशे = गगने, पक्षिभिः = खगैः भक्ष्यते भुवि = भूतले, श्वापदैः = हिंस्रप्राणिभिः भक्ष्यते, सलिले = जले तु, मत्स्यैः = मत्स्यप्रभृतिभिः, भक्ष्यते = ग्रस्यते तथा वित्तवान् = वित्तं धनम् अस्यास्तीति वित्तवान् धनवान्जनः, सर्वत्र = सर्वेषु स्थलेषु, भक्ष्यते = सर्वैः दस्युप्रभृतिभिः ग्रस्यते इति।

भा०—मांस को जैसे आकाश में पक्षी खा जाते हैं पृथिवी में हिंस्रजन्तु खा जाते हैं जल में मत्स्य आदि खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को भी सभी स्थलों में ठग-चोरादि खा लेते हैं॥ १७५॥

अन्यच्च—राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव॥ १७६॥

अ०—प्राणभृतां मृत्योरिव अर्थवतां राजतः सलिलात् अग्नेः चोरतः स्वजनादपि नित्यं भयम् (भवति)। व्या०—प्राणभृताम् = प्राणान् बिभ्रति इति प्राणभृतः तेषाम् शरीरिणामित्यर्थः। मृत्योरिव = मरणात् यथा भयं भवति, तथा अर्थवताम् = धनवतां जनानाम् राजतः = (पञ्चम्यास्तस्) राज्ञः नृपतेः, सलिलात् = जलात्, अग्नेः = वह्नेः, चोरतः = तस्करात्, स्वजनादपि = स्वो जनः बन्धुप्रभृतिः तस्मात् अपि नित्यं = सर्वदा भयं = भीतिः, भवति = वर्तते।

भा०—प्राणी को जैसे मृत्यु से भय रहता है वैसे ही धनाढ्य को राजा से, जल से, अग्नि से, चोरों और स्वजनों से भी निरन्तर भय रहता है ॥ १७६ ॥

यथा हि—जन्मनि क्लेशबहुले किन्तु दुःखमतः परम्।
इच्छासम्पद् यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥१७७॥

अ०—यत क्लेशबहुले जन्मनि इच्छासम्पत् नास्ति, यच्च इच्छा न निवर्तते, अत पर दुःख किं नु? व्या०—यत =यस्माद्धेतोः, क्लेशबहुले = कष्टप्रधाने, जन्मनि = जीवने, इच्छासम्पत् = इच्छानुरूपा सम्पत् इच्छासम्पत् (मध्यमपद लोपी समास) स्वेच्छानुसार सम्पत् नास्ति न मिलति। अथ च यत्, इच्छाऽपि= सम्पत्तृष्णाऽपि, न निवर्तते=न शाम्यति। (वद भो.) अत परम् = अस्मादन्यत्, दुःख = कष्टम्। किं नु? (नु–वितर्के) किं = कीदृश भवति?

भा०—(क्या कारण है कि) कष्टमय संसार में इच्छाऽनुसार सम्पत्ति नहीं मिलती है और इच्छा की निवृत्ति भी नहीं होती है। इससे ज्यादा और कौन सा दुःख है? ॥१७७॥

अन्यच्च भ्रातः शृणु—
धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १७८ ॥

अ०—धन तावत् असुलभ, लब्ध कृच्छ्रेण पाल्यते, लब्धनाशः यथा मृत्युः, तस्मादेतत् न चिन्तयेत्। व्या०—धन=द्रव्यम्, तावत्=आदौ, असुलभम्=न सुखेन लभ्यते। लब्धम् = अर्जित सत्, अपि, कृच्छ्रेण = महता कष्टेन, पाल्यते = रक्ष्यते, लब्धनाश लब्धस्य धनस्य नाश क्षय, यथा=यद्वत्, मृत्युः=तद्वत् मृत्युसमदु सदो भवति। तस्मात् एतत् = द्रव्योपार्जनादिक, न चिन्तयेत् = न समीहेतेति।

भा०—धन प्रथमत कष्ट से मिलता है, मिलने पर दुःख से उसका रक्षण करना पड़ता है और प्राप्त करने के बाद उसका नाश होना मृत्युसमान कष्टदायी होता है। इसलिये द्रव्य का चिन्तन ही नहीं करना चाहिये ॥ १७८ ॥

सा तृष्णा चेत् परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यञ्च शिरसि स्थितम् ॥ १७९ ॥

अ०—सा तृष्णा परित्यक्ता चेत् क दरिद्रः? क ईश्वर ?। तस्या प्रसरः दत्तश्चेत्, दास्यञ्च शिरसि स्थितम्। व्या०— सा=पूर्वोक्ता, तृष्णा=धनस्पृहा,(जनेन) परित्यक्ता=विलीनीकृता चेत्! (तदा तस्य जनस्य दृष्टयां) क' दरिद्रः=धनशून्य, कश्च ईश्वर'=धनी, तृष्णारहितस्य विरक्तस्य दारिद्र्यम् ऐश्वर्यञ्चेत्युभयमपि सममित्यर्थः। तस्या = धनतृष्णायाः प्रसर = अवसर, दत्त चेत्! (तदा अवश्य) दास्यं=दासत्वम्, शिरसि = मस्तके, स्थित भवति आरोहतीत्यर्थः।

भा०—यह तृष्णा अगर त्याग कर दी जाय तो (उस विरक्त पुरुष की दृष्टि में) कौन दरिद्र है ? और कौन धनी है ? (कोई नहीं है) और यदि तृष्णा को अवसर दिया गया तो अवश्य ही पुरुष के सिर पर दासत्व आरूढ़ हो जाता है ॥ १७९ ॥

अपरञ्च—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १८० ॥

अ०—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते यतः वाञ्छा निवर्तते स अर्थः अर्थतः एव प्राप्तः । व्या०—यद् यद् वस्तुप्रभृतिकम् वाञ्छेत्=अभिलषेत् तदनु तदुत्तर वाञ्छा=इच्छा तृष्णा, प्रवर्तते=अधिका भवति । यतःयस्मात् वस्तुनः वाञ्छा=प्राप्त्यभिलाषा, निवर्तते=निवृत्ता भवति सः अर्थः=वस्तु, अर्थतः वस्तुतः प्राप्त एव=लब्ध एवेति ।

भा०—जिस-जिस वस्तु की इच्छा करते हैं उससे इच्छा बढ़ती ही जाती है, जिस वस्तु से इच्छा निवृत्त हो जाती है वही वस्तु वास्तविक में मिली है ॥ १८० ॥

किं बहुना विश्रम्भालापैः ममैव सहात्र कालो नीयताम् ।

भा०—अब ज्यादा क्या कहना है ? विश्वासपूर्वक बातचीत करते हुए मेरे साथ यहीं जीवन व्यतीत करो ।

यतः—आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १८१ ॥

अ०—महात्मनां प्रणयाः आमरणान्ताः कोपाः तत्क्षणभङ्गुराः परित्यागाश्च निःसङ्गाः भवन्ति हि । व्या०—महात्मनाम्=उदारचरितानां जनानाम्, प्रणयाः=प्रेमाणः आमरणान्ताः=मरणान्ता इति आमरणम् आमरणं यावत् अन्तो येषाम्, मरणावधिका भवन्तीति । एवं कोपाः=क्रोधास्तु, तत्क्षणभङ्गुराः=तत्काले एव तत्क्षण तत्क्षणे भङ्गुराः क्षणभङ्गुराः क्षणे एव विनश्वरा भवन्तीति । एवं परित्यागाः=दानानि तु निःसङ्गाः=निर् नास्ति सङ्गः आसक्तिः येषु ते तथाविधाः भवन्तीति । हि=निश्चये ।

भा०—महापुरुषों का स्नेह आमरणान्त स्थिर होता है और क्षणभङ्गुर होता है, त्याग भी स्वार्थरहित होते हैं ॥ १८१ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा आश्रयणीयोऽसि ।

भा०—ऐसा मन्थर का वचन सुनकर लघुपतनक बोला—धन्य हो मन्थर ! तुम सब प्रकार से आश्रय करने योग्य हो ।

यतः—सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ १८२ ॥

अ०—सन्तः एव नित्यं सताम् आपदुद्धरणक्षमाः, पङ्कमग्नानां गजानां गजाः एव धुरन्धराः (भवन्ति)। व्या०—सन्तः=साधुजनाः एव, सतां=साधुजनानाम्, आपदुद्धरणक्षमाः=आपदां विपत्तीनाम् उद्धरणम् अपनयनं तस्मिन् क्षमाः समर्थाः (भवन्तीति)। तथा हि-पङ्कनिमग्नानाम्=पङ्के कर्दमे निमग्नाः, तेषां गजानां=हस्तिनाम्, (उद्धरणे=बहिः निष्कासने इति शेषः ।) गजाः=करिणः एव धुरन्धराः=धुरं भारं धरन्तीति धुरन्धराः, भवन्तीति ।

भा०—क्योंकि-सत्पुरुष ही सत्पुरुषों की आपत्तियों दूर करने में समर्थ होते हैं। जैसे कीचड़ में फँसे हुए हाथी को बाहर निकालने में हाथी ही समर्थ होते हैं ॥ १८२ ॥

अपरञ्च—श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाविभङ्गा विमुखाः प्रयान्ति ॥ १८३ ॥

अ०—भुवि यस्य (सकाशात्) अर्थिनो वा शरणागता वा आशाविभङ्गाः (सन्तः) विमुखाः न प्रयान्ति, स एकः मानवानां श्लाघ्यः, स उत्तमः सत्पुरुषः, स धन्यः। व्या०—भुवि=जगति, यस्य=ऐश्वर्यशालिनः जनस्य सकाशात्, अर्थिनः=याचकाः वा, शरणागताः वा=शरणम् आगताः गृहागता वा केऽपि जनाः, आशाविभङ्गाः=आशायाः प्राप्त्यभिलाषस्य विभङ्गो अफलता येषान्ते तथाविधाः सन्तः, विमुखाः=पराङ्मुखाः, न प्रयान्ति=न गच्छन्ति सः एकः=अद्वितीयः मानवानां=मनुष्याणां मध्ये, श्लाघ्यः=प्रशंसास्पदम्, स एव च उत्तमः=श्रेष्ठः सत्पुरुषः=सञ्चासौ पुरुषः । स एव च धन्यः सफलमनुजजन्मा भवतीति ।

भा०—जगत् में जिस ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ मनुष्य के याचक तथा शरणागत जन आशा-भङ्ग हो जाने से लौट नहीं जाते वही ऐश्वर्यशाली जन मनुष्यों में श्लाघनीय है, वही उत्तम सत्पुरुष है, और वही धन्य है ॥ १८३ ॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्तिस्म । अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृगः केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलितः । तत्पश्चादायान्तं भयहेतुं सम्भाव्य मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः, काकोऽपि उड्डीय वृक्षाग्रमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलम्बितः, पश्चात्-तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । मन्थरेणोक्तम्-भद्र मृग! कुशलं ते ? स्वेच्छया उदकाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथी-

क्रियताम्। चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः। ततश्च भवद्भिः सह मित्रत्वमिच्छामि भवन्तश्च अनुकम्पयन्तु मैत्र्येण।

व्या॰—एवं प्रकारेण, ते = हिरण्यकादयः, आहारविहारम् = आहारेण सहितो विहारः आहारविहारः स्वेच्छया आहारविहारस्तम् कुर्वाणाः = आचरन्तः सन्तः, सन्तुष्टाः = सन्तोषमितवन्तः सुखम् = आनन्दो यथा स्यात् तथा, निवसन्ति स्म। अथ = अनन्तरम् कदाचित् = कस्मिंश्चित्काले, केनापि = केनचिद्व्याधेन, त्रासितः = भयं नीतः, चित्राङ्गनामा मृगः = हरिणः तत्र = मन्थरादिवासे आगत्य मिलितः = सङ्गतः। तत्पश्चात् = तस्य मृगस्य पश्चात् पृष्ठोपरम् आयान्तम् आगच्छन्तम् भयहेतुम् भयस्य हेतुं कारणं व्याधरूपम् सम्भाव्य = विचार्य मन्थरः कच्छपः जलं प्रविष्टः। मूषिकश्च विवरं = बिलम् गतः = प्रविष्टः। काकोऽपि वायसोऽपि उड्डीय = उत्प्लुत्य वृक्षाग्रम् = वृक्षस्य अग्रं भागम् आरूढः। ततः = अनन्तरम् लघुपतनकेन काकेन, सुदूरम् = अतिदूरं निरूप्य = निरीक्ष्य कोऽपि कमपि इति भयहेतुः = भीतिकारणम्, न अवलोकितः—न अवलोकितः। पश्चात् लघुपतनकस्य वचनात् भयाभावसूचकवचनात् आगत्य पुनः सर्वे = कूर्मादयः, मिलित्वा = सङ्गम्य तत्रैव स्थाने उपविष्टाः = उपविविशुः। मन्थरेण कच्छपेन = उक्तम्—भद्र मृग! प्रिय दर्शनीय! कुशलं ते? भवान् कुशलमेवास्ति? स्वेच्छया = यथेच्छम् उदकाद्याहारः = उदकम् आदिर्यस्य सः उदकादिः उदकादिः आहारः = भक्ष्यादिद्रव्यम् अनुभूयताम् = भुज्यताम्। अत्र = मम गृहे, अवस्थानेन = निवासेन वनमिदं = एतद्वनम् सनाथीक्रियताम् = असनाथं नाथेन विहीनं सनाथं यथार्थं क्रियताम् इति सनाथीक्रियताम्। चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितः = लुब्धकेन व्याधेन त्रासितः भयं गमितः अहम्, भवताम् = कूर्मादिमूषिकाणां शरणमागतः। ततश्च तस्मात् भवद्भिः = युष्माभिः सह मित्रत्वम् = सख्यम् इच्छामि। भवन्तश्च = यूयं सर्वे मैत्र्येण = मैत्रीकरणेन अनुकम्पयन्तु = अनुगृह्णन्तु।

भा॰—इस प्रकार वे कूर्मादि सब इच्छानुकूल आहार विहार आदि करते हुए सन्तोष पूर्वक सुख से निवास करते थे। एक बार चित्राङ्गनामक मृग किसी व्याध से भयभीत किया हुआ वहाँ आया। उस मृग के पीछे आते हुए भय के हेतु को समझकर मन्थर जल में घुस गया, मूषिक बिल में घुस गया, काक उड़कर पेड़ पर बैठ गया। उसके बाद लघुपतनक काक ने दूर तक देखा लेकिन भय का हेतु कोई दिखाई नहीं पड़ा। उस काक के कहने से वे सब फिर से मिलकर बैठे। मन्थर ने कहा—भद्र मृग! तुम कुशल से हो? अपनी इच्छा के अनुसार जल-भोजनादि ग्रहण करो और यहाँ रहकर इस वन को सनाथ करो। चित्राङ्ग ने कहा—व्याध से भयभीत होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ और आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ। आप सब मित्रता स्वीकार कर अनुग्रह कीजिए।

यतः—लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि यस्त्यजेच्छरणागतम् ।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ १८४ ॥

अ०—यः लोभाद्वा अथ भयाद् वा अपि शरणागतं त्यजेत्, मनीषिणः तस्य ब्रह्महत्यासमं पापम् आहुः। व्या०—यः ऐश्वर्यशाली जनः, लोभाद्वा = द्रव्यादिप्रलोभनेन, अथवा भयाद् = महत्कृतभीतिहेतोर्वा, अपि, शरणागतम् = शरणम् आगतः तम्, स्वाश्रयविश्वस्तं जनम्, त्यजेत् = जह्यात्, तादृशजनरक्षणं न कुर्यादित्यर्थः। मनीषिणः = मनस्विनः बुद्धिमन्तः जनाः, तस्य = अरक्षकस्य जनस्य, ब्रह्महत्यासमं-ब्रह्मणः = ब्राह्मणस्य हत्या वधः हननं तेन समं, पापं = दुष्कृतं दुरितम्, आहुः = कथयन्ति।

भा०—जो पुरुष (समर्थ होने पर भी) लोभ से अथवा भय से शरणागत का रक्षण नहीं करता है विद्वान् लोगों ने उसको ब्रह्महत्या के समान पाप कहा है ॥ १८४ ॥

हिरण्यकोऽप्यवदत्—मित्रत्वं तावदस्माभिः सह, अयत्नेन निष्पन्नं भवतः।

भा०—हिरण्यक ने कहा—अनायास ही हमारे साथ तुम्हारी मित्रता हुई।

यतः—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।
रक्षकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १८५ ॥

अ०—औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतं व्यसनेभ्यश्च रक्षकम् (इति) चतुर्विधं मित्रं ज्ञेयम्। व्या०—औरसम् = उरसः जातं शरीरसम्बन्धादुत्पन्नम् अपत्यादिकम्, कृतसम्बन्धं=कृतः नूतनो विहितः सम्बन्धः विवाहादिरूपः आभाषणपूर्वकस्वरूपो वा येन तत् तादृशम्, तथा वंशक्रमागतं = वंशस्य कुलस्य यः क्रमः परम्परा, तेन सह आगतम्, व्यसनेभ्यश्च=आकस्मिकाऽऽपद्भ्यश्च, रक्षकं=रक्षणकारि, इत्येवं चतुर्विधं = चतुष्प्रकारं, मित्रं = सुहृद् ज्ञेयं = बोध्यमिति।

भा०—मित्र चार प्रकार के होते हैं—एक अपना पुत्र-प्रपौत्रादि, दूसरा विवाहादि सम्बन्ध वाले सम्बन्धी जन, तीसरा वंश-परम्पराओं से चले आते पड़ोसी आदि, चौथा आकस्मिक आपत्तियों से बचाने वाले, ये चार मित्र हैं ॥ १८५ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषेण स्थीयताम्। तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा कृतस्वेच्छाऽऽहारः पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरुच्छायायामुपविष्टः।

व्या०—तत्=तस्मात् मित्रत्वरूपहेतोः, स्वगृहनिर्विशेषेण=स्वस्य निजस्य यत् गृहात् निः नास्ति विशेषः भेदो यस्य सः तेन स्वगृहभेदभावशून्येनेत्यर्थः। भवता= त्वया, अत्र स्थीयतां=स्थितिः निवासः क्रियतामित्यर्थः। तत्=हिरण्यकस्य वचनम्,

श्रुत्वा मृगः=चित्राङ्गनामा हरिणः, सानन्दम्=आनन्दपूर्वकं भूत्वा कृतस्वेच्छाहारः=कृतः अनुष्ठितः स्वस्य इच्छया आहारः भोजनं येन सः, यथेच्छं भोजनं कृतवानित्यर्थः। पानीयं=जलम्, पीत्वा जलासन्नवटतरुच्छायायाम्=जलस्य आसन्ना समीपवर्तिनी या वटतरुः तस्य छायायाम् उपविष्टः=निषण्णः।

भा०—इसलिये अपना घर मानकर तुम यहाँ ही रहो। हिरण्यक के इस वचन को सुनकर वह मृग आनन्दित हुआ और यथेष्ट भोजन करके पानी पी के जल के समीपस्थ वटवृक्ष की छाया में बैठ गया।

अथ मन्थरो ब्रूते—सखे मृग! केन त्रासितोऽसि? अस्मिन्निर्जने वने कदाचित् किं व्याधाः सञ्चरन्ति? मृगेण उक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नृपतिः स च दिग्विजयव्यापारक्रमेण आगत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावेशितकटको वर्तते प्रातश्च तेनाऽत्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यम्' इति व्याधानां मुखात् किंवदन्ती श्रूयते तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथा कार्यं तथा आरभ्यताम्। तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'मित्र! जलाशयान्तरं गच्छामि। काकमृगावपि उक्तवन्तौ—'मित्र! एवमस्तु' हिरण्यको विहस्याऽब्रवीत्—पुनर्जलाशये प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्, स्थले गच्छतोऽस्य का विधा?

व्या०—मन्थरः=मन्थरनामा कूर्मः, ब्रूते=कथयति। सखे मृग! केन त्रासितः=भयं प्रापितः, असि=भवसि? अस्मिन्निर्जने=मनुष्यरहिते वने=अरण्ये व्याधाः=लुब्धकाः, कदाचित्=कस्मिन्नपि काले, सञ्चरन्ति परिभ्रमन्ति, किम्=प्रश्ने। मृगेण=चित्राङ्गेण उक्तम्—कलिङ्गविषये=कलिङ्ग इति नाम्ना प्रख्याते विषये देशे तस्मिन्, रुक्माङ्गदनामा नृपतिः=राजा, अस्ति=विद्यते स च राजा, दिग्विजयव्यापारक्रमेण=दिशां प्राच्यादीनां विजयस्य स्वायत्तीकरणस्य व्यापारः अनुष्ठानं तस्य क्रमः परम्परा तेन आगत्य=समेत्य चन्द्रभागानदीतीरे='चन्द्रभागा' नामनद्याः तीरे=तटप्रदेशे समावेशितकटकः=समावेशितः सन्निवेशितः कटकः शिबिरो येन सः तथाविधः सन् वर्तते। प्रातश्च=प्रातःकाले च तेन अत्र=अस्मिन् वने आगत्य समेत्य कर्पूरसरःसमीपे=कर्पूरसरसः समीपे निकटे, भवितव्यम् इति=इत्येवंरूपा व्याधानां=लुब्धकानां मुखात् किंवदन्ती=वार्ता श्रूयते=मया आकर्ण्यते। तदत्रापि प्रातः=आगामिनि प्रातःकाले अत्रापि एतस्मिन्स्थानेऽपि अवस्थानं=स्थितिः भयहेतुकम्=भयं हेतुर्यस्य तत् भयजनकमित्यर्थः। इत्यालोच्य यथा=

येन प्रकारेण, कार्यं = कर्तुं योग्य तथा आरभ्यतां = विधीयताम् , तच्छ्रुत्वा, कूर्मः= मन्थरः, सभय = भयभीतः सन् आह=मित्र हरिण ! जलाशयाऽन्तरम्=अन्य॰ जलाशय इति जलाशयाऽन्तरम् अपरं जलह्रद, गच्छामि = अपसरामि । ततः काकमृगौ अपि = काकश्च मृगश्च तौ अपि, उक्तवन्तौ = अभिहितवन्तौ मित्र ! कूर्म ! एव॰ मस्तु = यथा कथयसि तथाऽन्यत्र गमन कुरु, हिरण्यक = मूषिक', विमृश्य = दीर्घ विचार्य, अब्रवीत्-पुनः जलाशये = तडागे, प्राप्ते = अधिगते सति एव, मन्थरस्य= कूर्मस्य, कुशल = क्षेमम् , भविष्यति । स्थले = स्थलमार्गेण जलाशयान्तर गच्छत॰ अस्य = कूर्मस्य, का विधा ? = मध्ये का दशा भविष्यतीति ? । (अर्थात् स्थले कथ गन्तु पारयिष्यति)

भा०—मन्थर ने कहा--सखे मृग ! किससे भयभीत हुए हो ? क्या इस निर्जन वन में व्याध लोग आते हैं ? मृगने कहा--'कलिङ्गदेश में रुक्माङ्गदनाम का राजा है, वह दिग्विजय करता हुआ चन्द्रभागा नदी के किनारे पर शिबिर डालकर टिका है, प्रात काल इस वन में कर्पूरसरोवर के समीप में आवेगा' ऐसी व्याधों की किंवदन्ती सुनी है, इसलिये सुबह यहां पर भी रहना भयजनक है । सो आप विचार करके जैसा करना हो वैसा कीजिये । यह सुनकर कूर्म भयभीत होकर बोला—मित्र मृग ! मैं तो दूसरे जलाशय में जाता हूँ । काक और मृग दोनों ने कहा—'मित्र कूर्म ! जैसे हो करो ।' पर हिरण्यकने विचारपूर्वक कहा—'मन्थर जलाशय पहुँचने पर सुखी होगा । लेकिन पृथिवी पर जाते हुए इसका क्या हाल होगा ?

यतः—अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम् ॥ १८६ ॥

अ०—जलजन्तूनाम् अम्भांसि, दुर्गनिवासिनां दुर्गम् , श्वापदादीनां स्वभूमिः, राज्ञां सैन्य, च परं बल भवति । व्या०—जलजन्तूनाम् = जलस्य जन्तवः प्राणिन तेषाम्, जलचराणामित्यर्थः । अम्भांसि = जलानि, एव पर बल भवति । दुर्गनिवासिनां = दुर्गे कोट्टे कोट्टमध्ये निवसन्ति इति दुर्गनिवासिनस्तेषाम् , दुर्गं=कोट्ट एव परं बल भवति । श्वापदादीनां = शुन पदमिव पद येषान्ते श्वापदाः व्याघ्रादय ते आदिर्येषान्ते इति श्वापदादय व्याघ्रादयो वनवासिन मूषिकादयश्च बिलवासिन॰ स्तेषामित्यर्थ । स्वभूमिः=स्वेषां भूमिः निवासस्थलम्, तदेव परं बल भवति, राज्ञां = नृपाणां, सैन्य पर बल भवतीति ।

भा०—जलजन्तुओं का परम बल जल ही है, किला के निवासियों का बल किला ही होता है, हिंस्र प्राणियों का बल अपना निवास स्थान ही है, और राजाओं का बल सैन्य ही होता है ॥ १८६ ॥

तथाप्युपायश्चिन्त्यताम् । यतश्चोक्तम्—

फिर भी उपाय सोचना चाहिए। कहा भी है—

> उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
> शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ १८७ ॥

अ०—उपायेन हि यच्छक्यं तत् पराक्रमैः न शक्यम् शृगालेन पङ्कवर्त्मना गच्छता (सता) हस्ती हतः । व्या०—उपायेन = साम-दान-भेद-दण्ड-मायेन्द्रजालादिप्रयोगेण हि—निश्चये यत् = यत् कर्तुं शक्यं = कर्तुं योग्यं भवति तत् पराक्रमैः शौर्यादिकरणैरपि, न शक्यं = साधितुं कर्तुं योग्यं न भवतीति । तथा हि शृगालेन = केनचित् जम्बुकेन पङ्कवर्त्मना = पङ्कस्य कर्दमस्य वर्त्मना मार्गेण कर्दमप्रचुरमार्गमाश्रित्येत्यर्थः । गच्छता = व्रजता, (सता) महाबलोऽपि हस्ती = करी हतः = विनाशित इति ।

भा०—उपाय से जो साध्य होता है वह पराक्रम से नहीं होता । गीदड़ ने कीचड़ वाले मार्ग में चल कर हाथी को भी मारा था ॥ १८७ ॥

तद्यथा—

कथा ६

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म 'यद्ययं केनाऽप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकम् एतेन देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत्' । ततस्तन्मध्यादेकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु' । हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?' । सोऽवदत् 'जम्बुकोऽहं सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः यद्विना राज्ञा स्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः ।

व्या०—ब्रह्मारण्ये='ब्रह्म' नाम्नि वने कर्पूरतिलक इति नामधेयः ख्यातः, हस्ती= करी अस्ति=वर्तते । सर्वे शृगालाः=जम्बुकाः तमवलोक्य, चिन्तयन्ति स्म= मनसा कुर्वन्ति स्म—यदि अयं=हस्ती केनाऽपि उपायेन म्रियते=मरणं प्राप्नोति तदा अस्माकं=वनवासिनाम् एतेन हस्तिनः देहेन, मासचतुष्टयस्य= मासानां चतुष्टयं तस्य मासचतुष्टयपर्यन्तमित्यर्थः । स्वेच्छाभोजनम् स्वेच्छया भोजनम् अनुरूपं भोजनमिति स्वेच्छाभोजनम् भवेत्=स्यात् । ततः=इत्थं मन्त्रणाऽनन्तरम् तन्मध्यात् तेषां शृगालानां मध्यात् एकेन वृद्धशृगालेन= वृद्धश्चासौ शृगालश्चेन प्रतिज्ञा कृता, मया बुद्धिप्रभावात्=बुद्धेः प्रभावात् चातुर्य

तस्मात्, अस्य = हस्तिनः, मरणं = निधनम्, साधयितव्य = घटयितव्यम्, अनन्तरम् = प्रतिज्ञां कृतवेत्यर्थः। सः वञ्चक = धूर्तः वृद्धश्रृगाल, कर्पूरतिलकनाम्नः हस्तिन समीप=पुर प्रदेशं गत्वा, साष्टाङ्गपातम् = अष्टाङ्गैः करद्वयपादद्वयहृदयहस्तद्वयललाटात्मकैः सहितः भूमिस्पर्शपूर्वकः पातो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा, प्रणम्य = दण्डवन्नमस्कारं विधाय, उवाच—देव ! = स्वामिन् ! दृष्टिप्रसाद = दृष्ट्या अवलोकनेन, प्रसाद पवित्रं प्रसन्नतां वा, कुरु = विधेहि। हस्ती ब्रूते—कस्त्वम् = त्व जात्यादिना कुलपरिचयेन च क असि ? कुत ? = कस्मात् स्थानात् कस्माद्धेतोः समायातः आगतोऽसि ? । सः वृद्धश्रृगाल' अवदत्—जम्बुक = श्रृगाल., अस्मीति शेषः, अथ च सर्वैः = समस्तैः वनवासिभि'=वने वसन्ति इति वनवासिनः तै, पशुभिः = श्वापदै', मिलित्वा = सम्भूय, भवत्सकाश = भवतः सन्निधौ, प्रस्थापित = प्रेषित, अस्मीति शेषः। यद् यस्माद्धेतोः, राज्ञा विना = नृपतिमन्तरेण, अनृपतिना राज्येन स्थातु = व्यवस्थातु, न युक्तं भवतीति। तत् = तस्माद्धेतो, अत्र= एतस्मिन्, अटवीराज्ये = अटव्या वनस्थल्या राज्ये=राज्यसिंहासने, अभिषेक्तुम्= राजत्वेन स्वीकर्तुम्, सर्वस्वामिगुणोपेतः=सर्वे च ते स्वामिन. राज्ञः गुणाः शौर्यदयादयस्तैरुपेतः, अत एव भवान् = त्वमेव, निरूपित. = निर्धारितः।

भा०—'ब्रह्म' वन में 'कर्पूरतिलक' नाम का हाथी रहता था, उसको देखकर सब श्रृगालों ने विचार किया—'किसी उपाय से इस हाथी का मरण हो जाय तो इसके शरीर से अपने सबका चार मास पर्यन्त यथेष्ट भोजन चलेगा'। यह सुनकर उस श्रृगाल में से एक वृद्ध श्रृगाल ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं बुद्धि की चतुरता से इसकी हत्या करा दूँगा।' उसके बाद वह धूर्त वृद्ध श्रृगाल 'कर्पूरतिलक' हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोला—'देव! दृष्टिपात करने से मुझे अनुगृहीत करिए।' हस्तीने कहा—'तुम कौन हो और क्यों आये हो ?' श्रृगाल बोला-मैं जम्बुक हूँ, और सभी वनवासी पशुओं ने मिलकर आपके पास मुझे भेजा है, क्योंकि राजा बिना राज्य नहीं चल सकता है। इसलिये इस वनस्थली के राजसिंहासन पर अभिषेक करने योग्य सर्वराजगुणों से युक्त आप ही निर्धारित किये गये हैं।

यत'—कुलाचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ १८८ ॥

अ०—(य) कुलाचारजनाचारै अतिशुद्धः प्रतापवान्, धार्मिकः नीतिकुशल', (भवति) स भुवि स्वामी युज्यते। व्या०—य. = पुरुष, कुलाचारजनाचारै = कुलस्य आचाराः वंशागतरीतयः जनस्य आचारा लोकव्यवहारगतरीतय' तै. अतिशुद्ध =कलङ्करहित, प्रतापवान्=ऐश्वर्यशाली प्रभावशाली चेत्यर्थः। धार्मिक= धर्मनिष्ठः, नीतिकुशल = नीतिशास्त्रनिपुणश्च भवति। सः=तादृशः पुरुष', भुवि = जगत्याम्, स्वामी = राजा नरपति, युज्यते =(जनै) नियुज्यते।

भा०—कुलाचार है तथा लोकाचार है अभिज्ञ, सदाचारी, धार्मिक, नीतिकुशल भी हों वे ही पृथिवी में राजा के योग्य हैं ॥ १८८ ॥

अपरञ्च पश्य—

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।

राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ? ॥ १८९ ॥

अ०—प्रथमं राजानं विन्देत् ततः भार्याम्, ततः धनम्, अस्मिन् लोके राजनि असति भार्या कुतः ? धनं च कुतः ?। व्या०—प्रथमम् = आदौ राजानं = स्वरक्षितारं, विन्देत् = आश्रयेत् ततः भार्यां = पत्नीम् विन्देत् = गृह्णीयात् ततः धनम् विन्देत् = उपार्जयेत् अस्मिन् लोके = संसारे राजनि = नृपतौ असति = अविद्यमाने सतीत्यर्थः राजानुशासनमन्तरेणेति यावत् । भार्या = पत्नी कुतः = कुत्र रक्षिता स्यात्, धनं च कुतः ? कुत्रमपि कथं रक्षितं भवेत् ? सम्पत्तयः राजाधीना इति भावः ।

भा०—प्रथम राजा का आश्रय होना चाहिये, उसके बाद स्त्री का ग्रहण करना चाहिये और तब धन कमाना चाहिये । राज्य में राजा का अनुशासन यदि न हो तो स्त्री तथा द्रव्य सब शत्रुओं से सुरक्षित कैसे रह सकते हैं ? ॥ १८९ ॥

अन्यच्च—पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।

विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ १९० ॥

अ०—पृथिवीपतिः पर्जन्य इव भूतानाम् आधारः हि पर्जन्ये विकलेऽपि जीव्यते न तु भूपतौ । व्या०—पृथिवीपतिः = पृथिव्याः पतिः, राजा पर्जन्य इव = मेघ इव भूतानाम् = प्राणिनाम् आधारः = जीवन रक्षको वा भवतीति । हि = यतः, तत्र पर्जन्ये = मेघे विकलेऽपि कदाचित् अवर्षत्यपि लोकैः जीव्यते । तु = किन्तु, भूपतौ = राजनि विकले = विगते सति न जीव्यते ।

भा०—राजा मेघ की तरह प्राणिमात्र का आधार है क्योंकि मेघ के बिना कदाचित् जीवन सुरक्षित रह सकता है किन्तु राजा के बिना नहीं ॥ १९० ॥

किञ्च—नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-

ज्जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।

कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा

पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥ १९१ ॥

अ०—अस्मिन् परवशे जगति (लोके) प्रायशः दण्डयोगात् नियतविषयवर्ती (भवति) साधुवृत्तस्तु दुर्लभः (भवति) कुलनारी दण्डभीत्या कृशमपि विकलं वा व्याधितं वा अधनं वा पतिम् अभ्युपैति । व्या०—अस्मिन् = राजदेवमुखे, जगति = संसारे परवशे = अन्यस्मायत्ताधीने प्रायशः = बाहुल्येन दण्डयोगात् = दण्डभयात् लोकः अपापमार्गं व्रजति नियतविषयवर्ती = नियते नीतियुक्ते विषये व्यवहारे

वर्तते य स नियतविषयवर्ती, (जनसमुदाय इति शेषः) भवति । यतः लोके साधुवृत्तस्तु=साधुः समीचीनम् वृत्तम् आचरणं यस्य स एतादृशस्तु जनः, दुर्लभः= न लभ्यते । कुलनारी=सुकुलोत्पन्ना रूपगुणादिमती अपि नारी, दण्डभीत्या=राज शासनभयेन, कृश=निर्बलम् अपुष्टशरीरम्, विकल=केनचित् इन्द्रियेण शून्यं काणं वा बधिरं वा कुरूपं वेति, व्याधित=कफादिरोगग्रस्त वा, अधन=निर्धन वा, पतिम् अभ्युपैति=स्वभर्तारम् स्वीकुरुते ।

भा०—यह काम-लोभादि दोष के अधीन ससार प्रायश दण्ड के भय से ही अपने अपने पदार्थों में सतोष मान कर चलता है क्योंकि साधु आचरणवाले दुर्लभ होते हैं । कुलनारी भी दण्ड के भय से कृश, विकलाङ्ग, रोगी, निर्धन ऐसे पति की सेवा करती है ॥ १९१ ॥

तद् यथा लग्नवेला न चलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन। इत्युक्त्वा उत्थाय चलित । ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्ट· कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन् महापङ्के निमग्नः । हस्तिना उक्तम्—'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? महापङ्के पतितोऽहं म्रिये, परावृत्य पश्य ?' । शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वा उत्तिष्ठ, यस्मात् मद्विधस्य वचसि त्वया विश्वास· कृत तस्य फलमेतत् । तदनुभूयताम् अशरणं दुःखम् ।

व्या०—तत्=तस्मात्, यथा=यावत्, लग्नवेला=लग्नस्य राज्याभिषेकमुहूर्तस्य समय, न चलति=न अतिवर्तते, तथा=तेन प्रकारेण कृत्वा, सत्वरं=शीघ्रम्, आगम्यतां देवेन, इत्युक्त्वा, उत्थाय (वृद्धशृगाल) चलित=गन्तुं प्रवृत्त । तत राज्यलोभाऽऽकृष्ट=राज्यस्य लोभेन आकृष्ट आहृतबुद्धि असौ कर्पूरतिलकनामा हस्ती, शृगालदर्शितवर्त्मना=शृगालेन प्रदर्शितं यत् वर्त्म=कपटमार्गं तेन, धावन्= सवेग गच्छन् सन्, महापङ्के=गम्भीरकर्दमे, निमग्न=पतित । तत हस्तिना उक्तम्=सखे शृगाल ! अधुना=इदानीम्, किं विधेय=निष्कामनोपाय क अनुष्ठेय ? । परावृत्य पश्य=प्रत्यावृत्य अवलोकय, अहं महापङ्के पतित सन् म्रिये= मरणनिकटो भवामि । तत शृगालेन विहस्य उक्तम्—देव ! मम पुच्छस्य अग्रे बालधिप्रान्ते, हस्त=शुण्ड, दत्वा, उत्तिष्ठ=उत्थितो भव । यस्माद्धेतो, मद्विधस्य= मादृशस्य धूर्तस्य, वचसि=वाक्ये, त्वया विश्वास=विस्रम्भ कृत, तस्य=विश्वासस्य, एतत् पङ्कनिमग्नतारूपं=फलम्, अवगच्छ । तदेतत् अशरण=न विद्यते शरणम् उद्धारक कश्चिदपि यस्य, एतादृशम्, दुःखम्, अनुभूयताम्=भुज्यताम् ।

भा०—इसलिये जब तक मुहूर्त का समय न चला जाय आपको वहाँ पहुँचना चाहिये। ऐसा कहकर वह शृगाल उठकर चला और राज्य के लोभवाला 'कर्पूरतिलक' हाथी भी शृगाल के बताये हुए मार्ग से दौडते दौडते गहरे कीचड में फँस गया । हाथी ने कहा—

मित्र शृगाल! अब क्या करूँ, देखो मैं गहरे कीचड़ में फँसकर मरता हूँ। शृगाल ने हँस कर कहा—देव! मेरी पूँछ को सूँड़ से पकड़ कर निकल जाओ। मेरे जैसे धूर्त के वचन में आपने विश्वास किया उसका यह फल है अब अनिवार्य दुःख का भोग करो।

तथा चोक्तं—यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।

यदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि॥ १९२॥

व्या०—(अन्वयो यथाश्रुतः) यदा=यस्मिन् काले, असत्सङ्गरहितः=असतां दुर्जनानां सङ्गः प्रसङ्गः तेन रहितः शून्यः, भविष्यसि तदा भविष्यसि=जीवनं धारयिष्यसीत्यर्थः। यदा तु—असज्जनगोष्ठीषु=असज्जनानां धूर्तानां गोष्ठीषु=वार्तासु, पतिष्यसि=निवासं करिष्यसि तदा पतिष्यसि=महादुःखगर्ते पतिष्यसीति।

भा०—जब तक दुष्टों के संगसे बचते हो तब तक जीवन भोगता है बचता है जब दुष्ट के संग में पड़ जाते हो तब फिर पड़ जाते हो अर्थात् अधोगति होती है॥ १९२॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि 'उपायेन हि यच्छक्यम् (१८७) इत्यादि।

भा०—इसके बाद गहरे कीचड़ में फँसकर मरे हुए हाथी को गीदड़ों ने खा डाला। इसीसे मैं कहता हूँ कि—'उपाय से जो काम है' इत्यादि।

ततस्तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव मन्थरस्तज्जलाशयमुत्सृज्य प्रचलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमानास्तमनुजग्मुः। ततः स्थले गच्छन् केनापि व्याधेन वने पर्यटता स मन्थरः प्राप्तः, स च तं गृहीत्वा उत्थाप्य धनुषि बद्ध्वा 'धन्योऽस्मि' इत्यभिधाय भ्रमणक्लेशात् क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं प्रयातः। अथ ते मृगवायसमूषिकाः परं विषादमुपगताः तमनुगच्छन्ति स्म। ततो हिरण्यको विलपति—

व्या०—ततः=तदनन्तरम् तद्धितवचनम्=तस्य हिरण्यकस्य हितं हितकरं वचनम्, अवधीर्य=अवज्ञाय महता भयेन विमुग्धः=मोहग्रस्त इव मन्थरः=कूर्मः, तज्जलाशयमुत्सृज्य=तज्जलाशयं त्यक्त्वा, प्रचलितः। ते हिरण्यकादयः अपि अनिष्टं=अनिष्टमपि आशङ्कमानाः=शङ्कमानाः, स्नेहात्=मित्रप्रेम्णा, तं=कूर्मम् अनुजग्मुः। ततः स्थले=पृथिव्याम्, गच्छन् सन् स मन्थरः=कूर्मः, केनापि वने पर्यटता व्याधेन प्राप्तः स च व्याधः तं=मन्थरं गृहीत्वा=उत्थाप्य धनुषि=धनुष्कोट्यां बद्ध्वा, 'धन्योऽस्मि सौभाग्योऽस्मि' इति अभिधाय=कथयित्वा भ्रमणक्लेशात्=भ्रमणजन्य परिश्रमात् क्षुत्पिपासाऽऽकुलः=क्षुधा पिपासा च क्षुत्पिपासे ताभ्याम् आकुल—

व्याप्त सन्, स्वगृहाभिमुख=स्वस्य निजस्य यद् गृहं निवासपुर, तस्य अभिमुखं, प्रयात =प्रस्थित.। अथ=अनन्तरम्, मृगवायसमूषिकाः, परम्=अत्यन्त, विषाद=शोकम्, उपगताः (सन्त), त=कूर्महर्तारं व्याधम्, अनुगच्छन्ति स्म=अनुजग्मु। ततः हिरण्यक मूषिकराजः, विलपति=विलाप साऽऽक्रन्दन-विलपन करोति—

भा०—हिरण्यक के हितकारी वचन को न मानकर बड़े भय से मुग्ध होकर मन्थर उस जलाशय को छोड़कर चल दिया, तब हिरण्यक, काक तथा मृग भी 'कूर्म अवश्य दुखी होगा' ऐसा समझकर स्नेह के वश में होकर पीछे २ चले। अनन्तर पृथिवी में चलते हुए मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखकर पकड़ लिया और धनुष में बाँध कर 'वाह खूब अच्छा हुआ' ऐसा बोलकर भ्रमण करने से क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होने के कारण जल्दी से घर को चल दिया। यह देखकर मृग, काक, मूषिक तीनों बड़े शोकातुर होकर व्याध के पीछे २ जाने लगे और हिरण्यक विलाप करने लगा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१९३॥

अ०—अहम् अर्णवस्य पारमिव यावत् एकस्य दुःखस्य अन्तं न गच्छामि, तावत् द्वितीय समुपस्थितम्। छिद्रेषु अनर्था बहुलीभवन्ति। व्या०—अहम् अर्णवस्य=समुद्रस्य, पारम्=अपरतीरम् इव=यथा, न गम्यते, तद्वत् एकस्य दुःखस्य=कूर्ममित्रवियोगस्य वा स्वधननाशात्मकस्य वा चित्रग्रीवबन्धनजनितस्य कष्टस्य वा अन्तम्=अवसान विस्मरणमिति यावत्। न गच्छामि=न प्राप्तोऽस्मि, तावत्=तन्मध्ये एव, द्वितीय=कूर्मबन्धनात्मक दुःखम्, उपस्थितम्। यत छिद्रेषु=रन्ध्रेषु सत्सु, अनर्था =आपत्तय, बहुलीभवन्ति=बहुप्रकारका भवन्ति इति।

भा०—समुद्र के अन्त के समान एक दुःख (धननाश अथवा चित्रग्रीव का बन्धन अथवा कूर्म का वियोग) का अन्त नहीं हुआ उतने में मुझे दूसरा दुःख (कूर्म-बन्धन) भी उपस्थित हुआ क्योंकि छिद्र, अवसर वा मौका मिलने पर बहुत से अनर्थ (दुःख) होते हैं ॥ १९३ ॥

स्वभावजं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायत।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ १९४ ॥

अ०—यत्, स्वभावज मित्र भाग्येनैव अभिजायते, तत् तु अकृत्रिमसौहार्दम् (मित्रम्) आपत्सु अपि न मुञ्चति। व्या०—यत् स्वभावज=स्वभावेन निसर्गेण, एव निष्पन्न, मित्र=सुहृत्, भाग्येन=प्राक्तनसञ्चितपुण्येन एव, अभिजायते=संयोग गत भवति। तत् तु=तादृशस्वाभाविकमित्रन्तु, अकृत्रिमसौहार्दं=न कृत्रिमम् अकृत्रिम तादृशं यत् सौहार्दं प्रेमभाव तत्, (कूर्म) आपत्सु अपि=महतीषु

आपत्सु महत्सु अपि न मुञ्चति = न परित्यजति ।

भा०—जो स्वाभाविक मित्र है वह भाग्य से मिलता है । वह मित्र अकृत्रिम (स्वाभाविक) मित्रता को बड़ी आपत्तियों में भी नहीं छोड़ता है ॥ १९४ ॥

अपि च—न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चाऽऽत्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥ १९५ ॥

अ०—पुंसां स्वभावजे मित्रे यादृक् विश्वासः (भवति) तादृक् न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न च आत्मजे (भवति) । व्या०—पुंसां = पुरुषाणाम् स्वभावजे स्वभावेन जायते इति स्वभावजः = अकृत्रिमम् तस्मिन्, मित्रे = सुहृदि, यादृक् = यादृशः, विश्वासः भवति तादृक् = तादृक् विश्वासः, न मातरि विशेषेण मान्यते या सा माता तस्यां जनन्याम् न भवति । न दारेषु = पत्न्यामपि न भवति । न सोदर्ये = समाने एकस्मिन् उदरे शयितः, सोदर्यः भ्राता तस्मिन् न भवति । न आत्मजे = आत्मनः स्वस्मात् जायते स आत्मजः = स्वतनयः तस्मिन्नपि न भवति ।

भा०—पुरुषों का स्वाभाविक मित्र में जैसा विश्वास होता है वैसा न माता में न स्त्री में न भाई में और न तो पुत्र में ही होता है ॥ १९५ ॥

इति मुहुः विचिन्त्य आह—'अहो मे दुर्दैवम् ।

भा०—इस प्रकार बारंबार विचार करके हिरण्यक बोला अरे ! मेरा दुर्भाग्य है' ।

यतः—स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥१९६॥

अ०—जन्मान्तराणि दशान्तराणि इव यानि स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि तानि मया इहैव दृष्टानि । व्या०—जन्मान्तराणि=अन्यत् जन्म एव अन्तरं व्यवधानं मध्ये येषां तानि इति जन्मान्तराणि=भावाभावाद्वीनि जन्मानि भाग्यानि इत्यर्थः । तादृशानि यानि दशान्तराणि=अन्याः परस्परं विभिन्नाः दशाः अवस्थाः इति दशान्तराणि बाल्ययौवनवार्धक्यादिरूपावस्थाभेदाः इत्यर्थः । तानि इव=जन्मान्तरोपात्ते शरीरे एव तदीयवाल्याद्यवस्थाभेदाः यथा भोग्याः भवन्ति तथा जन्मान्तरे एव भोक्तुं योग्यानि यानीति प्रसृतिस्वारस्यार्थः । स्वकर्मसन्तान विचेष्टितानि=स्वस्य कर्माणि शुभाशुभाचरणानि तेषां सन्तानाः परम्पराः, तेषां विचेष्टितानि=विलसितानि स्वकृतकर्मणां क्रमेण क्रमशः आगमनप्राप्तानीत्यर्थः । कालान्तराऽऽवर्तिशुभाशुभानि = अन्यः कालः कालान्तरं जन्मान्तरम् तस्मिन् आवर्तीनि भावीनि शुभानि अशुभानि च फलानि । तानि सर्वाणि मयैव इहैव अस्मिन्नेव जन्मनि दृष्टानि अनुभूतानि इति ।

भा०—जैसे जन्मान्तरीय शरीर की बाल्य-यौवनादि अवस्थायें जन्मान्तरीय शरीरमें ही

भोग्य होती हैं, वैसे ही अपने किये हुये कर्म समूहों से उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ फल भी दूसरे जन्ममें भोग्य होते हैं। लेकिन मुझे तो दुर्भाग्यसे इस जन्ममें ही भोग करना पड़ा॥

अथवा इत्थमेवैतत्। (अथवा यह सब ऐसे ही होते हैं)—

कायः सन्निहिताऽपायः सम्पदः पदमापदाम्।
समागमाः साऽपगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्॥ १९७॥

अ०—कायः सन्निहिताऽपायः, सम्पदः आपदां पदम्, समागमाः साऽपगमाः, उत्पादि सर्वं भङ्गुरम्। व्या०—कायः =पाञ्चभौतिको देहः, सन्निहिताऽपायः=सन्निहितः समीपवर्ती अपायः नाशः मरणं यस्य सः विनश्वरो भवतीत्यर्थः। सम्पदः= सम्पत्तयः आपदाम्=नृपति-चौराद्युपद्रवाणाम्, पदं=स्थानं भवन्ति। समागमाः= इष्टजनसंयोगाः साऽपगमाः =अपगमेन वियोगेन नाशेन सहिताः सन्तः भवन्तीत्यर्थः। उत्पादि=उत्पत्तिशीलम्, सर्वं=यावद्वस्तुजातम्, भङ्गुरं=ध्वंसस्वभावमिति भवति।

भा०—शरीर विनाशस्वभाववाला है। सम्पत्ति सब दुःख का स्थान रूप है। मित्रादिसमागम सब वियोगान्त होते हैं, और उत्पत्तिशील सब नष्ट होते हैं। (इसलिये शोक क्यों करना)॥ १९७॥

पुनर्विमृश्याऽऽह—(फिर से विचार कर बोला)—

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्॥ १९८॥

अ०—शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनं मित्रम् इति इदम् अक्षरद्वयं रत्नं केन सृष्टम्? व्या०—शोकारातिभयत्राणम्=शोकः विषाद एव अरातिः शत्रुः तस्मात् यत् भयं तस्मात् त्राणं यस्मात् तत्, अथवा शोकश्च अरातिश्च भयं चेति तेभ्यः त्राणं यस्मात् तत् तादृशम्, प्रीतिविश्रम्भभाजनम्=प्रीतिश्च विश्रम्भश्च तयोः भाजनम्, स्नेहविश्वासयोः पात्रमित्यर्थः। 'मित्रम्' इति इदम् अक्षरद्वयम्=अक्षरयोः द्वयं यस्मिन् तत्, द्व्यक्षरद्वयम् रत्नम्=अमूल्यं ललामं केन=विधात्रा, सृष्टम्=उत्पादितम्।

भा०—शोक से, शत्रु से और भय से रक्षण करनेवाला, स्नेह तथा विश्वास का स्थानरूप 'मित्र' ये दो अक्षर का नामवाला रत्न किस महापुरुषने उत्पन्न किया है? ॥ १९८॥

किञ्च—मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः

पात्रं यत् सुखदुःखयोः सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्॥१९९॥

अ०—यत् मित्रं नयनयोः प्रीतिरसायनं चेतसः आनन्दनं सुखदुःखयोः समं पात्रम्, इदं पुण्यात्मना लभ्यते। ये च समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलाः अन्ये सुहृदः, ते सर्वत्र मिलन्ति तेषान्तु विपत् तत्त्वनिकषग्रावा (भवति)। व्या०—यत् मित्रं = सुहृत् नयनयोः = नेत्रयोः, प्रीतिरसायनम् = प्रीत्यात्मकस्य रसस्य अयनं स्थानम् स्नेहात्मकरसस्योत्पत्तिस्थानं, भवतीति शेषः। चेतसः = अन्तःकरणस्य, आनन्दनम् = आनन्दयतीति आनन्दनम् आह्लादकं भवति। सुखदुःखयोः = सुखे च दुःखे च तयोः, समं पात्रम् सुखे सति समसुखभाजनम् दुःखे सति च समदुःखभाजनं भवतीत्यर्थः। इदम् = एतादृशं मित्रं पुण्यात्मना = पुण्यवता लभ्यते = प्राप्यते। ये च, समृद्धिसमये = सम्पत्समये द्रव्याभिलाषाकुलाः = धनस्य अभिलाषेण आकुलाः व्याकुलाः, अन्ये = स्वार्थपरायणाः, सुहृदः = मित्राणि भवन्ति, ते तु = स्वार्थपरायणास्तादृशाः सुहृदस्तु। सर्वत्र = स्थाने स्थाने मिलन्ति। तेषान्तु स्वार्थपरायणमित्राणान्तु, विपत् = आपत्तिः, तत्त्वनिकषग्रावा = तत्त्वस्य मित्रभावस्य निकषः परीक्षकः ग्रावा प्रस्तरः भवतीति।

भा०—जो मित्र नेत्रों को प्रीतिरूप औषधिरूप है तथा चित्तको आनन्ददायक है एवं सुख दुःख में समानभागी है ऐसे मित्र किसी पुण्यात्मा को मिलते हैं और जो सम्पत्ति के समय में धन की आशा रखनेवाले हों ऐसे मित्र तो सब जगह सुलभ हैं ऐसे स्वार्थी मित्रों की विपत्ति समय में परीक्षा हो जाती है ॥ १९९

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तावूचतुः— सत्वरं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवाऽऽत्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु, काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु, नूनमनेन लुब्धकेन मृगमांसार्थिना तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'।

व्या०—इति = इत्थं प्रकारेण बहु विलप्य = अतिविलापं कृत्वा हिरण्यकः मूषिकराजः चित्राङ्गलघुपतनकौ = मृगकाकौ आह—अयं व्याधः लुब्धकः वनात् अरण्यात् यावत् = यावता समयेन न निःसरति = बहिर्निर्गच्छति तावत् = तावता कालेन मन्थरं मोचयितुं = व्याधबन्धनात् मुक्तं कर्तुं (कुर्मामिः) यत्नः = चेष्टा क्रियतां = विधीयताम्। तौ = काकहरिणौ ऊचतुः यथा = येन प्रकारेण कार्यम् योग्यं भवति तत् सत्वरं = शीघ्रम् उपदिश = त्वमेव कथय। हिरण्यको मूषिको ब्रूते चित्राङ्गः = अयं हरिणः, जलसमीपं = जलस्य समीपं गत्वा आत्मानं = स्वं मृतमिव निश्चेष्टं = न विद्यते चेष्टा यस्य तत् तथाविधं दर्शयतु। काकश्च, तस्य

मृगस्य उपरि, स्थित्वा = अवस्थाय, किमपि = कीटादिमिषाऽऽमासम् चञ्च्वा विलि-खतु = चञ्चुपुटेन विकर्षतु, (तदवलोक्य) मृगमांसार्थिना = मृगस्य मांसम् अर्थयते इति मृगमांसार्थी तेन, तथाविधेन, अनेन = लुब्धकेन, नूनम् = अवश्यम्, तत्र = तस्मिन्नेव स्थले, कच्छप = मन्थर, परित्यज्य, सत्वर = शीघ्रं, (मृगं प्रति) गन्तव्य ततः = पश्चात्, अहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। लुब्धके च (युवयो) सन्निहिते= समीपे आगते सति, भवद्भ्यां = युवाभ्यामपि, शीघ्र पलायितव्यम्।

भा०—इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने हरिण तथा काक से कहा कि-'जब तक यह व्याध वन से बाहर न जाय तब तक ही मन्थर को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये'। मृग और काक बोले—'जैसा करना उचित हो वह जल्दी कहो'। हिरण्यक ने कहा—'चित्राङ्ग जल के समीप जाकर अपने को मृतवत् निश्चेष्ट बनावे और काक उसके ऊपर बैठकर चञ्चु से नोचे। यह देखकर मृगमांस का लोभी वह लुब्धक जरूर मन्थर को वहाँ ही छोड़कर हरिण के पास जायगा और पीछे से मैं मन्थर के बन्धन को काट डालूँगा, जब तुम लोगों के समीप में व्याध आ जाय तब तुम दोनों भाग जाना।

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथाऽनुष्ठिते सति स व्याधः परिश्रान्त. पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टः सन् तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्ट-मना मृगान्तिकं चलित.। अत्राऽन्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। छिन्नबन्धन· कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः, स च मृगः आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः, प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत् तरुतलमायाति तावत् कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतत् ममाऽसमीक्ष्यकारिण.'।

व्या०—तत = तादृश विचार्य, चित्राङ्गलघुपतनकाभ्याम्, शीघ्र, व्याधस्य पुरः= जलाशयसमीपे गत्वा, तथा अनुष्ठिते सति = मृतवदाचरिते सति, परिश्रान्त. स व्याधः, पानीय = जल, पीत्वा, तरोः = वृक्षस्य, अधस्तात् = छायायाम्, उपविष्टः सन्, तथाविध = मृतमिव मृगम्, अपश्यत्। तत कच्छपं = मन्थरम्, जलसमीपे= जलस्य समीपे, निधाय = स्थापयित्वा, कर्तरिकां = छुरिकाम्, आदाय = गृहीत्वा, प्रहृष्ट प्रसन्नं मनो यस्य तथाविध सन्, मृगान्तिक = मृगस्य अन्तिकम्, चलितः= प्रस्थित। अत्रान्तरे = एतस्मिन् अवसरे, हिरण्यकेन, आगत्य, मन्थरस्य बन्धन छिन्न = कर्तितम्। सः कूर्मः छिन्नबन्धन· = मुक्तबन्धन· सन्, सत्वर = त्वरया, जलाशय = ह्रद प्रविष्ट। स च मृगः= चित्राङ्ग तं=व्याधम्, आसन्न = निकटवर्तिनम्, विलोक्य = दृष्ट्वा, उत्थाय = उत्प्लुत्य, द्रुत = सत्वरम्, पलायित· = धावित,

लुब्धका मत्वागत्य = प्रत्यागत्य यावत् तरुतलम् = तरोः तलम्, आयाति = आग-च्छति तावत् कूर्मः = कच्छपम्, अपरवत् = अविवेकवत् सन् अचिन्तयत्, अस्मी-त्यकारिका = सम्यग् ईक्षित्वा करोतीति समीक्ष्यकारी तथाविधो न भवतीति अस-मीक्ष्य कारी अविमृश्यकार्यकारीत्यर्थः । तस्य = व्याधस्य श्रम = सम्भूते तृतस्कूर्मे-ष्ठानिर्मुक्तात्प्राप्तमिति पतितमेवान्योऽप्यमेव मतमिति ।

भा०—ऐसा विचार करने के बाद मृग और काक दोनों ने आकर उसका उपाय आचरण किया। तब हुआ व्याध भी पानी पीकर वृक्ष के नीचे बैठने हो कछुए मृग को देखकर कच्छप को वन के समीप रखकर छुरी लेकर प्रसन्नता पूर्वक मृग की ओर चला। इसी अवसर में हिरण्यक ने आकर कच्छप का बन्धन काट डाला, वह कच्छप भी जल्दी से पानी में चला गया और उधर वह मृग भी व्याध को समीप में आता देखकर उछलकर भाग गया। व्याध लौटकर जब वृक्ष के नीचे आता ही वहाँ कच्छप को भी न देखकर चिन्ता करने लगा कि—अविचार्य कार्य करने वाले मेरे लिये यह ठीक ही हुआ।

यतः—यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥ २०० ॥

अ०—यः ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते तस्य ध्रुवाणि नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि । व्या०—यः जनः, ध्रुवाणि = निश्चितानि स्थिराणि वा, परित्यज्य = विहाय अध्रुवाणि = अनिश्चितानि अस्थिराणि वा निषेवते = अवलम्बते । तस्य जनस्य ध्रुवाणि = स्थिराणि स्वेनैव परित्यक्तत्वात् नश्यन्तीति अध्रुवम् = अनि-श्चितन्तु प्रथममेव स्वायत्तं न भवति अतस्तन्नष्टमेव वर्तते इति ।

भा०—जो मनुष्य ध्रुव (स्थिर) वस्तु को त्याग कर अध्रुव वस्तु का अवलम्बन करता है उसकी ध्रुव वस्तु त्याग से नष्ट हो चुकी और अध्रुव तो नष्ट ही है। (इसलिये दोनों प्रकार से हानि होती है) ॥ २ ।

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयश्च सर्वे मुक्तापदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः ।

अ०—ततः = तदनन्तरम् असौ = व्याधः स्वकर्मवशात् = स्वभाग्यवशात् अविमृश्य-कारित्वरूपं कर्म तस्य वशात् निराशः = निवृत्ता आशा यस्य सः तथाविधः सन् कटकम् = शिबिरं स्वस्थानम्, प्रविष्टः = गतः । मन्थरादयश्च सर्वे = मन्थरकच्छप-प्रभृतयः मुक्तापदः = मुक्ता—नष्टा आपत् येषान्ते आपद्विरहिताः सन्तः स्वस्थानं = स्वीयं स्थानम् गत्वा यथासुखम् = सुखम् अनतिक्रम्य वर्तन्ते इति यथासुखं शान्ति-पूर्वकम् आस्थिताः = स्थिताः ।

भा०—इसके बाद वह व्याध अपने कर्मवश से निराश होकर अपने स्थान को चला गया

और मन्थर चित्राङ्ग-लघुपतनक तथा हिरण्यक ये सब आपत्ति से मुक्त होकर अपने स्थान में जाकर आरामपूर्वक रहने लग गये।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वं श्रुतवन्तः। सुखिनो वयम्, सिद्धं नः समीहितम्'। विष्णुशर्मोवाच—'एतद्भवतामभिलषितमपि सम्पन्नम्, अपरमपि इदमस्तु—

व्या०—अथ=काकादिकथासमाप्त्यनन्तरम्, राजपुत्रैः=राज्ञः पुत्रा तनया तैः सानन्दम्=आनन्देन सहितं यथा स्यात् तथा, उक्तम्=अभिहितम्=सर्वे वय=वय सर्वे राजपुत्राः (भवदुक्तं मित्रलाभाख्य प्रबन्धम्) श्रुतवन्त=आकर्णितवन्त, अथ च सुखिन=अतिहृष्टा भवाम, किञ्च न=अस्माकम्, समीहितम्=अभिलषितम्, यदासीत्, तत् सिद्ध=सम्पन्नमिति। तदा विष्णुशर्मोवाच—एतावत्=मित्रलाभाख्यनिबन्धमात्रम्, भवतां=राजपुत्राणाम्, अभिलषित सम्पन्नम्, अपि च, अपरमपि=मित्रलाभकथाऽतिरिक्तम्, इदम्=वक्ष्यमाणमपि, अस्तु=भवतु—

भा०—कौवे आदि की कथा समाप्त होने पर राजपुत्रों ने आनन्द के साथ कहा—'हम सब मित्रलाभाख्य नीति को श्रवण करके खूब सुखी हुए हैं, हमारी इच्छा पूर्ण हुई। तब विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—यह मित्रलाभ रूप नीतिविचार आपकी अभिलाषानुसार सुसम्पन्न हुआ और यह भी हो—

मित्रं यान्तु च सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्भ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः॥ २०१॥

अ०—सज्जनाः मित्रं यान्तु, जनपदैः लक्ष्मी समालम्भ्यताम्, भूपाला शश्वत् स्वधर्मे स्थिता वसुधां परिपालयन्तु, व नीतिः नवोढा इव सुकृतिनां मानसतुष्टये आस्ताम्, भगवान् चन्द्रार्धचूडामणिः जनस्य कल्याण कुरुताम्। व्या०—सज्जनाः=सन्तश्च ते जनाः साधव, मित्रं=सुहृदम्। यान्तु=लभन्ताम्, जनपदैः=जनपदवासिजनैरित्यर्थः। लक्ष्मीः=विविधा सम्पद्, समालम्भ्यतां=समासाद्यताम्। भूपाला=भुव पृथ्वीं पालयन्ति इति भूपाला, शश्वत्=सर्वदा, स्वधर्मे=स्वेषां राज्ञां धर्मे प्रजारञ्जनादिरूपो धर्मस्तस्मिन्, स्थिता=वर्तमानाः सन्तः, वसुधां=वसुन्धरां पृथ्वीम्, परिपालयन्तु=संरक्षन्तु, सम्यग् अवन्तु इति। वः युष्माक (राजपुत्राणाम्) नीतिः=नीतिशास्त्रविज्ञानम्, नवोढा इव नवविवाहिता तरुणीव, सुकृतिनां=पण्डितानाम् मानसतुष्टये=मानसस्य अन्तःकरणस्य तुष्टिः सन्तोषः तस्यै

भवत्वम् = भूयात्। नयवान् = नयपथवाक्यपरैर्मन्त्रिभिः कल्याणैर्युक्तमभि- मन्त्रस्य वर्धम् इति कल्याणैर्वा, कल्याणैर्य एव युक्तमभिवर्धस्व सा वर्धन्त- नीतिः चतुरा अवत्त = लोकमानवस्य कल्याणम् = अनुपानामर्थं विशेषणार्थं वेणुपर्वणि श्रेयः, कुशलम् = सम्पादयतु आविर्भावयत्विति। (अत्र श्लोके नीतिर्वारविलासिनीव' इत्यस्य स्थाने 'नीतिः प्रथीता मया' इति पाठान्तरम्।) वाम्र्य विशीर्ण इत्यम्।

भा०—सज्जन पुरुषों का विपत्तियों से बचाव हो देश तथा देशवासी लोग सम्पत्तियों से परिपूर्ण हों, राजा लोग निरन्तर लक्ष्मी में रहते हुए पृथिवी का शासन करें। आपका नीति निवास सुखद निवासित सम्पत्ती के समान पुण्यशाली पवित्रजनों के अन्तः- करण की शुद्धि के लिए हो, (भगवान्) कल्याण को जगत में धारण करने वाले चहुंओर लोग (प्राणिमात्र) का कल्याण करें ॥ १ १ ॥

॥ इति शम् ॥

स्वामिनारायणे यत्र यत्र महर्षयो ययाः। तत्र श्रीविष्णुशर्मेण कृता नीतिर्निर्मिता ॥ १ ॥
भारते पश्चिमे भागे पुण्ये सागरतटे। देवप्रतिमामारे चतुर्थीसमुपेते ॥ २ ॥
नीतिविज्ञानस्मृते 'नीतेर्धुर्' विनायतिनि। श्रीकृष्णवल्लभाचार्यैः स्वामिनारायणस्वरूपैः ॥ ३ ॥
विक्रमार्कसंवत्सरे पूर्णचन्द्रस्य (१९९२) मिते। वैशाखे शुक्लपक्षे प्रत्यासारदशम्याम् ॥
हितोपदेशग्रन्थस्य विज्ञानधाम्नो नयः। विशेषतोऽस्य पत्रस्याभावात्संशोधितुमिष्टा ॥
कृत्वा मयाऽपि देवे सविनयानन्दिमे। स्वामिनारायणे समर्पयन्नहं च प्रसीदतु ॥

इति श्रीमद्गुर्जरविश्वनारायण–षड्दर्शनाचार्य–साङ्ख्ययोगतीर्थ–वेदान्ताचा- र्यार्य–पण्डित–'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य'–स्वामिनारायणविर- चिता हितोपदेशीय–विज्ञानव्याख्या समाप्ता।

श्लोकानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

****

श्रीनारायणपण्डितसंगृहीतः

हितोपदेश-सुहृद्भेदः

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकार

पण्डित हरगोविन्द शास्त्री

हिन्दीव्याख्याकार

पण्डित प्रद्युम्नपाण्डेयः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

१० / २

प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
मुद्रक चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण पञ्चम वि० सं० २ ४
मूल्य रु० १ –

K. 37/99 Gopal Mandir Lane
Post Box 8 Varanasi–221001 (India)
Phone 63145

प्रधान वितरक
कृष्णदास अकादमी
पो० बा० ११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी–२२१००१
(भारत)

संपादकीय

हितोपदेश व्यावहारिक, लौकिक, नैतिक, सामान्य नैतिक एव राजनीतिक ज्ञान से पूर्ण छोटी-छोटी कथाओ का एक अत्यन्त हृदयग्राही सग्रह है, जो सुकुमार बुद्धिवाले वालको मे उक्त मस्कारो का बीजारोपण करने मे अत्यन्त ही सशक्त एव समर्थ है। इसका रचनाकाल १४ वी शताब्दी है। इसके सग्रहकर्ता नारायण पडित हैं जिनके आश्रयदाता बगाल के राजा धवलचद्र थे। कुछ लोग इसे विष्णुशर्मा प्रणीत मानते है, किन्तु यह भ्रम उन्हे इसलिए हुआ है कि इसमे भी पञ्चतत्र के समान कथा-वाचक विष्णुशर्मा ही है।

इसके रचयिता ने इसे 'सस्कृतोक्तिपु पाटवम्' (सस्कृत बोलने मे पटुता) 'सवत्र वाचाम् वैचित्र्यम्' (वाणी मे विचित्रता) तथा 'नीतिविद्या' देने वाला वताया है और है भी यह पूर्णरूपेण अनुभूत सत्य। सस्कृत भाषा के परिज्ञान का सचमुच इतना सुलभ एव सरल साधन कोई नही है। गहन से गहन विपयो की इतनी सरल तथा आकपक व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इन्ही विशेपताओ के कारण यह ग्रन्थ संस्कृत पाठय-क्रमो मे प्रारम्भिक कक्षाओ के लिए प्राय सर्वत्र स्वीकृत है।

'सुहृद्भेद' इसी हितोपदेश का एक अश है, जिसमे राजकर्मचारियो के कर्तव्यो, राजाओ की नीतिरीतियो, प्रजा, कर्मचारियो एव राजा के बीच के सम्बन्धो आदि प्रासगिक व्यवहारो की मीमासा के साथ ही स्थान-स्थान पर सामान्य जीवनविधियो का निरूपण करते हुए 'मित्रों मे फूट पैदा करके अपने कार्य की सिद्धि' के उपाय वताये गये हैं। नित्यजीवन मे इसका जितना मूल्य है उससे कहीं अधिक राजनीति में इसकी आवश्यकता है। राजा राष्ट्ररक्षा के लिए जहाँ एक ओर अन्य राज्यो से मैत्री (मित्रलाभ) करता है, वहाँ अपने शत्रु, दो मित्र राजाओ मे फूट पैदा करके (सुहृद्भेद) उनकी सगठित शक्ति क्षीण कर देता है। 'सुहृद्भेद' मे अन्य अवान्तर कथाओ के साथ एक ऐसी ही कथा का उल्लेख है, जिसमे दमनक और करकट ने पिंगलक और सजीवक मे फूट पैदा करके अपना अधिकार पुन प्राप्त किया था।

कथासार

मूलकथा

दक्षिण देश की सुवर्णवती नाम की नगरी में वर्धमान नाम का एक रहता था। वह व्यापार द्वारा अधिक धन प्राप्त करने की कामना से की ओर चला किन्तु दुर्ग नाम के जंगल में उसकी गाड़ी का संजीवक बैल जुआ टूट जाने से गिर गया। वर्धमान उसे वहीं छोड़ कर आ गया। संजीवक किसी प्रकार उठा और बहुत दिनों तक वहाँ स्वच्छन्द विहार के कारण महाबलिष्ठ बन गया।

उसी जंगल में पिंगलक नाम का एक सिंह भी रहता था। वह राजा था। एक दिन वह पानी पीने के लिए यमुना के किनारे गया वहाँ संजीवक के अपूर्व शब्द को सुनकर बिना पानी पीए ही लौट आ बैठ कर उस शब्द के बारे में विचार करने लगा। उसके प्रधान मंत्री दमनक और करटक ने उसे इस स्थिति में देखा। दमनक ने उसकी इस से लाभ उठाने का संकल्प किया और करटक से विमर्श करने के बा पास पहुँचा। बातचीत के प्रसंग में सिंह ने अपने भयभीत होने का का दिया। दमनक उसके सामने भय का कारण दूर करने की प्रतिज्ञा करटक के पास लौट आया।

दोनों साथ-साथ संजीवक के पास पहुँचे। दमनक ने उसे साम दण्ड आदि से अपने वश में कर लिया और सिंह के सामने उपस्थित सिंह ने उसे अभयदान देकर अपने पास रख लिया और दमनक तथा को इस उपकार के बदले विशेष अधिकार दे दिया किन्तु अधिकार मे दोनों अत्यन्त स्वच्छन्द हो गए और मनमानी करने लगे।

एक दिन पिंगलक का भाई स्तब्धकर्ण आया। पिंगलक उसके सो व्यवस्था में शिकार के लिए जा रहा था कि संजीवक ने पहले के शि शिकार के बारे में उससे पूछा। वार्तालाप के प्रसंग में सिंह ने दमन करटक की मनमानी का उल्लेख किया जिसे सुनकर स्तब्धकर्ण ने कर्म के अधिकार की व्याख्या करते हुए पिंगलक से कहा कि कर्माधिका गुणयोगी संजीवक को देना चाहिए। पिंगलक ने उसकी बात मान संजीवक को कर्माधिकारी बना दिया। उसने व्यय को संयमित कर दिया दमनक और करटक दोनों को बड़ा बुरा लगा और दोनों ने संजीव पिंगलक की मैत्री में फूट डालने का निश्चय कर लिया।

दमनक एक दिन पिंगलक के पास पहुँचा और उसे समझाया कि संजीवक को जो इतना अधिकार दे दिया है उसका बड़ा बुरा फल होगा

है। सेवक धर्म के नाते मैं आप को आगाह कर दे रहा हूँ। वह आप पर बलप्रयोग करके आप के राज-पद को छीनना चाहता है अत आप अनर्थ होने के पहिले सावधान हो जायँ। सिंह ने यह सुन कर कहा—'तो क्या उसे निकाल दिया जाय ?' इस 'मन्त्रभेद' का भय दिखाते हुए दमनक ने कहा—'अभी नहीं। यह स्वय आप से युद्ध करने आयेगा उस समय आप मुँह खोले पंजों का प्रहार करने के लिए उद्यत बैठे रहियेगा।' ऐसा कहकर वह सजीवक के पास पहुँचा और उससे कहा कि स्वामी तुम्हें मारना चाहते हैं अत सींग टेढ़ी किए गरजते हुए तुम भी उनके सामने जाओ अपने बल का प्रदर्शन करो। सजीवक उसके बताए हुए ढग से पिंगलक के पास पहुँचा। पिंगलक ने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला। इस प्रकार दमनक और करकट ने 'सुहृद्भेद' के द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध किया और गत अधिकार को पुन प्राप्त कर लिया।

प्रासंगिक कथाएँ

१—कीलोत्पाटिवानर-कथा

मगध देश मे शुभदत्त नाम का एक कायस्थ विहार बनवा रहा था। वहाँ बढ़इयो ने आधी फटी हुई लकडी मे एक कील डाल कर छोड दिया था। एक दिन एक बन्दर ने आकर उस कील को पकड लिया और वही बैठ गया। बैठते समय उसका अण्डकोश लकडी के बीच में चला गया। उसने चंचलता से कील को खींच लिया जिससे उसका अडकोश दब गया और वह मर गया। अत मनुष्य को व्यर्थ कार्यों मे नही लगना चाहिए।

२—चीत्कारकारि-गर्दभ-कथा

काशी में कर्पूरपुरटक नाम का एक धोबी था। वह एक दिन गहरी नींद मे सोया था कि कुछ चोर उसके घर मे घुस गए। आगन मे बन्धे हुए गदहे ने वही बैठे हुए कुत्ते से कहा कि तुम भूँक कर स्वामी को जगा दो क्योंकि वही तुम्हारा काम है। लेकिन धोबी से अपमानित कुत्ते ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। तब गदहा स्वामी को जगाने के लिए स्वयम् चिल्लाने लगा। धोबी की नींद उचट गई और उसने गदहे को इतना मारा कि वह मर गया। अत दूसरे के अधिकार की चर्चा भी नहीं करनी चाहिए काम करना तो दूर की बात है।

३—दधिकर्ण विडाल-कथा

अर्बुद पहाड़-शिखर पर दुर्दान्त नाम का एक सिंह था। उसके सोने के समय एक चूहा निकल कर उसका अयाल काट देता था। इसलिए उसने दधिकर्ण नाम का एक बिलार पाल लिया और मांसादि से उसका बड़ा सत्कार करने लगा। अब चूहा भी उसके डर से बाहर नहीं निकलता था जिससे सिंह सुख से सोता था। एक दिन भूख से व्याकुल होकर चूहा बाहर निकला तो बिलार ने उसे मार डाला। अब सिंह ने बिलार की आवश्यकता न समझ कर उसके मांसादि में कटौती कर दी जिससे वह धीरे धीरे दुर्बल हो कर मर गया। अतः सेवक को चाहिए कि वह स्वामी को कभी भी अपने प्रति निरपेक्ष न होने दे।

४—घटाकर्ण-कुट्टनी-कथा

श्रीपर्वत पर ब्रह्मपुर नाम का एक नगर था। वहीं घंटा चुराकर भागने वाले एक चोर को सिंह ने मार डाला। उस घंटे को बन्दरों ने ले लिया और उसे बजाना शुरू किया। उस मरे हुए चोर को देख और घंटे की आवाज सुन कर नगर के सभी लोग घटाकर्ण भूत के डर से भागने लगे। एक कुट्टनी ने इस रहस्य का पता लगा लिया और वह राजा से बोली—राजन् यदि आप कुछ खर्च करें तो मैं घटाकर्ण को वश में कर लूँगी। राजा ने उसे धन दे दिया। वह कुछ फल लेकर वहाँ गई और उन्हें फेंक दिया। बन्दर घंटा छोड़ कर फल खाने लगे। कुट्टनी घंटा लेकर चली आई। राजा ने उसे बहुत पुरस्कृत किया। इसलिए केवल शब्दमात्र से नहीं डरना चाहिए।

५—स्वर्णरेखा तथा नापितगोपवधू-कथा

कांचनपुर नाम के नगर में एक राजा था। उसके सिपाही एक नाई को पकड़ कर मारने के लिए ले जा रहे थे कि एक साधु के साथ आने वाले कन्दर्पकेतु ने रोक दिया और कहा—मैं सिंहल द्वीप का राजपुत्र हूँ। मैंने एक दिन नाविकों के मुँह से सुना कि समुद्र में चतुर्दशी के दिन एक सुन्दरी कन्या दिखाई पड़ती है। यह सुनकर मैं वहाँ गया और उसे देखते ही उसके रूप पर आसक्त होकर समुद्र में कूद पड़ा। इसके बाद मैंने उसे सोने के महल में देखा और उससे विवाह कर लिया। एक दिन उसने मुझे चित्र में बनी सुवर्णरेखा अप्सरा को छूने के लिये मना किया किन्तु मैंने उसे छू दिया। छूते ही उसने मुझे ऐसा धक्का दिया कि मैं अपने देश में आ गिरा। तभी से सन्यासी बन कर घूम रहा हूँ। एक दिन मैं एक ग्वाले के घर में सोया था। उस समय

जब ग्वाला पशुओ को खिला-पिलाकर घर लौटा तो उसने अपनी स्त्री को एक दूती से बातचीत करते हुए देखकर उसे खम्भे मे बांध दिया और सो गया। रात को फिर दूती ने आकर अपने को खभे मे बांध दिया और ग्वालिन को नाई के पास भेज दिया। ग्वाले ने आंख खुलने पर फिर ग्वालिन से कहा कि अब क्यो नहीं अपने जार के पास जा रही हो। कुछ उत्तर न पा कर क्रुद्ध होकर उसने उसकी नाक काट ली और फिर सो गया। ग्वालिन नाई के यहाँ से लौट कर नाइन को बधन से खोल कर फिर अपने को उसमे बांध दिया। नाइन अपने घर लौट गई। प्रात काल जब नाई ने अपनी पेटी मागी तो उसने केवल छुरा दिया जिससे उसने छुरा उसके ऊपर चला दिया। इस पर अपनी नाक काट लेने का दोष लगा कर नाइन उसे अदालत मे ले गई। इधर जब ग्वाला उठा और उसने अपनी स्त्री से पूछा तो उसने उसे डांटते हुए कहा कि मैं सती हूं, देखो उसी के प्रभाव से मेरी कटी हुई नाक जुड गई है। ग्वाला इसे देखकर उसके पैरो पर गिर गया।

उसने साधु की कथा कहते हुए कहा कि यह एक दिन वेश्या के घर मे सोया था। इसने वेश्या के द्वार पर काठ के एक वैताल की मूर्ति देखी जिसके सिर पर रत्न था। लालच में आकर उसने इसे लेना चाहा, किन्तु पुतले ने उसे पकड लिया। उसका चिल्लाना सुनकर वेश्या ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी रत्न हो दे दो, तभी छूट सकते हो। सभी रत्नो के देने के बाद ही यह बेचारा छूट पाया था। अत मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है।

६—गोपीजारद्वय कथा

द्वारवती मे एक ग्वाले की एक कुलटा स्त्री थी। वह गाँव के मुखिया और उसके लडके के साथ फँसी हुई थी। एक दिन जिस समय मुखिया का लडका उसके पास था उसी समय मुखिया भी आया। ग्वालिन ने उसे अनाज की खत्ती मे छिपा दिया और वह मुखिया के साथ आनन्द लूटने लगी। इसी समय ग्वाला भी आ गया। तब ग्वालिन ने उससे कहा कि तुम डण्डा लेकर क्रोध से बडबडाते हुए घर से निकल जाओ। ग्वाले ने उसे इस प्रकार जाते हुए देखकर पूछा कि यह किस लिए आया था। ग्वालिन ने कहा कि यह अपने लडके को मारने के लिए दौडाया था वह भाग कर मेरे घर में चला आया। जिसे मैंने छिपा दिया। यह उसे न पाकर क्रोध मे बडबडाता हुआ जा रहा है यह कहकर उसने उसके लडके को दिखा दिया। इस प्रकार उसने सबको सकट से बचा लिया। अत समयानुसार बुद्धि द्वारा मनुष्य कठिनाइयों को जीत सकता है।

७—काकी-कृष्णसर्प कथा

एक वृक्ष पर कौओं का एक जोड़ा रहता था। उसी वृक्ष की जड़ में एक काला साँप भी रहता था। वह कौओं के बच्चों को खा जाया करता था। एक दिन कागों ने कहीं से दूसरी जगह चलने को कहा तब कौवे ने कहा कि डरो मत, तुम बुद्धि से काम लो। राजा रोज इस तालाब में स्नान करने आता है तुम उसके उतारे हुए सोने के हार को उठाकर साँप के खोखले में रख दो। कौवे ने ऐसा ही किया। फिर हार को खोजते हुए राजा के सिपाही पेड़ के खोखले के पास पहुँचे और वहाँ काले साँप को देखकर उन्होंने मार डाला। अर्थात् कोई काम बुद्धि के द्वारा ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।

८—दुर्दान्तसिंह शशक कथा

मन्दर नाम के पहाड़ पर दुर्दान्त नाम का सिंह था। उसे दिन भर में कई पशुओं को मारते हुये देखकर सभी पशुओं ने प्रतिदिन एक-एक पशु देने का निश्चय किया। सिंह ने भी इसे मान लिया। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई। खरगोश उसके मारने का उपाय सोचते हुये उसके पास देर से पहुँचा। सिंह के पूछने पर उसने बताया कि इस जंगल में रहने वाले दूसरे सिंह ने मुझे पकड़ लिया था। मैं उसकी कसम खाकर आप के पास सूचना देने आया हूँ। सिंह यह सुनकर आग-बबूला हो गया और दूसरे सिंह को मारने चल पड़ा। खरगोश ने एक कुएँ में उसी की परछाईं को दिखा दिया। सिंह बिना सोचे कुएँ में कूद पड़ा और मर गया। अतः बुद्धि का बल सबसे बड़ा बल होता है।

९—समुद्र टिट्टिभ कथा

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटिहरियों का एक जोड़ा रहता था। समुद्र बराबर टिटिहरी के अंडो को बहा ले जाया करता था। एक बार टिटिहरी ने अण्डा देने के समय टिटिहरे से दूसरी जगह चलने को कहा। लेकिन टिटि-हरा नहीं माना। इस बार भी समुद्र अंडे को बहा ले गया तब टिटिहरा सभी पक्षियों को जमा करके गरुड़ के पास गया। उन्होंने विष्णु से कहा और विष्णु ने समुद्र को आदेश दिया कि अंडों को लौटा दो। समुद्र ने उनकी आज्ञा से अंडे लौटा दिये। अतः किसी की शक्ति का अनुमान उसके सब सम्बन्धियों को जान कर ही लगाया जा सकता है।

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

—:०—

सुहृद्भेदः

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य, मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः। इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

मणिप्रभा

गणनाथं प्रणम्याथ रमानाथमुमापतिम् ।
उमां च नत्वा कुर्वेऽत्र सुहृद्भेदे मणिप्रभाम् ॥ १ ॥

अथ = मित्रलाभश्रवणानन्तरम्, इदानीम् = अधुना, सुहृद्भेदम्=एतन्नामकं हितोपदेशस्य द्वितीयं प्रकरणम्, शृणुत—शृणुतमिति शेषः। आद्य = प्रथमः।

हिन्दी रूपान्तर

इसके पश्चात् उन राजपुत्रों ने कहा—'आर्य', हम लोगों ने 'मित्रलाभ' तो सुन लिया अब 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं। विष्णुशर्मा ने कहा—तो 'सुहृद्भेद' सुनो। जिसका पहला श्लोक यह है—

वर्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

अन्वयः—वने मृगेन्द्रवृषयोः वर्द्धमानः महान् स्नेहः पिशुनेन अतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

वर्द्धमानः—वर्द्धत इति वर्द्धमानः एधमानः, स्नेहः = प्रेम, मृगेन्द्रवृषयोः = सिंहवृषभयोः, पिशुनेन = कर्णजपेन (चुगली करनेवाले), जम्बुकेन = शृगालेन ॥

वन में सिंह एवं बैल के बढ़ते हुए महान् स्नेह को अत्यन्त लालची तथा चुगली करने वाले स्यार ने नष्ट करा दिया ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत्।' विष्णुशर्मा कथयति—

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी। तत्र वर्धमानो नाम

वणिग्निवसति। तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव। यतः—

दक्षिणापथे = दक्षिणस्यां दिशि तत्र = सुवर्णवत्यां नगर्याम्। वर्धमानो नाम्नो वणिक्, प्रचुरे = प्रभूते 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः, अपरान्—अन्यान् स्वबन्धूनपि इत्यर्थः समीक्ष्य—दृष्ट्वा अर्थवृद्धिः—धनवृद्धिः, मतिर्बभूव—विचारोऽभवत्। यतः = यस्मात्॥

राजपुत्रों ने पूछा—'ऐसा कैसे हुआ' विष्णुशर्मा ने कहा—'दक्षिण देश में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है। वहाँ वर्धमान नाम का एक अत्यन्त धनी बनिया रहता था। बहुत अधिक धन होने पर भी अपने अन्य अत्यन्त धनी बन्धुओं को देखकर उसे और भी अधिक धन बढ़ाने की इच्छा हुई। क्योंकि—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥ २॥

अन्वयः—अधः अधः पश्यतः कस्य (जनस्य) महिमा न उपचीयते। उपरि उपरि पश्यन्तः सर्वे एव दरिद्रति॥ २॥

अधोऽधः—नीचैः नीचैः, पश्यतः—अवलोकयतः—(दृश् धातु षष्ठी ए० व०), महिमा—महत्त्वम्, उपचीयते = वर्धते। उपर्युपरि = ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं दरिद्रति—दरिद्रा भवन्ति (दरिद्रा धातु प्र० पु० ब० व० 'अभ्यस्तानामकः शतृ' इत्यनेन झकारस्य 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः)॥

अपने से नीचे की ओर देखनेवाले किस मनुष्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता? किन्तु अपने से ऊपर देखनेवाले सभी दरिद्र दिखाई पड़ते हैं। (अपने से कम वित्तवालों को देखनेवाले अपने को धनी समझते हैं किन्तु अपने से अधिक वित्तवालों को देखकर दरिद्र बन जाते हैं)॥ २॥

अपरं च—ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम्।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते॥ ३॥

अन्वयः—यस्य (नरस्य) विपुलम् धनम् अस्ति (सः) ब्रह्महा अपि नरः पूज्यः (भवति) (किन्तु) शशिनः तुल्यवंशः अपि निर्धनः परिभूयते॥ ३॥

ब्रह्महा = ब्राह्मणघाती (ब्रह्माणं हतवान् इति विग्रहः); पूज्यः—पूजनीयः विपुलम्—अधिकम् शशिनः—चन्द्रस्य परिभूयते—तिरस्क्रियते॥

और भी—जिसके पास अत्यन्त अधिक धन है, वह मनुष्य ब्रह्महत्या करने पर

भी अत्यन्त पूज्य होता है; किन्तु चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वंश में जन्म लेकर भी निर्धन व्यक्ति सभी जगह अपमानित होता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च—अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

अन्वयः—लक्ष्मी अव्यवसायिनम् अलसम् दैवपरम् साहसात् परिहीनम् च (जनम्) प्रमदा वृद्धपतिम् इव उपगूहितुम् न इच्छति ॥ ४ ॥

अव्यवसायिनम्=अनुद्योगिनम्, अलसम्=आलस्ययुक्तम्, दैवपरम्=भाग्याधीनम् (भाग्य पर ही भरोसा करनेवाले), प्रमदा=युवति , वृद्धपतिम्=प्रवयस भर्तारम्, उपगूहितुम्=आलिङ्गितुम्, पक्षे आश्रयं कर्तुम् ॥

और भी—उद्योग रहित, आलसी, भाग्य के भरोसे रहने वाले एवं साहस से हीन व्यक्ति को लक्ष्मी उसी प्रकार आलिङ्गन करना नहीं चाहती है जैसे यौवन मे मतवाली स्त्री बूढ़े पति को ॥ ४ ॥

किं च—आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

अन्वयः—आलस्यम्, स्त्रीसेवा, सरोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम्, सन्तोष , भीरुत्वम् (इति इमे) षट् महत्त्वस्य व्याघाता. (सन्ति) ॥ ५ ॥

स्त्रीसेवा = स्त्रीविषयेऽधिकासक्ति , सरोगता = रोगयुक्तता, जन्मभूमिवात्सल्यम्=जन्मभूम्या सह स्नेह , तेन जन्मभूमिं त्यक्त्वाऽन्यत्र गमनाभाव.; भीरुत्वम् = भयम्, व्याघाता = बाधका ॥

और भी—आलस्य, स्त्री की गुलामी, रोगी बना रहना, जन्मभूमि के प्रति स्नेह, संतोष और डर—यही महत्त्व-प्राप्ति के छ. विघ्न हैं ॥ ५ ॥

यतः—संपदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—य स्वल्पया अपि सम्पदा सुस्थिरम्मन्य भवति, कृतकृत्य विधि तस्य ताम् न वर्द्धयति, (इति अहम्) मन्ये ॥ ६ ॥

सम्पदा=धनेन, सुस्थिरम्मन्य —आत्मानं सुस्थिरं मन्यते एवंविध आत्मानं सुस्थिर मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्च' इति खश्प्रत्यये खित्त्वान्मुमागम ,

कृपणस्य = कृतार्थं विधिः = दैवम् ताम् = सम्पदम् । अन्येन(बहु) नाशयति ।

क्योंकि—जो थोड़े ही धन से अपनी स्थिति को अच्छी समझनेवाला होता है उसका भाग्य भी कृतकृत्य होकर उसकी सम्पत्ति को नहीं बढ़ाता है ॥ ६ ॥

अपरं च—निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—काचित् सीमन्तिनी निरुत्साहम्, निरानन्दम्, निर्वीर्यम्, अरिनन्दनम् पुत्रम् मा स्म जनयेत् ॥ ७ ॥

निरुत्साहम् (निर्गत उत्साहः यस्मात् स तम्—उत्साहहीनम् एवमेवाग्रेऽपि बोध्यम् । निर्वीर्यम्—पराक्रमहीनम्, अरिनन्दनम्—शत्रोः हर्षप्रदम्, सीमन्तिनी—नारी 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । मा स्म जनयेत्—नोत्पादयेत् (अत्र 'मा' न तु 'माङ्' अतएव लुङ् नेति बोध्यम् ॥

और भी—उत्साहरहित उदासीन और शत्रुओं को आनन्दित करनेवाले पुत्र का जन्म कोई भी स्त्री न दे ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्—अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।

रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

अन्वयः—(धर्मार्थकामयुक्तः जनः) अलब्धम् (धनम्) लिप्सेत लब्धम् च अवक्षयात् रक्षेत् रक्षितम् वर्धयेत्, वृद्धम् तीर्थेषु सम्यक् निक्षिपेत् च ॥ ८ ॥

लिप्सेत=लब्धुमिच्छेत्, अवक्षयात्=हानेः, तीर्थेषु=काशीप्रयागादितीर्थस्थलेषु सत्पात्रेषु वा निक्षिपेत् = दानं कुर्यात् ॥

जैसा कि कहा भी गया है—जो प्राप्त नहीं हो सका है, उसे पाने की इच्छा करनी चाहिए, जो प्राप्त हो चुका है उसे नष्ट होने से बचाना चाहिए, बचाए हुए धन को बढ़ाना और बढ़े हुए धन को अच्छे कामों में लगाना चाहिए ॥

यतोऽलब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च । अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः । तथा चोक्तम्—

अलब्धम् = अप्राप्तम् अर्थयोगात् = वित्तसम्बन्धात्, अरक्षितस्य = अगुप्तस्य) निधेः=कोषस्य (यद्वा रक्षणाभावात् निधयो नश्यन्ति) । अवर्धमानः=अवृद्धिशीलः

र्थं =धनम्, काले=स्वल्पसमयानन्तरम्, अञ्जनवत्=अञ्जनेन तुल्यम्, क्षयमेति=नश्यति। अनुपभुज्यमान =स्वोपभोगेऽनियुज्यमान, निष्प्रयोजन =व्यर्थं. (इद-मर्थस्य विशेषणमत पुंस्त्वमत्रेति बोध्यम्) ॥

क्योंकि—अप्राप्त धन के चाहनेवाले व्यक्ति को धन लगाने से धन की प्राप्ति होती ही है। प्राप्त हो जाने पर भी यदि रक्षा न की जाय तो खजाना भी स्वयम् नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि धन बढ़ाया न जाय तो वह थोड़ा खर्च करने पर भी अञ्जन के समान समय पाकर समाप्त हो जाता है और यदि उसका उपभोग न किया जाय तो उसका पाना ही व्यर्थ है। जैसा कहा गया है कि—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

अन्वयः—य (जन धनम्) न ददाति, न अश्नुते, (तस्य जनस्य) धनेन किम् (अस्ति)? य (जन) रिपून् न बाधते, (तस्य) बलेन किम् (अस्ति)? य (जन) धर्मम् न आचरेत् (तस्य जनस्य) श्रुतेन किम् (अस्ति)? य (जन) जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य) आत्मना किम् (अस्ति) ॥

अश्नुते=भुङ्क्ते, भोग करोतीत्यर्थ। बलेन=शक्त्या, रिपून्=शत्रून्, बाधते=पीडयति विजयते इत्यर्थ। श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेन, आत्मना=आत्मज्ञानेन, जितेन्द्रिय =संयतेन्द्रिय। तस्य नरस्य धनादिकं सर्वं व्यर्थमस्ति, य तेन दानादिकार्यं न करोतीत्याशय ॥

उस धन के मिलने से क्या हुआ जो न तो दिया ही गया और न तो अपने ही उपयोग में लाया गया, उस बल से क्या हुआ जो शत्रुओं को वश में न कर सका, उन धर्म-ग्रन्थों के सुनने से क्या हुआ जिसके अनुसार धर्म का आचरण ही न हो सका और उस आत्मा से क्या हुआ जो इन्द्रियों को जीत न सके ॥ ९ ॥

यतः—जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

अन्वयः—घट क्रमशः जलबिन्दुनिपातेन पूर्यते, सर्वविद्यानाम् च धर्मस्य च धनस्य स हेतु. (अस्ति) ॥ १० ॥

घटः=कलशः क्रमशः=क्रमात्, जलबिन्दुनिपातेन=जलस्य बिन्दूनां निपातनेन पूर्यते=पूर्णः भवति । सर्वविद्यानाम्=समस्तज्ञानानाम् । यथा यथा जलस्य बिन्दूनां पतनेन घटः पूर्णः भवति तथैव क्रमशः सर्वविद्याधर्मोऽपि धनसञ्चयाः पूर्णाः भवन्ति ॥

क्योंकि—जैसे एक-एक बूंद गिरने से धीरे-धीरे घड़ा भर जाता है उसी प्रकार सभी विद्याएँ धर्म और धन भी धीरे ही धीरे बढ़ता है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ११ ॥

अन्वयः—यस्य (जनस्य) दिवसाः दानोपभोगरहिताः यान्ति स (जनः) कर्मकारभस्त्रा इव श्वसन् अपि न जीवति ॥ ११ ॥

दानोपभोगरहिता = त्यागोपभोगाभ्यां शून्याः दिवसाः = दिनानि यान्ति = व्यतियान्ति (बीतते हैं) कर्मकारभस्त्रेव = कर्मकारस्य लोहकारस्य चर्मनिर्मित यन्त्रविशेष इव (भाथी के समान) श्वसन् = श्वासं कुर्वन् जीवनिःश्वासं न जीवति=मृततुल्योऽस्ति ॥

जिसके दिन दान और भोग के बिना ही चले जाते हैं, वह लुहार की भाथी के समान साँस लेते हुए भी जीवित नहीं कहा जा सकता ॥ ११ ॥

इति संचिन्त्य नन्दकसंजीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः कश्मीरं प्रति । अन्यच्च—

इति=एवम् धुरि=भारवहनकार्ये नियोज्य=नियुक्तौ कृत्वा (नि+युज्+ल्यप्) शकटम्=यान (गाड़ी को) नानाविधद्रव्यपूर्णम्=अनेकप्रकारकवस्तुभरितम्, वाणिज्येन=व्यापाराय कश्मीरम्=एतन्नामकं भारतस्य सर्वोत्तरस्थितं प्रान्तविशेषम् ॥

इस प्रकार सोचकर नंदक और संजीवक नाम के दो बैलों को बोझ में लगा कर गाड़ी को तरह-तरह की वस्तुओं से भरकर व्यापार करने के लिए कश्मीर की ओर चला । और भी—

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

अन्वयः—(मनुष्येण) अञ्जनस्य क्षयम् वल्मीकस्य संचयम् च दृष्ट्वा दानाध्ययनकर्मसु दिवसम् अवन्ध्यम् कुर्यात् ॥ १२ ॥

अञ्जनस्य=कज्जलस्य, क्षयम्=नाशम्, वल्मीकस्य=वामलूरस्य (बाँबी), सञ्चयम्=वृद्धिम्, अवन्ध्यम्=सफलम्, दानाध्ययनकर्मभि.=दानपठनादिकार्यै. (वृद्धिरहितमत्यल्पश व्ययीभवदप्यञ्जनं क्षीयते, क्षयरहित सतत स्वल्पशोऽपि उपचीयमानं वल्मीकं वर्द्धते इत्येतद् दृष्ट्वा धनदान शास्त्रपठन च कृत्वा मानवेन दिवसस्य साफल्य कर्तव्यमिति भाव. ॥

आँखो मे लगाये जानेवाले अञ्जन का धीरे-धीरे नष्ट हो जाना तथा बाँबी का धीरे-धीरे एकत्रित होकर बढना देखकर मनुष्य को चाहिये कि वह अपने दिन को दान, अध्ययन तथा अन्य कर्मों से सफल करे ॥ १२ ॥

यतः—कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेश. सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—समर्थानाम् (जनानाम्) क अतिभार. (अस्ति) ? व्यवसायिनाम् किम् दूरम् (अस्ति) ? सविद्यानाम् क विदेश (अस्ति) ?, प्रियवादिनाम् क पर (अस्ति) ? ॥ १३ ॥

अतिभार =महाभार , भारयुक्तम्-असाध्यमित्यर्थं , समर्थानाम्=सामर्थ्यवताम्, व्यवसायिनाम् = उद्योगिनाम्, विदेश =परदेश , सविद्यानाम्= विदुषाम्, प्रियवादिनाम्=मधुरभाषिणाम् ॥

क्योंकि—शक्तिशाली के लिए कोई भी कार्य वोझ जैसा नहीं लगता, परिश्रमी व्यक्ति के लिए कोई भी स्थान दूर नही होता, विद्वान् के लिए कोई भी देश विदेश नहीं होता और प्रिय वोलने वाले का कोई भी शत्रु नहीं होता ॥१३॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानुर्निपतितः । तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

सुदुर्गनाम्नि=सुदुर्गनामके, महारण्ये = महावने, भग्नजानु =भग्नं जानु यस्य स (टूटे घुटनेवाला), निपतित = अपतत्, अचिन्तयत् = चिन्तितवान् ॥

इसके पश्चात् जाते-जाते सुदुर्गनाम के एक वडे जगल मे सजीवक का घुटना टूट गया और वह गिर पडा । वर्धमान ने उसे देखकर विचार किया—

करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।
फल पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—नीतिज्ञ (नर) इतस्तत व्यवसायम् करोतु नाम पुन अस्य फलम् तत् एव (भवति), यत् विधे मनसि स्थितम् (वर्तते) ॥ १४ ॥

नीतिज्ञ—नीति जानातीति विग्रहे 'इगुपधज्ञा' इति कः = नीतिपण्डितः। इतस्ततः = अत्र तत्र (इधर-उधर) व्यवसायः—उद्योगः, फलम् = परिणाम विधेः—भाग्यस्य मनसि=चित्ते ॥

चतुर व्यक्ति इधर-उधर कितना ही प्रयत्न क्यों न करे; परन्तु उसका फल वही होता है जो ब्रह्मा के मन में होता है ॥ १४ ॥

किन्तु—विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
तस्माद् विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—सर्वकर्मणाम् प्रत्यूहः विस्मयः (अतएव) सर्वथा हेयः (अस्ति) तस्मात् (अतएव) विस्मयम् उत्सृज्य साध्ये सिद्धिः विधीयताम् ॥ १५ ॥

विस्मयः=मीमांसा (घबराहट) सर्वथा=सर्व प्रकारैः (सब तरह) हेयः=त्याज्यः प्रत्यूहः=विघ्नः, उत्सृज्य=त्यक्त्वा (उत्+सृज्+ल्यप्), साध्ये = कार्ये कर्तव्ये इत्यर्थः, विधीयताम् = क्रियताम् ॥

किन्तु विस्मय (किसी कार्य की बाधाओं को देखकर चकित हो जाना) का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि वह सभी कार्यों का विघ्न होता है। इसलिए आश्चर्य को छोड़कर अपने द्वारा किए जानेवाले कार्य में सफलता प्राप्त करनी चाहिए ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धुरि नियोज्य चलितः। ततः संजीवकोऽपि कथंकथमपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः। यतः—

इति—एवम्; संचिन्त्य = विचार्य परित्यज्य = त्यक्त्वा वर्धमान—एतन्नामकः वणिक महाकायम् = स्थूलशरीरम्, धुरि नियोज्य = भारवहने नियुक्तं कृत्वा कथंकथमपि = कथंचित्, खुरत्रये—त्रिषु खुरेषु पादत्रयमाश्रित्येति यावत् उत्थितः—उत्थितवान् ॥

ऐसा सोचकर उसने संजीवक को वहीं छोड़ दिया और स्वयं धर्मपुर नाम के नगर में जाकर एक बड़े डील-डौल वाले दूसरे बैल को लाकर बोझ में नाँध दिया तथा आगे चल पड़ा। कुछ देर बाद संजीवक भी अपने तीन ही खुरों पर बल देकर किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ। क्योंकि—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च ।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

अन्वयः—आयु पयोराशौ निमग्नस्य, पर्वतात् पतितस्य, तक्षकेण दष्टस्य च अपि (नरस्य) मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

आयु =वय , जीवितावधिकाल (उम्र), पयोराशौ=समुद्रे, निमग्नस्य= ब्रुडितस्य, तक्षकेण = एतन्नामकेन तीव्रविषेण सर्पेण, दष्टस्य = कृतदंशनस्य (डँसे गये), मर्माणि=मर्मस्थलानि, रक्षति=गोपायति ॥

समुद्र में भी डूबनेवाले, पर्वत से भी गिरे हुए तथा साँप द्वारा काटे गए व्यक्ति के प्राणो को भी आयु वचा लेती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १७ ॥

अन्वयः—जन्तु शरशतै विद्ध अपि अकाले न म्रियते, (तथा) प्राप्तकालः (सन् स.) कुशाग्रेण एव सस्पृष्ट न जीवति ॥ १७ ॥

अकाले=मृत्युसमये अप्राप्ते, जन्तु =प्राणी, देहधारीत्यर्थ , शरशतै = अनेक-शतसङ्ख्यकबाणै , विद्ध = छिद्रित ताडित इत्यर्थं , कुशाग्रेण = दर्भाग्रभागेनैव (कुशकी नोकसे), प्राप्तकाल =प्राप्तमृत्युसमय ॥

और भी—सैकडो बाणों से विधा हुआ प्राणी भी विना समय आए नहीं मर सकता, किन्तु समय आ जाने पर वही कुश की नोक से छू जाने पर भी नहीं बच सकता ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहेन जीवति ॥१८॥

अन्वयः—(मानवादिना) अरक्षितम् (अपि) दैवरक्षितम् (वस्तु) तिष्ठति, (मानवादिना) सुरक्षितम् (अपि) दैवहतम् (वस्तु) विनश्यति । (एवमेव, मानवादिना) वने विसर्जित अनाथ अपि जीवति, (तथा मानवादिना) गृहे कृतप्रयत्न अपि न जीवति ॥ १८ ॥

अरक्षितम् = मानवादिना अकृतरक्षणम्, दैवरक्षितम् = भाग्येन कृतरक्षणम्, तिष्ठति=न विनश्यति । दैवहतम् = भाग्येन विनष्टम्, विसर्जित =त्यक्त , कृतप्रयत्न=मानवादिना कृतसुरक्षण ॥

भाग्य जिसकी रक्षा करना चाहे तो दूसरों द्वारा अरक्षित होने पर भी वह बच जाता है किन्तु दूसरों द्वारा बचाये पर भी भाग्य का मारा हुआ नहीं बच सकता। जैसे जंगल में फेंका हुआ अनाथ बच्चा भी जीता रहता है किन्तु और यत्नों के होने पर भी घर में पड़ा हुआ बालक नहीं जी पाता॥ १८॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारं कृत्वारण्यं भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथा चोक्तम्—

स्वेच्छाहारविहारम्=इच्छापूर्वकभोजनभ्रमणम्, हृष्टपुष्टाङ्गः=पुष्टशरीरः बलवत् = उच्चस्वरेण स्वभुजोपार्जितराज्यसुखम्—स्वभुजेन = बाहुबलेन उपार्जितस्य=प्राप्तस्य राज्यस्य सुखं=हर्षं अनुभवन्=प्राप्नुवन्॥

कुछ दिन बीतने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार आहार-विहार करने के कारण संजीवक के सभी अंग हृष्ट पुष्ट हो गये और वह अत्यन्त ऊँची ध्वनि से गर्जनाएँ करने लगा। उसी जंगल में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्यसुख का अनुभव करता हुआ निवास करता था। जैसे कहा भी है—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता॥ १९॥

अन्वयः—मृगैः सिंहस्य अभिषेकः (तथा) संस्कारः न क्रियते (किन्तु) विक्रमार्जितराज्यस्य (तस्य मृगस्य) मृगेन्द्रता स्वयमेव (भवति)॥ १९॥

अभिषेकः=राज्याभिषेकः संस्कारः=पुरश्चरणादिधर्मकर्म मृगैः = वन्यपशुभिः विक्रमार्जितराज्यस्य—विक्रमेण=स्वभुजबलेन अर्जितम्=उपार्जितम् राज्यम्=साम्राज्यम् येन स तस्य। स्वयमेव=स्वत एव मृगेन्द्रता=मृगराजता॥

जंगली पशुओं द्वारा सिंह का न तो अभिषेक ही किया जाता है और न संस्कार ही किन्तु वह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्य का स्वयम् राजा बन जाता है॥ १९॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक, किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयम्

पीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते।' करटको ब्रूते—'मित्र दमनक, अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते। यदि तथा भवति, तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम्। यतोऽनेन राज्ञा विनापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

पिपासाऽऽकुलित:=तृष्णया व्याकुल, पानीयम्=जलम्, यमुनाकच्छम्=यमुनायास्तीरम्, अननुभूतपूर्वकम्=प्रथममश्रुतम्, अकालघनगर्जितम्—अकाले=असमये प्रावृडभावेऽपीति भाव, घनस्य=मेघस्य, गर्जितम् गर्जनम्, सञ्जीवकनर्दितम्=सञ्जीवकस्य गर्जितम्, अश्रावि=श्रुतम्। सचकित=आश्चर्यित, परावृत्य=परवर्तितो भूत्वा, आलोचयन्=विचारयन्, तूष्णीम्=मौन सन्, तथाविध=तादृश, पिपासाऽऽकुलत्वेऽपि सञ्जीवकनर्दितेन अपीतजल, किमिति=कथम्, उदकार्थी=पिपासित, अवतिष्ठते—अत्र 'समवप्रविभ्य स्थ' इत्यात्मनेपदम्॥ अस्मन्मतेन=स्वविचारेण, स्वामिचेष्टानिरूपणेन=स्वामिनो भयादिकारणविचारेण, विनापराधेन=अपराध विनैव, चिरम्=चिरकालात्, अवधीरिताभ्याम्=तिरस्कृताभ्याम्, अनुभूतम्=प्राप्तम्॥

वह सिंह एक बार प्यास से व्याकुल होकर पानी पीने के लिए यमुना नदी के किनारे गया। वहाँ असमय में बादलों की गर्जन के समान सञ्जीवक की आवाज सिंह को सुनाई पड़ी। ऐसी आवाज उसने इसके पहले कभी नहीं सुनी थी। यह सुन कर बिना पानी पिए ही वह चकित होकर लौट पड़ा और अपने स्थान पर आकर, 'यह क्या है' ऐसा सोचता हुआ चुपचाप बैठ गया। उसके मन्त्री के पुत्र करटक और दमनक नाम के दो स्यारों ने उसे इस अवस्था में देखा। उसे इस प्रकार की अवस्था में देखकर दमनक ने करटक से कहा—'मित्र, करटक, पानी चाहनेवाले यह मेरे स्वामी बिना पानी पिए ही क्यों लौटकर इस प्रकार उदासभाव से चुपचाप बैठे हैं?' करटक ने कहा मित्र

भाग्य जिसकी रक्षा करना चाहे तो दूसरों द्वारा अरक्षित होने पर भी वह बच जाता है किन्तु दूसरों द्वारा बचाने पर भी भाग्य का मारा हुआ नहीं बच सकता। जैसे जंगल में फेंका हुआ अनाथ बच्चा भी जीता रहता है किन्तु अनेक प्रयत्नों के होने पर भी घर में पड़ा हुआ बालक नहीं जी पाता ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारं कृत्वारण्यं भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथा चोक्तम्—

स्वेच्छाहारविहारम्=यथेच्छपूर्वकभोजनभ्रमणम्, हृष्टपुष्टाङ्गः=पुष्टशरीर बलवत् = उच्चस्वरेण स्वभुजोपार्जितराज्यसुखम्—स्वभुजेन = आत्मभुजबलेन उपार्जितस्य=प्राप्तस्य राज्यस्य सुखम्=शर्म अनुभवन्=प्राप्नुवन् ॥

कुछ दिन बीतने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार आहार-विहार करने के कारण संजीवक के सभी अंग हृष्ट पुष्ट हो गए और वह अत्यन्त ऊँची ध्वनि से डकारें भरने लगा। उसी जंगल में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्यसुख का अनुभव करता हुआ निवास करता था। जैसे कहा भी है—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

अन्वयः—मृगैः सिंहस्य अभिषेकः (तथा) संस्कारः न क्रियते (किन्तु) विक्रमार्जितराज्यस्य (तस्य मृगस्य) मृगेन्द्रता स्वयमेव (भवति) ॥ १९ ॥

अभिषेक=राज्याभिषेक संस्कारः=सुरत्वादिगुणकोपः मृगैः = अन्यपशुभिः विक्रमार्जितराज्यस्य—विक्रमेण=स्वभुजबलेन अर्जितम्=उपार्जितम्, राज्यम्=साम्राज्यम् येन स तस्य। स्वयमेव=स्वत एव मृगेन्द्रता=नृपराजता ॥

जंगली पशुओं द्वारा सिंह का न तो अभिषेक ही किया जाता है और न संस्कार ही किन्तु वह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्य का स्वयम् राजा बन जाता है ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक, किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयम्

अन्वयः—धनिन (त्वम्) एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ, वद, मौन समाचर, एवम् आशाग्रहग्रस्तै. अर्थिभि (सह) क्रीडन्ति ॥ २३ ॥

एहि=आगच्छ, पत = पतनं कुरु, मौन समाचर = तूष्णींभावं गच्छ, आशा ग्रहग्रस्तै = आशारूपपाशेन बद्ध , अर्थिभि. = अर्थाभिलाषुकै. सेवकैः, क्रीडन्ति= खेलन्ति ॥

और भी—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बोलो, चुप रहो—इस प्रकार की आज्ञाएँ दे-देकर धनी लोग आशारूपी ग्रह से ग्रसित याचकों से अपना मनोविनोद करते रहते हैं ॥ २३ ॥

किं च—अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अबुधै (जनै) पण्यस्त्रीभि. इव अर्थलाभाय आत्मा संस्कृत्य सस्कृत्य स्वयम् परोपकरणीकृत ॥ २४ ॥

अबुधै =मूर्खैं , पण्यस्त्रीभि =वेश्याभि , आत्मा 'कृत =अलङ्कारादि-शृङ्गारेण (पक्षे—विद्याज्ञानशौर्यादिना) शरीर पुन पुन मण्डयित्वा ॥

और भी—मूर्खों ने धन के लिए वेश्याओ के समान अपने आप को सजा-सजा कर स्वय ही उसे दूसरो के कार्य मे लगा दिया है ॥ २४ ॥

किं च—या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

अन्वयः—(स्वामिन =प्रभो) प्रकृत्या एव चपला या दृष्टि अशुचौ अपि निपतति, सेवका. स्वामिन ताम् अपि बहु मन्यन्ते ॥ २५ ॥

प्रकृत्यैव = स्वभावेनैव, अशुचौ अपि निपतति = अपवित्रमपि पश्यति, बहु मन्यन्ते=स्वामी मयि कृपादृष्टि करोति इति मत्वा सेवका कृतार्था भवन्ति ॥

और भी—सेवक लोग स्वभाव से ही चचल एवं अपवित्र स्थान मे पडनेवाली स्वामी की दृष्टि को भी बहुत बडी वस्तु समझते हैं ॥ २५ ॥

अपरं च—मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

सेवया = स्वामिनः सेवनेन सेवकैः = मूर्खैः स्वातन्त्र्यम् = स्वतन्त्रकारित्वम् = नाशितम् ॥

सेवा द्वारा धन की अभिलाषा रखने वाले सेवकों ने जो किया उसे देखो इन मूर्खों ने उसके लिए अपने शरीर की स्वतन्त्रता भी बेच दी ॥ २० ॥

अपरं च—

शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते यान् पराश्रिताः ।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

अन्वयः—पराश्रिताः यान् शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते; मेधावी तदंशेन अपि तपः तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

शीतवातातपक्लेशान्—शीतम् = अनुष्णत्वम् वातम् = वायुम् आतपम् = धर्मम् इति शीतवातातपाः तेषां क्लेशान् = दुःखानि पराश्रिताः = पराधीनाः सेवकाः इत्यर्थः तदंशेन = शीतादिजन्यदुःखस्य स्वल्पतमभागेन मेधावी = बुद्धिमान् तपस्तप्त्वा = तपस्यां कृत्वा ॥

और भी—दूसरे के अधीन रहनेवाले शीत वायु तथा धूप आदि के जिन दुःखों को सहते हैं उसके अंशमात्र दुःखों को ही सहकर बुद्धिमान् तप कर सुखी हो जाता है ॥ २१ ॥

अन्यच्च—एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥ २२ ॥

अन्वयः—यत् (मनुष्यस्य) अनायत्तवृत्तिता (भवति) एतावत् जन्मसाफल्यम् (अस्ति) ये (जनाः) पराधीनताम् याताः (सन्ति यदि) ते जीवन्ति (तर्हि) के (जनाः) मृताः सन्ति ? ॥ २२ ॥

जन्मसाफल्यम् = जन्मनः सफलता अनायत्तवृत्तिता = स्वतन्त्रजीविका पराधीनताम् = परतन्त्रताम्—स्वतन्त्रतयैव मनुष्यस्य जन्म सफलमस्ति पराधीनास्तु जना मृतकतुल्या एवेत्याशयः ॥

और भी—जीविका का दूसरे के अधीन न होना ही इस जन्म की सफलता है। यदि पराधीन व्यक्ति को ही जीवित माना जाय तो फिर मरा हुआ किसे कहा जायगा ॥ २२ ॥

अपरञ्च—एहि गच्छ, पतोत्तिष्ठ वद, मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २३ ॥

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

अन्वयः—तुष्टा ये अचिरेण एव (सेवकानाम्) मनोरथान् पूरयन्ति, (ते) परमेश्वरा सेवकै कथं नाम यत्नत न सेव्यन्ते ॥ १८ ॥

कथ नाम=कस्मात्कारणात्, यत्नत =प्रयत्नपूर्वकम्, परमेश्वरा. = स्वामिन , तुष्टा =सन्तुष्टा ॥

उन स्वामियों की सेवा अत्यन्त यत्न के साथ क्यो नही करनी चाहिए, जो प्रसन्न होकर शीघ्र ही सारी अभिलाषाओ को पूरी कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २९ ॥

अन्वयः—सेवाविहीनानाम् (सेवकजनानाम्), चामरोद्धूतसम्पद उद्दण्ड-धवलच्छत्रम् वाजिवारणवाहिनी च कुत (प्राप्यते) ? ॥ २९ ॥

सेवाविहीनानाम् = स्वामिसेवनमकुर्वताम्, चामरोद्धूतसम्पद —चामरेण उद्धूताश्च ता' सम्पदश्च = चामरसञ्चालनसूचितधनानि, उद्दण्डधवलच्छत्रम्= उत्=ऊर्ध्वं दण्डं यस्य तत् उद्दण्डम्, तच्च तत् धवल = शुभ्रम् छत्रञ्च=राजत्वसूचकोर्ध्वीकृतशुभ्रातपत्रम्, वाजिवारणवाहिनी—वाजिनाम्=अश्वानाम् वारणानाम्= हस्तिना च वाहिनी=सेना ॥

और भी देखो—सेवा न करनेवाले सेवकों को भला चामरयुक्त लक्ष्मी, लम्बी डंडी वाला छत्र, घोडे और हाथियों से युक्त सेना कैसे प्राप्त हो सकती हे ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूत—'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण । यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः । पश्य—

तथापि=स्वामिसेवाया कर्तव्यत्वेऽपि, व्यापारेण = कार्येण, परिहरणीय = त्याज्य ।

करटक ने कहा—'फिर भी हमलोगो को इस कार्य (स्वामी का ध्यान रखना) से क्या लाभ ! क्योंकि अकरणीय कार्यों में व्यर्थ की उधेडबुन करने से सदा बचना चाहिए । देखो—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानरः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—(स्वामिना सेवक) मौनात् मूर्खः (अस्तीति मन्यते एवं सर्वत्र योज्यम्) प्रवचनपटुः वातुलः वा जल्पकः क्षान्त्या भीरुः यदि न सहते (तदा) प्रायशः नाभिजातः, नियतम् पार्श्वे भवति (तदा) धृष्टः च दूरे (वसति तदा) अप्रगल्भः (एवम्) परमगहनः सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्यः ॥

मौनात्—तूष्णीम्भावात् प्रवचनपटुः—अतिवक्ता चतुरः वातुलः—वाचाल (बातूनी) जल्पकः—मुखाप्रियवक्ता (बकवादी) क्षान्त्या—क्षमया भीरुः = असमर्थः (डरपोक) नाभिजातः—अकुलीन अप्रगल्भः—अप्रगल्भ परमगहनः—अतिकठिन योगिनामपि = योगिनामपि अलक्ष्य नामपि अतीन्द्रियं पश्यतामपि अगम्यः = सेवनेऽतिकठिनः, अतोऽयम् पालनीय कार्यं अतिकठिनं सेवाधर्मं परमसहिष्णवोऽपि सेवका निर्वोढुं न शक्नु वन्तीति भावः ॥

और भी—यदि सेवक चुप रहे तो स्वामी उसे मूर्ख बात करने में चतुर हो तो बातूनी सहनशील हो तो डरपोक असहनशील हो तो अकुलीन नित्य स्वामी के पास रहे तो ढीठ और दूर रहे तो कायर समझते हैं। इसलिए सेवाधर्म अत्यन्त कठिन होता है जिसकी साधना योगियों के लिए भी दुःसाध्य होती है ॥ २६ ॥

विशेषतश्च—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥ २७ ॥

अन्वयः—सेवकात् अन्य कः मूढः उन्नतिहेतोः प्रणमति जीवितहेतोः प्राणान् विमुञ्चति सुखहेतोः दुःखीयति ॥ २७ ॥

सेवकात् अन्यः—सेवक बिना उन्नतिहेतोः = उत्कर्षम्, पदे—उन्नतिमिच्छुः प्रणमति—नमस्करोति पदे—नम्रो भवति जीवितहेतोः—जीवितुम् प्राणान् विमुञ्चति—त्यजति सुखहेतोः—सुखलाभाय दुःखीयति । सेवक एव लोकेऽस्मिन् स्वामिनं प्रणमति जीवितुं स्वाम्यर्थं प्राणत्यागमपि करोति तथा सुखप्राप्त्यै अनेक दुःखानि सहते नान्य इत्यर्थः ॥

विवेक करके—सेवक अपनी उन्नति के लिये झुकता है जीवित रहने के लिये मरता और सुख पाने के लिए दुःख उठाता है अतः उससे बढ़कर और कौन दूसरा मूर्ख हो सकता है ॥ २७ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम् । यतः—
दमनक ने कहा—मित्र मन से भी कभी ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

विदार्यमाणकाष्ठशकलयोर्मध्यभागे । अनन्तरम् = काष्ठखण्डद्वयमध्येऽण्डकोषद्वय-प्रवेशान्ते, सहजचपलतया = स्वाभाविकचञ्चलतया, आकृष्टवान् = उत्पाटितवान् (खींचा, उखाडा) । चूर्णिताण्डद्वय—चूर्णित = चूर्णीभूतम्, अण्डयो = मुष्कयो, द्वयम् = युगल यस्य स । पञ्चत्व गत = मृत । तथापि = अव्यापारेषु व्यापारकरणस्यानौचित्येऽपि, स्वामिचेष्टानिरूपणम् = प्रभोश्चेष्टाया निर्णय, अनु-जीविना=सेवकेन, पराधिकारचर्चा=अन्याधिकारसम्बद्ध वार्तालाप, सर्वथा= सर्वप्रकारेण ॥

मगध देश मे धर्मारण्य के समीप ही किसी स्थान पर शुभदत्त नाम का एक कायस्थ विहार (बौद्धमठ) बनवा रहा था । वहाँ आरे से चीरे गये कुछ दूर तक फटे हुए लकडी के एक खम्भे की दोनो फाँको के बीच मे बढई ने एक कील गाड दी थी । एक दिन वहाँ बन्दरो का एक बहुत बडा झुण्ड खेलता कूदता हुआ पहुँचा । काल से प्रेरित होकर उनमे से एक बन्दर उस कील को पकड कर बैठ गया । वहाँ उसके लटकते हुए अडकोश भी फटे हुए काठ के बीच मे चले गए । इसके बाद उसने अपनी स्वाभाविक चचलता के कारण बडे परिश्रम से उस कील को खींच लिया । कील के निकल जाने पर उसके दोनो अण्डकोश उसी मे पिस उठे, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अव्यापार मे जो व्यापार करता है' इत्यादि । दमनक ने कहा—'फिर भी सेवक को स्वामी की चेष्टाओ पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।' करटक ने कहा—'जिसे सभी अधिकार दिए हैं, वह प्रधान मन्त्री करे । क्योकि सेवक को दूसरे के अधिकार की चर्चा भी कभी नही करनी चाहिये । देखो—

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया ।
स विषीदति चीत्कारात् गर्दभस्ताडितो यथा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—य (सेवक) स्वामिहितेच्छया पराधिकारचर्चाम् कुर्यात्, चीत्कारात् ताडित गर्दभ यथा स विषीदति ॥ ३१ ॥

पराधिकारचर्चाम्=अन्याधिकारसम्बद्धा वार्ताम्, कुर्यात्=करोति, स्वामि-हितेच्छया=प्रभो हिताभिलाषेण, विषीदति=विषाद करोति, चीत्कारात्= चीत्कारकरणात् (चिल्लानेसे), गर्दभ=रासभ यथा=इव ॥

जो सेवक स्वामी की भलाई के लिए दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा करता है, वह उसी प्रकार दुखी होता है जैसे चिल्लाने के कारण पिटा हुआ गदहा हुआ था ॥ ३१ ॥

दमनक पृच्छति—'कथमेतत्' ? करटको ब्रूते—
दमनक ने पूछा—'यह कैसे ?' करटक ने कहा—

अन्वयः—यो नरः अव्यापारेषु व्यापारं कर्तुम् इच्छति, स (नरः) कीलोत्पाटी वानर इव निहतः (सन्) शेते ॥ १ ॥

अव्यापारेषु=अकर्मसु । शेते=मृतः सन् भूमौ तिष्ठति । कीलोत्पाटी—कीलस्य=शङ्कोः उत्पाटी = उत्पाटनकर्ता ॥

जो मनुष्य अकरणीय कार्यों के करने में अपने आपको लगाने की इच्छा करता है वह कील उखाड़ने वाले वानर के समान घायल होकर मर जाता है ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत्' करटकः कथयति—

दमनक ने पूछा—यह कैसे ? करटक ने कहा—

कथा १

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र बलवान् वानरयूथः क्रीडन्नागतः। एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः। तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम्। अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि। दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम्। करटको ब्रूते—सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या। पश्य—

मगधदेशे—एतन्नामकजनपदे (पटना गया आदिके प्रान्तको 'मगध' कहते हैं)। धर्मारण्यसंनिहितवसुधायाम्=धर्मारण्यस्य निकटस्थभूमौ विहारः=बौद्धभिक्षुणां निवासार्थं भवनम्, करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य—करपत्रेण=काष्ठविदारकास्त्रविशेषेण ('करौत आरा' इति भाषायाम्) विदार्यमाणस्य=द्विधा क्रियमाणस्य एकस्य=अन्यतमस्य स्तम्भस्य=काष्ठविशेषस्य कियद्दूरस्फाटितस्य—स्वल्पं विदारितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये—द्वयोः काष्ठखण्डयोर्मध्यभागे कीलकः=शङ्कुः सूत्रधारेण=काष्ठविदारकेण वार्धकिना (बढ़ई) निहितः=स्थापितः। बलवान्=महान्, वानरयूथः=वानरसमूहः, कालप्रेरितः=मृत्युप्रेरितः तस्य=वानरस्य मुष्कद्वयम्=द्वौ अण्डकोषौ काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे=

अन्वयः—य (भृत्य सुहृद्वा) कार्यकाले याचते स किंभृत्य (च) किंसुहृद् अस्ति। य (प्रभु) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, सः किंप्रभु अस्ति ॥ ३२ ॥

कार्यकाले = कार्यस्य समये, याचते = अर्थयते, किंभृत्य = निन्दित भृत्य, किंसुहृद् = कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत् = भाषणं कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समास ॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ माँगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नही है।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पडने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता' ॥ ३२ ॥

यतः—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तका न सन्ति ॥ ३३ ॥

आश्रितानाम् = आश्रयवताम्, भृतौ = पालने, स्वामिसेवायाम् = स्वामिसेवने, प्रतिहस्तका = प्रतिनिधय। एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधिद्वारेणेत्यर्थ।

क्योंकि—अपने अधीन लोगो की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एव सन्तान उत्पन्न करने मे कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं बन सकता है। अर्थात् ये कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभ सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयॉस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोपि। भवतु तावत्। यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम्। यतः—

सकोपम्—कोपेन सहित यथा स्यात्तथा = क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह = ब्रवीति 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव, इति ब्रुव्धातोराहादेशस्तिप णलादेशश्च। पापीयान्—अतिशयेन पाप पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्यय — महापापीत्यर्थं, उपेक्षाम् = अवज्ञाम्। यथा = येन प्रकारेण, जागरिष्यति = जागरण करिष्यति, तत् = तथा कार्यम्, कर्तव्यम् = करणीयम् ॥

कथा २

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः। स रात्रौ गाढनिद्रया प्रसुप्तः। तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति। कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति। अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे, भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि। कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि। यतोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः। यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति। गर्दभो ब्रूते— शृणु रे बर्बर

वाराणस्याम् = काश्याम्, रजक = धावक (धोबी) प्रसुप्त = सुप्तवान्। तदनन्तरम् = रजकस्य शयनानन्तरम्, हर्तुम् = चोरयितुम्। किमिति = कथम्, नियोगस्य = कर्तव्यस्य अहर्निशम् = अहोरात्रम्, निर्वृत = चौरादिभयरहित निश्चिन्त इत्यर्थः अधुना=इदानीम् 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा।' इत्यमरः। आहारदाने=भोजनदाने मन्दादरः=शिथिलादरः विना विधुरदर्शनम् दुःसमयमदृष्ट्वा उपजीविषु=भृत्येषु, बर्बर=मूर्ख नीचेत्यर्थः ॥

वाराणसी में कर्पूरपटक नाम का एक धोबी था। वह रात में गहरी नींद में सो गया। इसके पश्चात् उसके घर का सामान चुराने के लिये वहाँ चोर घुस आए। उसके आँगन में गदहा बँधा हुआ था और कुत्ता बैठा हुआ था। गदहे ने कुत्ते से कहा—'मित्र यह तुम्हारा काम है। इसलिए जोर से शब्द करके स्वामी को क्यों नहीं जगा रहे हो?' कुत्ते ने कहा— भाई मेरे अधिकार की चर्चा तुम्हें नहीं करनी चाहिए। क्या तुम नहीं जानते हो कि मैं रात-दिन उसके घर की रखवाली करता रहता हूँ। इसी से यह इससे छुटकारा पाकर मेरी आवश्यकता नहीं समझता। और अब मुझे भोजन देने में भी लापरवाह हो गया है। क्योंकि बिना दुःखकाल देखे स्वामी लोग सेवकों की ओर ध्यान नहीं देते। गदहे ने कहा—अरे बर्बर सुन लो यही—

याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः स किंसुहृत्।'

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान्संभावयेद्यस्तु कार्यकाले स किंप्रभुः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—य (भृत्य सुहृद्वा) कार्यकाले याचते स किंभृत्य (च) किं-सुहृद् अस्ति। य (प्रभु) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, स किंप्रभु अस्ति ॥ ३२ ॥

कार्यकाले = कार्यस्य समये, याचते = अर्थयते, किंभृत्य = निन्दित भृत्य., किंसुहृद् = कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत् = भाषण कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समास ॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ माँगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नहीं है।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पड़ने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता' ॥ ३२ ॥

यतः—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तका न सन्ति ॥ ३३ ॥

आश्रितानाम् = आश्रयवताम्, भृतौ = पालने, स्वामिसेवायाम् = स्वामिसेवने, प्रतिहस्तका = प्रतिनिधय। एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधि-द्वारेणेत्यर्थ।

क्योंकि—अपने अधीन लोगों की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एव सन्तान उत्पन्न करने मे कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं बन सकता है। अर्थात् ये कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयाँस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि। भवतु तावत्। यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम्। यतः—

सकोपम्—कोपेन सहित यथा स्यात्तथा = क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह = ब्रवीति 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव, इति ब्रुव्धातोराहादेशस्तिप णलादेशश्च। पापीयान्—अतिशयेन पाप पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्यय — महापापीत्यर्थ, उपेक्षाम् = अवज्ञाम्। यथा = येन प्रकारेण, जागरिष्यति = जागरण करिष्यति, तत् = तथा कार्यम्, कर्तव्यम् = करणीयम् ॥

तब गधे ने क्रोध के साथ कहा—अरे दुष्ट तू तो बहुत ही पापी है, स्वामी के कार्य में ध्यान नहीं देता है। अच्छा जो हो। मैं वही उपाय करूँगा जिससे स्वामी जाग जायँ। क्योंकि—

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम्।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया॥

अन्वयः—(जन) अर्कम् पृष्ठतः हुताशनम् जठरेण स्वामिनं सर्वभावेन (तथा) परलोकम् अमायया सेवयेत् ॥ १४ ॥

अर्कम्=सूर्यम्, पृष्ठतः=पृष्ठभागेन हुताशनम्—हुतमश्नातीति हुताशनस्तम्=अग्निम् जठरेण=नाभिमुखेन सर्वभावेन=सर्वप्रकारेण परलोकम्=स्वर्गम् अमायया=निष्कपटतया सेवयेत्=इत्यस्य सर्वत्रान्वयः ॥

सूर्य का सेवन पीठ देकर करना चाहिए, (सूर्य की ओर पीठ कर धूप लेनी चाहिए) अग्नि का सेवन पेट द्वारा करना चाहिए (आग सामने करके तापना चाहिए) स्वामी की सेवा सभी प्रकार से करनी चाहिए और परलोक का सेवन माया छोड़ कर करना चाहिए ॥ १४ ॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान्। ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास। तेनासौ पञ्चत्वमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि। पश्य। पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः। स्वनियोगचर्चा क्रियताम्। (विमृश्य)। 'किन्त्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम्। यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति। दमनकः सरोषमाह—'कथमाहारार्थी भवान् केवलं राजानं सेवते। एतदयुक्तमुक्तं त्वया। यतः—

अतीव=उच्चस्वरेण पुनः पुनर्वा चीत्कारशब्दं कृतवान्=चीत्कृतवान्। प्रबुद्ध=जागरितः निद्राभङ्गकोपात्—निद्राया भङ्गः न० त०, कोपस्तस्मात्=जागरणजन्यकोपात्, लगुडेन=दण्डेन ('लाठी') तेन लगुडताडनेन असौ=गर्दभः पञ्चत्वमगमत्=मृतः। अन्वेषणम्=अनुसन्धानम्, अस्मन्नियोग=अस्माकमधिकृत कार्यम् (ड्यूटी)। आवयोः=मम तव च भक्षितशेषाहारः=भुक्तावशिष्ट भोज्यम् प्रचुर=पर्याप्त (काफी) आहारार्थी=भोजनाभिलाषुकः। अयुक्तम्=अनुचितम् ॥

ऐसा कहकर वह अत्यन्त जोर से शब्द करना प्रारम्भ किया जिससे वह धोबी उस रेंकने से जाग पड़ा और नींद टूट जाने के कारण क्रोध से उठकर गदहे को डंडे से पीटने लगा, जिससे वह मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा, आदि। पशुओं की टोह लगाना ही हम लोगों का काम है। अपने काम की बात करो। (विचार करके) किन्तु आज हमें उसकी चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ भोजन अभी पर्याप्त है।' दमनक ने क्रोध के साथ कहा—'क्या तुम केवल भोजन पाने के लिए ही राजा की सेवा करते हो। यह तो तुमने अनुचित कहा है। क्योंकि—

सुहृदामुपकारकारणाद्
द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—सुहृदाम् उपकारकारणात्, द्विषताम्=शत्रूणाम् अपि अपकारकारणात् बुधैः नृपसंश्रय इष्यते, कः (जनः) केवलम् जठरम् न बिभर्ति ॥ ३५ ॥

सुहृदाम्=मित्राणाम्, उपकारकारणात्=उपकाराय, द्विषताम् = शत्रूणाम्, अपकारकारणात्=अपकाराय हानये इत्यर्थः, बुधैः=विद्वद्भिः, नृपसंश्रय=राजाश्रयणम्, राजसेवेत्यर्थः, इष्यते=अभिलष्यते। जठरम्=उदरम्, बिभर्ति=पूरयति ॥

बुद्धिमान् लोग मित्रों का उपकार एवं शत्रुओं का विनाश करने के लिए ही राजा की सेवा करते हैं। वैसे अपना पेट कौन नहीं भर लेता ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यस्य जीविते विप्राः, मित्राणि, बान्धवाः (च) जीवन्ति, तस्य जीवितम् सफलम् (अस्ति), आत्मार्थे कः (नरः) न जीवति ॥ ३६ ॥

यस्य=मनुष्यस्य, जीविते=जीवने, यस्मिन् जीवति सति इत्याशयः, विप्राः=ब्राह्मणाः, बान्धवाः=भ्रात्रादिपरिवाराः, सफलम्=सार्थकम्, आत्मार्थे=स्वार्थे ॥

जिसके जीवित रहने से ब्राह्मण, मित्र और भाई बन्धु जीवित रहें, उसी का जीवन सफल है। यों अपने लिए तो सभी जीवित रहते हैं ॥ ३६ ॥

अपि च—यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यस्मिन् (जने) जीवति (सति) बहवः (जनाः) जीवन्ति स तु जीवतु । काकः अपि चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् न कुरुते किम् ? ॥ १७ ॥

बहवः=अनेके जनाः काकः=वायसः चञ्च्वा=चोंचा 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियौ' इत्यमरः । स्वोदरपूरणम्=स्वजठरपूर्तिम् ॥

और भी—जिसके जीवित रहने पर बहुत से लोग जीवित रहते हैं वस्तुतः वही जीवित रहता है । नहीं तो कौवा भी क्या अपनी चोंच से अपना पेट नहीं भर लेता है ? ॥ १७ ॥

अन्यच्च—पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ १८ ॥

अन्वयः—कः अपि मानवः पञ्चभिः पुराणैः दासत्वम् याति कः अपि लक्षैः कृती (भवति) कः अपि लक्षैः न लभ्यते ॥ १८ ॥

कोऽपि=कश्चित् पुराणैः=पणैः (अशीतिवराटिकापरिमितः पणो भवति—पैसा) दासत्वं याति=भृत्यो भवति लक्षैः—शतसहस्रसंख्यामुद्राभिः कृती=कृतार्थः ॥

वैसे—कोई मनुष्य पाँच पैसे पर ही गुलाम बन जाता है कोई लाखों पैसे पर, किन्तु कोई-कोई लाखों पर भी नहीं प्राप्त होता अर्थात् गुलामी नहीं स्वीकार करता ॥ १८ ॥

अन्यच्च—मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः—मनुष्यजातौ तुल्यायाम् भृत्यत्वम् अतिगर्हितम् (अस्ति) तत्र अपि यः (भृत्य) प्रथमः न (भवति) सः जीवत्सु गण्यते किम् ? ॥ १९ ॥

मनुष्यजातौ = मनुष्यत्वे भृत्यत्वम् = दासत्वम् अतिगर्हितम् = अतिशयेन निन्दितम्, तत्रापि तस्मिन् भृत्यत्वेऽपि यः = भृत्यः प्रथमः = मुख्यः भृत्येषु प्रधानम् इत्यर्थः जीवत्सु=प्राणवत्सु जनेषु ॥

और भी—मनुष्य जाति में अपने समान व्यक्ति की नौकरी करना अत्यन्त निन्दनीय है । ऐसी दशा में सेवक होकर भी सेवा में सर्वप्रथम नहीं हुआ क्या उसकी गणना जीवितों में भी आ सकती है ? ॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ २० ॥

अन्वयः—वाजिवारणलोहानाम् काष्ठपाषाणवाससाम् नारीपुरुषतोयानाम् (पारस्परिकम्) अन्तरम् महत् अन्तरम् (भवति) ॥ ४० ॥

वाजिवारणलोहानाम् = अश्वगजायसानाम्, काष्ठपाषाणवाससाम् = दारुशिलावस्त्राणाम् नारीपुरुषतोयानाम्=स्त्रीपुरुषजलानाम्, अन्तरम्=भेद । अश्वादिषु परस्पर महान् भेदो भवति, नैव सर्वेऽपि समानरूपा भवन्तीत्याशय ॥

जैसे कहा भी गया है—घोड़ा, हाथी, लोहा, लकडी, पत्थर, कपडा, नारी-पुरुष और जल मे महान अन्तर होता है ॥ ४० ॥

तथाहि । स्वल्पमप्यतिरिच्यते—

स्वल्पमपि = पूर्वोक्ताश्वादीना साधारणमप्यन्तरम्, अतिरिच्यते = अधिक महत्त्वाधायक भवति ॥

फिर भी कभी-कभी छोटी वस्तु भी बडी मानी जाती है ।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिन निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोपमेति न भवेत्तस्य क्षुध· शान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विप
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूप फलम् ॥४१॥

अन्वयः—श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकम् लब्ध्वा परितोषम् एति, (किन्तु तत्) तस्य क्षुध शान्तये न भवेत् । सिंह अङ्कम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति, कृच्छ्रगत अपि सर्वं जन सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति । ४१ ॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम्—स्वल्पेन=मात्राया न्यूनेन, स्नायुवसयो = वस्नसामेदसो, अवशेषेण = अवशिष्टांशेन, मलिनम् = मलयुक्तम्, निर्मांसम् = मांसरहितम्, अस्थिकम् = अस्थि (हड्डी), लब्ध्वा = प्राप्य, परितोपम् = सन्तोषम्, एति=प्राप्नोति । क्षुध = बुभुक्षाया, शान्तये=शमनाय । जम्बुकम् = शृगालम्, अङ्कम् = स्वक्रोडम्, अतिसमीपमित्यर्थं, आगतम्=स्वय प्राप्तम् निहन्ति=मारयति, द्विपम्=गजम्, कृच्छ्रगत =कष्टावस्था प्राप्त, सत्त्वानुरूपम्= स्वबलानुकूलम् ॥

थोडी सी नसो और चर्बी से मैली मांस रहित हड्डी को ही पाकर कुत्ता सतुष्ट हो जाता है, यद्यपि उससे उसकी भूख शान्त नही होती है । किन्तु सिंह गोद में आए हुए गीदड को छोड कर हाथी को मारता है, क्योंकि सभी लोग कठिनाई मे पड जाने पर भी अपने पराक्रम के अनुकूल ही फल की इच्छा करते हैं ॥ ४१ ॥

अपरञ्च सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

सेव्यसेवकयोः=स्वामिदासयोः अन्तरम्—परस्परभेदम् ॥

और भी स्वामी सेवक का अन्तर देखो—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—श्वा पिण्डदस्य (पुरोभागे) लाङ्गूलचालनम् अधश्चरणावपातम्, च भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनम् कुरुते तु गजपुङ्गवः धीरम् विलोकयति च चाटुशतैः भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

पिण्डदस्य—पिण्डं ददातीति पिण्डदस्तस्य=ग्रासदस्य भोजनदातुः स्वामिन इति यावत्, लाङ्गूलचालनम्=पुच्छभ्रामणम् अधः चरणावपातम् = चरणयोरधः पतनम् निपत्य=लुठित्वा वदनोदरदर्शनम्=स्वमुखस्य स्वजठरस्य च प्रदर्शनम्। गजपुङ्गवः=गजराजः धीरम् = मन्दम् विलोकयति = पश्यति चाटुशतैः=नाना-चाटुकारैः प्रियभाषणैः । अनेन शुनो गजस्य च स्वभावप्रदर्शनेन नीचस्य उच्चस्य च महदन्तरमिति सूचितम् ॥

कुत्ता टुकड़ा देने वाले स्वामी के आगे अपनी पूँछ हिलाता है उसके पैरों पर लोटता है पृथ्वी पर लेट कर उसे अपना पेट तथा मुँह दिखाता है; किन्तु गजराज अपने स्वामी को बड़ी गम्भीरता से देखता है और सैकड़ों खुशामद के बाद उसके दिए हुए भोजन को ग्रहण करता है ॥ ४२ ॥

किञ्च— यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः विज्ञानविक्रमयशोभिः अभज्यमानम् प्रथितम् यत् क्षणम् अपि जीव्यते तज्ज्ञाः इह तत् जीवितं प्रवदन्ति नाम (अन्यथा) काकः अपि चिराय जीवति बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

यज्जीव्यते = यावत् जीव्यते क्षणमपि = क्षणमात्रमपि [illegible] अल्पकालमपीति यावत् [illegible] —विज्ञानं च [illegible] [illegible] विज्ञानविक्रमयशोभिः [illegible] अभज्यमानम् = पूर्णम्

अत एव प्रथितम्=प्रसिद्ध यथा स्यात्तथा जीव्यत इत्यनेन सम्बन्ध , तज्ज्ञा —तत् जानन्ति इति तज्ज्ञा =तद्विद , इह=ससारे, प्रवदन्ति = कथयन्ति, बलिम्=बलिदाने दीयमान भोज्यम्, धर्मशास्त्रेषु श्वाकाकादिभ्यो वलिप्रदानस्य विधि-रुक्त । कलाकौशलपराक्रमकीर्तिभि पूर्णतया प्रसिद्ध जीवनमेव मानवाना वास्तविकं जीवनमस्ति, अन्यथा काकतुल्य मानवजीवन व्यर्थमिति भाव ।

और भी—ज्ञान, विक्रम एव कीर्ति से युक्त तथा लोगो में प्रसिद्ध होकर जो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित रहता है, विद्वान लोग उसी को जीवित कहते हैं। यों तो कौवा भी बहुत दिनो तक जीवित रहकर बलि का अन्न खाया करता है ॥

अपरञ्च—यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—य (नर) आत्मजे दया न (कुरुते, कुरुते इत्यस्य अग्रेऽपि सम्बन्ध), च गुरौ न, च भृत्यवर्गे न, दीने न, च बन्धुवर्गे न, मनुष्यलोके तस्य जीवितफलेन किम् (अस्ति) ? काक अपि चिराय जीवति, च बलिं भुङ्क्ते ॥४४॥

आत्मजे=पुत्रे, गुरौ=मातापित्रादिगुरुजने, भृत्यवर्गे=सेवकसमूहे, दीने=दु खिते; बन्धुवर्गे=बान्धवसमूहे, तस्य=पूर्वोक्तपुत्रादिषु दयारहितस्य नरस्य, जीवित-फलेन=जीवनेन ।

और भी—जो व्यक्ति पुत्र, गुरु, सेवको एव बन्धु बान्धवो के प्रति दया नहीं करता, इस मनुष्य लोक मे उसके जीवित रहने से क्या लाभ ? यो कौवा भी तो बलि का अन्न खा खाकर बहुत दिनो तक जीवित रहता है ॥ ४४ ॥

अपरमपि—अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेष.' ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अहितहितविचारशून्यबुद्धे बहुभि तिरस्कृतस्य च उदरभरण-मात्रकेवलेच्छा पुरुषपशो च पशो का विशेष (अस्ति) ? ॥ ४५ ॥

अहिताहितविचारशून्यबुद्धेः—अहिताहितयोः=अशुभशुभयोः विचारेण=ज्ञानेन शून्या=हीना बुद्धिः=मतिर्यस्य च तस्य हिताहितज्ञानहीनस्येति भावः, बहुभिः=अनेकैः श्रुतिसमयैः=शास्त्रसिद्धान्तैः समयाः सम्प्रदायाचारकार्यविशेष-संविदः' इत्यमरः बहिष्कृतस्य=हीनस्य शास्त्रोक्त कर्माकुर्वत इत्यर्थः उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः=जठरपूर्तिमात्राभिलाषपुरुषस्य, पुरुषपशोः=पुरुषेण पशुतुल्यस्य पशोः पशुपशोः च को विशेषः=किमन्तरमस्ति किमप्यन्तरं नास्तीति भावः ॥

और भी—अपने भले बुरे का विचार न कर सकने वाले वेदोक्त अनेकों आचारों से शून्य तथा केवल अपना ही पेट भरने की इच्छा रखने वाले मनुष्य रूपी पशु तथा पशु में अन्तर ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ । तदावयोः किमनया विचारणया' दमनको ब्रूते—कियता कालेनामात्याः प्रधानताम् अप्रधानतां वा लभन्ते । यतः—

अप्रधानौ=अमुख्यौ कियता=कियत्परिमाणेन अमात्याः=मन्त्रिणः प्रधानताम्=मुख्यताम् ॥

करटक ने कहा—'हम लोग तो प्रधान नहीं हैं । अतः हमें ऐसे विचारों से क्या काम होगा । दमनक ने कहा— बहुत दिनों के प्रयत्न के बाद ही साधारण मंत्री प्रधान अथवा अप्रधान पद प्राप्त करते हैं । क्योंकि—

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावाद्
भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा ।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इह कश्चित् (नरः) स्वभावात् कस्यचित् उदारः अभिमतः वा खलः न भवति (किन्तु) लोके स्वचेष्टितान्येव नरं गुरुत्वम् वा विपरीततां नयन्ति ॥ ४६ ॥

स्वभावात्=प्रकृत्या, उदार=दाता महान् वा उदारो दातृमहतोः इत्यमरः । अभिमतः=अभीष्टः खलः=दुर्जनः । गुरुत्वम्=गौरवम्, विपरीतताम्=अगौरवम्, स्वचेष्टितानि=आत्मनः कर्माणि नयन्ति=प्रापयन्ति ॥

कोई व्यक्ति अपने स्वभाव से ही संसार में किसी के प्रति उदार प्रिय एवं दुष्टस्वभाववाला नहीं होता है बल्कि उसके कार्य ही उसे महानता अथवा नीचता की ओर लेजानेवाले होते हैं ॥ ४६ ॥

किं च—आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यथा शिला महता यत्नेन शैले आरोप्यते, (च) क्षणेन अध निपात्यते, तथा आत्मा गुणदोषयो महता यत्नेन आरोप्यते, क्षणेन निपात्यते च ॥

आरोप्यते=आरोह्यते, आत्मा=जीवात्मा, महतोद्योगेन शैलोपरि स्थाप्यमाना शिलेव जीवात्मा महाप्रयत्नेन गुणे आरोपितो भवति, तथा उपरितनभागात् क्षणमात्रेणाध पात्या शिलेव जीवात्मा क्षणमात्रेण दोषयुक्तो विधीयते ॥

और भी—जैसे पत्थर की चट्टान पहाड पर बडे यत्न के साथ चढ़ाई जाती है किन्तु वही नीचे की ओर बडी आसानी से गिरा दी जाती है, उसी प्रकार आत्मा बडे प्रयत्न से गुणों पर पहुँचाई जाती और आसानी से दोषों मे नीचे गिरा दी जाती है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽधः व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—नर स्वै एव कर्मभि कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्य कारक इव (क्रमश) अधो याति उच्चै व्रजति ॥ ४८ ॥

स्वैरेव कर्मभि =आत्मकृत्यैरेव, खनिता=खनक , यद्वत्=इव, प्राकारस्य=दुर्गादिचतुर्दिक्स्थभित्ते कारक =कर्त्ता ॥

मनुष्य अपने कर्मो द्वारा ही कुआँ खोदने वाले के समान तो नीचे जाता है और चहारदीवारी बनाने वाले के समान ऊपर पहुँचता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।' करटको ब्रूते—'अथ भवान् किं ब्रवीति ? ।' स आह—'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः कुतोऽपि कारणात्सचकित' परिवृत्योपविष्टः ।' करटको ब्रूते—'किं तत्त्वं जानासि ।' दमनको ब्रूते—'किमत्राविदितमस्ति । उक्त च—

भद्रम=वरम् । स्वयत्नायत्त =स्वकर्माधीन , कुतोऽपि=कस्माच्चिदपि, सचकित =भययुक्त , तत्त्वम्=वास्तविकताम् ॥

मन हे भाई, सभी की आत्मा अपने कार्मों के ही अधीन होती है । करटक ने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं ?' उसने कहा—'मेरे स्वामी पिंगलक किसी कारण से ही लौट कर अत्यन्त चकित भाव मे बैठे हैं ।' करटक ने कहा—'तो क्या तुम इसका कुछ मतलब समझ रहे हो ।' दमनक ने कहा—इसमे कौन सी बात छिपी ही है । कहा भी है—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—उदीरितः अर्थः पशुना अपि गृह्यते देशिताः हयाः च नागाः च वहन्ति पण्डितः जनः अनुक्तम् अपि ऊहति हि बुद्धयः परेङ्गितज्ञानफलाः (भवन्ति)

उदीरितः = कथितः अर्थः = विषयः पशुना = घोटकादिना पशुजनेन नागाः = गजाः देशिताः = प्रेरिताः वहन्ति = स्कन्धेन भारादिकं वहन्ति परेङ्गितज्ञानफलाः = अन्यदीयमानसिकचेष्टाबोधपरिणामाः ॥

पशु भी कही हुई बातों को समझ लेता है। आज्ञा पाए हुए घोड़े-हाथी भी सवारी ढोते हैं और पण्डित व्यक्ति बिना कहे हुए ही किसी बात को समझ लेते हैं। क्योंकि दूसरों के मनोभावों को जान लेना ही बुद्धि का फल होता है ॥४९॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

अन्वयः—आकारैः इङ्गितैः गत्या चेष्टया भाषणेन च नेत्रवक्त्रविकारेण अन्तर्गतम् मनः लक्ष्यते ॥ ५० ॥

आकारैः = आकृतिभिः इङ्गितैः = हृद्गतभावैः, गत्या = गतिविशेषेण चेष्टया = हस्तादिसञ्चालनादिचेष्टया भाषणेन = कथनेन नेत्रवक्त्रविकारेण = चक्षुर्मुखविकारेण लक्ष्यते = परिचीयते अन्तर्गतं मनः = आन्तरिकभावः ॥

आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, वाणी और मुख के परिवर्तन से मन की बात जान ली जाती है ॥ ५० ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि।
यतः—

भयप्रस्तावे = स्वामिनो भयावसरे प्रज्ञाबलेन = बुद्धिबलेन आत्मीयम् = स्ववशम् ॥

इस भय की उपस्थिति के समय में अपनी बुद्धि के बल से इस स्वामी को अपना बना लूँगा।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—य (नर) प्रस्तावसदृशम् वाक्यम् सद्भावसदृशम् प्रियम्, आत्मशक्तिसमम्, कोपम् जानाति, स पण्डित (अस्ति) ॥ ५१ ॥

प्रस्तावसदृशम्=अवसरानुकूलम्, वाक्यम्=वाक्कथनम्, सद्भावसदृशम्=सद्भावनोचितम्, प्रियम्=प्रियभाषणम्, आत्मशक्तिसमम्=स्वसामर्थ्यानुकूलम् ।

प्रसग के अनुसार बात चीत, सद्भाव के अनुकूल प्रेम तथा अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जो व्यक्ति जानता है वही पडित कहा जाता है ॥ ५१ ॥

करटको ब्रूते—'सखे, त्वं सेवानभिज्ञ. । पश्य—

सेवानभिज्ञ =सेवाकरणज्ञानहीन ॥

करटक ने कहा—मित्र ! तुम सेवा करना नही जानते । देखो—

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।
आत्मानं मन्यत प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—य तु अनाहूत विशेत्, अपृष्ट बहु भाषते, आत्मानम् भूपालस्य प्रीतम् मन्यते, स दुर्मति (अस्ति) ॥ ५२ ॥

अनाहूत =अनाकारित , विशेत्=गृहादौ गच्छेत्, अपृष्ट = अननुयुक्त (बिना पूछा गया), प्रीतम्=प्रियम्, दुर्मति =दुर्बुद्धि , बुद्धिहीन इति भाव ॥

जो बिना बुलाए निकट जाता है, बिना पूछे बहुत सी बातें करता है और अपने को राजा का प्रिय समझता है वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र, कथमहं सेवानभिज्ञः । पश्य ।

दमनक ने कहा— भाई मैं सेवा करना क्यो नही जानता ? देखो—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दर वाप्यसुन्दरम् ।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स्वभावेन सुन्दरम् असुन्दरम् वा अपि किमपि अस्ति ? यस्मै यत् एव (वस्तु) रोचते, तत् (वस्तु) तस्य सुन्दरम् अस्ति ॥ ५३ ॥

सुन्दरम्=मनोहरम्, रोचते=रुचिकर जायते । स्व स्वरूच्यनुसारमेव सर्वं वस्तु सर्वस्य जनस्य सदसद्वा ज्ञायते इति भाव ॥

कोई वस्तु स्वभाव से ही भली या बुरी नहीं होती बल्कि जिसमे जिसकी रुचि होती है, वही उसे भली लगती है ॥ ५३ ॥

यतः—यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हि यस्य यस्य (जनस्य) यः यः भावः (भवति) मेधावी (नरः) तेन तेन अनुप्रविश्य तम् नरम् क्षिप्रम् आत्मवशम् नयेत् ॥ ५४ ॥

भाव = मनोऽभिप्राय अनुप्रविश्य = तदनुकूलतया त विश्वास्य मेधावी = विद्वान् आत्मवशं नयेत् = स्वस्य वशीभूत कुर्यात् ॥

क्योंकि—प्रतिभाशाली मनुष्य को चाहिए कि जिसका जैसा भाव हो उसी के अनुसार उसके हृदय में घुस कर शीघ्र ही उसे अपने वश में कर ले ॥ ५४ ॥

अन्यच्च—कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—(महीपतिना) अत्र कः (अस्ति) ? (इति पृष्टः) अहम् (अस्मि) सम्यक् आदेशय इति ब्रूयात्, यथाशक्ति महीपतेः आज्ञाम् अवितथाम् (च) कुर्यात् ॥ ५५ ॥

सम्यगादेशय=यथावदाज्ञापय अवितथाम्=तथ्याम् सफलामिति भाव यथा-शक्ति = शक्त्यनुसारम् अव्यय विभक्ति— इति आचार्यधर्मबोधाय ॥

और भी—राजा ज्यों ही 'यहाँ कौन है' इस प्रकार कहें उस समय 'मैं हूँ, आज्ञा दीजिए' इस प्रकार सेवक को कहना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार राजा की आज्ञा व्यर्थ नहीं होने देना चाहिए ॥ ५५ ॥

अपरं च—अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—(यः सेवकः) अल्पेच्छुः धृतिमान् प्राज्ञः छाया इव सदा अनुगतः (भवति) आदिष्टः न विकल्पेत सः राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=स्वल्पवेतनेच्छुक धृतिमान्=धैर्ययुक्त प्राज्ञः=विद्वान्, छायेव=छायेव सर्वदा अनुगतः=अनुगामी आदिष्टः=आज्ञप्तः न विकल्पेत=इदं कुर्यां न वा कुर्यामिति न विचारयेत् राजवसतौ=राजभवने ॥

और भी—थोड़े वस्तु की इच्छा रखने वाला धैर्यशाली छाया के समान सदा अनुगामी है पीछे पीछे चलने वाला और उसके आदेश का बिना विचारे पालन करने वाला बुद्धिमान ही राजा के पास रह सकता है ॥ ५६ ॥

करटको ब्रूते—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी'। स चाह अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसांनिध्यमवश्यं करणीयम् । यतः —

अनवसरप्रवेशात् = असमये गमनात्, अवमन्यते = अपमानं करोति। स्वामिसान्निध्यम्=स्वामिनः निकटे स्थितिम् ॥

करटक ने कहा—'सम्भवत स्वामी बिना काम के ही पास गये हुए तुम्हारा कहीं अपमान न करे'। उसने कहा—ऐसा हो सकता है। किन्तु सेवक को स्वामी के निकट अवश्य रहना चाहिए। क्योंकि—

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम्।
कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते ॥ ५७ ॥

अन्वय.—(यत्) दोषभीते अनारम्भ (भवति), तत् कापुरुषलक्षणम् (अस्ति), हे भ्रात ! अजीर्णभयात् भोजनम् कै परिहीयते ? ॥ ५७ ॥

दोषभीते =वातपित्तादिदोषजदु खभयात्, अनारम्भ —कार्यस्य अप्रारम्भ, कापुरुषलक्षणम्=निन्द्यजनस्य चिह्नम्। अजीर्णभयात् = अजीर्णस्य भयहेतो., भुक्तमन्न जीर्णं भविष्यति नवेति भयकारणात्, परिहीयते=त्यज्यते ॥

किसी दोष के डर से जो कार्य ही नही प्रारम्भ करता वह तो कायर कहा जाता है। भला अपच के डर से सामने रक्खे हुए भोजन को कोई छोड़ देता है ? ॥ ५७ ॥

पश्य—आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति' ॥ ५८ ॥

अन्वयः—नृपति विद्याविहीनम् अकुलीनम् वा असङ्गतम् आसन्नम् एव मनुष्यम् भजते, प्रायेण भूमिपतय प्रमदा च लता य पार्श्वत वसति, तम् परिवेष्टयन्ति ॥ ५८ ॥

आसन्नम्=निकटस्थम्, अकुलीनम्=नीचवंशजम्, असङ्गतम्=अयोग्यम्, प्रायेण=प्रायश, प्रमदा =स्त्रिय, पार्श्वत =पार्श्वभागे, निकटे इत्यर्थ, परिवेष्टयन्ति=भूमिपतय अनुगृहीत कुर्वन्ति, प्रमदा आलिङ्गन कुर्वन्ति, लताश्च आश्रयन्ति ॥

देखो—राजा अपने पास रहने वाले मनुष्य को ही याद रखता है, भले ही वह मनुष्य विद्या से रहित, अकुलीन अथवा मूर्ख ही क्यों न हो। क्योंकि राजा, स्त्रियाँ और लताएँ प्राय उसी को अपनाती हैं जो उनके पास रहता है ॥ ५८ ॥

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान्।' स आह—'शृणु। किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि।' करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम्।' दमनको ब्रूते—'शृणु।

वर्धयति—कर्माधिरूढ़ति । अनुरक्त—स्नेहयुक्त विरक्तः—विरागयुक्तः ॥

करटक ने कहा—'तो वहाँ जाकर आप क्या कहेंगे ? उसने कहा—'सुनो, पहले मैं यह मालूम करूँगा कि स्वामी मुझ पर प्रसन्न है अथवा मेरी उपेक्षा कर रहा है । करटक ने कहा— इसको जानने का क्या उपाय है' ? दमनक ने कहा–'सुनो—

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम् ।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

अन्वयः—दूरादवेक्षणम् हासः संप्रश्नेषु भृशम् आदरः परोक्षे अपि गुणश्लाघा प्रियवस्तुषु स्मरणम् ॥ ५९ ॥

अवेक्षणम्=अवलोकनम् संप्रश्न =सत्कारपूर्वकं प्रश्नकरणम् परोक्षे=अप्रत्यक्षे गुणश्लाघा=गुणप्रशंसा स्मरण —प्रियकरं वस्तु प्राप्य स्मृति ' भवीयानी स्यात्तदा तस्मै अपि इदं दद्यामी'त्यादिभावेन स्मरणम् ॥

दूर से ही देखना हँसना पूछने समय बहुत आदर दिखाना पीठ पीछे गुणों की प्रशंसा करना और प्रिय वस्तुओं में याद करना ॥ ५९ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६० ॥

अन्वयः—असेवके अनुरक्ति दानम् च सप्रियभाषणम् च दोषे अपि गुणसंग्रहः (एतानि) अनुरक्तस्य चिह्नानि (सन्ति) ॥ ६० ॥

असेवके=सेवाया अकर्तरि, अनुरक्ति=अनुराग दान = प्रियवाक्यपूर्वकं किञ्चित्प्रदानम् अनुरक्तस्य = स्नेहवत दोषे = अपराधे गुणसंग्रह = गुणानामेव दर्शनम्; (इति भावानुकूलोपाये वर्णितानि लक्षणानि स्नेहयुक्तस्य स्वामिनः सन्तीति बोध्यम्) ॥

सेवा न करने पर भी उसके प्रति प्रेम भाव रखना मीठी बातों के साथ कुछ देना और दोष में भी गुण ग्रहण करना यह प्रसन्न राजा के लक्षण हैं ॥ ६० ॥

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम् ।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मतिमान् नरः कालयापनम् आशानाम् वर्धनम् फलखण्डनम् विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयात् ॥ ६१ ॥

कालयापनम्—समयनिर्वाह (आज हूँगा कल दूँगा' इत्यादि कहकर --- टालना) आशाया वर्धनम् = वेतनवर्धनस्याशाया अस्य वर्धनम् फल-

खण्डनम्=जातेऽपि गले तन्निराकरणम्, विरक्तेश्वरचिह्नानि=विरक्तस्य स्वामिनो लक्षणानि ॥

और भी—बुद्धिमान को यह जान लेना चाहिए कि समय टालना, झूठी आशाएँ बढाना और परिणाम को व्यर्थ कर देना—उदासीन राजा के लक्षण हैं ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति, तथा वदिष्यामि । यतः—

ज्ञात्वा = विदित्वा, ममायत्त =मदधीन , वदिष्यामि=कथयिष्यामि ॥

यह समझ कर जैसे यह मेरे वश मे हो वैसा ही कहूँगा । क्योंकि—

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अन्वयः—मेधाविन (नरा) नीतिविधिप्रयुक्ताम् अपायसदर्शनजाम् विपत्तिम् उपायसदर्शनजाम् सिद्धिम् पुर स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अपायसदर्शनजाम्—अपायस्य=कार्यनाशस्य, सदर्शनात्=प्रदर्शनात् जायते= उत्पद्यते इति ताम्, उपायसदर्शनजाम्—उपायस्य=कार्यसिद्धे , सदर्शनात् जायते इति ताम्, मेधाविन = बुद्धिमन्तो जना , नीतिविधिप्रयुक्ताम् = नीति-द्वारेण सम्पादिताम्, पुर स्फुरन्तीमिव=प्रत्यक्षरूपेण भासमानामिव । बुद्धिमन्तो जना नीत्या, एवङ्कृते कार्यनाशेन विपत्ति तथा अनेनोपायेन करणे कार्यसिद्धिर्भविष्यति इत्येवप्रकारेण स्वामिनोऽग्रे प्रत्यक्षदृश्यमानामिव बोधयन्ति ।

बुद्धिमान् नीतिशास्त्र को विधियो का उचित प्रयोग करके दोषों से उत्पन्न हानि और उपायों से होने वाली सिद्धि को सामने झलकती हुई सी दिखाते हैं ॥

करटको ब्रूते-'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि । यत. ।

अप्राप्ते = अनागते, प्रस्तावे = अवसरे ॥

करटक ने कहा—फिर भी विना प्रसग आए तो तुम कुछ भी न कह सकोगे ? क्योंकि—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अप्राप्तकालवचनम् ब्रुवन् बृहस्पति. अपि बुद्ध्यवज्ञानम् च शाश्वतम् अपमानम् लभते ॥ ६३ ॥

अप्राप्तकालवचनम्—अप्राप्तः कालो यस्य तच्च तद्वचनं = असामयिकवचनम्, बुद्ध्यवज्ञानम्=बुद्धयनादरम्, अपमानम्—अपमानम् = अपकीर्ति ॥

बृहस्पति भी बिना प्रसंग आए ही कोई बात कहने से मूर्ख समझे जाते हैं और उनका सर्वदा अनादर होने लगता है ॥ ९३ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र, मा भैषीः । नाहमप्राप्तावसरं वचनं वदिष्यामि । यतः—

दमनक ने कहा—'मित्र डरो मत मैं बिना अवसर आए कोई भी बात नहीं कहूँगा । क्योंकि—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ९४ ॥

अन्वयः—आपदि उन्मार्गगमने च कार्यकालात्ययेषु (सत्सु) अपृष्टेन अपि हितमिच्छता भृत्येन वक्तव्यम् ॥ ९४ ॥

आपदि = स्वामिनो विपत्काले उन्मार्गगमने = कुमार्गगमने कार्यकालात्ययेषु=कार्यसमयातिक्रमणेषु अपृष्टेन=अननुयुक्तेन हितमिच्छता=हितैषिणा ॥

आपत्ति में पड़ने बुरे मार्ग में चले रहने तथा काम का समय बीत जाने पर स्वामी का हित चाहने वाले सेवक का कर्तव्य है कि बिना पूछे ही उचित बातें कह दे ॥ ९४ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम् । यतः—

प्राप्तावसरेण=लब्धावसरेण (मौका पाकर) मन्त्रः=उचितपरामर्शः, अनुपपन्नम्=असिद्धम्, व्यर्थमिति यावत् ॥

यदि अवसर पाकर भी मैं उसे उचित सलाह न दूँ तो मेरा मंत्रित्व ही व्यर्थ हो जायगा । क्योंकि—

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(पुरुषः) येन वृत्तिं कल्पयति च लोके सद्भिः येन प्रशस्यते, स गुणः तेन रक्ष्यः च संवर्धनीयः ॥ ९५ ॥

कल्पयति = कुरुते रचयते इत्यर्थः येन=येन गुणेन वृत्तिम्=जीविकाम्, प्रशस्यते = प्रशंसनीयो जायते सद्भिः = सज्जनैः, रक्ष्यः = रक्षणीयः संवर्धनीयः=वर्धयितुं योग्यः ॥

जिस गुण से जीविका चलती है और जिससे ससार में सज्जनोंद्वारा प्रशंसा होती है, गुणी मनुष्य को उस गुण की रक्षा करनी चाहिए और उसे बढ़ाये रहना चाहिए ॥ ६५ ॥

'तद्भद्र ! अनुजानीहि माम् । गच्छामि ।' करटको ब्रूते-'शुभमस्तु । शिवास्ते पन्थानः । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्' इति । ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः ।

अनुजानीहि माम्=स्वामिसमीपं गन्तुं मामाज्ञापय । अनुष्ठीयताम् = विधीयताम्, त्वयेति शेष । विस्मित इव=आश्चर्यितवत्, सभयवत् इत्यर्थ ॥

अत भद्र, मुझे आज्ञा दो । मैं जा रहा हूँ । करटक ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो । जाओ, अपनी इच्छा के अनुसार काम करो । इसके पश्चात् दमनक कुछ चकित सा होकर पिंगलक के समीप गया ।

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपात प्रणिपत्योपविष्टः । राजाऽऽह—'चिराद् दृष्टोऽसि' । दमनको ब्रूते—'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सांनिध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि । किञ्च—

सादरम्=आदरपूर्वकम्, प्रवेशित =कारितान्त प्रवेश , साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्य = साष्टाङ्ग पतित्वा प्रणम्य । श्रीमद्देवपादानाम् = भवच्चरणानाम् भवतामित्यर्थ , प्राप्तकालम्=अवसरे प्राप्ते, अनुजीविना = सेवकेन, सांनिध्यम्= स्वामिनिकटगमनम् ॥

राजा ने उसे दूर ही से आदर के साथ अपने पास बुलाया । वह साष्टाङ्ग प्रणाम करके बैठ गया । राजा ने कहा—बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़े । दमनक ने कहा—यद्यपि हमारे जैसे तुच्छ सेवक की स्वामी को कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी सेवक को समय पड़ने पर स्वामी के पास अवश्य जाना चाहिए । इसी नाते आया हूँ । क्योंकि—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणा किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! दन्तस्य निर्घर्षणकेन वा कर्णस्य कण्डूयनकेन तृणेन अपि ईश्वराणाम् प्रयोजनं भवति, (तर्हि) अङ्गवाक्पाणिमता नरेण किम् (वक्तव्यम्, तेन त्ववश्य प्रयोजनं भविष्यतीति भाव) ॥ ६६ ॥

निर्घर्षणकेन=सङ्घर्षणकृता (खोदनेवाले), कण्डूयनकेन=कण्डूयनकारिणा (खुजलानेवाले), ईश्वराणाम्=स्वामिनाम्, अङ्गवाक्पाणिमता = वचनहस्त-

पादपुटेन । यदि [illegible] राज्ञो [illegible] प्रयोजनं [illegible] ।
[illegible] प्रयोजनं भवति अपि तु [illegible] ।

हे राजन्, [illegible] और [illegible] के लिए राजाओं को [illegible] भी आवश्यकता पड़ जाती है तो फिर [illegible] मनुष्य की तो [illegible] क्या है ? ॥ ३६ ॥

यद्यपि चिरकालपरिचितस्य देवपादेषु बुद्धिमतां [illegible]
न [illegible] । यतः—

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible] ॥ ३७ ॥

[illegible]

मणि =रत्नम्, लुठति = धारित तिष्ठति। यदि मणिकाचयोरनुचितस्थाने ग्रहणेनापि तयोर्गुण नाल्पमपि हीयते इत्यर्थ. ॥

यदि मणि को पैरो पर डाल दिया जाय और कांच को शिर पर धारण कर लिया जाय तो भी जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। कांच (शीशा) कांच ही रहेगा और मणि मणि ही रहेगी ॥ ६८ ॥

अन्यच्च—निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

अन्वयः—यदा राजा निर्विशेष' (सन्) सर्वेषु सम वर्तते, यदा उद्यमसमर्थानाम् उत्साह परिहीयते ॥ ६९ ॥

निर्विशेष =गुणतारतम्यस्य अज्ञ, सर्वेषु=समस्तेषु, गुणवत्सु गुणहीनेषु चेत्यर्थ, उद्यमसमर्थानाम्=उद्योगिनाम्, परिहीयते=हीनो भवति ॥

और भी—जब राजा सेवक की विशेषताओ पर ध्यान दिए बिना ही सभी के साथ समान व्यवहार करता है तो उद्यमी सेवक का उत्साह ठंढा पड जाता है ॥

किञ्च—त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

अन्वयः—राजन्! उत्तमाधममध्यमा (इति) त्रिविधा पुरुषा' (भवन्ति, अत राजा एतान् त्रिविधेषु एव कर्मसु तथा एव योजयेत् ॥ ७० ॥

त्रिविधा = त्रिप्रकारा, उत्तमाधममध्यमा = श्रेष्ठा नीचा साधारणाश्च। नियोजयेत्—नियुक्तान् कुर्यात्, त्रिविधेषु=उत्तमनीचसाधारणेषु ॥

और भी—हे राजन्! मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इस लिए इन तीनो प्रकार के मनुष्यो को तीन प्रकार के कार्यो—उत्तम, मध्यम और अधम मे ही लगाना चाहिए ॥ ७० ॥

यतः—स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—भृत्या आभरणानि च स्थाने एव नियोज्यन्ते, पादे चूडामणि शिरसा नूपुरम् नहि कृतम् (भवति) ॥ ८१ ॥

स्थाने=योग्यस्थाने आभरणानि = अलङ्काराः चूडामणिः=शिरोभूषणम्, नूपुरम्=चरणभूषणम् (पायजेब पैंजनी)

और भी—सेवक और आभूषण को उचित स्थान ही पर नियुक्त करना चाहिए क्योंकि चूड़ामणि पैर में और नूपुर सिर पर कभी नहीं धारण किया जा सकता है ॥ ७१ ॥

अपि च—कनकभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति न चापि न शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यदि कनकभूषणसंग्रहणोचितः मणिः त्रपुणि प्रणिधीयते स न विरौति च न शोभते इति न (किन्तु) योजयितुः वचनीयता । (भवति) ॥७२॥

कनकभूषणसंग्रहणोचितः—स्वर्णालङ्कारे खचितुं योग्यः त्रपुणि=रांगे, तुच्छ-धातुविशेषे (रांगा) नामके विरौति=विरुद्धं शब्दायते तथापि =न शोभते इति न अपि तु शोभत एव । योजयितुः = त्रपुणो भूषणे योजकस्य वचनीयता= निन्दा ॥

और भी—सोने के आभूषण में जड़ी जाने के योग्य मणि यदि रांगे में जड़ दी जाय तो न तो वह रोती है और अच्छी नहीं लगती यह बात नहीं है किन्तु अच्छी लगती ही है इससे तो उसके जड़नेवाले की ही निन्दा होती है ॥

अन्यच्च—मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।
नहि दोषो मणेरस्ति किन्तु साधोरविज्ञता ॥ ७३ ॥

अन्वयः—(यदि) मुकुटे काचः (च) चरणाभरणे मणिः रोपितः (भवति तदा) मणेः दोषः न हि अस्ति किन्तु साधोः अविज्ञता (भवति) ॥ ७३ ॥

मुकुटे = शिरोधार्यभूषणविशेषे रोपितः = खचितः (जड़ा गया) चरणाभरणे = पादभूषणे नूपुरादौ साधोः = वणिजः (साहूकारकी) अविज्ञता = विविक्तज्ञानहीनता ॥

और भी—यदि मुकुट में कांच और पैर के गहने में मणि जड़ दी जाय तो इसमें मणि का कोई भी दोष नहीं। बल्कि ऐसा करने वाला साहूकार ही मूर्ख समझा जायगा ॥ ७३ ॥

पश्य—बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृप. ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अयम् बुद्धिमान् अनुरक्त , अयम् शूर , इत भयम् (अस्ति), इति भृत्यविचारज्ञ नृप भृत्यै आपूयते ॥ ७४ ॥

अनुरक्त = अनुरागपूर्ण , शूर = वीर , इत = अस्मात् भृत्यादिति शेष , इति = इत्थम्, भृत्यविचारज्ञ = भृत्यविचारज्ञानपूर्ण , आपूर्यते = परिपूर्णो भवति । बुद्धिमदादिभृत्यज्ञानवत नृपस्य समीप एव भृत्या सदा तिष्ठन्तीति भाव ॥

देखिये—यह सेवक बुद्धिमान् है, यह मुझमे अनुरक्त है, यह वीर है, इससे मुझे भय है—इस प्रकार सेवको के विषय मे ज्ञान रखने वाला स्वामी सर्वदा सेवको से भरा पूरा रहता है ॥ ७४ ॥

तथा हि—अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेष प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अश्व शस्त्रम् शास्त्रम् वीणा वाणी च नर च नारी (एते) पुरुषविशेष प्राप्य योग्या च अयोग्या भवन्ति ॥ ७५ ॥

पुरुषविशेषम् = योग्यमयोग्य वा नरम् ॥

जैसा कि—घोडा, हथियार, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री—ये सब योग्य या अयोग्य पुरुष के हाथों में पड कर योग्य या अयोग्य बन जाते हैं ॥७५॥

अन्यच्च—किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नवज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७६ ॥

अन्वयः—भक्तेन (परन्तु) असमर्थेन (भृत्येन) किम् (अस्ति) ?, अपकारिणा शक्तेन किम् (अस्ति) ?, हे राजन् ! (त्वम्) भक्तम् च शक्तम् माम् अवज्ञातुम् न अर्हसि ॥ ७६ ॥

भक्तेन = भक्तियुक्तेन, असमर्थेन = सामर्थ्यहीनेन, शक्तेन = सामर्थ्ययुक्तेन, अपकारिणा = अपकारकारिणा, अवज्ञातुम् = तिरस्कर्तुम्, अर्हसि = योग्योऽसि ॥

स्वामिभक्त होते हुए भी शक्तिहीन सेवक से कोई लाभ नही, उसी प्रकार शक्तिशाली होते हुए भी बुरा चाहने वाले सेवक से भी कोई लाभ नही । इस लिए आप को स्वामिभक्त शक्तिसम्पन्न मेरे जैसे सेवक का निरादर करना उचित नहीं है ॥ ७६

यतः—अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः
ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये नहि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—राज्ञः अवज्ञानात् परिजनः मतिहीनः भवति ततः तत्प्रामाण्यात् बुधजनः समीपे न भवति बुधैः त्यक्ते राज्ये गुणवती नीतिः न भवति नीतौ विपन्नायाम् अवशम् सकलम् जगत् सीदति ॥ ७७ ॥

अवज्ञानात्=तिरस्कारात्, परिजनः=भृत्यसमूहः तत्प्रामाण्यात् = बुद्धिहीनपरिजनस्य वाक्यप्रामाण्येन बुधजनः=विद्वांसः बुधैः त्यक्ते = विद्वद्रहिते गुणवती = प्रशस्तगुणयुक्ता विपन्नायाम् = नष्टायाम्, सकलम् = सर्वम्, सीदति = पीडितं भवति नश्यतीति भावः ॥

क्योंकि—राजा के तिरस्कार करने से सेवक बुद्धिहीन हो जाता है जिससे उन्हीं को प्रमाण मान कर विद्वान् लोग उसके समीप ही नहीं जाते और बुद्धिमानों के द्वारा छोड़े गये राज्य में नीति गुणशालिनी नहीं होती तथा नीति के दूषित हो जाने से सारी प्रजा उच्छृङ्खल होकर नष्ट हो जाती है ॥ ७७ ॥

अपरञ्च—जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।
नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७८ ॥

अन्वयः—जनपदाः नृपार्चितम् जनम् नित्यम् अर्चयन्ति तु यः नृपेण अवमतः सः सर्वैः अवमन्यते ॥ ७८ ॥

जनपदाः=देशाः तत्रस्था देशवासिनः इत्यर्थः, नृपार्चितम् = राज्ञा सत्कृतम्, अवमतः = अनादृतः अवमन्यते = अनादृियते ॥

और भी—हे राजन् राजा द्वारा सम्मानित व्यक्ति का प्रजा भी सम्मान करती है किन्तु जो राजा से अपमानित होता है वह सभी लोगों द्वारा अपमानित होता है ॥ ७८ ॥

किञ्च—बालादपि गृहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—मनीषिभिः युक्तम् उक्तम् बालात् अपि गृहीतव्यम् रवेः अविषये किम् प्रदीपस्य प्रकाशनम् न (भवति) ? ॥ ७९ ॥

बालात्=बालकात्, युक्तम्=योग्यम्, उक्तम्=कथित वचनम्, मनीषिभि=बुद्धिमद्भि, रवेरविषये=सूर्येऽविद्यमाने, प्रदीपस्य=दीपकस्य, प्रकाशनम्=प्रकाश, सूर्याभावे दीपप्रकाशग्रहणवद्विद्वज्जनोक्त्यभावे बालकोक्तमप्युचितवचनं ग्रहणीयमेवेत्याशय ॥

और भी—विद्वानों को बालक द्वारा भी कही गई उचित बात मान लेनी चाहिए। जहाँ सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता वहाँ क्या दीपक नहीं जलाया जाता? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र दमनक! किमेतत्?। त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र इयन्तं कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि। इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि।' दमनको ब्रूते—'देव, पृच्छामि किञ्चित्। उच्यताम्। उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति।' पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्रमुक्तं त्वया। किन्त्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति। तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि। शृणु। सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम्। अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि। तथा च श्रुतो मयापि महानपूर्वशब्दः। शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम्।' दमनको ब्रूते—'देव! अस्ति तावदयं महान् भयहेतुः। स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः। किन्तु स किमन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं पश्चाद्युद्धं चोपदिशति अस्मिन् कार्यसन्देहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः। यतः—

भद्र=कल्याणिन्!, अस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र—अस्मन्मुख्यमन्त्रिसुत, इयन्त काल यावत्=एतावत्कालपर्यन्तम्, कुतोऽपि=कस्माच्चित्, खलवाक्यात्=दुर्जनोक्ते। यथाभिमतम्=स्वामीष्टानुसारम्। उदकार्थी=जलाभिलाषी स्वामी=प्रभु, भवानिति यावत् किमिति=कथम्, विस्मित इव=भीतवत्, भद्रम्=सम्यक्। रहस्यस्य=गुप्तविषयस्य, विश्वासभूमि=विश्वासस्थानम्। निभृतम्=एकान्तम्, निर्जनमिति भाव। सम्प्रति=अस्मिन् समये, अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्—अपूर्वेण=नवागन्तुकेन, सत्त्वेन=जीवेन, अधिष्ठितम्=कृताधिष्ठानम्, अत्र वने कोऽपि नवीनो जन्तुस्तिष्ठतीति यावत्। श्रुत=आकर्णित, अपूर्वशब्द=अश्रुतपूर्वो ध्वनि, शब्दानुरूपेण=ध्वन्यनुसारम्, प्राणिन=जन्तो, भयहेतु=भयस्य कारणम्, आकर्णित=श्रुत। भूमित्यागम्=निवासस्थानत्यागम्, उपादिशति=मन्त्रयति, भृत्यानाम्=सेवकानाम् उपयोग=उपयोगिता॥

पिंगलक ने कहा—भद्र दमनक, यह क्या? तुम हमारे प्रधानमंत्री के पुत्र

हो। पता नहीं किस दुष्ट की बात में पड़कर इतने दिनों तक तुम नहीं आये। अब तुम अपनी बात कहो। दमनक ने कहा—देव मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूँ। यह बताइए कि आप पानी पीने तो गए, किन्तु बिना पानी पिए ही क्यों इस प्रकार चकित-सा होकर बैठे हैं? पिङ्गलक ने कहा—'तुमने ठीक ही कहा है किन्तु इस रहस्य को बताने के लिए कोई विश्वासपात्र ही नहीं है फिर भी मैं तुमसे कह रहा हूँ। सुनो—इस समय इस जंगल में कोई अपूर्व जानवर आ गया है अतः मुझे यह स्थान छोड़ देना चाहिए। इसी कारण मैं चकित हूँ। मैंने भी उसका महान् अपूर्व शब्द सुना है। शब्द के अनुसार तो उस प्राणी को बहुत ही बलवान् होना चाहिए। दमनक ने कहा—'देव यह तो बड़े ही भय का कारण है। यह शब्द हमलोगों ने भी सुना है। किन्तु वह मंत्री कैसा जो पहले स्थान छोड़ देने और फिर युद्ध करने की सलाह दे। ऐसे ही सन्देहात्मक विषय में सेवकों की उपयोगिता समझनी चाहिए। क्योंकि—

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—नरः बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य च आत्मनः सारताम् आपन्निकषपाषाणे जानाति ॥ ८० ॥

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य—बन्धूनाम् = बान्धवानाम्, स्त्रीणाम्=पत्नीनाम्, भृत्यानां च = सेवकानां च वर्गस्य = समूहस्य सत्त्वस्य=बलस्य आत्मनः= स्वस्य आपन्निकषपाषाणे—आपद्-विपत्तिरेव निकषपाषाणम् = सुवर्णपरीक्षण प्रस्तरः (कसौटी) सारताम् = श्रेष्ठताम्। यथा निकषप्रस्तरे सुवर्णस्य स्वर्णत्वं जानाति तथैव आपत्ती बन्धुप्रभृतीनां सारत्वं नरः जानाति इत्याशयः ॥

भाई, स्त्री सेवक वर्ग बुद्धि और अपने बल को आपत्तिरूपी कसौटी पर कस कर ही मनुष्य उनका तत्व समझ सकता है ॥ ८० ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र, महती शङ्का मां बाधते।' दमनकः पुनराह स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां सम्भाषसे।' प्रकाशं ब्रूते—'देव! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः—

माम्=पिङ्गलकम्, बाधते=पीडयति। स्वगतम् = स्वमनसि तत्काल चिन्तितवान्। अन्यथा=अभयाभावे सति स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानम्, सम्भाषसे=कथयसि प्रकाशम्=स्पष्टम् [illegible] यापयित्वा करटकादयः = करटकप्रभृ

तय, आश्वास्यन्ताम्=आश्वासनीया, करटकादीनप्याश्वासयेत्यर्थं। यत = यस्मात् कारणात्, आपत्प्रतीकारकाले = विपन्निराकरणक्षणे पुरुषसमवाय = शक्तानुरक्तसेवकसमूहसमागम ॥

सिंह ने कहा—'भद्र, मुझे बहुत बड़ी शंका सता रही है। दमनक ने मन ही मन कहा—'ऐसा न होता तो राज्यसुख छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने की बात ही क्यों मुझसे कहते?' उसने प्रकट रूप मे कहा—'राजन्! जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक आप को डरना नहीं चाहिए। किन्तु करटक इत्यादि को भी आश्वासन दे दें, क्योंकि विपत्ति का सामना करने के समय पुरुषों का एकत्रित होना कठिन होता है।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे, किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः?। यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः। पश्य—

सर्वस्वेन = सर्वविधधनेन, प्रचुरद्रव्येणेति यावत्, भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय = तद्भयं निराकरिष्याव इति प्रतिज्ञा कृत्वा। शक्यप्रतीकार = निवारयितुं शक्य, भयहेतु = भयकारणम्, भयोपशमम् = भयनिवारणम्, प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा, महाप्रसाद =स्वामिदत्त श्रेष्ठ पुरस्कार। अनुपकुर्वाण =उपकारमकुर्वन्, उपायनम् = उपहारम् (भेंट) ॥

इसके पश्चात् दमनक और करटक राजा से भली भाँति सम्मानित होकर भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके चले। करटक ने चलते समय दमनक से कहा—मित्र, भय का कारण दूर हो सकने योग्य है अथवा नहीं—बिना इसे समझे ही भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके क्यों तुमने इन बड़े पुरस्कार को ले लिया? क्योंकि बिना उपकार किए किसी का पुरस्कार नहीं लेना चाहिए, और विशेष कर राजा का तो अवश्य नहीं। देखो—

यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यस्य प्रसादे पद्मा च पराक्रमे विजय आस्ते, च क्रोधे मृत्युः वसति स हि सर्वतेजोमय (अस्ति)

यस्य=नृपस्य, प्रसादे=प्रसन्नतायाम्, पद्मा = लक्ष्मी, आस्ते=वर्तते, यस्मिन् प्रसन्ने लक्ष्मीर्भवति इत्यर्थं, मृत्यु =मरणम्, सर्वतेजोमय =समस्ततेजोयुक्त ॥

जिसकी कृपा से लक्ष्मी पौरुष में विजय तथा क्रोध में मृत्यु का निवास होता है इसी से यह सभी तेजों से पूर्ण होता है ॥ ८१ ॥

तथा हि—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(अयम्) मनुष्यः (अस्ति) इति (विचिन्त्य) बालः अपि भूमिपः न अवमन्तव्यः हि एषा महती देवता नररूपेण तिष्ठति ॥ ८२ ॥

अवमन्तव्यः=तिरस्कर्तव्यः भूमिपः=राजा महती=बहुशक्तियुक्ता देवता ॥

जैसा कि—बालक राजा को भी मनुष्य समझ कर उसका निरादर नहीं करना चाहिए। वह तो एक बड़ा देवता होता है जो मनुष्यरूप में पृथ्वी पर निवास करता है ॥ ८२ ॥

दमनको विहस्याह—'मित्र ! तूष्णीमास्यताम्। ज्ञातं मया भयकारणम्। बलीवर्दनर्दितं तत्। वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः। किं पुनः सिंहस्य।' करटको ब्रूते—'यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः।' दमनको ब्रूते—'यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्। अपरञ्च—

तूष्णीमास्यताम्=त्वया मौनेन स्थीयताम्, बलीवर्दनर्दितम्=वृषभगर्जनम्। भक्ष्याः=भोज्याः। स्वामित्रासः=स्वामिनो भयम्, अपनीतः=दूरीकृतः। मुच्यते=दूरीक्रियते ॥

दमनक ने हँसकर कहा—'मित्र चुप रहो। मैंने भय का कारण समझ लिया है। वह बैल का शब्द है। बैल हम दोनों का भी भोजन है फिर सिंह की तो बात ही क्या'? करटक ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो फिर तुमने स्वामी के भय को वहीं क्यों नहीं दूर कर दिया'? दमनक ने कहा—'यदि स्वामी का भय वहीं दूर कर देता तो यह इतना बड़ा पुरस्कार कैसे प्राप्त होता? और भी—

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—भृत्यैः कदाचन स्वामी निरपेक्षः न कर्तव्यः। प्रभुं निरपेक्षं कृत्वा भृत्यः दधिकर्णवत् स्यात् ॥ ८३ ॥

निरपेक्षः=अपेक्षाहीनः। कदाचन=कदाचित्। दधिकर्णवत्—दधिकर्णेन इति विडालेन तुल्यं क्रिया वर्तते इति दधिकर्णवत्=दधिकर्ण नामकबिडाल-तुल्यः। स्यात्=भवेत् ॥

सेवक को चाहिए कि वह कभी भी स्वामी को निरपेक्ष (सेवक को अनावश्यक समझने वाला) नहीं करे, क्योंकि स्वामी को निरपेक्ष बना देने से सेवक की दशा दधिकर्ण के समान हो जाती है ॥ ८३ ॥

करटकः पृच्छति-'कथमेतत् ?' दमनकः कथयति—

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' दमनक ने कहा—

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः। तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्रं कश्चिन्मूषिकः प्रत्यहं छिनत्ति। ततः केसराग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषिकमलभमानोऽचिन्तयत्—

महाविक्रम =अतीव पराक्रमी, पर्वतकन्दरम्=गिरिगुहाम्, अधिशयानस्य= सुप्तस्य, केसराग्रम्=ग्रीवोपरिस्थवालसमूहाग्रमित्यर्थ , लूनम् = छिन्नम्, विवरान्तर्गतम्=विलस्याभ्यन्तरे प्रविष्टम्, अलभमान =अप्राप्नुवन् । विधेयम्=कर्तव्यम् ॥

भारत के उत्तरी प्रदेश में अर्वुदशिखर नाम के पहाड़ पर दुर्दान्त नाम का एक बड़ा बलवान् सिंह रहता था। पर्वत की गुफा में सोने के समय कोई चूहा नित्य उसके अयाल (गर्दन का बाल) का अगला भाग कुतर देता था। इस तरह अपने अयाल को कटा हुआ देखकर तथा बिल में रहने वाले चूहे को न पाकर क्रुद्ध सिंह ने विचार किया—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते।
तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः' ॥ ८४ ॥

अन्वयः—य तु क्षुद्रशत्रु भवेत्, (स यदि) विक्रमाद् न एव लभ्यते, (तर्हि) तम् आहन्तुम् तस्य सदृश सैनिक पुरस्कार्य ॥ ८४ ॥

क्षुद्रशत्रु =नीचो रिपु , विक्रमात्=पराक्रमेण, लभ्यते=प्राप्यते, तम्=क्षुद्ररिपुम्, आहन्तुम्=मारयितुम्, पुरस्कार्य =पुरस्कर्तव्य ॥

छोटा शत्रु बल से नहीं पकड़ा जा सकता है। उसे मारने के लिए उसी के समान छोटे सैनिक को पुरस्कृत करना चाहिए ॥ ८४ ॥

इत्यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा विडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः। अनन्तरं तद्भयान्मूषिकोऽपि विलान्न निःसरति, तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति। मूषिकशब्दं यदा यदा शृणोति, तदा तदा मांसाहारदानेन तं विडालं संवर्धयति।

इत्यालोच्य=एवं विचार्य बिडालं=मार्जारं यत्नेन=प्रयत्नपूर्वकम् मांसाहारम्=मांसभोजनम् स्वकन्दरे=स्वावासगुहायाम् । तदनन्तरम्=सिंहेन बिडालस्य स्थापनानन्तरम् तद्भयात्=बिडालभयात्, अदर्शनपरः=अप्रकटः सुखम्=सुखपूर्वकम् स्वपिति=शेते । मांसाहारदानेन=मांसभोजनं दत्त्वा दधिकर्णमपि=मूषिकवधायोत्साहितं करोति ॥

ऐसा विचार कर वह गाँव गया और बिलाव लेकर बड़े प्रयत्न से दधिकर्ण नामक बिलाव को लाकर मांस का भोजन दे-देकर उसे अपनी गुफा में रख लिया। इसके पश्चात् चूहा भी उसके डर के कारण बिल से नहीं निकलता था। जिससे सिंह की अयाल के बाल कटने बचने लगे और वह सुख की नींद सोने लगा। वह जब चूहे का शब्द सुनता तब मांस का भोजन दे देकर बिलाव का पालन पोषण करता।

अथैकदा स मूषिकः क्षुधापीडितो बहिः सञ्चरन् बिडालेन प्राप्तो व्यापादितश्च। अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषिकं न पश्यति तत्कृतरावमपि न शृणोति तदा तस्यानुपयोगाद् बिडालस्याप्याहारदाने मन्दादरो बभूव। ततोऽसावाहारविरहाद् दुर्बलो दधिकर्णोऽप्यवसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—'निरपेक्षो न कर्तव्य' इत्यादि। ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

क्षुधापीडितः=भूख से व्याकुल सञ्चरन्=भ्रमन् व्यापादितः=हतः। अनेककालम्=चिरकालपर्यन्तम् तत्कृतरावम्=मूषिककृतशब्दम् तस्य=दधिकर्णबिडालस्य अनुपयोगात्=उपयोगाभावात्, आहारदाने=भोजनप्रदाने मन्दादरः=शिथिलादरः अवसन्नः=दुर्बलो जातः साटोपम्=आडम्बरयुक्तम् ॥

एक दिन चूहा भूख से व्याकुल होकर बाहर घूमते समय बिलाव द्वारा पकड़ लिया गया और मार डाला गया। इसके बाद बहुत दिनों तक जब सिंह ने चूहे को नहीं देखा और न तो उसके शब्द ही को सुना तो दधिकर्ण बिलाव की उपयोगिता न रह जाने पर भोजन देने में भी उपेक्षा करने लगा। जिससे वह अन्न न मिलने के कारण दुर्बल हो गया और कुछ दिनों के बाद मर गया। इसी लिए मैं कहता हूँ कि स्वामी को निरपेक्ष नहीं करना चाहिए इत्यादि। इसके बाद दमनक और करटक संजीवक के पास गए। वहाँ एक वृक्ष के नीचे करटक बड़े ऐंठ दाब के साथ बैठ गया।

दमनकः सञ्जीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—'अरे वृषभ! एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः। सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति—' सत्वरमागच्छ। न चेदस्मादरण्याद् दूरमपसर। अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति। न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति।' तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकश्चायात्। यतः—

अरण्यरक्षार्थम्=वनस्य रक्षायै, नियुक्त=अधिकृत। सत्वरम्=शीघ्रम्, न चेत्=अन्यथा, आगमनाभावे इत्यर्थं, अपसर=गच्छ। अन्यथा=मन्तिकटमागमनाभावे दूरमपसरणाभावे च विरुद्धम्=विपरीतम्। विधास्यति=करिष्यति। आयात्=आगत॥

दमनक ने सञ्जीवक के पास जाकर कहा—अरे बैल! मुझे राजा पिंगलक ने इस जगल की रखवाली करने के लिये नियुक्त किया है। सेनापति करटक ने आज्ञा दी है कि तुम शीघ्र ही उसके पास चलो। अन्यथा इस जगल को छोड कर दूर चले जाओ। नही तो तुम्हारी बडी बुरी दशा हो जायगी। पता नहीं क्रुद्ध होकर स्वामी क्या कर डालेंगे। यह सुनकर सञ्जीवक चला आया। क्योंकि—

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः॥ ८५॥

अन्वयः—नरेन्द्राणाम् आज्ञाभङ्ग ब्राह्मणानाम् अनादर· नारीणाम् पृथक् शय्या (एतत्त्रयम्) अशस्त्रविहित वध (भवति)॥ ८५॥

नरेन्द्राणाम्=नृपाणाम्, आज्ञाभङ्ग=आदेशस्य अपालनम्, पृथक्शय्या=पृथक्शयनम्, अशस्त्रविहित=शस्त्रप्रयोग विनैव कृत, वध=मृत्यु। आज्ञाभङ्गादिना नृपादयो विना शस्त्रप्रयोग म्रियन्ते, मृतकतुल्या भवन्तीत्याशय॥

राजाओ की आज्ञा का उल्लघन करना, ब्राह्मणों का अनादर करना और स्त्रियो को अलग बिछौने पर सुलाना—ये विना हथियार के की गयी हत्या है॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान्। तथा चोक्तम्—

देशव्यवहारानभिज्ञ=देशव्यवहारज्ञानरहित, सभयम्=भययुक्तम्, उपसृत्य=निकट गत्वा, प्रणतवान्=ननाम॥

इस लिए देशकाल के व्यवहार को न जानने वाले सञ्जीवक ने डर से निकट जाकर करटक को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जैसा कि कहा भी है—

मतिरेव बलाद्गरीयसी यदभावे करिणामियं दशा।
इति घोषयतीव डिण्डिमः करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥८६॥

अन्वयः—बलात् मतिः एव गरीयसी (अस्ति) यदभावे करिणाम् इयम् दशा (भवति) करिणः हस्तिपकाहतः क्वणन् डिण्डिमः इति घोषयति इव ॥८६॥

बलात् = बलापेक्षया गरीयसी = अतिशयेन श्रेष्ठा यदभावे = यस्या मतेरभावे करिणाम् = गजानाम् इयं दशा = स्वस्य महाशक्तिसम्पन्नत्वेऽपि स्वल्पबलवत मानवस्य वशीभावरूपैषा अवस्था। घोषयति = घोषणां करोतीव डिण्डिमः = वाद्यविशेष हस्तिपकाहत = आरोहिणा ताडित क्वणन् = शब्दायमान ॥

हाथी की पीठ पर रखे हुए नगाड़ा का पीठ-पाटकर महावत द्वारा बजाये पर मानो वह नगाड़ा यह घोषणा करता है कि बल से बुद्धि ही बलवती होती है। उसी के अभाव में हाथियों की ऐसी दशा है (बली होते हुए भी वे मनुष्य की बुद्धि द्वारा ही उसके गुलाम बन जाते हैं) ॥ ८६ ॥

अथ संजीवकः साध्वसमाह—'सेनापते ! किं मया कर्तव्यम्। तदभिधीयताम्। करटको ब्रूते—'वृषभ ! अत्र कानने तिष्ठसि। अस्मत्स्वामिपादारविन्दं प्रणम। संजीवको ब्रूते—'तदभयवाचं मे यच्छ। गच्छामि। करटको ब्रूते— शृणु रे बलीवर्द ! अलमनया शङ्कया। यतः—

साध्वसम् = भयपूर्वकम्, अभिधीयताम् = कथ्यताम्। अत्र कानने = अस्मिन् वने तिष्ठसि = निवासं करोषि। अस्मत्स्वामिपादारविन्दम् = अस्माकं प्रभोः चरणकमलम् प्रणम = प्रणामं कुरु। तावत् = प्रथमम् अभयवाचम् = अभयवचनम्, मे = मह्यं संजीवकाय यच्छ = देहि। अलमनया शङ्कया = ईदृशीं शङ्कां न कुरु ॥

इसके बाद संजीवक ने डरते हुए कहा—'सेनापति बताइए, मैं क्या करूँ? करटक ने कहा— बैल यदि तुम इस जंगल में रहना चाहते हो तो हमारे स्वामी के चरणों में नमस्कार करो। संजीवक ने कहा— तो मुझे अभयदान दीजिए, मैं वहाँ चलता हूँ। करटक ने कहा— अरे बैल ऐसी शंका न करो। क्योंकि—

प्रतिवाच्यमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ ८७ ॥

अन्वयः—केशवः शपमानाय चेदिभूभुजे प्रतिवाच्यम् न अदत्त केसरी घनध्वनिम् अनुहुङ्कुरुते गोमायुरुतानि न (अनुहुङ्कुरुते) ॥ ८७ ॥

प्रतिवाचम् = प्रत्युत्तरम्, केशव = कृष्ण, शपमानाय = गालिप्रदान कुर्वते, चेदिभूभुजे=शिशुपालाय। अनुहुङ्कुरुते=पश्चाद्हुङ्कृति करोति। घनध्वनिम्=मेघशब्दम्, गोमायुरुतानि=शृगालरुदितानि, केसरी=सिंह। बलवान् बलवत्स्वेव पराक्रम दर्शयति, न क्षुद्रेष्विति तात्पर्यम्।

भगवान कृष्ण ने गाली देने वाले शिशुपाल की बातो का कोई भी उत्तर नही दिया क्योकि सिंह बादलो का गरजना सुनकर ही गरजता है न कि गीदडो की बोली सुनकर ॥ ८७ ॥

अन्यच्च—तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचै प्रणतानि सर्वत.।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम्' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रभञ्जन मृदूनि सर्वत नीचै प्रणतानि तृणानि न उन्मूलयति, समुच्छ्रितान् तरूनेव प्रबाधते, (यत) महान् महति एव विक्रम करोति ॥ ८८ ॥

तृणानि=घासान्, न उन्मूलयति=न उत्पाटयति, प्रभञ्जन=वात्या (आंधी), मृदूनि = कोमलानि, प्रणतानि = नम्रीभूतानि। समुच्छ्रितान्=अत्युन्नतान्, तरून्=वृक्षान्, प्रबाधते=त्रोटयति, उत्पाटयति वा ॥

और—कोमल तथा सभी तरह झुकी हुई घासो को वायु कभी नही उखाडता। वह तो सिर ऊपर उठाने वाले पेडो को ही उखाडता है, क्योंकि बडे लोग बडो पर अपने बल का प्रयोग करते हैं ॥ ८८ ॥

ततस्तौ सञ्जीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ।

तौ = करटकदमनकौ, कियद्दूरे = स्वल्पदूरे ॥

इसके बाद दोनों कुछ दूरी पर ही सञ्जीवक को बिठाकर पिङ्गलक के पास गए।

ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ। राजाऽऽह—'त्वया स दृष्ट.?।' दमनको ब्रूते—'देव, दृष्टः। किन्तु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा। महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति। किन्तु महाबलोऽसौ तत' सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम्। शब्दमात्रादेव न भेतव्यम्। तथा चोक्तम्—

सादरम्=आदरपूर्वकम्, अवलोकितौ = दृष्टौ, देवम् = भवन्तम्। सज्जीभूय=सज्जितो भूत्वा, उपविश्य=उपवेशनं कृत्वा। शब्दमात्रात्=केवल शब्देनैव ॥

राजा ने इन दोनों को बड़े आदर से देखा और ये दोनों भी प्रणाम करके बैठ गए। राजा ने कहा— क्या तुमने उसे देखा। दमनक ने कहा—'देव देखा तो अवश्य किन्तु आप जैसा समझते हैं वह वैसा ही बली है। वह आपका दर्शन करना चाहता है। किन्तु वह बहुत बलवान है। आप तैयार होकर बैठिए और देखिए, केवल उसके शब्द को ही सुनकर डर मत जाइएगा। जैसा कि कहा भी है—

'शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता ॥ ८९ ॥

अन्वयः—शब्दकारणम् अज्ञात्वा शब्दमात्रात् न भेतव्यम् (यतः) शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टिनी गौरवम् गता ॥ ८९ ॥

अज्ञात्वा = अपरिज्ञाय शब्दकारणम् = शब्दस्य हेतुम्, कुट्टनी = कुटनी गौरवम्=महत्त्वम् ॥

बिना शब्द का कारण समझे केवल शब्दमात्र से ही नहीं डरना चाहिए। शब्द का कारण जान लेने से ही एक कुटनी लोगों के आदर का पात्र बन गई थी ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

राजा ने कहा—'यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ४

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम् । तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते । एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः । तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता । वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति । ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते । अनन्तरं घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान् खादति घण्टां च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टानादः । तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः— देव यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि । ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम् । कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्या-दाय वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य वानराः

फलासक्ता बभूवुः। कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजन-पूज्याभवत्। अतोऽहं ब्रवीमि—शब्दमात्रान्न भेतव्यम्' इत्यादि। ततः संजीवकमानीय दर्शनं कारितवन्तौ। पश्चात्तत्रैव परमप्रीत्या-निवसति।

ब्रह्मपुराख्यम्=ब्रह्मपुरनामकम्। तच्छिखरप्रदेशे=तस्य शिखरोपरिभागे, जनप्रमाद=लोकोक्ति। व्यापादित=हत। तत्पाणिपतिता—तस्य चोरस्य हस्ताद् भ्रष्टा, अनुक्षणम्=प्रतिक्षणम्। नगरजनै=नागरिकै, खादित=भक्षित', घण्टारव=घण्टाया ध्वनि, कुपित=क्रुद्ध। विमृश्य=विचार्य, अनवसर= असामयिक, घण्टानाद=घण्टाध्वनि। विज्ञापित=आवेदित। कियद्धनो-पक्षय=स्वल्पधनव्यय, साधयामि=वशीकरोमि। तस्यै=कुट्टन्यै, मण्डलम्= तण्डुलकुङ्कुमादिचूर्णेन वृत्ताद्याकारम्, गणेशादिपूजागौरवम्=गणपत्यादिपूजन-महत्त्वम्, दर्शयित्वा=प्रदर्श्य, आकीर्णानि=यत्र तत्र प्रक्षिप्तानि (बिखेर दिया)। फलासक्ता.=फलग्रहणभक्षणतत्परा। सर्वजनपूज्या=समस्तमानवादरणीया परमप्रीत्या=महत्या प्रसन्नतया॥

श्री पर्वत के बीच मे ब्रह्मपुर नाम का नगर है। वहाँ के लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि उसकी चोटी पर घण्टाकर्ण नाम का राक्षस रहता था। एक बार घण्टा लेकर भागते हुए किसी चोर को सिंह ने मार डाला। उसके हाथ से गिरा हुआ घण्टा बन्दरो को मिल गया। वे बन्दर घण्टे को हर समय बजाया करते थे। जब नगरवासियो ने सिंह द्वारा खाए गए उस मनुष्य को देखा और हर समय घण्टे की आवाज सुनी तो वे लोग 'घण्टाकर्ण मनुष्यो को खाता है और घण्टा बजाता है' ऐसा कहते हुए वहाँ से भागने लगे। इसके बाद कराला नाम की कुटनी ने विचार किया कि इस घण्टे के असमय बजने मे कोई भेद है। उसने यह जान लिया कि घण्टे को बन्दर बजाते हैं और उसने राजा से निवेदन किया कि 'आप कुछ धन खर्च करें तो मैं घण्टाकर्ण को वश मे कर सकती हूँ।' राजा ने उसे धन दिया। कुटनी मण्डल बनाकर गणेशादि की पूजा करने का पाखण्ड करके स्वय बन्दरों को अच्छे लगने वाले फल लेकर जंगल में गई और वहाँ उसने फलो को बिखेर दिया। तब घण्टे को छोड़कर बन्दर फल खाने में लग गए। और कुटनी घण्टे को लेकर नगर में चली आई तथा लोगों से सम्मानित हुई। इसीलिए मैंने कहा है कि—'केवल शब्द से नहीं डरना चाहिए' इत्यादि। इसके बाद संजीवक को वहाँ लाकर उन दोनो ने उसका दर्शन कराया। फिर वह वहीं बड़े प्रेम के साथ रहने लगा।

अथ कदाचित्तस्य पिङ्गलस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंह· समा-

गतः। तस्यातिथ्यं कृत्वा सिंहमुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पशून् हन्तुं चलितः। अत्रान्तरे सञ्जीवको वदति-'देव अद्य हतमृगाणां मांसानि क्व ?' राजाह—'दमनककरटकौ जानीतः' सञ्जीवको ब्रूते—'ज्ञायतां किमस्ति नास्ति वा ?' सिंहो विमृश्याह—'नास्त्येव तत्। सञ्जीवको ब्रूते—'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम्। राजाह—'खादितं व्ययितमवधीरितं च। प्रत्यहमेष क्रमः। सञ्जीवको ब्रूते—'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते ? राजाह—'मदीयागोचरेणैव क्रियते। अथ सञ्जीवको ब्रूते—नैतदुचितम्। तथा चोक्तम्—

सिंहस्य=पिङ्गलकस्य। आतिथ्यम् = अतिथिसत्कारम् उपवेश्य=उपवेशनं कारयित्वा (बैठा कर) तदाहाराय=सञ्जीवकभोजनाय। हतमृगाणाम्=मारित पशूनाम्, क्व=कुत्र अस्तीति शेषः। विमृश्य=विचार्य। एतावत् = इयत्परिमाणम्, व्ययितम् = व्ययीकृतम्, अवधीरितम् = तिरस्कृत्य व्यर्थमेव विनाशितमित्यर्थः। प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् एषः=अयम् क्रमः=परिपाटी। श्रीमद्देवपादानाम्= भवतामित्यर्थः अगोचरेण=अविषयेण भवतोऽविज्ञाप्येत्यर्थः।

कुछ दिनों के बाद वह सिंह का भाई स्तब्धकर्ण उसके घर आया। उसका आदरसत्कार करके तथा घर में बिठा कर पिङ्गलक उसके भोजन के लिए शिकार करने चला। इसी समय सञ्जीवक ने कहा—'स्वामी! आज मारे गए मृगों का मांस क्या हो गया' राजा ने कहा—'दमनक और करटक जानें' सञ्जीवक ने कहा—'तो मालूम कीजिए कि है या नहीं। सिंह ने विचार कर कहा—'वह नहीं ही है। सञ्जीवक ने कहा—'क्या इतना मांस वह दोनों खा गए। राजा ने कहा—कुछ खाया कुछ बाँटा और कुछ इधर-उधर में फेंक दिया। यह तो प्रतिदिन का क्रम है। सञ्जीवक ने कहा—'तो क्या यह सब आप से छिपाकर किया जाता है। राजा ने कहा— हाँ यह सब मेरे अनजाने ही किया जाता है।' सञ्जीवक ने कहा— यह तो ठीक नहीं है। कहा भी गया है—

> नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम्।
> कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे जगतीपते! आपत्प्रतीकारात् अन्यत्र भर्तुः अनिवेद्य स्वयम् किञ्चित् कार्यम् अपि न कुर्वीत ॥ ९० ॥

अनिवेद्य—निवेदनमकृत्वा प्रकुर्वीत=कुर्यात्, स्वयम्=आत्मना आपत्प्रतीकारादन्यत्र=विपत्तिनिवारणविषयं विना जगतीपते=राजन्! ॥

स्वामी को विना वताए स्वय कुछ भी नही करना चाहिए और यदि करना ही हो तो केवल विपत्तियों के दूर करने का उपाय ही करना चाहिए ॥ ९० ॥

अन्यच्च—कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः ।
नृपते ! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे नृपते ! तनुत्याग वहुग्रह कमण्डलूपम अमात्य (भवति), किंक्षण मूख, (तथा) किंवराटक दरिद्र (भवति) ॥ ९१ ॥

कमण्डलूपम =कमण्डलुतुल्य , तनुत्याग = स्वल्पशस्त्यागकर्ता, बहुग्रह = विपुलग्राही, अमात्य =प्रशस्त मन्त्री भवति । किंक्षण = कुत्सितसमय — द्वित्रिषु क्षणेषु व्यर्थं गतेष्वपि का क्षति इति विचारयिता, मूर्खः = मूढ , किंवराटक =स्वल्पवराटकोपेक्षक —कतिपयेषु वराटकेषु (कपर्दकेषु) नष्टेष्वपि का कोषे न्यूनता इत्येव विचारकर्ता दरिद्र भवति ॥

और भी—हे राजन् ! मत्री को कमण्डलु के समान थोडा खर्च करनेवाला और वहुत सग्रह करनेवाला होना चाहिए । 'क्षण भर का समय कुछ नही' ऐसा सोचनेवाला मूर्ख एव 'एक कौडी की क्या विसात है' ऐसा सोचनेवाला दरिद्र होता है ॥ ९१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिनीं यः प्रवर्धयेत् ।
कोष कोषवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—य काकिनीम् सदा प्रवर्धयेत् स श्रेयान् अमात्य (अस्ति) कोष वत भूपते कोप प्राणा (सन्ति), प्राणा प्राणा न (सन्ति) ॥ ९२ ॥

अमात्य = मन्त्री, श्रेयान् = उत्तम , काकिनीम्=कपर्दिकाम् (कौडीको), कोपवत =कोषयुक्त (खजाने वालेका) नृपस्य, कोषा एव प्राणा सन्ति, न तु प्राणा प्राणा सन्ति ॥

एक कौडी को भी वढानेवाला ही सवसे कल्याणकारी मन्त्री समझा जाता है । क्योंकि खजाना रखनेवाले राजा का प्राण खजाना ही होता है न कि उसका प्राण प्राण होता है ॥ ९२ ॥

किं चार्थैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—किं च पूरुष अर्थै न कुलाचारै सेव्यताम् एति, धनहीन पुरुष स्वपत्न्या अपि त्यज्यते, पुन परै किम् ? ॥ ९३ ॥

अर्थे = धने गुणान्तरे = गुणान्तरेषु, देवत्वमीति = देवतीयो भवति। स्वपत्न्या = स्वकीयया पत्न्या किम् = किं वक्तव्यम्।

धन के अतिरिक्त अन्य गुणाधारों से मनुष्य स्वामित्व नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि धनहीन तो अपनी पत्नी के द्वारा भी छोड़ दिया जाता है फिर दूसरों की बात ही क्या ? ॥ ९३ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

यह राजा का प्रधान दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः।
मोक्षणं दूरसंस्थानां कोषव्यसनमुच्यते ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अतिव्ययः, च अनपेक्षा तथा अधर्मतः (धनस्य) अर्जनम्, दूर संस्थानाम् मोक्षणम् (इत्येतत्सर्वम्) कोषव्यसनम् उच्यते ॥ ९४ ॥

अतिव्ययः = अधिकव्ययः अनपेक्षा = निरीक्षणाभावः अर्जनम् = उपार्जनम् मोक्षणम् = त्यागः, कोषव्यसनम् = कोषदोषः कोषहानिकारकत्वादित्यर्थः उच्यते = कथ्यते ॥

अधिक खर्च करना देखभाल न रखना अधर्म से धन के आना दूर रखना और छोड़ देना ये खजाने के संकट कहे जाते हैं ॥ ९४ ॥

यतः—क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—आयम् अनालोच्य स्ववाञ्छया व्ययमानः वैश्रवणोपमः (अपि) असौ धनी क्षिप्रम् परिक्षीयते एव ॥ ९५ ॥

क्षिप्रम् = शीघ्रम् आयम् = आगमनम् अनालोच्य = अविचार्य व्ययमानः = व्ययं कुर्वन्, परिक्षीयते = परितः क्षीणो भवति वैश्रवणोपमः = कुबेरतुल्यः ॥

क्योंकि जो मंत्री तत्काल होनेवाली आय का विचार किए बिना ही इच्छानुसार धन खर्च करता है वह कुबेर—जैसा धनी होने पर भी धीरे-धीरे सम्पत्ति से रहित हो जाता है ॥ ९५ ॥

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ संधिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ अपरञ्च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते।

ब्रूते = आह संधिविग्रहकार्याधिकारिणौ = सन्धिविग्रहकार्ये प्राप्ताधिकारौ अर्थाधिकारे = द्रव्याधिकारे नियोक्तव्यौ = नियोजनीयौ। नियोगप्रस्तावे = नियुक्तिप्रसङ्गे ॥

स्तब्धकर्ण ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनों ही पुराने सेवक हैं और उन्हें सन्धि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अत इन्हें अर्थ (धन) का अधिकार नहीं देना चाहिए। और नियुक्ति के विषय में जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अन्वयः—ब्राह्मण क्षत्रिय बन्धु अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मण सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अधिकारे=प्रजात करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते=योग्यो भवति, सिद्धम्=लब्धम्, अर्थम्=धनम्, कृच्छ्रेण=कष्टेन, यच्छति=ददाति ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओं को अर्थ के अधिकारी के रूप में नियुक्त करना ठीक नहीं। क्योंकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयों के समय नहीं देता ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम्।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्त क्षत्रिय ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, बन्धु ज्ञातिभावत आक्रम्य सर्वस्वम् ग्रसते ॥ ९७ ॥

(प्रजात करादानाधिकारे) नियुक्त=स्थापित, क्षत्रिय=बाहुज, खड्ग०—निश्चयेन खड्ग दर्शयति, अवश्य युध्यति इत्यर्थ। सर्वस्वम्=सर्वसम्पदम्, ग्रसते=गिरति, गृह्णातीति यावत्, बन्धु=भ्रात्रादिबान्धव, ज्ञातिभावत=जातित्वात् ॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह बात बात में तलवार ही उठाएगा और भाई-बंधु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हड़प जायेंगे ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—नियोगी चिरसेवक अपराधे अपि नि शङ्क (भवति) स स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रह चरेत् ॥ ९८ ॥

अपराधे=दोषे, निश्शङ्क=निर्भय, नियोगी=प्रजात करादाने नियुक्त, चिरसेवक=पुरातनभृत्य, अवज्ञाय=तिरस्कृत्य, निरवग्रह=बन्धनहीन, स्वच्छन्द इति भाव ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निडर भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी आचरण करने लगता है ॥ ९८ ॥

अर्थ = धनं कुलाचारैः = कुलाचरणैः सेव्यस्वामिता = सेवनीयो भवति । स्वपत्न्या = स्वस्त्रिया त्यक्तः = त्यक्तः किम् = किं वक्तव्यम् ।

धन के अतिरिक्त अन्य कुलाचारों से मनुष्य स्वामित्व नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि धनहीन तो अपनी पत्नी के द्वारा भी छोड़ दिया जाता है फिर दूसरों की बात ही क्या ? ॥ ९३ ॥

एतच्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

यह राजा का प्रधान दोष है—

> अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः ।
> मोक्षणं दूरसंस्थानां कोषव्यसनमुच्यते ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अतिव्ययः, च अनपेक्षा तथा अधर्मतः (धनस्य) अर्जनम्, दूर संस्थानाम् मोक्षणम् (इत्येतत्सर्वम्) कोषव्यसनम् उच्यते ॥ ९४ ॥

अतिव्ययः = अधिकव्ययः अनपेक्षा = निरीक्षणाभावः अर्जनम् = उपार्जनम् मोक्षणम् = त्यागः, कोषव्यसनम् = कोषदोषः कोषहानिकारकत्वादित्यर्थः उच्यते = कथ्यते ॥

अधिक खर्च करना देखभाल न रखना अधर्म से धन के लाना दूर रखना और छोड़ देना ये खजाने के संकट कहे जाते हैं ॥ ९४ ॥

यतः—क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।

> परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—आयम् अनालोच्य स्ववाञ्छया व्ययमानः वैश्रवणोपमः (अपि) असौ धनी क्षिप्रम् परिक्षीयते एव ॥ ९५ ॥

क्षिप्रम् = शीघ्रम् आयम् = आगतधनम् अनालोच्य = अविचार्य व्ययमानः = व्ययं कुर्वन्, परिक्षीयते = परितः क्षीणो भवति वैश्रवणोपमः = कुबेरतुल्यः ॥

क्योंकि जो धनी तत्काल होनेवाली आय का विचार किए बिना ही इच्छानुसार धन खर्च करता है वह कुबेर—जैसा धनी होने पर भी धीरे-धीरे सम्पत्ति से रहित हो जाता है ॥ ९५ ॥

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ अपरञ्च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते ।

ब्रूते = आह, सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ = सन्धिविग्रहकार्ये प्राप्ताधिकारौ अर्थाधिकारे = धनाधिकारे नियोक्तव्यौ = नियोजनीयौ । नियोगप्रस्तावे = नियुक्तिप्रसङ्गे ॥

स्तब्धकर्ण ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनो ही पुराने सेवक हैं और उन्हे सवि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अत इन्हे अर्थ (धन) का अधिकार नही देना चाहिए। और नियुक्ति के विषय मे जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अन्वयः—ब्राह्मण क्षत्रिय वन्धु अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मण सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अधिकारे=प्रजात करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते=योग्यो भवति, सिद्धम्=लब्धम्, अर्थम्=धनम्, कृच्छ्रेण=कष्टेन, यच्छति=ददाति ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने वन्धुओ को अथ के अधिकारी के रूप मे नियुक्त करना ठीक नहीं। क्योकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयो के समय नही देता ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्ग दर्शयते ध्रुवम्।
सर्वस्वं ग्रसते वन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्त क्षत्रिय ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, वन्धु ज्ञातिभावत आक्रम्य सर्वस्वम् ग्रसते ॥ ९७ ॥

(प्रजात करादानाधिकारे) नियुक्त=स्थापित, क्षत्रिय=वाहुज, खड्ग०—निश्चयेन खड्ग दर्शयति, अवश्य युध्यति इत्यर्थ। सर्वस्वम्=सर्वसम्पदम्, ग्रसते=गिरति, गृह्णातीति यावत्, वन्धु=भ्रात्रादिवान्धव, ज्ञातिभावत=जातित्वात् ॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह वात वात में तलवार ही उठाएगा और भाई-वधु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हडप जायेंगे॥

अपराधेऽपि नि.शङ्को नियोगी चिरसेवक.।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—नियोगी चिरसेवक अपराधे अपि नि शङ्क (भवति) स स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रह चरेत् ॥ ९८ ॥

अपराधे=दोषे, निश्शङ्क=निर्भय, नियोगी=प्रजात करादाने नियुक्त, चिरसेवक=पुरातनभृत्य, अवज्ञाय=तिरस्कृत्य, निरवग्रह=वन्धनहीन, स्वच्छन्द इति भाव ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निडर भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी [illegible] करने लगता है ॥ ९८ ॥

उपकर्ताधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ ९९ ॥

अन्वयः—अधिकारस्थ उपकर्ता स्वापराधम् न मन्यते । उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वं एव अवलुम्पति ॥ ९९ ॥

उपकर्ता=उपकारी अधिकारस्थ=प्रधानपदे कस्मिंश्चिदधिकारे नियुक्तः स्वापराधम्=स्वदोषम्, न मन्यते = न स्वीकरोति । ध्वजीकृत्य=सर्वोपरि कृत्वा अवलुम्पति=नष्टं करोति भक्षते वा ॥

स्वामी का उपकार करनेवाला सेवक किसी अधिकार पर स्थित होकर अपने अपराधों को नहीं समझता और उपकार का झंडा फहराता हुआ सभी कुछ निगल जाता है ॥ ९९ ॥

उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद्ध्रुवम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—उपांशुक्रीडितः अमात्यः यतः स्वयम् राजायते तेन सदा परिचयात् ध्रुवम् अवज्ञा क्रियते ॥ १[illegible] ॥

उपांशु=एकान्ते क्रीडित=कृतविलासः राजायते=राजेवाचरति ॥

राजा के साथ खेलनेवाला सेवक मंत्री बनकर यदि धन का भी अधिकार पा जाता है तो वह अपने को राजा ही मान बैठता है और पहले के परिचय के नाते पद पद पर राजा का अपमान करता रहता है ॥ १[illegible] ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ॥ १०१ ॥

अन्वयः—अन्तर्दुष्ट (यदि) क्षमायुक्त (अमात्य) सर्वानर्थकर (भवति) [illegible]ते ! अत्र शकुनिः च शकटार दृष्टान्तौ (स्तः) ॥ १[illegible] ॥

[illegible]ष्ट=मनसि दुर्जन क्षमायुक्त=क्षमासहित (बहिरिति शेषः) सर्वा-[illegible]नर्थकारक किल=इति प्रसिद्धौ । शकुनि=दुर्योधनस्य मातुल[illegible] [illegible]नन्दमन्त्री [illegible] दृष्टान्तौ=उदाहरणस्वरूपौ ॥

[illegible]न का खोटा किन्तु ऊपर से क्षमाशील होता है वह सभी प्रकार [illegible]सकता है । राजन् ! इस विषय में शकुनि (दुर्योधन का मामा) (नन्द का मन्त्री) प्रमाण हैं ॥ १[illegible] ॥

[illegible]दामात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
[illegible]ज्ञानामयमादेशः ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०२ ॥

अन्वयः—समृद्ध सर्व एव अमात्य सदा साध्य न हि (भवति), ऋद्धि-श्चित्तविकारिणी (भवति), अयम् आदेश सिद्धानाम् (अस्ति) ॥ १०२ ॥

साध्य =वशीकरणयोग्य , समृद्ध =समृद्धियुक्त , सिद्धानाम्=सिद्धपुरुषाणाम्, आदेश =आज्ञा, ऋद्धि =समृद्धि , उन्नतिरिति भाव , चित्तविकारिणी=मनोविकारिणी ॥

वैभवशाली मंत्री कभी भी वश मे नही किया जा सकता है, क्योकि वह तो अपने ही को सब कुछ समझता है । इसीलिए नीतिज्ञ पुरुषो का यह कहना है कि धन तो अवश्य ही मन मे विकार उत्पन्न करता है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्व भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०३ ॥

अन्वयः—प्राप्तार्थग्रहणम्, द्रव्यपरीवर्त अनुरोधनम् उपेक्षा बुद्धिहीनत्वम् भोग (इत्येतत्सर्वम्) अमात्यस्य दूषणम् (अस्ति) ॥ १०३ ॥

प्राप्तार्थग्रहणम्=लब्धधनस्य स्वयमादानम्, द्रव्यपरीवर्त =बहुमूल्य वस्तु स्वयमादाय तत्स्थाने स्वल्पमूल्यवतो वस्तुन स्थापनम्, अनुरोधनम्= स्वामिलषितसिद्ध्यर्थं राजान प्रत्याग्रह , उपेक्षा=नृपादेशस्य नृपकार्यस्य वा उपेक्षणम् बुद्धिहीनत्वम्=मूढत्वम्, भोग =विषयासक्ति राजद्रव्यस्य स्वकार्ये उपयोगो वा, इद सर्वम् अमात्यस्य=मन्त्रिण , दूषणम्=दोष , अस्तीति शेष ॥

प्राप्त धन को ले लेना, कोष के धन को ब्याज पर देना, किसी बात के लिए राजा पर दबाव डालना, उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखना और भोगविलास में लगा रहना—ये मन्त्री के दोष हैं ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञा नित्यपरीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्यय. ॥ १०४ ॥

अन्वयः—राज्ञा नित्यम् परीक्षणम्, च प्रतिपत्तिप्रदानम् तथा कर्मविपर्यय (एतत् त्रयम्) नियोग्यर्थग्रहोपाय (अस्ति) ॥ १०४ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपाय —नियोगिन =नियुक्तादधिकारिपुरुषात्, अर्थस्य = द्रव्यस्य, ग्रह =ग्रहणम् तस्य उपाय =यत्न (नियुक्त पुरुषोसे धन लेनेका उपाय) राज्ञा०—अधिकारिपुरुषस्य कार्यपरीक्षा, प्रतिपत्तिप्रदानम्=पुरस्कारादिप्रदानस्य वेतनवृद्ध्यादेर्वा विश्वासदानम्, कर्मविपर्यय = अधिकारिणा कार्यस्य परिवर्तनम्, तत्क्रियमाणकार्यादन्यकार्ये नियुक्ति ॥

राजसेवको से धन ग्रहण करने का यही उपाय है कि राजा अपने सभी

विभागों की देख रेख में लगा रहे विभागीय कर्मचारियों को धन देने का विश्वास देता रहे तथा उनके काम को बदलता रहे ॥ १०४ ॥

निष्पीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—निष्पीडिताः (नियोगिनः) महीपतेः अन्तःसारम् उच्चैः वमन्ति हि नियोगिनः प्रायः दुष्टव्रणा इव भवन्ति ॥ १०५ ॥

निष्पीडिताः = दण्डादिना पीडिताः अन्तःसारम् = गुप्तधनादिकम् उच्चैः वमन्ति = स्पष्टतया प्रकटयन्ति। दुष्टव्रणाः = महाविस्फोटाः (बड़े घाव) नियोगिनः = राज्ञा अधिकारे नियुक्ताः पुरुषाः। यथा महाव्रणाः पीडिताः पूयमुच्चैर्वमन्ति तथैव कठिनदण्डादिना पीडिताः राजाधिकारिणोऽपि राज्ञो गुप्तधनानि प्रकटीकुर्वन्ति।

हे राजन् राज्यकार्य में लगे हुए बहुत से ऐसे सेवक होते हैं जो दबाव पड़ने पर राजा के सभी भेदों को साफ-साफ उसी प्रकार मुँह से बाहर कर देते हैं जैसे पका हुआ फोड़ा दबाने से बह जाता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्घृतं पयः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—हे महीपते! वसुधाराः नियोगिनः मुहुः बाध्याः सकृत् पीडितम् स्नानवस्त्रम् किम् घृतम् पयः मुञ्चति ॥ १०६ ॥

मुहुः = पौनःपुन्येन नियोगिनः = अधिकृताः जनाः बाध्याः = धनदानार्थं पीडनीयाः। सकृत् = एकवारम्, पीडितम् = मर्दितम् (निष्पीडितं यथा) स्नानवस्त्रम् = स्नानार्थे आर्द्रीभूतं वसनम् मुञ्चेत् = त्यजेत् घृतम् = दधिमिश्रं घृतादिकम् (दृढमिति पाठे तोयमित्यर्थः) पयः = जलम् ॥

हे राजन् बार-बार दबाव देने से ही कर्मचारी राजा को धन देता रहता है। इसलिए उसे बराबर दबाते रहना चाहिए। क्या पानी में भीगा हुआ कपड़ा एक ही बार निचोड़ने से सारा पानी छोड़ देता है? ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम्। सिंहो ब्रूते—'अस्ति तावदेवम्। किन्त्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ।' दमनको ब्रूते—'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा। यतः—

वचनकरम् = वचन ग्रहणम् स्वच्छन्दम् = स्वाधीन सर्वे च वच कारिणौ = आज्ञाकारिणौ ॥

यह सब समझ कर अवसर के अनुकूल ही काम करना चाहिए। सिंह ने कहा—यह तो ठीक ही है। किन्तु यह दोनो मेरी बात ही नहीं मानते। स्तब्धकर्ण ने कहा—यह सब तो बहुत अनुचित है। क्योंकि—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च॥ १०७॥

अन्वयः—राजा आज्ञाभङ्गकरान् स्वसुतान् अपि न क्षमेत्। (अन्यथा) राज्ञः चित्रगतस्य राज्ञः च कः विशेषः नु॥ १०७॥

आज्ञाभङ्गकरान्=आदेशोल्लङ्घिनः, क्षमेत्=क्षमा कुर्यात्। विशेषः = भेदः राज्ञः =सिंहासनारूढनृपस्य, राज्ञश्चित्र०=चित्रस्थस्य नृपस्य। यदि राजा निर्देशोल्लङ्घिनः भृत्यान् न दण्डयति, तदा स चित्रगतनृप इव व्यर्थ इति भाव॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी आज्ञा न माननेवाले अपने लड़को को भी न क्षमा करे। जो राजा ऐसा नही करता, उसमे तथा चित्रमे लिखे हुए राजा मे अन्तर ही क्या है?॥ १०७॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥ १०८॥

अन्वयः—स्तब्धस्य (पुरुषस्य, इदं पादत्रयेऽपि योज्यम्) यशः, विषमस्य मैत्री नष्टेन्द्रियस्य कुलम्, अर्थपरस्य धर्मः, व्यसनिनः विद्याफलम्, कृपणस्य सौख्यम् (च) प्रमत्तसचिवस्य राज्यम् नश्यति॥ १०८॥

स्तब्धस्य=जडस्य, विषमस्य=अस्थिरप्रकृतेः, मैत्री=मित्रता, नष्टेन्द्रियस्य= अजितेन्द्रियस्य, कुलम्=वंशः, अर्थपरस्य = धनसंग्रहमात्रतत्परस्य, व्यसनिनः = मद्यद्यूताद्यासक्तचेतसः, प्रमत्तसचिवस्य=प्रमादवदमात्यस्य। नश्यतीत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धो बोध्य॥

आलसी व्यक्ति का यश, अविश्वासी की मित्रता, इन्द्रियों को वश मे न रखनेवाले की वंशमर्यादा, धन के लोभी का धर्म, व्यसनी व्यक्ति की विद्या, कंजूस का सुख और उन्मत्त मन्त्रीवाले राजा का राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है॥ १०८॥

अपरं च—तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि॥ १०९॥

अन्वयः—नृपतिः तस्करेभ्यः नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यः नृपवल्लभात् च निजलो-भात् प्रजाः पिता इव रक्षेत् हि ॥ १९ ॥

तस्करेभ्यः=चौरेभ्यः, नियुक्तेभ्यः=राज्याधिकृतेभ्यः, नृपवल्लभात्=राज्ञः [illegible], निजलोभात्=आत्मलोभात् ॥

और भी—चोरों, कर्मचारियों, शत्रुओं, अपने प्रियजनों तथा अपनी लालच से राजाको पिता के समान सर्वदा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ॥ १९ ॥

भ्रातः! सर्वथास्मद्वचनं क्रियताम्। व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव। अयं सञ्जीवकः सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यताम्। एवमनयोरनुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसञ्जीवकयोः सर्वबन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते। ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनककरटकावन्योन्यं चिन्तयतः। तदाह दमनकः करटकम्—मित्र किं कर्तव्यम्। आत्मकृतोऽयं दोषः। स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्। तथा चोक्तम्—

व्यवहारः=निश्चय, सस्यभक्षकः=तृणभक्षणकर्ता, अर्थाधिकारे=द्रव्याधिकारे, नियुज्यताम्=नियुक्तः क्रियताम्, अनयोरनुष्ठिते सति=सञ्जीवके अर्थाधिकारे नियुक्ते सति, सर्वबन्धुपरित्यागेन=समस्तपरिवारत्यागेन, अतिवर्तते=गच्छति। अनुजीविनाम्=भृत्यानाम्, शैथिल्यदर्शनात्=अनादरावलोकनात्, अन्योन्यम्—परस्परम्, परिदेवनम्=परिताप पश्चात्ताप इत्यर्थः ॥

भाई! आप सभी प्रकार हमारे कहने के अनुसार ही काम करें। इस घास [illegible] संजीवक को ही धन का अधिकार प्रदान करें। [illegible] के पहले [illegible] संजीवक के कोषाध्यक्ष बना देने के समय से ही पिंगलक और [illegible] सभी अपने बन्धुओं द्वारा छोड़ दिए जाने पर भी बड़े प्रेम से साथ [illegible] समय बिताने लगे। इसके पश्चात् सेवकों के भोजन देने में भी उपेक्षा [illegible] विचार किया। तब दमनक ने करटक [illegible] मित्र [illegible] अपना ही किया हुआ पाप है। [illegible] उचित नहीं है। जैसा कि कहा भी

आदित्सु =आदातुमिच्छु, स्वदोषात्=स्वकृतापराधाद्धेतो ॥

मैं सोने की रेखा छूकर, दूती अपने आप को बांध कर तथा साधु रत्न लेने की अभिलाषा करके—ये तीनो ही अपने ही दोषों से दुखी हुए ॥ ११० ॥

करटको ब्रूते—'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति—

करटक ने कहा—यह कैसे ?' दमनक ने कहा—

कथा ८

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा । तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कदर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन 'नायं हन्तव्य' इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः । राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः ।' स आह—'श्रूयताम् ।' 'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि पठति । त आहुः—'कथमेतत् ।' परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपस्य भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कंदर्पकेतुर्नाम । एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं 'यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद् दृश्यते' इति । ततोऽहं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तरं तत्र गत्वा पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता । ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः । तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मयालोकिता । तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं सम्भाषितः । तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—'एषा कंदर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते । यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य पश्यति, स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यतीति मनसः संकल्पः । तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान् ।'

धर्माधिकारिणा=न्यायाधीशेन, नापित =क्षौरकर्ता (नाई), परिव्राजकेन=सन्यासिना, वस्त्राञ्चले = स्ववस्त्रप्रान्ते, केलिकाननावस्थितेन = क्रीडोद्यानस्थेन, पोतवणिङ्मुखात्=जलयानव्यापारिमुखात् (समुद्री व्यापारीके मुखसे), आविर्भूतकल्पतरुतले=प्रकटितकल्पवृक्षस्याधोभागे, रत्नावलीकर्बुरितपर्यङ्के = रत्नसमूह-

कदलिकया चित्रीकृतपर्यङ्काम् । पोतम् = जलयानम् । सर्वालङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव एव सा = कन्या अवलोकिता = दृष्टा । तल्लावण्यगुणाकृष्टेन = तस्याः = कन्यायाः लावण्यम् = सौन्दर्यम् एव गुणः = रज्जुः तेनाकृष्टः = इवाकृष्टः तेन तस्याः सौन्दर्यवशीभूतेनेत्यर्थः । झम्पो दत्तः = जले कूर्दितम् । कनकपत्तनम् = स्वर्णनगरम् तथैव = सर्वसुप्तैव विद्याधरीभिः = विद्याधरस्त्रीभिः उपास्यमाना = सेव्यमाना । प्रस्ताव्य = सम्प्रेष्य सम्भाषित = उक्तः । समाख्यातम् = कथितम् । प्रतिज्ञा स्थिता = इत्थंप्रतिज्ञा स्वचक्षुषा = स्वनेत्रेण पितुः = जनकस्य अगोचरे = अप्रत्यक्षं मां परिणेष्यति = मया सह विवाहं करिष्यति । गान्धर्वविवाहेन = कन्यावरयोरेव परस्परं प्रीत्या जायमानेन विवाहेन परिणयतु = विवाहं करोतु ॥

कञ्चनपुर नाम के नगर में वीरविक्रम नाम का एक राजा था । उनके धर्माधिकारी एक नाई को पकड़ कर फाँसी देने के स्थान पर ले जा रहे थे कि उसी समय एक साधु के साथ कंदर्पकेतु नाम के एक संन्यासी ने उसे अपने हाथों से छिपाते हुए कहा कि यह मारने योग्य नहीं है । तब सिपाहियों ने कहा—'क्यों नहीं मारने योग्य है ?' उसने कहा—सुनो और 'स्वर्णरेखा को छूकर मैं' आदि पढ़ने लगा । उन्होंने कहा—यह कैसे ? संन्यासी ने कहा—'मैं सिंहलद्वीप के राजा जीमूतकेतु का पुत्र कन्दर्पकेतु हूँ । एक बार मैं अपने विहार-उपवन में बैठा हुआ था कि उसी समय मैंने नाव द्वारा व्यापार करनेवाले एक व्यवसायी से सुना कि इस समुद्र के बीच में चतुर्दशी के दिन दिखाई पड़ने वाले कल्पवृक्ष के नीचे रत्नों की किरणों से चमचमाते हुए पलंग पर बैठी हुई, सभी गहनों से सुशोभित एवं लक्ष्मी के समान वीणा बजाती हुई कोई कन्या दिखाई पड़ती है । तब मैं उस नाविक व्यापारी को साथ लेकर नाव द्वारा वहाँ गया । वहाँ जाने पर मैंने पलंग पर आधी बैठी हुई उसी प्रकार की कन्या देखी । उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर मैं भी समुद्र में कूद पड़ा । इसके पश्चात् मैंने सोने की नगरी में पहुँच कर सोने के महल में उसी प्रकार पलंग पर बैठी हुई तथा विद्याधरियों द्वारा सेवित उस कन्या को देखा । उसने भी मुझे दूर ही से देख कर सखी भेज उसके द्वारा मुझसे बड़े आदर के साथ बातचीत की । मैंने उसकी सखी से पूछा तो उसने बताया कि यह विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा कन्दर्पकेलि की पुत्री है । इसका नाम रत्नप्रभा है और इसने प्रतिज्ञा करके यहाँ निवास किया है । इसके मन का संकल्प है कि जो पुरुष इस सोने की नगरी में आकर स्वयम् अपनी आँखों से इसे देखेगा वही पिता की आज्ञा न होते हुए भी मेरे साथ विवाह करेगा । इसलिए आप इसके साथ गान्धर्व विवाह करें ।

अथ तत्र वृत्ते गन्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राह तिष्ठामि। तत एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन्, स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्। एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्प्रष्टव्या। पश्चादुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया चित्रगतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। अथ दुखितोऽहं परिव्रजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्।' प्रदोषसमये पशूनां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः। ततोऽर्धरात्रे एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यावदत्—'तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते। तथा चोक्तम्—

वृत्ते=सजाते। रहसि=एकान्ते। चित्रगता=चित्रस्था, स्वर्णरेखा=तन्नाम्नी, स्प्रष्टव्या=स्पर्शनीया। उपजातकौतुकेन = एतस्याः स्पर्शनेन किं भविष्यति इत्येवमुत्पन्नकौतूहलेन, चरणपद्मेन=पादपङ्कजेन, स्वराष्ट्रे = आत्मनो राज्ये। दुःखार्तः = तद्वियोगकष्टेन पीडितः, परिव्रजितः = गृहीतसन्यासः। अतिक्रान्ते = अतीते, दिवसे = दिने, प्रदोषसमये = सायकाले, पशूनाम् = गवादिजन्तूनाम्, पालनं कृत्वा=तेभ्यो यवसादि दत्वा, मन्त्रयन्तीम् = परामर्शं कुर्वन्तीम् (सलाह करती हुई)। तव=गोप्याः, विरहानलदग्धः =वियोगाग्निज्वलितः, स्मरशरजर्जरितः =कामवाणेन जर्जरीभूतः, मुमुर्षुरिव=आसन्नमृत्युरिव ॥

इसके बाद गान्धर्व विवाह करके मैं उसके साथ रमण करता हुआ वहीं उसी के साथ रहने लगा। एक बार उसने एकान्त मे मुझसे कहा कि—'स्वामी! आप अपनी इच्छा के अनुसार इन सभी वस्तुओं का उपयोग करें' किन्तु इस चित्र मे बनी हुई स्वर्णरेखा नाम की विद्याधरी को कभी मत छूवें। इससे मुझे कुछ कुतूहल हुआ और मैंने उसे छू लिया। उस चित्र में बनी हुई स्वर्णरेखा ने मुझे अपने चरणकमलों से इस प्रकार झटका दिया कि मैं आकर अपने राज्य में गिरा। मैंने दुःखी होकर संन्यास ले लिया और पृथ्वी पर घूमता हुआ अब मैं इस नगरी में पहुँचा हूँ। यहाँ कल एक ग्वाले के घर सोते समय मैंने देखा कि ग्वाला पशुओं को चराकर सायंकाल अपने घर आया और उसने अपनी पत्नी को किसी दूती के साथ बातचीत करते हुए देखा। तब वह पत्नी को मार कर तथा

उसे खम्भे में बाँध कर सो गया। इसके बाद आधी रात के समय उस नाई की दूती भी फिर उस अहीरिन के पास आई और बोली—'तुम्हारे विरह की अग्नि में जलता हुआ वह कामबाणों से घायल होकर मरा हुआ-सा पड़ा है। जैसा कि कहा भी है—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥ १११॥

अन्वयः—रजनीचरनाथेन निशि तिमिरे खण्डिते (सति) मनोभवः यूनाम् मनांसि दृष्ट्वा दृष्ट्वा विव्याध॥ १११॥

रजनीचरनाथेन = चन्द्रेण खण्डिते —नाशे अन्धकारे दूरीकृते यूनाम् = युवकानाम्, विव्याध=अवधयत्॥

चन्द्रमा ने उदय होकर रात्रि के अन्धकार को दूर कर दिया जिससे अब कामदेव देख देख कर युवकों के मन को बेध रहा है॥ १११॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परित्यक्तसमाचारस्त्वामनुवर्तितुमागता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं सन्तोष्य सत्वरमागमिष्यसि। तथानुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—इदानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि। ततो यदासौ न किञ्चिदपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्तरिकामादायास्या नासिका छिन्ना। तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी दूतीमपृच्छत्—'का वार्ता।' दूत्योक्तम्—'पश्य माम्। मुखमेव वार्तां कथयति।' अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता। इयं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः प्रातरेवानेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं प्रादात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्। अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकानेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती। सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—अरे पाप को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः। मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति। यतः—

तस्य = कुटुम्बारस्य तादृशीमवस्थाम् = मदनाभिभवदर्शिताम्, परित्यक्तसमया — दुःखितचित्ता अनुवर्तितुम् = अनुसर्तुम्। तथानुष्ठिते—गोप्या

स्वय स्तम्भे बद्ध्वा स्थिताया सत्याम्, प्रबुद्ध =त्यक्तनिद्र । पापिष्ठाम्= महापापाम्, जारान्तिकम्=उपपतिसमीपम्, नयामि=प्रापयामि । दर्पात्= अभिमानात्, प्रत्युत्तरम् = प्रतिवचनम्, कर्तरिकाम्=छुरिकाम्, छिन्ना= कर्तिता । मुखमेव०—'मम मुखदर्शनेनैव का वार्ताऽस्ति' इति ज्ञास्यसि । क्षुरभाण्डम्=क्षुरस्यापतपात्रम् (लोखर), याचिता = प्रार्थिता असमग्र- भाण्डे=असम्पूर्णक्षुरभाजने, समुपजातकोप = क्रुद्ध , क्षिप्तवान् = चिक्षेप । कृता- र्तराया = कृतरोदनस्वरा, इयम् = नापितवधू , विनापराधेन=दोष विना, धर्मा- धिकारिसमीपम्=न्यायाधीशनिकटम्, एनम् = नापितम् । पाप = पापिन् !, महासतीम् = अतिशयेन पतिव्रताम्, विरूपयितुम्=विरूपा कर्तुम् । अकल्म- षम्=निर्दुष्टम्, अष्टौ=अष्टसङ्ख्यका ।

उसकी इस प्रकार की अवस्था देख मैं अत्यन्त दुखी होकर एक वार फिर तुम्हे मनाने आई हूँ । मैं अपने को यही बांध कर रहती हूँ और तुम वहाँ जाकर उसे सतुष्ट करके जल्दी आ जाओ । ऐसा हो जाने पर उसी समय ग्वाले की नींद खुली और उसने कहा—पापिनि ! अब क्यो नही अपने जार के पास जा रही हो । जब उसने कुछ नही कहा तो ग्वाले ने क्रोध मे आकर कहा कि यह मारे घमड के मेरी बातो का उत्तर भी नही देती है और उसने कैंची लेकर उसकी नाक काट दी । ऐसा करके ग्वाला फिर सो गया ।

तब अहिरिन ने आकर दूती से पूछा—'क्या बात ?' दूती ने कहा—'मुझे देखो, मेरा मुँह ही सारी बात बताएगा ।' इसके बाद गोपी ने फिर अपने को वही बांध लिया । और अपनी कटी हुई नाक लेकर वह दूती अपने घर चली गई । प्रात काल ही नाई ने अपनी वहू से छुरो का थैला मागा, किंतु उसने केवल एक ही छुरा दिया । फिर पूरा थैला न पाने से क्रुद्ध होकर नाई ने दूर ही से छुरे को घर से फेंका । तब नाइन रोती हुई एव 'विना अपराध के ही इसने मेरी नाक काट ली है'—ऐसा कहती हुई इसे धर्माधिकारियो के पास लाई । जब उस ग्वाले ने ग्वालिन से फिर पूछा तो उसने कहा—'अरे पापी, मेरी जैसी सती के सौन्दर्य को कौन नष्ट कर सकता है ? मेरे पवित्र आचरण को आठो लोकपाल जानते हैं । क्योंकि—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥११२॥

अन्वयः—आदित्यचन्द्रौ अनिल च अनल द्यौ भूमि आप हृदयम् च यम च अह च रात्रि च उभे सन्ध्ये च धर्म नरस्य वृत्तम् जानाति (अस्य वचन- विपरिणामेन प्रत्येक सम्बन्ध कार्य) ॥ ११२ ॥

आदित्यचन्द्रौ = सूर्यचन्द्रमसौ अनिलः = वायुः अनलः = अग्निः, द्यौः = आकाशम् आपः = जलानि तदविहृदयो यमः अहः = दिनम् उभे सन्ध्ये = सन्ध्याद्वयम् वृत्तम् = आचरणम् ॥

सूर्य चन्द्रमा वायु अग्नि आकाश पृथ्वी जल हृदय यम रात दिन और दोनों सन्ध्या तथा धर्म ही मनुष्य के अच्छे बुरे आचरण को जानते हैं ॥११२॥

यद्यहं परमसती स्याम् त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि मनसि भजे तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाऽच्छिन्ना ऽस्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे । किन्तु स्वामी त्वम् । लोकभयादुपेक्षे । पश्य मे मुखम् । यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इति ।

परमसती=महापतिव्रता पुरुषान्तरम्=अन्यं पुरुषम् भजे = सेवनं करोमि । भस्म कर्तुम्=दग्धुम् स्वामी = पतिः लोकभयात् = जनापवादभयात् । उन्नसम् =उन्नतनासिकायुक्तम् अच्छिन्ननासिकम् परमसाध्वी = महासती ।

अगर मैं सती हूँगी तुम्हें छोड कर दूसरे का ध्यान नहीं करती हूँगी स्वप्न में भी पर पुरुष को न देखती हूँगी तो मेरे इस धर्म के द्वारा मेरी नाक ठीक हो जावेगी । मैं तुम्हें भस्म कर सकती हूँ किन्तु तुम मेरे स्वामी हो । लोकभय से ऐसा नहीं करती हूँ । मेरा मुँह देखो । जब ग्वाले ने दीपक जला कर उसका मुँह देखा तो नाक सहित मुँह को देखकर उसके पैरों पर गिर पड़ा और कहा— मैं धन्य हूँ जिसे ऐसी सती स्त्री मिली है ।

योऽयमास्ते साधुस्तद्वृत्तान्तमपि कथयामि । अयं स्वगृहान्निर्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः अत्र वेश्यागृहे सुप्तः । तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य मूर्ध्नि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते । तल्लुब्धेनानेन साधुना रात्रावुत्थाय रत्नं गृहीतुं यत्नः कृतः । तदा तेन वेतालेन सूत्रसञ्चारितबाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्—'पुत्र ! मलयोपकण्ठादागतोऽसि । तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छास्मै । नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि । इत्थमेवायं चेटकः । ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि यथायमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य मिलितः । एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्याय धर्माधिकारी प्रवर्तितः । अथ

न्तरं तेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते नापितश्च गृहं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि। अथ स्वय कृतोऽयं दोषः। अत्र विलपनं नोचितम्। (क्षणं विमृश्य) मित्र! यथानयोः सौहार्दं मया कारितं तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्यः। यतः—

साधु =वणिक्। मलयोपकण्ठात्=मलयपर्वतनिकटस्थप्रदेशात्, इमा नगरीम्=एतत्काञ्चनपुरीम्, स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य = स्थापिताया. दारुमय्या वेतालमूर्त्या, मूर्धनि = मस्तके, उत्कृष्टम् = श्रेष्ठम्, बहुमूल्यमित्यर्थ, यन्त्रसञ्चारितबाहुभ्याम् = तन्त्रीप्रेरितहस्ताभ्याम् (यन्त्रद्वारा चलाये गये दोनो हाथोंसे), आर्तनादम् = दीनतयोच्चै शब्दम्। प्रयच्छ = देहि। नो चेद०—अन्यथाय त्वा न त्यक्ष्यति। चेटक =भृत्य, अपहृतसर्वस्व —अपहृतम्=आच्छिन्नम्, सर्वस्वम् = सर्वसम्पत्तिर्यस्य स। विलपनम् = विलाप। सौहार्दम्= मित्रता, मित्रभेद =सुहृद्भेद, अनयोर्मित्रयो परस्पर विरोध इत्यर्थ॥

और जो यह साधु है उसका भी वृत्तात कह रहा हूँ। सुनो—बारह वर्ष तक मलय पहाड पर रहकर यह इस नगर मे आया है। यहाँ एक दिन यह वेश्या के घर मे सो रहा था। उस कुट्टनी वेश्या के दरवाजे पर काठ के बने हुए वेताल की मूर्ति के सिर पर एक मूल्यवान् रत्न जडा हुआ था। लालच मे आकर इस साधु ने रात मे उठ कर उस रत्न को ले लेने का प्रयत्न किया। तत्काल वेताल ने डोरे मे चलाई गई अपनी बाहों से इसे जकड लिया, जिससे यह चिल्लाने लगा। कुटनी ने उठकर कहा—पुत्र, तुम मलय पहाड के पास से आ रहे हो, अत इसे सभी रत्न दे दो, नहीं तो यह तुम्हे नहीं छोडेगी। यही इसका व्यवहार ही है। तब इसने अपने सभी रत्नों को उसे दे दिया और सब कुछ चले जाने से अब हम लोगो से आ मिला है। यह सब सुनकर राजपुरुषो ने इसे न्यायालय में धर्माधिकारी के पास भेज दिया। धर्माधिकारी ने इस अहिरिन और दूती को गाँव से बाहर निकाल दिया। नाई अपने घर चला गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि 'मैं स्वर्णरेखा को छूकर' इत्यादि। यह तो अपना ही किया हुआ पाप है। फिर इस विषय मे रोना व्यर्थ है। (थोडी देर विचार कर) मित्र! जैसे मैंने इन दोनों में मित्रता कराई है उसी प्रकार मैं इनकी मित्रता मे फूट भी डाल दूंगा। क्योंकि—

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥ ११३॥

अन्वयः—मतिवैभवशालिनः जनाः असत्यानि अपि चित्रकर्मविदः जनाः समे (चित्रपटे) निम्नोन्नतानि इव सत्यानि दर्शयन्ति ॥ ११३ ॥

असत्यानि=अवर्तमानानि सत्यानि = वर्तमानानि दर्शयन्ति = प्रदर्शयन्ति मतिवैभवशालिनः=मतिविभवेन चतुराः समे = समतले पदार्थे निम्नोन्नतानि = निम्नानि उन्नतानि च चित्रकर्मविदः=चित्रकाराः ॥

बुद्धिमान लोग झूठ को भी सच सिद्ध कर देते हैं जिस तरह कुशल चित्रकार समान भूमि को भी ऊँची नीची करके दिखा देता है ॥ ११३ ॥

अपरं च— उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥ ११४ ॥

अन्वयः—कार्येषु उत्पन्नेषु अपि यस्य मतिः न हीयते सः, गोपी जारद्वयम् यथा दुर्गाणि निस्तरति ॥ ११४ ॥

उत्पन्नेषु = समुपस्थितेषु हीयते = क्षीणा भवति निस्तरति = तरति = पारयति जारद्वयम्=द्वौ उपपती यथा=इव ॥

और भी—कार्य के उपस्थित हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि क्षीण नहीं होती वह कठिनाई से उसी प्रकार बच जाता है जैसे उस अहीरिन ने दोनों जारों को बचा लिया था ॥ ११४ ॥

करटकः पृच्छति—कथमेतत् ? दमनकः कथयति ।
करटक ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ६

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी । सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते । तथा चोक्तम्—

द्वारवत्याम् = द्वारकायाम् बन्धकी = व्यभिचारिणी । दण्डनायकेन=दण्डाध्यक्षेण (कोतवाल के साथ) समम्=सह रमते=व्यभिचारं करोति ॥

द्वारवती नगरी में किसी ग्वाले की पत्नी कुलटा थी । वह उस गाँव के मुखिया और उसके पुत्र—दोनों के साथ सम्भोग करती थी । जैसा कि कहा भी है—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ११५ ॥

अन्वयः—अग्नि काष्ठानाम्, महोदधि आपगानाम्, अन्तक सर्वभूतानाम्, (च) वामलोचना पुसाम् न तृप्यति ॥ ११५ ॥

काष्ठानाम्=इन्धनानाम्, आपगानाम्—अपा समूह आपम्, तेन गच्छन्ति इति आपगास्तासाम्=नदीनाम्, अन्तक =यमराज , सर्वभूतानाम्= समस्तजीवानाम्, वामलोचना =युवतयो नार्य ॥

अग्नि लकड़ियों से, समुद्र नदियो मे, यमराज सभी प्राणियो से और नारी पुरुषो से कभी भी तृप्त नही होती ॥ ११५ ॥

अन्यच्च—न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—स्त्रिय दानेन न, मानेन न, आर्जवेन न, सेवया न, शस्त्रेण न, शास्त्रेण न, (वशगामिन्य भवन्ति, यत) स्त्रिय सर्वथा विषमा (भवन्ति) ॥

मानेन=आदरेण, आर्जवेन—सरलतया, शस्त्रेण=आयुधादिताडनेन, शास्त्रेण=शास्त्रोपदेशेन, विषमा =कठिना ॥

और भी—स्त्रियाँ न तो दान से, न सन्मान से, न खुशामद से, न सेवा से, न हथियार से और न तो शास्त्र ही से सुधारी जा सकती हैं। इसीलिए वे बड़ी भयानक होती हैं ॥

यत —गुणाश्रय कीर्तियुत च कान्तं पतिं रतिज्ञ सधनं युवानम्।
विहाय शीघ्र वनिता व्रजन्ति नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥

अन्वयः—वनिता गुणाश्रयम् कीर्तियुतम् कान्तम् रतिज्ञम् सधनम् युवानम् पतिम् विहाय शीलगुणादिहीनम् नरान्तरम् शीघ्रम् व्रजन्ति ॥ ११७ ॥

गुणाश्रयम् = शौर्यादिगुणवन्तम्, कीर्तियुतम् = यशस्विनम्, कान्तम् = रम्यम्, रतिज्ञम् = कामशास्त्रज्ञम्, युवानम् = युवकम्, वनिता =स्त्रिय , नरान्तरम्=अन्यं नरम्, जारमित्यर्थ ॥

क्योंकि—गुणी, यशस्वी, सुन्दर, रतिकला के ज्ञाता, धनी तथा नवयुवक पति को भी छोडकर स्त्रियाँ अन्य दुराचारी तथा दुष्ट मनुष्य के पास शीघ्र चली जाती है ॥ ११७ ॥

अपरं च—

न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी विचित्रशय्या शयितापि कामम्।
यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ प्रयाति सौख्य परकान्तसङ्गात् ॥११८॥

अन्वयः—नारी कामम् विविधशय्याम् शयिता अपि तादृशीम् प्रीतिम् न व्रजति यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ परकान्तसङ्गात् सौख्यम् प्रयाति ॥ ११८ ॥

विविधशय्याम् = उत्तमतमप्रच्छदपटयुक्ताम् विविधपर्यङ्कम्, शयिता—सुप्ता कामम् = यथेष्टम् दूर्वादिविकीर्णभूमौ = दूर्वादितृणाच्छन्नभूतले परकान्तसङ्गात्—अन्यपतिसहवासात् ॥

और भी—नारी सुन्दर शय्या पर सोती हुई भी उतना प्रसन्न नहीं होती है जितना दूसरे पुरुष के साथ घासफूस आदि से भरी भूमि पर सो कर सुखी होती है ॥ ११८ ॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति। अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः। तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुसूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति। अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः। तमवलोक्य गोप्योक्तम्—'दण्डनायक त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सत्वरं गच्छ'। तथा तेनानुष्ठिते गोपेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः'। सा ब्रूते—'अयं केनापि कार्येण पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च मार्यमाणोऽप्यत्रागत्य प्रविष्टो मया कुसूले निक्षिप्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति। ततः सा तत्पुत्रं कुसूलाद्बहिष्कृत्य दर्शितवती। तथा चोक्तम्—

सा = गोपी दण्डनायकपुत्रेण = दण्डाध्यक्षसुतेन रममाणा—रमणं कुर्वती रन्तुम् = रमणं कर्तुम्। कुसूले = धान्यभाजने (कोठिला या बखार) तथा = भाण्डम्, गोष्ठात् = गोस्थानात्। लगुडम् = दण्डम् (लाठी) कोपं दर्शयन्—कोपप्रदर्शनं कुर्वन् न तु वस्तुतः कुपितः सत्कारलाभाभावादित्यर्थः। अनुष्ठिते—कृते केनापि कार्येण—कस्मैचित् प्रयोजनाय अयम्—दण्डनायकः पलायमानः—पलायनं कुर्वन्, अन्विष्यता—अन्वेषणं कुर्वता।

एक बार वह मुखिया के बेटे के साथ सम्भोग कर रही थी कि उसी बीच मुखिया भी उसके साथ सम्भोग करने के लिए आ पहुँचा। उसे आया हुआ देख कर उसने उसके बेटे को बखार में छिपा दिया और मुखिया के साथ आनन्द लेने लगी। इसी बीच उसका पति ग्वाला गोशाला से आ पहुँचा। तब ग्वालिन ने उसे देखकर मुखिया से कहा—तुम डंडा लेकर क्रोध करते हुए बाहर निकलो। उसके ऐसा करने पर ग्वाले ने घर में आकर पूछा कि मुखिया यहाँ

किस लिए आया था ?' उसने कहा—यह किसी कारण से अपने पुत्र पर क्रुद्ध हुआ था। वह भगा हुआ मेरे घर में घुस आया, मैंने उसे बखार में छिपा कर बचा लिया। उसका पिता यहाँ आया किन्तु नहीं देखा। इसीलिए वह क्रुद्ध होकर गया है। तब उसने बखार से निकाल कर उसके पुत्र को दिखा दिया। जैसा कि कहा भी है—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥ ११९॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् आहारः द्विगुणः तासाम् बुद्धिः चतुर्गुणा, च व्यवसायः षड्गुणः च कामः च अष्टगुणः स्मृतः॥ ११९॥

आहारः=भोजनम्, द्विगुणः=द्विगुणितः, व्यवसायः=परिश्रमादिव्यापारः, कामः=कामवासना, सम्भोगाभिलाष इत्ययं, स्मृतः=कथितः॥

स्त्रियों का भोजन पुरुष की अपेक्षा दूना, उनकी बुद्धि चौगुनी, प्रयत्नशीलता छः गुनी और कामुकता आठगुनी होती है॥ ११९॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'काम पड़ने पर।' आदि।

करटको ब्रूते—'अस्त्वेवम्। किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः।' दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम्।' तथा चोक्तम्—

अनयोः=सिंहवृषभयोः, अन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः=स्वभावेन परस्परमुत्पन्नं प्रेम, भेदयितुम्=नाशयितुम्।

करटक ने कहा—यह तो ठीक है। किन्तु इन दोनों में अत्यन्त महान् और स्वाभाविक प्रेम हो गया है, अतः तुम उनमें कैसे फूट डाल सकते हो। दमनक ने कहा—उपाय करो—जैसा कि कहा भी गया है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः॥ १२०॥

अन्वयः—यत् (कार्यम्) उपायेन शक्यम् (भवति), तत् पराक्रमैः न शक्यम् (अस्ति) हि काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पः निपातितः॥ ११०॥

यत्=कार्यम्, शक्यम्=साध्यम्, पराक्रमैः=बलैः। काक्या=काकस्त्रिया, कनकसूत्रेण (सोनेकी जंजीरसे), कृष्णसर्पः (करैत साँप) निपातितः=मारितः॥

उपाय से जो हो सकता है वह बल द्वारा नहीं हो सकता है। कौवी ने सोने की जंजीर के माध्यम से काले सर्प को मार डाला ॥ १२० ॥

करटकः पृच्छति—कथमेतत्? दमनकः कथयति।

करटक ने पूछा—यह कैसे? दमनक ने कहा—

कथा ७

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः। तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि। ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह—'नाथ! त्यज्यतामयं वृक्षः। अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः संततिः सततं भक्ष्यते। यतः—

तरौ=वृक्षोपरि वायसदम्पती=काक काकी च (कौवेकी जोड़ी) अपत्यानि=सन्तानानि तत्कोटरावस्थितेन—तस्य=वृक्षस्य कोटरे=खोड़रे (खोड़रमें) अवस्थितेन=स्थितेन। सततम्=सर्वदा॥

किसी वृक्ष पर कौवों का एक जोड़ा रहता था। उसके बच्चों को उसी पेड़ के खोड़रे में रहने वाला काला साँप खा जाया करता था। इसके बाद जब कौवी फिर गर्भवती हुई तो उसने कौवे से कहा—स्वामी! इस वृक्ष को छोड़ दो। यहाँ रहने वाला काला साँप हम लोगों की सन्तानों को बराबर खा लिया करता है। क्योंकि—

> दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
> ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥' ॥ १२१ ॥

अन्वयः—दुष्टा भार्या शठम् मित्रम् च उत्तरदायकः भृत्यः च ससर्पे गृहे वासः (एतत्सर्वम्) मृत्युः एव (अस्ति अस्मिन्) संशयः न (अस्ति) ॥ १२१ ॥

दुष्टा=पापी शठम्=कपटयुक्तम्, उत्तरदायकः=प्रत्युत्तरदाता ससर्पे=सर्प सहिते वासः=निवासः॥

दुष्ट स्त्री धूर्त मित्र जवाब देने वाला नौकर तथा साँप वाले घर में रहना हमेशा मृत्यु का कारण बनता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं॥ १२१॥

वायसो ब्रूते—'प्रिये! न भेतव्यम्। वारंवारं मयैतस्य महापराधः सोढः। इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः।' वायस्याह—'कथमनेन बलवता सार्धं भवान् विग्रहीतुं समर्थः।' वायसो ब्रूते—'अलमनया शङ्कया। यतः—

वायस =काक । भेतव्यम्=भय कर्तव्यम् । महापराध =महान् दोष , सोढ =सहन कृतम् । इदानीम्=अधुना, क्षन्तव्य =क्षमार्ह. । वलवता = वलिना, विग्रहीतुम्=योद्धुम्, अलमनया शङ्कया=एव शङ्का न कर्तव्या ॥

कौवे ने कहा—प्रिये डरो मत । बरावर मैंने इसके अपराध को क्षमा किया है अब मैं इसे क्षमा नही करूँगा । कौवी ने कहा—आप इस बलवान के साथ कैसे झगडा कर सकेंगे । कौवे ने कहा—ऐसी शका न करो । क्योंकि—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ १२२ ॥

यस्य बुद्धि (अस्ति), तस्य बलम् (अस्ति), निर्बुद्धे तु कुत बलम् (अस्ति), पश्य, मदोन्मत्त सिंह शशकेन निपातित ॥ १२२ ॥

निर्बुद्धे =बुद्धिहीनस्य । मदोन्मत्त =मदोद्धत ॥

जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है, जो बुद्धिहीन है उसके पास कहाँ बल होता है । देखो, मतवाले सिंह को खरगोश ने मार डाला ॥ १२२ ॥

वायसो विहस्याह—'कथमेतत् ।' वायसः कथयति—

कौवी ने हँसकर कहा—'यह कैसे ?' कौवे ने कहा—

कथा ८

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते । तत सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र ! किमर्थमेकदा बहुपशुघातः क्रियते । यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः ।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां तर्हि भवतु तत् ।' ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते । अथ कदाचिद् वृद्धशशकस्य वारः समायात । सोऽचिन्तयत्—

मन्दरनाम्नि=मन्दरनामके, विज्ञप्त = निवेदित । बहुपशुघात. = अनेकपशुवध , प्रसाद = प्रसन्नता, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, उपढौकयाम = प्रापयाम । अभिमतम् = अभीष्टम्, तत प्रभृति = तस्मात् दिनादारभ्य, उपकल्पितम् = वन्यपशुभिर्नियतम्, वृद्धशशकस्य=प्रवयस शशकस्य (बूढे खरहे की) ॥

मन्दर नाम के पहाड पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था । वह सर्वदा जानवरो को मारा करता था । तब सभी जानवरो ने मिलकर सिंह से कहा—

हे मृगेन्द्र! क्यों एक ही साथ बहुत से जानवरों को मारते हैं। यदि आप कृपा करें तो हम लोग ही आपके भोजन के लिए प्रतिदिन एक-एक जानवर सेवा में भेज दिया करें। सिंह ने कहा—'यदि आप लोगों की यही इच्छा है तो ऐसा ही होना चाहिए। उसी समय से प्रतिदिन एक-एक भेजे गए जानवर को खाकर वह रहने लगा। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई। उसने विचार किया—

'बालहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे॥ १२१॥

अन्वयः—बालहेतोः विनीतिः तु जीविताशया क्रियते चेद् (अहम्) पञ्चत्वम् गमिष्यामि (तर्हि) सिंहानुनयेन मे किम् (अस्ति)? ॥ १२१॥

बालहेतोः = भयकारणीभूतात् नृपात् विनीतिः = विनयः जीविताशया = अहमस्यानुनयेन जीविष्यामि इत्याशया पञ्चत्वम् = यदि मरिष्यामि सिंहानुनयेन = सिंहप्रार्थनया॥

जीवन की आशा से ही भयभीत करने वाले की प्रार्थना की जाती है। यदि मुझे मरना ही है तो क्यों सिंह से प्रार्थना करूँ॥ १२१॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि। ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमुवाच— कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि। शशकोऽब्रवीत्— देव! नाहमपराधी। आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः। तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि। सिंहः सकोपमाह—'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय क्व स दुरात्मा तिष्ठति। ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपं दर्शयितुं गतः। तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन् कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान्। ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि— बुद्धिर्यस्य इत्यादि।

मन्द मन्दम्—धीरे धीरे। कुतः—कस्मात् कारणात्, विलम्ब्य—विलम्बं कृत्वा। सिंहान्तरेण = अन्यसिंहेन बलाद्धृतः = बलपूर्वकं गृहीतः। शपथम् = शपथ (सौगन्ध) सकोपम्—कोपपूर्वकम्, दुरात्मानम् —दुष्टम्। गभीरकूपम्—गभीरान्धुम् (गहरे कूएँको) गतः = कूपसमीपं गतवान्। प्रतिबिम्बम् = प्रतिच्छायाम्। क्रोधाध्मातः = क्रोधपूर्णः दर्पात् = गर्वात्, तस्योपरि —प्रतिबिम्बोपरि कूर्दित्वा मृतः। सम्प्रति = इदानीम्।

इसलिए धीरे धीरे चलूँ। तब सिंह ने भूख से व्याकुल होकर क्रोध के साथ

कहा कि—'तुम क्यों इतनी देरी से आए हो।' खरगोश ने कहा—'इसमे मेरा दोष नहीं है। रास्ते मे आते समय एक दूसरे बलवान सिंह ने मुझे पकड़ लिया। उसके सामने फिर आने की कसम खाकर स्वामी को सूचना देने यहाँ आया हूँ।' सिंह ने क्रुद्ध होकर कहा कि—शीघ्र ही चलकर उस दुष्ट को दिखाओ कि वह कहाँ रहता है।' तब खरगोश उसे लेकर एक गहरा कुआँ दिखाने के लिए गया। वहाँ जाकर उसने कहा कि 'स्वामी, आप स्वयं देख लें। ऐसा कह कर उस कुएँ के जल मे उसी सिंह की छाया दिखला दी। इसके बाद वह क्रोध तथा घमंड मे आकर कुएँ मे कूद पड़ा और मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि—'जिसके पास बुद्धि है' आदि।

वायस्याह—'श्रुतं मया सर्वम्। संप्रति यथा कर्तव्यं तद् ब्रूहि।' वायसोऽवदत्—'अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति। स्नानसमये मदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन् कोटरे धारयिष्यसि।' अथ कदाचित्स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तै राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि। करटको ब्रूते—'यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते सन्तु पन्थानः।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—'देव! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि। यतः—

आसन्ने=निकटवर्तिनि, सरसि = तडागे, स्नाति=स्नानं करोति। तदङ्गादवतारितम् = राजपुत्रशरीरान्निस्सारितम्, तीर्थशिलानिहितम् = तीरस्थप्रस्तरे स्थापितम्, चञ्च्वा=त्रोट्या, धारयिष्यसि=पातयिष्यसि, पातयेत्यर्थ। तदनुष्ठितम्= कनकसूत्रं तरुकोटरे पातितवती। कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः = स्वर्णसूत्रप्राप्तये काकीमुद्दिश्यानुधावद्भिः, व्यापादित =हत। आत्ययिकम् = हानिकारकम्, महाभयकारि = अतिशयेन भयप्रदम्, मन्यमान = मन्वान ॥

कौवी ने कहा—'मैंने सब कुछ सुन लिया। इस समय जो करना है उसे बताओ।' कौवे ने कहा—इस निकट के तालाब मे राजकुमार प्रतिदिन आकर स्नान करता है। तुम स्नान के समय, उतार कर शिला पर रखे हुए स्वर्णसूत्र को चोंच से पकड़ कर लाओ और इस खोखले मे रख दो। एक बार जब राजपुत्र जल मे स्नान करने के लिए उतर पड़ा तो कौवी ने वैसा ही किया। इसके बाद उस सुवर्णसूत्र की खोज करने वाले सिपाहियों ने खोखले में काले साँप को देखा और उसे मार डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'उपाय से

को हो सकता है' इत्यादि। करटक ने कहा— यदि ऐसा है तो जाओ तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो। तब दमनक ने पिंगलक के समीप जाकर प्रणाम करके कहा—देव आप पर आने वाली एक महान विपत्ति को जानकर यहाँ आया हूँ। क्योंकि—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—आपदि उन्मार्गगमने च कार्यकालात्ययेषु हितः नरः अपृष्टः अपि कल्याणवचनम् ब्रूयात् ॥ १२४ ॥

आपदि = आपत्काले उन्मार्गगमने = कुमार्गगमने कार्यकालात्ययेषु—कार्यस्य कालः तस्य अत्ययेषु = कर्तव्यसमयविनाशेषु कल्याणवचनम् = हितकरवाक्यम्, अपृष्टः = अननुयुक्तः हितः = हितेच्छुः ॥

कल्याण चाहने वाले पुरुष को आपत्ति के समय कार्य का समय बीतते समय तथा बुरे मार्ग में जाते समय स्वामी को देखकर बिना पूछे ही सारी बातें बता देनी चाहिए ॥

अन्यच्च—भोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यभाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

अन्वयः—राजा भोगस्य भाजनम् (अस्ति) राजा कार्यभाजनं न (अस्ति) राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२५ ॥

भोगस्य=भोगकरणस्य भाजनम्=पात्रम् कार्यभाजनम्=कार्यकर्ता। राजकार्यपरिध्वंसी=राजकार्यनाशकः दोषेण लिप्यते=दोषी भवति ॥

और भी—राजा केवल भोग का पात्र होता है अर्थात् भोग करने वाला होता है वह कार्य करने वाला नहीं होता। राजा के काम को बिगाड़ने वाला मन्त्री ही दोषी होता है ॥ १२५ ॥

तथा हि पश्य। अमात्यानामेष क्रमः—

और देखिए मन्त्रियों का यह नियम है—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वाऽपि कर्तनम्।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम् ॥ १२६ ॥

अन्वयः—प्राणपरित्यागः वा शिरसः अपि कर्तनम् वरम् (अस्ति) तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोः उपेक्षणम् न वरम् (अस्ति) ॥ १२६ ॥

प्राणपरित्यागः = मरणम्, शिरसः कर्तनम् = शिरश्छेदनं वा स्वामि

पदावाप्तिपातकेच्छो —स्वामिन पदस्य=स्थानस्य राज्यस्येत्यर्थ., अवाप्ति लाभः एव पातक तस्येच्छु तस्य = राज्यलाभरूपपातक कर्तुमिच्छुकस्य, उपेक्षणम्= उपेक्षा ॥

प्राणो का परित्याग करना अच्छा है अथवा सिर भी कटा देना उत्तम है किन्तु स्वामी के पद को हडपने की इच्छा करने वाले को उपेक्षा करना ठीक नही है ॥ १२६ ॥

पिङ्गलकः सादरमाह—'अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति।' दमनको ब्रूते—'देव ! सजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चास्मत्सनिधाने श्रीमद्देवपादाना शक्तित्रयनिन्दा कृत्वा राज्यमेवाभिलषति।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभय साश्चर्यं मत्वा तूर्ष्णी स्थित.' दमनकः पुनराह—'देव ! सर्वामात्यपरित्याग कृत्वैक एवायं यत्त्वां सर्वाधिकारी कृतः, स एव दोषः। यतः—

असदृशव्यवहारी इव=अनुचितव्यवहारकर्तेव, लक्ष्यते=प्रतीयते। अस्मत्सन्निधाने अस्माक निकटे, श्रीमद्देवपादानाम् = भवताम्, शक्तित्रयनिन्दाम् = प्रभु-मन्त्रोत्साहरूपाणां तिसृणा शक्तिना निन्दनम्। तूर्ष्णीं स्थित = मौनो जात । सर्वामात्यपरित्याग कृत्वा=सर्वान्मन्त्रिण सन्त्यज्य ॥

पिंगलक ने आदर के साथ कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं।' दमनक ने कहा—'संजीवक आप के प्रतिकूल कार्य करता हुआ दिखाई पड रहा है। उसने हमारे सामने आप की तीनों शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, तथा उत्साहशक्ति) की निन्दा करते हुए राज्य ले लेने की इच्छा व्यक्त की है। यह सुनकर पिंगलक भय और आश्चर्य के साथ थोडी देर के लिए सन्न हो गया। दमनक ने फिर कहा—आपने सभी मन्त्रियों को छोडकर इसी को सर्वाधिकारी बना दिया, आप से यही गलती हुई। क्योंकि—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्री ।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२७ ॥

अन्वयः—लक्ष्मी अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि च पार्थिवे पादौ विष्टभ्य उपतिष्ठते, सा स्त्रीस्वभावात् भरस्य असहा (सती) तयो द्वयो एकतरम् जहाति ॥ १२७ ॥

अत्युच्छ्रिते=अत्युन्नते संभावयुक्ते च पार्थिवे=नृपे विष्टभ्य = स्थिरौ कृत्वा उपतिष्ठते=स्थिरा भवति च । असहा=सोढुमसमर्था भरस्य=भारस्य तयोर्द्वयोः=पार्थिवमन्त्रिणोः एकतरम् = अन्यतमम् जहाति = त्यजति ॥

अत्यन्त उन्नत मंत्री अथवा राजा के चरणों का अवलम्बन लेकर ही लक्ष्मी टिकती है किन्तु स्त्रीस्वभाव के कारण वह अधिक भार नहीं सहन कर सकती इसलिए वह उन दोनों में से एक का परित्याग कर देती है ॥ १२७ ॥

अपरं च—एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्विद्यते ।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति ॥

अन्वयः—यदा भूमिपतिः एकम् सचिवम् राज्ये प्रमाणं करोति मोहात् तम् मदः श्रयते स च मदालस्येन निर्विद्यते निर्विण्णस्य तस्य हृदये स्वतन्त्रस्पृहा पदम् करोति ततः स स्वतन्त्रस्पृहया नृपतेः प्राणान्तिकम् द्रुह्यति ॥ १२८ ॥

सचिवम् = मन्त्रिणम् प्रमाणम् = प्रधानत्वेनाभिमतम्, तम् = सचिवम् मोहात्=अभिमानात् मदः = गर्वः, आलस्येन=आलस्यता निर्विद्यते=खिद्यते पदम् = स्थानम् स्वतन्त्रस्पृहा = स्वातन्त्र्येच्छा प्राणान्तिकम् = प्राणघातकम् द्रुह्यति = द्रोह करोति ॥

और भी—जब राजा एक ही मंत्री को राज्य का सारा अधिकार दे देता है तो अज्ञान वश उसे अभिमान हो जाता है और अभिमान तथा आलस्य उसके हृदय में खिन्नभाव उत्पन्न कर देते हैं। खेद आ जाने के कारण उसके हृदय में स्वतन्त्र हो जाने की इच्छा आ जाती है और इसी स्वतंत्रता की इच्छा से वह राजा से प्राणघातक द्रोह करने लगता है ॥ १२८ ॥

अन्यच्च—विषदग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—विषदग्धस्य भक्तस्य च चलितस्य दन्तस्य च दुष्टस्य अमात्यस्य मूलात् उद्धरणम् सुखम् (भवति) ॥ १२९ ॥

विषदग्धस्य=विषाक्तस्य भक्तस्य=भोजनस्य (भात का) चलितस्य=दोलायमानस्य अमात्यस्य=मन्त्रिणः मूलादुद्धरणम्=समूलोत्पाटनं सुखकरं भवति ॥

और भी—विष भरे भोजन हिलते हुए दाँत और दुष्ट मंत्री को जड़ से उखाड़ फेंकने से ही सुख होता है ॥ १२९ ॥

किञ्च—यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैर्विना ॥ १३० ॥

अन्वयः—य (जगतीपाल) श्रियम् सचिवायत्ताम् कुर्यात्; स जगतीपाल तद्व्यसने सति सचारकैं विना अन्धवत् सीदति ॥ १३० ॥

सचिवायत्ताम्=सचिवाधीनाम्, तद्व्यसने = सचिवव्यसने, अन्धवत् = अन्धेन तुल्यम्, जगतीपाल =भूपति, सीदेत्=दुःखितो भवेत्, सञ्चारकैर्विना=सेवकैर्विना ॥

और भी जो राजा अपनी राजलक्ष्मी को अपने मंत्री के अधीन कर देता है तो वह विपत्ति के समय उसी अंधे के समान कष्ट पाता है जिसे कोई मार्ग बताने वाला नहीं होता ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च जानाति—

स्वेच्छात =स्वेच्छया, प्रवर्तते=कार्ये प्रवृत्तो भवति ।

वह मंत्री सभी काम अपनी इच्छा के अनुसार करने लगता है । अब आप जैसा चाहें वैसा करें । आप यह तो जानते ही हैं कि—

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
परस्य युवतिं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—लोके स पुरुष न अस्ति, य श्रियम् न कामयते । परस्य रम्याम् युवतीम् अत्र क सादरम् न ईक्षते ? ॥ १३१ ॥

कामयते = अभिलषति, श्रियम् = राजलक्ष्मीम्, पक्षे धनम्, सादरम्= आदरपूर्वकम्, भोगेच्छयेति शेष, ईक्षते = पश्यति ॥

ससार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होता जो लक्ष्मी की कामना न रखता हो । भला दूसरे की सुन्दरी स्त्री को आदर के साथ कौन नही देखता ? ॥१३१॥

सिंहो विमृश्याह—'भद्र ! यद्यप्येवं तथापि सञ्जीवकेन सह मम महान् स्नेहः । पश्य—

विमृश्य=विचार्य, एवम्=त्वदुक्तयनुरूपम् ।

सिंह ने विचार करके कहा—भाई, आप का कहना तो ठीक है लेकिन संजीवक के साथ मेरा बहुत स्नेह है । देखो—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—यः प्रियः (अस्ति) सः व्यलीकानि कुर्वन्नपि प्रियः एव (अस्ति) अशेषदोषदुष्टः अपि कायः कस्य (जनस्य) वल्लभः न (भवति) ? ॥ ११२ ॥

व्यलीकानि=अपराधान् । अशेषदोषदुष्टः=सकलदोषयुक्तया दुष्टोऽपि कायः=शरीरम्, वल्लभः=प्रियतमः । अनेकदोषपूर्णदेहवत् प्रतिकूलमाचरन् प्रियो जन सदा प्रिय एव जायते ॥

कितना ही अपराध करने पर भी प्रिय व्यक्ति सर्वदा प्रिय ही रहेगा । जैसे इस शरीर में सभी प्रकार के दोष होते हैं फिर भी यह किसे प्रिय नहीं होता ॥

अन्यच्च—अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—यः प्रियः (अस्ति) सः अप्रियाणि अपि कुर्वाणः प्रियः एव (अस्ति) दग्धमन्दिरसारे अपि वह्नौ कस्य (जनस्य) अनादरः भवति ॥११३॥

अप्रियाणि=अनिष्टानि कुर्वाणः=कुर्वन्, दग्धमन्दिरसारः—दग्धः = भस्मीकृतः मन्दिरस्य=गृहस्य सारः = सारभूतं वस्तु येन सः तस्मिन्, वह्नौ=अग्नौ अनादरः=तिरस्कारः. त्यागः उपेक्षा वैमुख्यं । न कस्यापीति भावः ॥

और भी—अप्रिय कार्य करने पर भी प्रिय व्यक्ति प्रिय ही रहेगा । आग जिसके घर जला डालती है फिर भी कौन उसका अनादर करता है ? ॥११३॥

दमनकः पुनरेवाह—देव ! स एवातिदोषः । यतः—
देव !=श्रीमन् ! अतिदोषः=महान् अगुणः ।
दमनक ने फिर कहा—'राजन्, यही तो सबसे बड़ा दोष है । क्योंकि—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः ।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—पार्थिवः यस्मिन् एव सुते अमात्ये उदासीने अपि चक्षुः अधिकम् आरोहयति सः जनः लक्ष्म्या आश्रीयते ॥ ११४ ॥

तस्मिन्=जने यस्मिन् चक्षुरारोहयति=चक्षुरारोपयति स्नेहेन अधिकं तत्र पश्यतीत्यर्थः । सुते=पुत्रे उदासीने=मध्यस्थे अनुरागद्वेषरहिते लक्ष्म्याश्रीयते=धनवान् भवति ॥

पुत्र, मन्त्री तथा अपने प्रति उपेक्षाभाव रखनेवाले जिस किसी व्यक्ति पर भी जब राजा अधिक स्नेह दिखाने लगता है तो वह लक्ष्मीपात्र बन हो जाता है ॥

शृणु देव—अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।

वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—पथ्यस्य अप्रियस्य अपि परिणाम सुखावह (भवति) यत्र वक्ता व श्रोता अस्ति, तत्र सम्पद रमन्ते ॥ १३५ ॥

पथ्यस्य=हितकरस्य, वचनस्येति शेष, परिणाम =फलम्, सुखावह = सुखद (भवति), वक्ता=स्वामिने सत्परामर्शप्रद, श्रोता = अमात्यसत्परामर्शस्य श्राता, यत्र=राज्ये स्थाने वा, रमन्ते=सानन्द चिर तिष्ठन्ति ॥

सुनिए राजन्—पथ्य (रोग के समय लिया जाने वाला भोजन) भले ही अच्छा न लगने वाला हो, किन्तु उसका अतिम फल सुखदायक होता है । और अप्रिय पथ्य के बताने तथा सुनन वाले जहाँ रहते हैं वहाँ सभी प्रकार की सम्पत्ति विराजमान रहती है ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतच्चानुचितं कृतम् । यतः—

त्वया = भवता, पिङ्गलकेन, मूलभृत्यान् = प्रधानसेवकान्, अपास्य = दूरीकृत्य, आगन्तुक = वहिर्देशादागत, पुरस्कृत = अग्रे कृत, प्रधानत्वेन अभिमत इत्यर्थ, एतत्=आगन्तुकस्य पुरस्करणम् ॥

आपने अपने पुराने सेवकों को छोड दिया और इस नये आनेवाले को आगे बढ़ा दिया । यह आपने अनुचित किया । क्योंकि—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रतिमानयेत् ।

नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—(नृप) मूलभृत्यान् परित्यज्य आगन्तून् न प्रतिमानयेत्, यत अत परतर राज्यभेदकर दोष न (अस्ति) ॥ १३६ ॥

मूलभृत्यान्=वंशपरम्परागतप्रधानसेवकान्, आगन्तून्—आगन्तुकान्, न प्रतिमानयेत्=नाद्रियात् । परतर =महत्तर, राज्यभेदकर =राज्यनाशक ॥

पुराने सेवको को छोडकर नये आनेवालों का सम्मान नही करना चाहिए । क्योंकि राज्य में भेद उत्पन्न करनेवाला इससे बडा और कोई भी दोष नहीं होता ॥

सिंहो ब्रूते—'किमाश्चर्यम् । मया यदभयवाचं दत्त्वाऽऽनीतः संवधितश्च तत्कथ मह्य द्रुह्यति ।' दमनको ब्रूते—'देव

अभयवाचम् = अभयवचनम्, मह्यं द्रुह्यति = मां प्रति द्रोहं करोति 'क्रुध-द्रुहेर्ष्या—' इति द्रुहधातोर्योगे मह्यमित्यत्र चतुर्थीविभक्तिः ॥

सिंह ने कहा—कितने आश्चर्य की बात है ? मैंने ही उसे अभयदान दिया, अपने पास बुलाया और उसे आगे बढ़ाया फिर वह मुझसे द्रोह क्यों करने लगा ? दमनक ने कहा—

> दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
> स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥ ११७ ॥

अन्वयः—दुर्जनः स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः नामितम् श्वपुच्छम् इव नित्यशः सेव्यमानः अपि आर्जवम् न याति ॥ ११७ ॥

आर्जवम्=सरलताम् स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः—स्वेदनम्=उष्णवस्त्वादिना स्निग्धीकरणम्, अभ्यञ्जनम्=तैलमर्दनम् उपायम्=नलिकादिमध्ये संस्थाप्य नामनादिकम् तैः नामितम्=ऋजुत्वार्थं नम्रीकृतम् ॥

रोज नित्य सेवा करते रहने पर भी दुष्ट सीधा नहीं हो सकता । कुत्ते की टेढ़ी पूँछ को सेंक कर कितना ही तेल लगाया जाय लेकिन वह सीधी नहीं होती ॥

अपरञ्च—स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
> मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—स्वेदितः च मर्दितः एव रज्जुभिः परिवेष्टितः, श्वपुच्छः द्वादशभिः वर्षैः मुक्तः (सन्) प्रकृतिं गतः (भवति) ॥ ११८ ॥

स्वेदितः=उष्णवस्त्वादिना स्वेदयुक्तः—यथा श्वपुच्छमभिलक्ष्य ऋजु कर्तुं तैलादिना सम्मर्द्य अग्नौ तापयित्वा ऋजु कुर्वन्ति तथा कृत इति भावः । मर्दितः=तैलादिना हस्तमर्दनं रज्जुभिः=गुणैः परिवेष्टितः=समावेष्टितः (रश्मिसम्बन्धेन अपेक्षा यथा) मुक्तः=त्यक्तः, श्वपुच्छः—कुक्कुरलाङ्गूलम् प्रकृतिं गतः—पूर्ववक्र एव तिष्ठति ॥

और भी—कुत्ते की पूँछ सेंकी गई, भली भाँति मली गई और बारह वर्षों तक सीधी करके बंधी रही किन्तु खोलने पर वह फिर टेढ़ी ही रह गयी ॥११८॥

अन्यच्च—वर्धनं वाऽथ सम्मानं खलानां प्रीतये कुतः ।
> फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—वर्धनम् सम्मानम् वा खलानाम् प्रीतये कुतः (भवति) अमृतसेके अपि विषद्रुमाः पथ्यानि न फलन्ति ॥ ११९ ॥

वर्धनम्=सवर्धनम्, सम्मानम्=आदर., प्रीतये=प्रसन्नतायै, कुत. = कस्मा-त्कारणात् भवति। अमृतसेके=सुधया सेचने, पथ्यानि=मधुरफलानि, विषद्रुमा =विषवृक्षा ॥

और भी—उन्नति या सम्मान भला दुष्ट स्वभाववालो को प्रसन्न कर सकता है? अमृत से सींचे जाने पर भी विष के वृक्ष सुखदायक फल नहीं दे सकते ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्।
एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥१४०॥

अन्वयः—(सत्सेवक) यस्य पराभवम् न इच्छेत् (तेन) अपृष्ट' अपि हितम् ब्रूयात्, एष एव सताम् धर्म (अस्ति), अत विपरीतम् अन्यथा (अस्ति) ॥ १४० ॥

हितम् = हितकर वचनम्, यस्य—स्वाम्यादे, पराभवम्=पराजयम्, एष एव=अपृष्टेऽपि हितकृद्वाक्यकथनमेव। विपरीतमतो०—अस्मात्प्रतिकूलं कथनं सतामधर्मोऽस्तीत्यर्थं ॥

इसीलिए मैं कहता हूं—

अगर कोई व्यक्ति किसी की हानि नहीं चाहता तो उसे उसके बिना पूछे ही हित की बातें बता देनी चाहिएं। यही सज्जनों का मार्ग होता है। इसके विपरीत काम करना दुष्टों का काम है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्—

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥१४१॥

अन्वयः—य अकुशलात् निवारयति, स स्निग्ध, यत् निर्मलम्, तत् एव कर्म, या अनुविधायिनी, सा स्त्री, य सद्भि अभ्यर्च्यते, स मतिमान्, या मद न करोति, सा श्री, य तृष्णया मुच्यते, स सुखी, यत् अकृत्रिमत् तत् मित्रम्, य इन्द्रियै न खिद्यते, स पुरुष (अस्ति, अस्य यथायथ सर्वत्र अन्वय) ॥ १४१ ॥

अकुशलात्=अमङ्गलात्, निवारयति=निवारणं करोति, निर्मलम्=निर्दुष्टम्, अनुविधायिनी=अनुवर्तिनी, अभ्यर्च्यते=आद्रियते, मदम्=गर्वम्, तृष्णया= लोभेन, अकृत्रिमम्, न खिद्यते=इन्द्रियवशगो न भवति ॥

जैसा कि कहा भी गया है—

वही सच्चा प्रेमी है जो हानि से बचावे, कर्म वही है जो पवित्र हो, स्त्री वही है जो आज्ञा मानने वाली हो, बुद्धिमान वही है जो सज्जनों से पूजित हो, लक्ष्मी वही है जो घमंड न उत्पन्न होने दे, सुखी वही है जो लालच से मुक्त हो, मित्र वही है जो स्वाभाविक हो और पुरुष वही है जो इन्द्रियों द्वारा दुःखी न बनाया जा सके ॥ १४१ ॥

यदि सञ्जीवकव्यसनाविष्टोऽविज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते तदीदृशे भृत्ये न दोषः। तथा च—

सञ्जीवकव्यसनात् = सञ्जीवकोत्पन्नव्यसनाविष्ट इति = मत्तः, विज्ञापित = निवेदित न निवर्तते = सञ्जीवकसंसर्गं न त्यजति ईदृशे—एवंविधव्यसने ।

मेरे इतना निवेदन करने पर भी यदि स्वामी सञ्जीवक के प्रेम से विरत नहीं होते तो इसमें सेवक का कोई भी दोष नहीं है। और भी—

> नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
> यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव।
> ततो मानाध्मातः स पतति यदा शोकगहने
> तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम् ॥१४२॥

अन्वयः—कामासक्तः नृपः कार्यम् न गणयति च हितम् न पश्यति (किन्तु) मत्तः गजः इव यथेष्टम् स्वच्छन्दः विचरति ततः मानाध्मातः सः यदा शोकगहने पतति तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति निजम् अविनयम् न वेत्ति ॥१४२॥

कामासक्त = कामवशीभूत कार्यम् = कर्तव्यम्, यथेष्टम् = इच्छानुसारम्, स्वच्छन्द = स्वतन्त्र मान गहने = दर्पोन्मत्त महाशोकगर्ते पतति भृत्ये दोषान् क्षिपति = भृत्यानाम् उपरि दोषान् पातयति निजम् = स्वकीयम्, अविनयम् = औद्धत्यम् ॥

कामासक्त राजा न तो कार्य की ओर ध्यान देता है न अपना हित ही समझ पाता है वह स्वच्छन्द मतवाले हाथी के समान मनमाने ढंग से विचरण करता है (जो मन चाहता है वह करता है) किन्तु दर्पोन्मत्त होकर शोकरूपी गड्ढे में गिरने पर सारा दोष सेवकों के मत्थे मढ़ देता है अपने दोषों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। अर्थात् राजाओं के पतन का कारण उनका अपना स्वच्छन्द व्यवहार ही है ॥ १४ ।

पिङ्गलक (स्वगतम्)—

स्वगतम् = स्वगतमिति अन्यमश्राव्यमित्यर्थः ।

न परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत्।
आत्मनाऽवगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा ॥ १४३ ॥

अन्वयः—(राजा) परस्य अपराधेन परेषाम् दण्डम् न आचरेत्, आत्मना अवगतम् कृत्वा (नरम्) बध्नीयात् वा पूजयेत् ॥ १४३ ॥

परस्य=अन्यस्य, अपराधेन=दोषेण, परेषा ˙ आचरेत्=परान्न दण्डयेत् । आत्मना=स्वयम्, अवगत कृत्वा = ज्ञात्वा, बध्नीयात् = बन्धन कुर्यात्, दण्डयेदित्यर्थ , पूजयेत् = आद्रियेत वा ॥

पिंगलक ने— (मन ही मन कहा) किसी दूसरे के अपराध से दूसरो को दड नहीं देना चाहिए। पहले अपने आप उसे भली भाँति समझ कर हो दडित या सम्मानित करना चाहिए ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम्—गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः ॥१४४॥

अन्वयः—गुणदोषौ अनिश्चित्य दोषाय ग्रहनिग्रहे न विधि (कर्तव्य), यथा दर्पात् सर्पमुखे न्यस्त कर एव नाशाय (भवति) ॥ १४४ ॥

गुणदोषौ = गुणापराधौ, अनिश्चित्य = अनिर्णीय, गुणापराधयोर्निर्णयमकृत्वेत्यर्थ., ग्रहनिग्रहे = सग्रहणम् (समादर) दण्डश्च । स्वनाशाय=आत्मनो मरणाय, न्यस्त =स्थापित ॥

जैसा कहा भी गया है—गुण या दोष का निश्चय किए बिना अनुगृहीत या दडित करना उचित नहीं है। ऐसा करना तो अभिमान मे आकर अपना ही विनाश करने के लिए साँप के मुँह में हाथ डालने के समान है ॥ १४४ ॥

प्रकाशं ब्रूते—'तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्।' दमनकः ससम्भ्रममाह—'देव, मा मैवम्। एतावता मन्त्रभेदो जायते। तथा ह्युक्तम्—

प्रत्यादिश्यताम्=बहिष्क्रियताम्, मयेति शेष , ससम्भ्रमम्=भयपूर्वकम् । मन्त्रभेद =मन्त्रणाया प्रकाश , जायते=भवति, मन्त्रणा प्रकाशं गच्छति । इत्यर्थं ॥

प्रकट रूप से कहा—तो क्या सजीवक को सेवा से अलग कर दिया जाय ? दमनक ने घबडा कर कहा—'देव, ऐसा न करें, इससे मन्त्रभेद हो जायगा। जैसा कि कहा भी है—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १८५ ॥

अन्वयः—गुप्तम् इदम् मन्त्रबीजम् (गुप्तेन) तथा रक्षणीयम् यथा मनाग् अपि न भिद्येत (यत) भिन्नम् तद् न प्ररोहति ॥ १८५ ॥

मन्त्रबीजम्—मन्त्ररूपं बीजम् गुप्तम् = अप्रकाशितम् मनाक् = स्वल्पम् तद् = मन्त्रबीजम्, भिन्नम् = प्रकाशं गतम् स्फुटितम्। यथाऽस्फुटितं भूगतो गुप्तमेव बीजमङ्कुरितं भूत्वा यथाकालमवाप्तफलं भवति तथैव सुरक्षित मन्त्रमपि अग्यर हस्त तद् फलप्रद भवतीत्याशयः ॥

मन्त्र (मन्त्री एवं राजा के बीच होने वाली राय बात) रूपी बीज को जैसे भी हो उसे वैसे गुप्त ही रखना चाहिए। वह जरा भी फूटने न पाए, क्योंकि फूट जाने से वह फिर उग नहीं सकता ॥ १८५ ॥

किं च—आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ १८६ ॥

अन्वयः—क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य आदेयस्य प्रदेयस्य च कर्तव्यस्य कर्मणः रसम् कालः पिबति ॥ १८६ ॥

आदेयस्य—ग्रहणीयस्य प्रदेयस्य—दानयोग्यस्य रसम् = फलम्, कालः = समय। क्षिप्रमक्रियमाणानामादेयादीनां परिणामः न भवतीति तात्पर्यम् ॥

और भी—लेन देन तथा कर्तव्य कार्य को शीघ्र ही न कर डालने से उनके रस को समय पी जाता है अर्थात् फिर उनके करने से कोई अच्छा परिणाम नहीं होता ॥ १८६ ॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम्। किञ्च—

समारब्धम्—प्रारम्भ कार्यम्, सम्पादनीयम्—कर्तव्यम् ॥

इसलिए प्रारंभ किए गये कार्य को अत्यन्त परिश्रम के साथ पूरा करना चाहिए। और भी—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १८७ ॥

अन्वयः—संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षित अधीर योध इव (संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षित) मन्त्रः परेभ्य भेदशङ्कया चिरं स्थातुम् न सहते ॥ १८७ ॥

मन्त्र = राज्ञि हाम्यां कृते गुप्तविचार योध = योद्धा अधीर = भीरु सर्वाङ्गैः = मस्तकादिसर्वस्व स्वनाङ्गैः पक्षे अमात्यादिराज्यांगैः राज्याङ्गैः

संवृत = कवचादिनाच्छादिते, पक्षे तृतीयेन जनेनाज्ञाततया सुरक्षिते, परेभ्य = अन्येभ्य, शत्रुभ्यश्च, भेदशङ्कया=आघातभीत्या, पक्षे प्रकाशनभीत्या। यथा कवचादिनाच्छादितशरीरोऽपि भीरुर्योद्धा स्वाङ्गाघातभयाद् युद्धे चिर न तिष्ठति, तथैव अमात्यादिद्वादशभी राज्याङ्गै सुरक्षितोऽपि गुप्तपरामर्श 'रिपव ज्ञास्यन्ति' इति भयेन चिरकाल न तिष्ठति। अत शीघ्रं तदनुसारं कार्यं करणीयमिति भाव ॥

सभी अगो से ढके होने पर जिस प्रकार कायर योद्धा शत्रुओ से छिद जाने के भय से देर तक युद्धभूमि मे टिक नहीं सकता, उसी प्रकार भली भाँति गुप्त होने पर भी 'मन्त्र' फूट जाने के भय से अधिक समय तक टिक नहीं सकता ॥१४७॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य सघातव्यस्तदतीवानुचितम् यतः—

यदि इसके दोषों को जान कर भी आप उन दोनों का ध्यान न करके इससे संधि करना चाहते हों तो यह तो अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि—

सकृद्दुष्टं तु यो मित्र पुनः सन्धातुमिच्छति।
स मृत्युरेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १४८ ॥

अन्वयः—य तु सकृद् दुष्टम् मित्रम् पुन सन्धातुम् इच्छति, स अश्वतरी गर्भम् यथा मृत्युम् इव गृह्णाति ॥ १४८ ॥

सकृद्दुष्टम् = एकवारविरुद्धम्, सन्धातुम् = सन्धि कर्तुम्, अश्वतरी=वेसरी, खच्चरी इति यावत्, यथा = इव ॥

एक बार भी दुष्टता किए हुए मित्र से जो फिर मेल करना चाहता है वह मृत्यु ही को ग्रहण करता है जैसे खच्चरी गर्भ धारण करके मर जाती है ॥

सिंहो ब्रूते—'ज्ञायता तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः।' दमनक आह—'देव!—

सिंह ने कहा—'पहले यह मालूम करो कि यह हमारा क्या कर सकता है?' दमनक ने कहा—'देव!

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृत.' ॥ १४९ ॥

अन्वयः—अङ्गाङ्गिभावम् अज्ञात्वा सामर्थ्यनिर्णय कथम् (कर्तुं शक्यते) पश्य, टिट्टिभमात्रेण समुद्र व्याकुलीकृत ॥ १४९ ॥

अङ्गाङ्गिभावम्=अङ्गाङ्गिनो सम्बन्धम्, सामर्थ्यनिर्णय = शक्ते निश्चय, टिट्टिभमात्रेण=केवल साधारणेन टिट्टिभेन (टिटहरी) पक्षिणैव ॥

परस्पर संबन्ध आदि (सहाय्य और सहायक) का ज्ञान किए बिना पति
निर्णय कैसे हो सकता है ? देखो केवल एक टिटिहिरी ने ही समुद्र को व्याकु
कर दिया ॥ १४९ ॥

सिंहः पृच्छति—'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति—

सिंह ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ९

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदम्पती निवसतः। तत्र आसन्नप्रसवा
टिट्टिभी भर्तारमाह—'नाथ प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीय
ताम्। टिट्टिभोऽवदत्—भार्ये नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्
सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतत्। टिट्टिभोऽवदत्—
किमहं निर्बलः समुद्रेण निग्रहीतव्यः। टिट्टिभी विहस्याह—'स्वा
मिन् त्वया समुद्रेण च महदन्तरम्। अथवा—

टिट्टिभदम्पती=जायापती टिट्टिभौ दम्पती जम्पती जायापती इत्यमर'
आसन्नप्रसवा = सन्निकटप्रसवसमया भर्तारम् = टिट्टिभम् प्रसवयोग्यस्थानम्—
प्रसूत्यर्हं स्थानम् निभृतम् = एकान्तम् गुप्तमित्यर्थः अनुसन्धीयताम्—
अन्विष्यताम् त्वयेति शेष । समुद्रवेलया=समुद्रतटपयसा (ज्वार भाटा से)
व्याप्यते=व्याप्त भवति प्लाव्यते इत्यर्थः । निग्रहीतव्यः=पीडितव्य ॥

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटिहिरी का एक जोड़ा रहता था। वहाँ टिटिहिरी
ने बच्चा पैदा करने का समय निकट आने पर अपने पति से कहा—स्वामी
बच्चा पैदा करने योग्य एकान्त स्थान की खोज कीजिए। टिट्टिभ ने कहा—
प्रिये यही स्थान बच्चा पैदा करने योग्य है। उसने कहा—यह स्थान समुद्र की
लहरोंसे भर जाता है। टिटिहरे ने कहा—क्या मैं कमजोर हूँ जो समुद्र मुझे दब
देगा। टिटिहिरी ने हँसकर कहा—स्वामी आप और समुद्र में महान अन्तर है।

पराभवं परिच्छेत्तुं योग्यायोग्यं च वेत्ति यः।
अस्तीह यस्य विज्ञानं कृच्छ्रेणापि न सीदति ॥ १५० ॥

अन्वयः—य (नर) पराभवं परिच्छेत्तुम् च योग्यायोग्यम् वेत्ति इह यस्य
विज्ञानम् (अस्ति स नर) कृच्छ्रेण अपि न सीदति ॥ १५ ॥

पराभवम् = पराभवकारणम् परिच्छेत्तुम्—दूरीकर्तुम् योग्यायोग्यम् —
योग्यं अयोग्यो वा इति निर्णयम् वेत्ति—जानाति विज्ञानम् = विशिष्टज्ञानम्,
कृच्छ्रेण=महाकष्टेन सीदति=दुःखितो भवति ॥

पराजय बचाने के लिए जो योग्य, अयोग्य का ज्ञान रखता है और जिसे अपने बल का ज्ञान होता है वह विपत्तियो से भी दुखी नही होता ॥ १५० ॥

अपि च—अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा ।
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि ॥ १५१ ॥

अन्वयः—अनुचितकार्यारम्भ स्वजनविरोध बलीयसा स्पर्धा प्रमदाजनविश्वास (इति एतानि) चत्वारि मृत्यो द्वाराणि (सन्ति) ॥ १५१ ॥

अनुचितकार्यारम्भ —अनुचितस्य = अयोग्यस्य, कार्यस्य=कर्मण ; आरम्भ = प्रारम्भ , स्वजनविरोध = स्वबान्धवादिना वैरम्, बलीयसा = अधिकबलवता, स्पर्धा=सघर्ष , प्रमदाजनविश्वास.—स्त्रीजनेषु विश्वास ॥

और भी—अनुचित कार्य का आरम्भ, अपने लोगो से शत्रुता, बलवानों से स्पर्धा, और स्त्री का विश्वास—ये चारो मृत्यु के द्वार हैं ॥ १५१ ॥

ततः कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता । एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यपहृतानि । ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह—'नाथ, कष्टमापतितम् । तान्यण्डानि मे नष्टानि ।' टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये, मा भैषीः ।' इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः । तत्र गत्वा सकल वृत्तान्त टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—'देव, समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।' ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायादिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि । राजाह—'कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ।' दमनको ब्रूते—'यदासौ सदर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।' एवमुक्त्वा सञ्जीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । सञ्जीवकेन सादरमुक्तम्—'भद्र कुशल ते ।' दमनको ब्रूते—अनुजीविनां कुतः कुशलम् । यतः—

कृच्छ्रेण=अतिशयप्रबोधनादिना, प्रसूता = प्रसव कृतवती । तच्छक्तिज्ञानार्थम्=टिट्टिभसामर्थ्यज्ञानाय, तदण्डानि = टिट्टिभ्यण्डानि, अपहृतानि=जलतरङ्गप्लावनेन गृहीतानि । शोकार्ता = शोकपीडिता । कष्टमापतितम्=सहसा दुःखं

समागमनम् । पक्षिणां मेलनम् = पक्षिसम्मेलनम् । गरुडस्य = विष्णुवाहनस्य पक्षि राजस्य । सकलवृत्तान्तम् — समस्तवृत्तम् पुरतः — अग्रे । स्वगृहावस्थ = आत्मनो गृहे स्थित । विनापराधेन = अपराधं विनैवाऽस्माकं निगृहीत = पीडित । तदुप नम् — टिट्टिभकथनम्, आकर्ण्य = श्रुत्वा गरुत्मता — गरुडो = पक्षी स्व पक्ष इति यस्मात् तेन — गरुडेन प्रभु — स्वामी नारायण = विष्णु सृष्टिस्थितिप्रलय हेतु — सृष्टि — सर्जन स्थिति — पालनञ्च प्रलय — नाशश्चेति सृष्टिस्थितिप्रलया तेषां हेतु — कारणम् = सृष्टिपालनप्रलयकारक इत्यर्थ विज्ञप्त — निवेदित । अण्ड दानाय = अण्डानि दातुम् आदिदेश = आदिष्टवान्, मौली = मस्तके निधाय गृहीत्वा विष्णोराज्ञा शिरोनमनपूर्वकं स्वीकृत्येत्यर्थं अतो — मन्त्रीवाक् द्रोहबुद्धि = विद्रोही सदर्प — दर्पेण सहित भृकुटिप्रभङ्गप्रदर्शनाभिमुख — भृकुट्याप्रेण प्रदर्शयन् उपसर्पन् — समय । मन्दं मन्दम् = शनैः शनैः उपसर्पन् = निकटं गच्छन् विलि तम् = भीतम्, आत्मानम् अदर्शयत् — प्रदर्शितवान् । अनुजीविनाम् = सेवकानाम् कुत = कस्मात् हेतो कुशलम् = क्षेमम् ॥

इसके पश्चात् स्वामी के कहे अनुसार बड़ी कठिनाई से उसने वही अण्डा दे दिया । यह सब सुनकर समुद्र ने भी उसकी शक्ति जानने की इच्छा से उसके अंडों को चुरा लिया अर्थात् लहरों से बहा दिया । तब टिटिहिरी ने शोक से व्याकुल होकर पति से कहा—नाथ अब तो विपत्ति आ गई मेरे अंडे नष्ट हो गए । टिटिहरे ने कहा—प्रिये मत डरो ऐसा कहकर वह पक्षियों को एकत्रित करके उनके राजा गरुड़ के पास पहुँचा । वहाँ उसने भगवान गरुड़ के सामने सारा समाचार कह सुनाया— देव समुद्र ने बिना अपराध ही अपने घर में रहने वाले मुझको दण्ड दिया है । उसकी बात सुनकर गरुड़ ने सृष्टि पालन तथा विनाश करने वाले भगवान नारायण से निवेदन किया । उन्होंने समुद्र को अंडा देने का आदेश दिया । भगवान की आज्ञा मानकर समुद्र ने सभी अंडे टिटिहरे को दे दिये । इसी लिए मैं कह रहा हूँ—'परस्पर शत्रु आदि जाने बिना'—इत्यादि । राजा ने कहा—'यह कैसे जाना जाय कि वह मुझसे द्रोह करता है ?' दमनक ने कहा—जब वह अभिमान के साथ सींग की नोक से मारने के लिये तैयार-जैसा उतावला होकर आप के सामने आएगा तो स्वामी समझ जायेंगे । यह कह कर वह संजीवक के पास गया वहाँ पहुँच कर धीरे धीरे चलते हुए उसने अपने को कुछ चकित रूप में प्रदर्शित किया । संजीवक ने आदर के साथ कहा कि— भद्र कुशल तो है न । दमनक ने कहा— सेवकों का कुशल कहाँ है ? क्योंकि—

> सम्पत्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
> स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ १५२ ॥

अन्वयः—ये (नरा) राजसेवका सन्ति, तेषाम् (नराणाम्) सम्पत्तय पराधीना , चित्तम् सदा अनिवृतम्, स्वजीविते अपि अविश्वास (भवति) ॥१५२॥

सम्पत्तय =धनानि, पराधीना =राजाधीना , अनिर्वृतम्=सुखहीनम् ॥

राजसेवकों का धन सदा दूसरे के हाथ मे होता है, चित्त चिन्ता मे पड़ा रहता है और उन्हे अपने जीवन का भी विश्वास नही होता है ॥ १५२ ॥

अन्यच्च—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रिय ।
कः कालस्य भुजान्तर न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५३ ॥

अन्वयः—क अर्थान् प्राप्य न गर्वित ? कस्य विषयिण आपद अस्तं गता ? भुवि स्त्रीभि कस्य मन न खण्डितम् ? वा राज्ञाम् प्रिय क अस्ति ? च क कालस्य भुजान्तरम् न गत ? क अर्थी गौरव गत ? दुर्जनवागुरासु पतित क पुमान् क्षेमेण यात ? ॥ १५३ ॥

अर्थान्=धनानि, गर्वित = दर्पित , विषयिण = विषयासक्तस्य, आपदो०= विपदो नष्टा , विपत्तयो न भवन्ति, खण्डितम् = वशीकृतम्, कालस्य = मृत्यो भुजान्तर गत = आलिङ्गित , कालेन मृत इति यावत्, अर्थी = याचक , गौरवम् =महत्वम् दुर्जनवागुरासु = दुर्जनजालेषु, क्षेमेण यात =कुशली स्थित , न कोऽपि इत्यर्थ ॥

और भी ऐसा कौन व्यक्ति है जो धन को पाकर अभिमानी न बने, ऐसा कौन विषयी है जिसकी आपत्तियाँ दूर हुई हो, इस ससार में ऐसा कौन है जिसका मन स्त्रियो से खण्डित न हुआ हो, कौन ऐसा है जो राजा को प्रिय हो, कौन मृत्यु के हाथो नहीं पडा, किस मागने वाले ने बड़प्पन प्राप्त किया, और ऐसा कौन है, जो दुष्टो के जाल में फँसकर सुख से रहा हो ॥ १५३ ॥

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे, ब्रूहि किमेतत् ।' दमनक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः । पश्य—

सजीवक ने कहा—'मित्र, बताओ यह क्या है ?' दमनक ने कहा—'मैं अभागा क्या बताऊँ ? देखो—

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति ॥ १५४ ॥

अन्वयः—(यथा कश्चित्) पयोराशौ मज्जन् अपि सर्पावलम्बनम् लब्ध्वा न मुञ्चति च न आदत्ते (अहम्) सम्प्रति तथा मुग्धः अस्मि ॥ १५४ ॥

मज्जन् = बुडन् मग्नो भवन् (डूबता हुआ) पयोराशौ = समुद्रे सर्पावलम्बनम् लब्ध्वा=सर्पं गृहीत्वा मुञ्चति = त्यजति आदत्ते = धारयति मुग्धः=मूढः ॥

जैसे समुद्र में डूबता हुआ मनुष्य साँप का सहारा पाकर न तो उसे छोड़ ही पाता है और न पकड़ ही पाता है वैसे ही इस समय मैं भी किंकर्तव्यविमूढ़ बन गया हूँ ॥ १५४ ॥

यतः—एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवाः ।
किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे ॥ १५५ ॥

अन्वयः—एकत्र राजविश्वासः अन्यत्र बान्धवाः नश्यन्ति दुःखसागरे पतितः किम् करोमि क्व गच्छामि ? ॥ १५५ ॥

एकत्र=एकस्मिन् भागे (एक तरफ) राजविश्वासः=नृपविश्वासः नश्यति=विनष्टः भवति (अन्यस्मिन्नपि भागे) बान्धवाः=बन्धुः, स्वजनाः ॥

क्योंकि—एक ओर राजा का विश्वास नष्ट हो रहा है दूसरी ओर भाई का विनाश आ पहुँचा है। क्या करूँ कहाँ जाऊँ ? मैं तो दुःख के सागर में पड़ गया हूँ ॥ १५५ ॥

इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः। सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र, तथापि सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्। दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राजविश्वासो न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः। मया परलोकार्थिनावश्यं तव हितमाख्येयम्। शृणु, अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी रहस्युक्तवान्—'सञ्जीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि। एतच्छ्रुत्वा सञ्जीवकः परं विषादमगमत्। दमनकः पुनराह—'अलं विषादेन। प्राप्तकालकार्यमनुष्ठीयताम्। सञ्जीवकः क्षणं विमृश्याह स्वगतम्—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते। किं वा दुर्जनचेष्टितं न वेत्येतद् व्यवहारान्निर्णेतुं न शक्यते। यतः—

सविस्तरम् = विस्तरेण सहितम्, मनोगतम् = हृदयस्थं भावम्, सुनिभृतम् = पूर्ण गुप्तम् अस्मदीयप्रत्ययात् = मदीयविश्वासात्, परलोकार्थिना= स्वर्गाभिलाषुकेण हितम् = हितवचनम् आख्येयम् = कथनीयम्। विकृतबुद्धिः= दुष्टबुद्धिः रहसि=एकान्ते। स्वपरिवारम् = आत्मनो बन्धुवर्गम्, तर्पयामि= तृप्तं करिष्यामि। परम्=अधिकम् विषादम् = खेदम्। अलं विषादेन = विषादं

मा कुरु । प्राप्तकालकार्यम् = समयानुकूल कार्यम् । क्षणम्=क्षणमात्रम्, विमृश्य= विचार्य । सुष्ठु = समुचितम् । दुर्जनचेष्टितम् = दुष्टचेष्टा ॥

ऐसा कहकर लम्बी सांस खींचते हुए बैठ गया । सञ्जीवक ने कहा—'फिर भी विस्तार के साथ अपने मन की सारी बातें बताओ ।' दमनक ने बड़ी नम्रता से कहा—यद्यपि राजा के भेद की बात नहीं कहनी चाहिये, फिर भी आप हमारे विश्वास पर आए हैं । परलोक की अभिलाषा रखने वाला मैं आपके कल्याण की बात अवश्य बताऊँगा । सुनो, हमारे स्वामी इस पिंगलक की नीयत आप के प्रति खराब हो गई है । उन्होने एकान्त में कहा है कि—'सजीवक को ही मार कर अपने कुटुम्बियों को सतुष्ट करूँगा ।' यह सुनकर सजीवक बहुत दुखी हुआ । दमनक ने फिर कहा—'आप दु खी न हों । समय के अनुसार कार्य करे ।' सजीवक ने कुछ देर तक विचार करके मन ही मन कहा—यह बहुत ठीक कह रहा है, अथवा यह दुष्टों की चाल है या नहीं, यह तो व्यवहार से नहीं समझा जा सकता है । क्योंकि—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५६ ॥

अन्वयः—प्रायण नार्यं दुर्जनगम्या, राजा अपात्रभृत्, धनम् कृपणानुसारि च देव गिरिजलधिवर्षी भवति । (अस्य क्रियापदस्य पूर्वस्मिन् वाक्ये 'भवन्ति' इति वचनविपरिणामेनान्वय) ॥ १५६ ॥

दुर्जनगम्या=दुष्टैर्भोग्या, नार्यं =स्त्रिय, अपात्रभृत्=कुपात्रपालक, कृपणानुसारि=कृपणजनगतम्, देव =मेघ, गिरिजलधिवर्षी=पर्वतसमुद्रयो वृष्टिकारक ॥

स्त्रियाँ प्राय दुर्जनों के पास ही पहुँचती हैं, राजा दुष्टों ही का पालन करने वाला होता है, धन कजूसों के ही पास रहता है और बादल पहाड़ों पर तथा समुद्र मे ही अधिक पानी बरसाते हैं ॥ १५६ ॥

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५७ ॥

अन्वयः—कश्चित् असज्जन आश्रयसौन्दर्यात् प्रमदालोचनन्यस्तम् मलीमसम् अञ्जनम् इव शोभाम् धत्ते ॥ १७७ ॥

आश्रयसौन्दर्यात्—आश्रयस्य = नृपादे, पक्षे नेत्रयोश्च, सौन्दर्यात् = सरलस्वभावत्वात्, पक्षे लावण्यात्, धत्ते=धारयति, शोभाम् = कान्तिम्, प्रमदालोचनन्यस्तम्=युवतिनेत्रार्पितम्, मलीमसम्=अतिशयेन मलिनम्, अञ्जनम्=कज्जलम् ॥

जैसे स्त्रियो की आंख मे लगा हुआ काला भी अञ्जन आंख के सहारे ही शोभा पाता है उसी प्रकार कभी कभी दुष्ट भी अच्छा सहारा पाकर सुशोभित हो उठता है ॥ १५७

तत्र विचिन्त्योक्तम्। कथं किमिदमापतितम्। यतः—

इस प्रकार देर तक सोचकर उसने कहा—इतनी बड़ी विपत्ति कैसे आ पड़ी। क्योंकि—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नान्न तोषमायाति किमत्र चित्रम्।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

अन्वयः—प्रयत्नात् आराध्यमानः नृपतिः तोषम् न आयाति अत्र चित्रं किम् (अस्ति)? अयम् तु अपूर्वः प्रतिमाविशेषः (अस्ति) यः सेव्यमानः अपि रिपुताम् उपैति ॥ १५८ ॥

आराध्यमानः=सेव्यमानः प्रयत्नात्=प्रयत्नेन तोषमायाति=प्रसन्नो भवति अपूर्वप्रतिमाविशेषः=आश्चर्यमूर्तिविशेषः रिपुताम्=शत्रुताम् अयमाशयः—सेव्यमाना अन्या देवादिप्रतिमा प्रसन्ना भवति किन्तु सेवनेऽपि शत्रुतया राजरूपेण प्रतिमाऽपूर्वेति भावः ॥

अत्यन्त परिश्रम के साथ आराधना करने पर भी यदि राजा संतुष्ट नहीं होता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यह उसमें एक विचित्र विशेषता है कि सेवा करने पर भी वह शत्रुता मानता है ॥ १५८ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः। यतः—

तत्=तस्मात्कारणात्, सेवनेऽपि शत्रुतापन्नहेतोः अशक्यार्थः=कर्तुमशक्यः प्रमेयः=विषयः ॥

अब इस बात का अनुमान लगाना भी शक्ति से बाहर है। क्योंकि—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ १५९ ॥

अन्वयः—हि यः निमित्तम् उद्दिश्य प्रकुप्यति सः तस्य अपगमे ध्रुवम् प्रसीदति तु यस्य मनः अकारणद्वेषि (भवति) जनः तम् कथम् परितोषयिष्यति? ॥

निमित्तम्=कारणविशेषम् उद्दिश्य=अभिलक्ष्य प्रकुप्यति=कुप्यति ध्रुवम्=अवश्यम्, तस्य=निमित्तस्य अपगमे=नाशे प्रसीदति=प्रसन्नो भवति अकारणद्वेषि=कारणं विना द्वेषयुक्तम्, परितोषयिष्यति=सन्तुष्टं करिष्यति न सन्तुष्टं करिष्यति इत्यर्थः ॥

जो व्यक्ति किसी कारण से नाराज होता है, वह उस कारण के दूर हो जाने पर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जिसका मन अकारण ही शत्रु बन जाता है, उसे भला कोई कैसे सन्तुष्ट कर सकता है ॥ १५९ ॥

किं मयापकृतं राज्ञः। अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः।' दमनको ब्रूते—'एवमेतत्। शृणु—

अपकृतम्=अपकार कृत, निर्निमित्तापकारिण =निष्कारणमपकारका ॥

मैंने राजा का क्या बिगाड़ा? अथवा राजा लोग अकारण ही बुराइ करने वाले होते हैं।' दमनक ने कहा—'ऐसा ही है। सुनो—

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कैश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति।
चित्रं चित्रं किमथ चरितं नकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १६० ॥

अन्वयः—कश्चित् विज्ञैः स्निग्धैः उपकृतम् अपि (अगणयित्वा) द्वेष्यताम् एति अन्यैः साक्षात् अपकृतम् अपि (विस्मृत्य) प्रीतिम् एव उपयाति, अथ नैकभावाश्रयाणाम् चरितम् चित्रं चित्रम् (अस्ति), परमगहन सेवाधर्म योगिनामप्यगम्य (भवति) ॥ १६० ॥

विज्ञै =चतुरैः, स्निग्धैः =स्नेहयुक्तैः, उपकृतम्=उपकारम्, द्वेष्यतामेति= द्विष्यति, द्वेषं करोति। साक्षात्=प्रत्यक्षम्, अपकृतम्=अपकारम्, चित्रं चित्रम्= अतिशयेन विचित्रम्, सम्भ्रमे द्विर्वचनम्, अथ = अथवा, नैकभावाश्रयाणाम्—अत्र 'नैकधे'त्यादिवत् 'न' शब्देन समास, न तु नञा, अन्यथाऽनेकभावाश्रयाणामि-त्येवमुच्येत=विविधभाववताम्, सेवाधर्म =सेवनम्, परमगहन =अतिकठिन, योगिनाम्=अतीन्द्रियपदार्थानपि प्रत्यक्ष कुर्वताम्, अगम्य =ज्ञातुमशक्य ॥

राजा बुद्धिमान तथा प्रेमी सेवक द्वारा उपकृत होने पर भी उससे शत्रुता करने लगता है और अन्य दूसरो द्वारा प्रत्यक्ष अपकार करने पर भी उससे प्रेम करता है, चञ्चल चित्तवालो के कार्य इसी प्रकार निश्चित होते हैं। इसीलिए सेवाधर्म बहुत ही जटिल होता है, जिसका पार पाना योगियों के लिए भी कठिन है ॥ १६० ॥

अन्यच्च—कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ॥ १६१ ॥

अन्वयः—असत्सु उपकृतशतम् नष्टम् (भवति) मूर्खेषु सुभाषितशतम् नष्टम् (भवति) अवचनकरे वचनशतम् च अचेतने युक्तिशतम् नष्टम् भवति।

उपकृतशतम् = शतशः उपकाराः असत्सु = असज्जनेषु सुभाषित शतम् = शतसङ्ख्यकानि सुभाषितानि मूर्खेषु = मूढेषु, वचनशतम् = शतानि कथनानि अवचनकरे=आज्ञाया अपालके युक्तिशतम्—शतं युक्तयः अचेतने= चेतनाहीने नष्टम्=निष्फलम्। 'शतसहस्रमयुतासङ्ख्यवाचकौ' इति नियमेनात्र सर्वत्र 'शत'शब्दस्यासङ्ख्यवाचक प्रयोगो ज्ञेयः॥

और भी—दुष्ट के प्रति किए गए सैकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मूर्खों के प्रति कहे गए सैकड़ों उपदेश व्यर्थ हैं, बात न मानने वालों के प्रति कही गई सैकड़ों बातें निष्फल हैं और अज्ञानी के प्रति सैकड़ों युक्ति व्यर्थ हैं॥ १५१॥

किञ्च—चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि॥ १५२॥

अन्वयः—चन्दनतरुषु भुजङ्गाः जलेषु कमलानि च तत्र ग्राहाः च भोगे गुणघातिनः खलाः (तिष्ठन्ति अत एव) सुखानि अविघ्नानि न (सन्ति)॥१५२॥

भुजङ्गाः—सर्पाः ग्राहाः=मकराद्याः जलजन्तवः भोगे=विषयभोगे गुणघातिनः=गुणनाशकाः गुणद्वेषिणः इत्यर्थः खलाः=दुष्टाः सन्ति सुखानि—धर्मादीनि धर्मफलसुखानि च इत्यर्थः। अविघ्नानि=निर्विघ्नानि। न सन्तीति तात्पर्यम्॥

और भी—चन्दन में साँप लिपटा रहता है जल में कमल के साथ घड़ियाल भी होता है भोगों में गुण को नाश करने वाले दुष्ट भी हैं। अतः सुख कभी विघ्नों से रहित होता ही नहीं है॥ १५२॥

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः॥ १५३॥

अन्वयः—चन्दनपादपस्य मूलम् भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः (आश्रितानि) चन्दनपादपस्य तत् न अस्ति एव यत् दुष्टतरैः च हिंस्रैः न आश्रितम् (अस्ति)॥ १५३॥

मूलम्=अधोभागाश , भुजङ्ग =सर्प , कुसुमानि=पुष्पाणि, भृङ्ग =भ्रमरे , शाखा =लता , डाली, प्लवङ्ग =वानरे , शिखराणि=अग्रभागा , भल्ले =भल्लुके , दुष्टतरे = अतिशयेन दुष्टे , हिस्र = हिसके । सर्वत्र सज्जनाना निकटे दुष्टा स सन्तीति, तत्र सज्जनस्थितिरसम्भवेति भाव ॥

चदन वृक्ष का ऐसा कोई भी अङ्ग नही जिसमे दुष्टो का निवास न हो। उसकी जड में सॉप, फूलों में भौंरे, डालियों पर वदर तथा चोटियों पर भालू निवास करते हैं ॥ १६३ ॥

अयं तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः । यतः—

स्वामी=पिङ्गलक , वाचि मधुर =मधुरभाषी, विषहृदय =विषवद्दुष्टहृदय ॥

यह स्वामी वात मे मधुर किन्तु हृदय से विष भरा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि—

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो
गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः ।
अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः
को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥१६४॥

अन्वयः—(आगच्छन्त दृष्ट्वा) दूरात् उच्छ्रितपाणि आर्द्रनयन प्रोत्सारितार्धासन गाढालिङ्गनतत्पर प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादर , अन्तर्भूतविष बहि. मधुमय च अतीव मायापटु अयम् क अपूर्वनाटकविधि दुर्जनै शिक्षित नाम ? ॥१६४॥

दूरात्=दूरत आगच्छन्त विलोक्य, उच्छ्रितपाणि = (आह्वानाय) उन्नत-कर. प्रोत्सारितार्धासन = (तदुपवेशनाय) त्यक्तार्धासनभाग , गाढालिङ्गन-तत्पर =निर्भराऽऽश्लेषयोद्यत , प्रियकथाप्रश्नेषु=प्रियचर्चावसरेषु, दत्तादर =आदरेण कथाया श्रोता, अन्तर्भूतविष = हृदि विषयुक्त , बहि = बाह्यप्रदेशे, मधुमय = मधुरतापूर्ण , मायापटु =मायावी, अपूर्वनाटकविधि =अदृष्टपूर्वनाटकाभिनय ॥

आगत व्यक्ति का दूर ही से हाथ फैला कर स्वागत करना, आँखो मे प्रेमाश्रु भर लेना, अपना आधा आसन वैठने के लिए खाली कर देना, प्रगाढ आलिङ्गन के लिए तत्पर हो जाना, आदर के साथ मधुर बातचीत तथा कुशल प्रश्न करना, भीतर से विषमय किन्तु बाहर से मधुरता दिखाना आदि कपट से भरा हुआ नाटक का कितना विचित्र रूप है जो दुर्जनों द्वारा बराबर खेला जाता है ॥

तथाहि—पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्य[illegible]दान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।

इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः ॥१९५॥

अन्वयः—दुस्तरवारिराशितरणे पोतः अन्धकारागमे दीपः निर्वाते व्यजनम् मदान्धकरिणाम् दर्पोपशान्त्यै सृणिः (ब्रह्मणा रचिता) इत्थम् भुवि तद् न अस्ति यस्य उपायचिन्ता विधिना न कृता (किन्तु) धाता अपि दुर्जनचित्तहरणे भग्नोद्यमः जातः (इति) मन्ये ॥ १९५ ॥

दुस्तरवारिराशितरणे=दुस्तरसमुद्रपारगमने पोतः=जलयानम् (जहाज) अन्धकारागमे = अन्धकारे आगते दीपः = दीपकः निर्वाते = वायोरभावे व्यजनम्=तालवृन्तादिकम् (पंखा) मदान्धकरिणाम् = मदान्धगजानाम्, दर्पोपशान्त्यै=दर्पनाशाय सृणिः=अङ्कुशः विधिना = ब्रह्मणा उपायचिन्ता= प्रतीकारचिन्ता मन्ये=अहं जानामि दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे—दुर्जनानाम्=दुष्टानाम्, चित्तस्य=मनसः वृत्तिः=व्यापारः=दुष्टस्वभावः तस्याः हरणे विनाशने भग्नोद्यम = नष्टोद्योगः ॥

जैसा कि—इस पृथ्वी पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसका उपाय विधाता ने न किया हो। उन्होंने गहरे समुद्र को पार करने के लिए जहाज, अन्धकार आने पर दीपक, हवा न चलने पर पंखा, मद से मतवाले हाथियों को वश में रखने के लिए अंकुश आदि का तो निर्माण कर दिया किन्तु मैं ऐसा समझता हूँ कि दुष्टों का हृदय-परिवर्तन करने में उनका भी साहस टूट चुका है ॥ १९५ ॥

संजीवकः पुनर्निःश्वस्य—'कष्टं भोः, कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन निपातयितव्यः। यतः—

निःश्वस्य=दीर्घश्वासं गृहीत्वा सस्यभक्षकः = तृणखादकः निपातयितव्यः = हन्तव्यः ॥

संजीवक ने फिर साँस लेकर कहा—'मैं तृणभोजी होकर भी क्या सिंह द्वारा मार ही डाला जाऊँगा ?

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्विवाहो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १९६ ॥

अन्वयः—ययोः एव समम् वित्तम् (भवति) ययोः एव समम् कुलम् (भवति) तयोः (एव) विवाहः मन्तव्यः (भवति) उत्तमाधमयोः (विवाहः) क्वचित् न (मन्तव्यः भवति) ॥ १९६ ॥

समम्=तुल्यम् वित्तम् = धनम्, विवाहः = विरोधः, मन्तव्यः = मानयितुं उचित इति भावः उत्तमाधमयोः =श्रेष्ठनीचयोः क्वचित् = कुत्रचित् ॥

जिनके धन मे समानता है अथवा जिनके बल भी समान हैं, उन्ही दोनों मे मित्रता या शत्रुता होती है। बडे और छोटे के बीच न तो मित्रता ही होती है न शत्रुता ही ॥ १६६ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) केनाय राजा ममोपरि विकारितः न जाने। भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम्। यतः—

विकारित = विकारयुक्त कृत, भेदमुपगतात् = दुर्मन्त्रणया भिन्नात् (फोडे गये) ॥

फिर विचार करके—नही मालूम किसने इस राजा को मेरे विरुद्ध कर दिया ? फूटे हुए राजा से सर्वदा डरना चाहिए। क्योकि—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित्।
वलयं स्फटिकस्येव को हि संधातुमीश्वरः ॥ १६७ ॥

अन्वयः—मन्त्रिणा क्वचित् विघटितम् पृथिवीपालचित्तम् स्फटिकस्य वलयम् इव क सन्धातुम् ईश्वर (अस्ति) ॥ १६७ ॥

मन्त्रिणा = यद्वा गुप्तमन्त्रणाकारकेन जनेन, पृथिवीपालचित्तम् = नृपतिमानसम्, विघटितम्=भिन्नं कृतम्, पक्षे स्फुटितम्, वलयम्=कङ्कणम्, स्फटिकस्य=स्फटिकमणे, सन्धातुम्=योजयितुम्, ईश्वर = समर्थ, केनापि स्फुटित स्फटिकमणिकङ्कणमिव मन्त्रणाकर्त्रा भिन्नं भूपतिचित्त पुनर्योजयितुं कोऽपि समर्थो नास्तीत्याशय ॥

जैसे स्फटिक मणि से बने हुए कंकण के टूट जाने पर उसे जोड नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन्त्री द्वारा तोडे गये राजा के चित्त को फिर मिलाया नहीं जा सकता ॥ १६७ ॥

अन्यच्च—वज्र च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम्।
एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत्समन्ततः ॥ १६८ ॥

अन्वयः—वज्रम् च राजतेज च (एतत्) द्वयम् एव अतिभीषणम् (अस्ति, किन्तु) एकम् एकत्र पतति, अन्यत् समन्तत पतति ॥ १६८ ॥

वज्रम्=कुलिशम्, 'ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिश भिदुरं पवि।' इत्यमर, राजतेज = नृपतितेज, द्वयम् = उभयम्, अतिभीषणम् = अतिशयेन भयङ्करम्, एकम् = वज्रम्, एकत्र=एकस्मिन् स्थाने, अन्यत्=राजतेज, समन्तत = समन्तात्, सर्वत्र इत्यर्थ ॥

और भी—वज्र और राजा का तेज दोनो ही बडे भयंकर होते हैं, किन्तु इनमें से एक अर्थात् वज्र तो एक ही जगह गिरता है किन्तु दूसरा तो सब जगह गिरता है ॥ १६८ ॥

तत् संग्रामे मृत्युरेव वरम्। इदानीं तदाज्ञानुवर्तनमनुचितम्। यतः—

तत् =तस्मात्कारणात् तदाज्ञानुवर्तनम् = पिङ्गलकादेशानुसाराचरणम् अनुचितम्=अयोग्यम् ॥

इसलिए युद्ध में मरना ही श्रेष्ठ है। इस समय उसकी आज्ञा पालन करना उचित नहीं है। क्योंकि—

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १६९ ॥

अन्वयः—वा मृतः स्वर्गम् प्राप्नोति वा शत्रुम् हत्वा सुखानि प्राप्नोति हि शूराणाम् एतौ उभौ अपि गुणौ सुदुर्लभौ (स्तः) ॥ १६९ ॥

मृतः =युद्धे हतः। उभौ अपि = द्वावपि शूराणाम् = वीराणाम्, सुदुर्लभौ = अतिशयेन दुष्प्रापौ ॥

वीर या तो युद्ध में मर कर स्वर्ग पाता है अथवा शत्रु को मार कर सुख पाता है। वीरों के ये दोनों गुण अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ॥ १६९ ॥

युद्धकालश्चायम्।

अब तो युद्ध का समय है—

यत्रायुद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १७० ॥

अन्वयः—यत्र अयुद्धे ध्रुवम् मृत्युः (भवति) युद्धे जीवितसंशयः (भवति) मनीषिणः युद्धस्य तम् एव कालम् प्रवदन्ति ॥ १७० ॥

अयुद्धे=युद्धाभावे ध्रुवम् =निश्चितम्, जीवितसंशयः = जीवने सन्देहः शत्रुं हत्वा जयाधिगमो वा जीवितत्यागो भवेत्, मनीषिणः = विद्वांसः ॥

जब लड़ाई न करने में मृत्यु निश्चित हो तथा युद्ध में जीवन के प्रति सन्देह हो, तब बुद्धिमान् लोग उसे ही युद्ध-काल कहते हैं ॥ १७० ॥

यतः—अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १७१ ॥

अन्वयः—यदा प्राज्ञः अयुद्धे आत्मनः किञ्चित् हितम् न पश्येत्, तदा रिपुणा सह युध्यमानः म्रियते ॥ १७१ ॥

अयुद्धे = युद्धकरणे हितम् = कल्याणम्, युध्यमानः=युद्धं कुर्वन्, प्राज्ञः = बुद्धिमान्, रिपुणा = शत्रुणा ॥

क्योंकि—बुद्धिमान् जब न लड़ने में कोई भी भलाई नहीं देखता तो वह शत्रु के साथ लड़ते हुए मर जाता है ॥ १७१ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मृते चापि सुराङ्गनाम् ।
क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे ॥ १७२ ॥

अन्वयः—(यदा योद्धा युद्धे) जये लक्ष्मीम्, मृतेन अपि सुराङ्गनाम् लभते, (यदा च) काया क्षणविध्वंसिन (एव सन्ति, तदा) रणे मरणे का चिन्ता (अस्ति) ? ॥ १७२ ॥

जये=विजये, लभते = प्राप्नोति, सुराङ्गनाम् = देवाङ्गनाम्, अप्सरस लभत इत्यर्थ , क्षणविध्वंसिन =क्षणभङ्गुरा , काया = देहा ॥

जीतने पर लक्ष्मी प्राप्त करता है और मरने पर स्वर्ग में अप्सराएँ मिलती हैं। शरीर तो क्षण भर मे ही नष्ट हो जाने वाला है - फिर युद्ध में मरने की चिन्ता ही क्या ? ॥ १७२ ॥

एतच्चिन्तयित्वा संजीवक आह—'भो मित्र, कथमसौ मां जिघासुर्ज्ञातव्यः। दमनको ब्रूते—'यदासौ पिङ्गलकः समुन्नत-लाङ्गूल उन्नतचरणो विवृतास्यस्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि । यतः—

जिघांसु =हन्तुमिच्छु , ज्ञातव्य =बोद्धव्य । समुन्नतलाङ्गूल =उपरिकृतपुच्छ , उन्नतचरणः=उत्थापितपाद , विवृतास्य =व्यात्तानन (मुख बाया हुआ), स्वविक्रमम् = स्वसामर्थ्यम् ॥

यह सोचकर सजीवक ने कहा—'मित्र यह कैसे मालूम होगा कि वह मुझे मार डालना चाहता है ?' दमनक ने कहा—जब पिंगलक पूँछ ऊँचा करके पैरों को उठाकर अपना मुँह खोले हुए तुम्हें देखे तो तुम्हें भी अपना बल दिखाना चाहिए । क्योंकि—

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम् ।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम् ॥ १७३ ॥

अन्वयः—निस्तेजा बलवान् अपि कस्य अभिभवास्पदम् न (भवति) ? पश्य, लोकै भस्मचये नि शङ्कम् पदम् दीयते ॥ १७३ ॥

बलवान्=शूर , निस्तेजा =तेजोहीन , अभिभवास्पदम् = अनादरस्थानम्, लोकै = जनै , 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर , भस्मचये = क्षारराशौ ।

बलवान् होते हुए भी तेजहीन व्यक्ति अनादर के पात्र बन जाते हैं। देखो, राख के ढेर में लोग निडर होकर पैर रखते हैं ॥ १७३ ॥

किंतु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेन्न त्वं नाहम्' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम् ? दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः' ।

सुगुप्तम्—अतिगुप्तभावेन अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम् नो चेत्=अन्यथा गुप्तमननुष्ठाने सति न त्वं नाहम्=त्वमहञ्च मरिष्यावः । निष्पन्नम् = सिद्धम् । असौ=अयम् अन्योन्यभेदः=परस्परविरोधः ।

किन्तु यह सभी छिपकर करना चाहिए । नहीं तो न तुम बचोगे और न मैं ही । ऐसा कह कर दमनक करटक के समीप गया । करटक ने कहा—'क्या किया ? दमनक ने कहा—'दोनों के बीच परस्पर भेद उत्पन्न कर दिया ।'

करटको ब्रूते—'कोऽत्र संदेहः । यतः—
करटक ने कहा—'इसमें क्या सन्देह ! क्योंकि—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ॥ १७४ ॥

अन्वयः—दुष्टानाम् कः बन्धुः (अस्ति) ? याचितः (सन्) कः न कुप्यते ? वित्तेन कः न दृप्यति, कुकृत्ये कः न पण्डितः (भवति) ? ॥ १७४ ॥

बन्धुः = बान्धवः कुप्यते = कुप्यति याचितः = प्रार्थितः धनादिप्रार्थनं प्राप्तिः दृप्यति=दर्पं करोति कुकृत्ये=कुत्सितकर्मणि ॥

दुष्ट का भाई कौन होता है ? माँगने पर क्रुद्ध कौन नहीं होता ? धन से कौन अभिमान नहीं करता और कुकर्म में कौन पण्डित नहीं होता ? ॥ १७४ ॥

अन्यच्च—दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥ १७५ ॥

अन्वयः—धूर्तैः आत्मविवृद्धये श्रीमान् दुर्वृत्तः क्रियते खलसंसर्गः आश्रयाशवत् किम् न कुरुते नाम ? ॥ १७५ ॥

दुर्वृत्तः=दुराचारी धूर्तैः=वञ्चकैर्दुष्टैः श्रीमान् = धनवान् पुरुषः खलसंसर्गः =दुर्जनसङ्गतिः आश्रयाशवत्—आश्रयम् = स्थानमाश्रयं अश्नातिः, अश्नाति=खादति भस्मीकरोति इति आश्रयाशः —अग्निः तेन तुल्यमिति आश्रयाशवत् येन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः इति वतिप्रत्ययः ॥

और भी—धूर्त अपनी भलाई के लिए धनी को भी दुराचारी बना देते हैं । खल का सङ्ग अग्नि के समान क्या नहीं कर सकता ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः। ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास। सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविध विकृताकारंसिहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रम चकार। ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिहेन व्यापादितः।

असो=सञ्जीवक., पापाशय =दुराशय । तत = तस्मात्, सज्जीभूय = तन्मारणाय सज्जो भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम् = उपरिकृतलाङ्गुलपादव्यानमुखम्, विकृताकारम् = दूषिताकृतिम्, योद्धु दूषितेनामनेन स्थितम्, स्वानुरूपम् = स्वानुकूलम्, विक्रमम् = पराक्रमम् । व्यापादित = हत ॥

तब दमनक ने पिंगलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है। अत आप तैयार हो जायें। ऐसा कहकर उसने सिह का वही रूप करा दिया, जैसा उसने सजीवक को बताया था। सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के बिगडे रूप वाले सिह को देखकर अपनी शक्ति के अनुसार बल दिखाया। इसके बाद उन दोनो की लडाई मे सञ्जीवक सिह द्वारा मार डाला गया।

अथ सजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति। ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम्। यतः—

व्यापाद्य=हत्वा, विश्रान्त =विशेषेण श्रान्त , सशोक =शोकयुक्त । दारुणम्= क्रूरम् ॥

इसके बाद पिंगलक अपने सेवक सजीवक को मार कर थके एव दुखी भाव से बैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयकर कार्य कर डाला। क्योंकि—

परैः सम्भुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव ॥ १७६ ॥

अन्वयः—राज्यम् परै सम्भुज्यते, धर्मातिक्रमत राजा हस्तिवधात् सिह इव स्वयम् पापस्य भाजनम (भवति) ॥ १७६ ॥

परै =अन्यजने , सम्भुज्यते= भोग क्रियते, भाजनम् = पात्रम्, धर्मातिक्रमत =धर्मोल्लङ्घनात्, तथा सिहेन हतस्य हस्तिनो मासमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिहस्तु हस्तिवधजन्यपापभाङ्मात्र भवति, तथैव राज्यभोगकर्तार अमात्यादय सन्ति अधर्मेण राज्यपालने तु राजेव पापभाग्भवति, नान्य इत्यर्थ ॥

राजा धर्म का उल्लंघन करने के कारण स्वय वैसे पाप का भागी बनता जैसे सिह हाथी का मार कर, किन्तु राज्य का सुख-भोग तो दूसरे ही करते

किन्तु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्। नो चेन्न त्वं नाहम्।' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः। करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम्?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः'।

सुगुप्तम्—अतिगुप्तभावेन अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम्, नो चेत्—अन्यथा सुगुप्तमननुष्ठाने सति न त्वं नाहम्—त्वमहञ्च मरिष्यावः। निष्पन्नम् = सिद्धम्। असौ—अयम् अन्योन्यभेदः—परस्परविरोधः।

किन्तु यह सभी छिपकर करना चाहिए। नहीं तो न तुम बचोगे और न मैं ही। ऐसा कह कर दमनक करटक के समीप गया। करटक ने कहा—"क्या किया?" दमनक ने कहा—"दोनों के बीच परस्पर भेद उत्पन्न कर दिया।

करटको ब्रूते—'कोऽत्र सन्देहः। यतः—
करटक ने कहा—"इसमें क्या सन्देह। क्योंकि—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः॥ १७४॥

अन्वयः—दुष्टानाम् कः बन्धुः (अस्ति)? याचितः (सन्) कः न कुप्यते? वित्तेन कः न दृप्यति कुकृत्ये कः न पण्डितः (भवति)?॥ १७४॥

बन्धुः = बान्धवः कुप्यते = क्रुध्यति याचितः = अभ्यर्थितः धनादिदानार्थं प्रार्थितः दृप्यति—दर्पं करोति कुकृत्ये—कुत्सितकर्मणि॥

दुष्ट का भाई कौन होता है? माँगने पर क्रुद्ध कौन नहीं होता? धन से कौन अभिमान नहीं करता और कुकर्म में कौन पंडित नहीं होता?॥ १७४॥

अन्यच्च—दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत्॥ १७५॥

अन्वयः—धूर्तैः आत्मविवृद्धये श्रीमान् दुर्वृत्तः क्रियते खलसंसर्गः आश्रयाशवत् किम् न कुरुते नाम?॥ १७५॥

दुर्वृत्तः = दुराचारी धूर्तैः—वञ्चकपुरुषैः श्रीमान् = धनवान् गुणादि, खलसंसर्गः—दुर्जनसङ्गतिः आश्रयाशवत्—आश्रयम् = स्थानसम्बन्धं काष्ठादिकम्, अश्नाति=खादति भस्मीकरोति इति आश्रयाशः—अग्निः, तेन तुल्यमिति आश्रयाशवत् तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः इति वतिप्रत्ययः॥

और भी—धूर्त अपनी भलाई के लिए बड़ों को भी दुराचारी बना देते हैं। दुष्टों का सङ्ग अग्नि के समान क्या नहीं कर सकता॥ १७५॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः। ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास। सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार। ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः।

असौ=सञ्जीवक, पापाशय=दुराशय। तत=तस्मात्, सज्जीभूय=तन्मारणाय सज्जो भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम्=उपरिकृतलाङ्गुलपादव्यानमुखम्, विकृताकारम्=दूषिताकृतिम्, योद्धु दूषितेनामनेन स्थितम्, स्वानुरूपम्=स्वानुकूलम्, विक्रमम्=पराक्रमम्। व्यापादित=हत॥

तब दमनक ने पिंगलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है। अत आप तैयार हो जायें। ऐसा कहकर उसने सिंह का वही रूप करा दिया, जैसा उसने सजीवक को बताया था। सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के बिगडे रूप वाले सिंह को देखकर अपनी शक्ति के अनुसार बल दिखाया। इसके बाद उन दोनो की लडाई मे सञ्जीवक सिंह द्वारा मार डाला गया।

अथ सजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति। ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम्। यतः—

व्यापाद्य=हत्वा, विश्रान्त=विशेषेण श्रान्त, सशोक=शोकयुक्त। दारुणम्=क्रूरम्॥

इसके बाद पिंगलक अपने सेवक सजीवक को मार कर थके एव दुखी भाव से बैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयकर कार्य कर डाला। क्योंकि—

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव॥ १७६॥

अन्वयः—राज्यम् परै सभुज्यते, धर्मातिक्रमत राजा हस्तिवधात् सिंह इव स्वयम् पापस्य भाजनम (भवति)॥ १७६॥

परै=अन्यैर्जनै, संभुज्यते=भोग क्रियते, भाजनम्=पात्रम्, धर्मातिक्रमत=धर्मोल्लङ्घनात्, तथा सिंहेन हतस्य हस्तिनो मांसमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिंहस्तु हस्तिवधजन्यपापभाङ्मात्र भवति, तथैव राज्यभोगकर्तार अमात्यादय सन्ति अधर्मेण राज्यपालने तु राजैव पापभाग्भवति, नान्य इत्यर्थ॥

राजा धर्म का उल्लघन करने के कारण स्वय वैसे पाप का भागी बनता है जैसे सिंह हाथी को मार कर, किन्तु राज्य का सुख-भोग तो दूसरे ही करते हैं॥

अपरं च—भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः ।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां
नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥ १७७ ॥

अन्वयः—गुणान्वितस्य भूम्येकदेशस्य वा बुद्धिमतः सेवकस्य प्रणाशे भृत्यप्रणाशः नृपाणाम् मरणम् (अस्ति यत) नष्टा अपि भूमिः सुलभा (भवति) (नष्टाः) भृत्याः सुलभाः (न भवन्ति) ॥ १७७ ॥

गुणान्वितस्य=उर्वरस्य भूम्येकदेशस्य=भूम्येकभागस्य बुद्धिमतः=सुधियः प्रणाशः=विनाशः समूलार्थे इति शेषः भृत्यप्रणाशः=सेवकमरणम् ॥

और भी—राज्य की उपजाऊ भूमि के किसी एक भाग तथा बुद्धिमान् सेवक के विनाश में बुद्धिमान् सेवक का विनाश राजा की मृत्यु के समान है। क्योंकि नष्ट हुई भूमि तो पुनः सुलभ हो सकती है लेकिन मरा हुआ सेवक नहीं मिल सकता ॥ १७७ ॥

दमनको ब्रूते—'स्वामिन्, कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा संतापः क्रियते । तथा चोक्तम्—

नूतन=नवीन अरातिम्=शत्रुम् संतापः क्रियते=संतप्यते ॥

दमनक ने कहा—स्वामी यह कौन नई राजनीति है जो शत्रु को मारकर दुःखी हो रहे हैं । जैसा कि कहा भी है—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ १७८ ॥

अन्वयः—यदि पिता वा भ्राता वा यदि पुत्रो वा सुहृत् (भवेत् किन्तु) प्राणच्छेदकराः (एतेऽपि) भूतिम् इच्छता राज्ञा हन्तव्याः (सन्ति) ॥ १७८ ॥

प्राणच्छेदकराः=प्राणघातकाः हन्तव्याः = वध्याः, भूतिम् = सम्पदम् 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इति विश्वः । इच्छता=अभिलषता ॥

यदि पिता भाई पुत्र या मित्र कोई भी राजा के प्राणों का नाश करने वाला बन जाय तो कल्याण चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह उसे मार डाले ॥ १७८ ॥

अपि च—धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
नहि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान् भक्षितुं क्षमः ॥ १७९ ॥

अन्वयः—धर्मार्थकामतत्त्वज्ञः (जनः) एकान्तकरुणः न भवेत्, हि क्षमावान् (जनः) हस्तस्थम् अन्नम् अपि भक्षितुं क्षमः न (भवति) ॥ १७९ ॥

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञः—धर्मार्थकामानां सारस्य ज्ञाता, एकान्तकरुणः = केवलं दयालुः, हस्तस्थम्=स्वकरस्थितम्, अन्नम्=भोज्यद्रव्यम्, क्षमावान्=क्षमाशीलः ॥

और भी—धर्म, अर्थ तथा काम के तत्वज्ञ को सर्वथा दयालु नहीं बनना चाहिए। क्योंकि अधिक क्षमाशील हाथ में रखा हुआ भी भोजन नहीं खा सकता ॥

किं च—क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८० ॥

अन्वयः—शत्रौ च मित्रे च क्षमा यतीनाम् एव भूषणम् (भवति); अपराधिषु सत्त्वेषु सा एव क्षमा नृपाणाम् दूषणम् (भवति) ॥ १८० ॥

क्षमा=क्षान्तिः, 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः। यतीनाम्=श्रमणानाम्, सन्यासिनामित्यर्थः, भूषणम्=अलङ्कारः। अपराधिषु = अपराधयुक्तेषु, सत्त्वेषु=जीवेषु, सा=क्षमा, दूषणम्=दोषः ॥

और भी—शत्रु तथा मित्र को क्षमा करना योगियों का ही आभूषण है। किन्तु अपराधी प्राणियों को क्षमा करना राजा का दोष है ॥ १८० ॥

अपरं च—राज्यलोभादहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम्।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १८१ ॥

अन्वयः—राज्यलोभात् अहंकारात् स्वामिनः पदम् इच्छतः तस्य तु एकं प्रायश्चित्तम् जीवोत्सर्गः (अस्ति), अपरम् न (अस्ति) ॥ १८१ ॥

राज्यलोभात्=राज्यतृष्णया, अहंकारात्=दर्पात्, इच्छतः=अभिलषतः, स्वामिनः=प्रभोः, पदम्=स्थानम्, 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः, प्रायश्चित्तम्=तारकम्, एकम्=केवलम्, जीवोत्सर्गः=प्राणत्यागः, मृत्युरित्यर्थः, अपरम्=अन्यत् ॥

और भी—राज्य-लोभ अथवा अभिमान से स्वामी के पद की अभिलाषा करने वाले को मर जाना ही एकमात्र प्रायश्चित्त है ॥ १८१ ॥

अन्यच्च—राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी
स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८२ ॥

अन्वयः—घृणी राजा सर्वभक्षी ब्राह्मणः च अबला स्त्री दुष्प्रकृतिः सहायः प्रतीपः प्रेष्यः प्रमादी अधिकृतः (एते) च यः कृतम् न वेत्ति इमे त्याज्याः (सन्ति) ॥ १८२ ॥

घृणी=दयालु सर्वभक्षी=सर्वभक्षक अबला=असमर्थवती दुष्प्रकृतिः=दुष्ट स्वभाव सहायः=सहायक प्रेष्यः=भृत्य प्रतीपः=प्रतिकूल प्रमादी=प्रमादयुक्त अधिकृतः=अधिकारी कृतम्=उपकारम् साधितं कार्यं वा ॥

और भी—कृपालु राजा सर्वभक्षी ब्राह्मण स्वैरिणी स्त्री दुष्ट सहायक प्रतिकूल सेवक भूल करने वाले अधिकारी और उपकार न मानने वाले व्यक्ति त्याज्य हैं ॥ १८२ ॥

विशेषतश्च—सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८३ ॥

अन्वयः—नृपनीतिः सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंस्रा दयालुः अपि च अर्थपरा वदान्या च नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा वाराङ्गना इव अनेकरूपा (भवति) ॥ १८३ ॥

सत्यानृता=सत्या असत्या च परुषा=कठिना प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी हिंस्रा=घातुका दयालुः=करुणावती अर्थपरा=धनसंग्रहपरायणा वदान्या=दानवीरा वाराङ्गना=वेश्या नृपनीतिः=राजनीतिः अनेकरूपा=विविधस्वरूपा ॥

विशेष करके—कहीं झूठ कहीं सच तथा कहीं मधुर और कहीं कठोर बोलने वाली कहीं हिंसक कहीं दयालु कहीं स्वार्थी कहीं दानी कहीं नित्य खर्चीली और कहीं अत्यधिक धन जोड़ने वाली वेश्या के समान राजनीति भी अनेक रूपों वाली होती है ॥ १८३ ॥

इति दमनकेन संतोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः । दमनकः प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजः । शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ।

इति=पूर्वोक्त (१८१-१८२ श्लोकोक्त) प्रकारेण स्वाम्=स्वकीयाम् प्रकृतिम्=स्वभावम्, आपन्न=प्राप्त स्वस्थ स्वरूप प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नचित्त

विजयताम्—'विपराभ्यां जेः' इति विपूर्वकात् 'जि'धातोरात्मनेपदम् = विजयं करोतु, महाराज =श्रीमान् पिङ्गलक, शुभम्=कल्याणम्, सर्वजगताम्=सर्वलोकानाम्, यथासुखम्=सुखपूर्वकम्, अवस्थित =स्थितमान् ॥

इस प्रकार दमनक द्वारा समझाने पर पिंगलक स्वस्थ होकर सिंहासन पर बैठा दमनक प्रसन्न होकर 'महाराज की जय हो, सारे संसार का कल्याण हो" ऐसा कहकर सुख के साथ बैठ गया।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः। राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुतः। सुखिनो भूता वयम्।' विष्णुशर्माब्रवीत्-'अपरमपीदमस्तु—

भवत्प्रसादात्=भवत कृपया, सुखिन =कल्याणिन, भूता = जाता, वयम् = राजपुत्रा। अपरम् = अन्यत्, इदम् = वक्ष्यमाणम् ॥

विष्णुशर्मा ने कहा—'आप लोगों ने सुहृद्भेद सुन लिया न।' राजकुमारों ने कहा—'आपकी कृपा से सुन लिया। हम सभी सुखी हुए।' विष्णुशर्मा ने कहा—'तो उसके अतिरिक्त यह भी हो—

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये
खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसंपत्तिवसतिः
कथारम्भे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ॥१८४॥

इति हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः
कथासंग्रहः समाप्तः।

—०—

अन्वयः—सुहृद्भेद तावत् भवताम् शत्रुनिलये भवतु, कालाकृष्ट खल: अहरह प्रलयम् उपसर्पतु, जन नित्यम् सकलसुखसम्पत्तिवसति भूयात्, इह रम्ये कथारम्भे बाल अपि सततम् रमताम् ॥ १८४ ॥

सुहृद्भेद =मित्रेषु परस्पर विरोध, भवताम्=युष्माकम्, शत्रुनिलये=रिपुभवने। कालाकृष्ट—कालेन = मृत्युना, आकृष्ट = वशीकृत, प्रलयम् = नाशम्, उपसर्पतु = गच्छतु अहरह = प्रतिदिनम्, मृत्युवशगो दुष्टो जन नश्यतु इति भाव.। जन = लोक, सकलसुखसम्पत्तिवसति=सकलानाम्=

सर्वेषाम् सुजनानाम्=सज्जनानाम् 'सर्वेषामपि च' इत्यत्र पाठः सम्पत्तीनाम्=सम्पदाम् वसतिः=आश्रयः लोकः, यथा सम्पत्सुखसम्पदामाश्रयो भवतितथैव । कथारम्भे=कथायाः रम्ये=रमणीये उद्याने=वने बालः=शिशुः अपि—वि पूर्वमपूर्वो इत्यर्थः, रमताम्=रमणं करोतु आनन्दतु इति भावः ॥

मधुरगुणानपि (२ १९) सर्वेषां निर्मलैकाशयोदारे ।
सुहृद्भेदस्य सद्व्याख्या पूर्णा जाता 'मणिप्रभा' ॥ १ ॥
यतया 'हरनारायणाग्नि इत्येषदाख्यया' ।
मधुराभिरतो नित्यं विद्वज्जनः प्रसीदतु ॥ २ ॥

इति मिश्रोपाह्व'हरनारायणाग्नि'कृता हितोपदेशीयकथासंग्रहस्य
सुहृद्भेदस्य संस्कृत व्याख्या समाप्ता ॥

॥ ॐ तत्सत् शिवार्पणमस्तु ॥

सुहृद्भेद आप लोगों के शत्रुओं के घर में हो काल के वशीभूत हो दुष्ट प्रतिदिन नष्ट होते रहें आप नित्य सभी सुख सम्पत्ति के घर बनें और मेरे इस कमनीय कथा के आरम्भ में बच्चे भी रमण करते रहें ॥ १८४ ॥

हितोपदेश में सुहृद्भेद नाम का दूसरा कथासंग्रह समाप्त हुआ ।

श्लोकानुक्रमणिका

(सुहृद्भेदः)

॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

श्रीमन्नारायणपण्डितसगृहीतः

हितोपदेशः

(विग्रह-सन्धि-रूपात्मको भागः)

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार

पण्डित प्रद्युम्नपाण्डेयः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९८३

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ वि० सं० २०४० (सन् १९८३ ई०)
मूल्य रू० : १०-०

Ⓒ Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8 Varanasi–221001 (India)
Phone : 63145

प्रधान वितरक
कृष्णदास अकादमी
पो० बा० नं० ११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग) वाराणसी–२२१००१
(भारत)

सम्पादकीय

'विग्रह तथा सधि' व्यावहारिक, लौकिक और राजनैतिक उपदेशों से पूर्ण छोटी-छोटी कथाओं से युक्त 'हितोपदेश' के अतिम दो अश हैं जिनमें दो राजाओं में होने वाले युद्ध एवं संधि का पूर्णतः विवेचन किया गया है। 'विग्रह' में युद्ध के कारणों, उपकरणों, सैनिकों, नियमों तथा उसके औचित्य पर बड़े विस्तार के साथ छोटी-छोटी कहानियों का दृष्टान्त देकर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार 'सधि' में संधि की आवश्यकताओं, प्रसगों, अधिकारियों और उसके ढगों का विस्तृत विवेचन करके सभी प्रकार के संघर्षों को सधि द्वारा बचा लेने का उपदेश दिया गया है। मूल कथाओं के बीच में अवान्तर कथाओं द्वारा अनेक व्यावहारिक तथा लौकिक प्रसंगों को लाकर राजनीति को सामान्य जीवन के स्तर पर मनोरम बना देने की कला ही इस 'हितोपदेश' की अपनी अनोखी विशेषता है और इसी कारण जहाँ यह एक ओर राजनीति-विशारदों का पथ-प्रदर्शन करता है वहीं दूसरी ओर बालकों तथा साधारण लोगों को मनोरंजन की सामग्री भी प्रस्तुत करता है।

विग्रह

कथासार

मूलकथा

कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नाम का एक तालाब था। उसमें हिरण्यगर्भ नाम का राजहंस रहता था। वह सभी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया था। एक दिन एक बगुले ने आकर उससे कहा कि हे राजन् जम्बू द्वीप में विन्ध्याचल पर पक्षियों का राजा चित्रवर्ण मयूर रहता है। मैं जिस समय दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था उसी समय चित्रवर्ण के सेवकों ने मुझे वहाँ देखकर पूछा कि तुम कौन हो और कहाँ से आए हो। मैंने कहा कि मैं चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस का सेवक हूँ और देशाटन करने आया हूँ। इस पर उन्होंने कहा कि इन दोनों देशों में कौन देश और किस देश का राजा अच्छा है। मैंने कहा कि कर्पूर देश स्वर्ग है और वहाँ का राजा दूसरा इन्द्र। भला उस देश और उस राजा के समान और कोई देश और राजा हो भी सकता है। मेरी इस बात पर वे क्रुद्ध हो गए, बात ही बात में मुझे मारने के लिए झपटे। तब मैंने भी बलप्रयोग किया। इस पर राजहंस ने कई प्रकार से प्रमाण देते हुए बगुले से कहा कि शत्रु के बलाबल का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ही बलप्रयोग उचित होता है। तब बगुले ने कहा कि राजन् मैं करता ही क्या! वे सब तो मुझे चोंचों से मार-मार कर दुःखी बनाने लगे। अन्त में वे सब मुझे पकड़ कर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए और उनका मेरा परिचय किया। तब उनके मन्त्री गृध्र ने मुझ से पूछा कि तुम्हारे देश का मुख्य मन्त्री कौन है? मैंने कहा कि सर्वज्ञ नाम के चक्रवाक हैं। इसी बीच वहाँ उपस्थित शुक ने कहा कि राजन् कर्पूर द्वीप आदि तो जम्बू द्वीप के अन्तर्गत ही है इसलिए वहाँ भी तो आप ही का स्वामित्व होना चाहिए। राजा ने कहा हो सकता है। तब मैंने कहा कि केवल कहने ही से यदि स्वामित्व मिले तो जम्बूद्वीप पर हमारे राजा का स्वामित्व है।

इस पर शुक ने कहा कि इसका निर्णय कैसे हो ? मैंने कहा कि युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा। इस पर राजा ने कहा कि जाकर तुम अपने राजा को युद्ध के लिए तैयार करो। मैंने कहा कि आप अपना दूत भी भेज दें। उन्होंने शुक को दूत बना कर भेजा है। वह आता ही होगा। अब श्रीमान् जैसा उचित समझें वैसा करें।

यह सुन कर मन्त्री चक्रवाक ने कहा कि राजन् , इस दुष्ट बगुले ने विदेश मे जाकर अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध में फँसा दिया है। अकारण लड़ाई मोल लेना तो मूर्खता है। राजा ने कहा कि खैर ! जो हुआ सो हुआ अब जो सामने है उस पर विचार करो। चक्रवाक ने कहा कि मन्त्रणा एकान्त ही मे उचित है। तब राजा और मन्त्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए। चक्रवाक ने कहा—राजन् मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य-कर्मचारी के उकसाने मे ही बगुले ने ऐसा किया है। राजा ने कहा—जो हो, इस समय तो कर्तव्य का निश्चय करो। चक्रवाक ने कहा—पहिले गुप्तचर भेज कर शत्रु की अभिलाषा और बलाबल का ज्ञान प्राप्त कीजिए। राजा ने कहा कि हमे तो बहुत ही अच्छा गुप्तचर मिल गया है। इसी बीच द्वारपाल ने शुक के आने की सूचना दी। चक्रवाक ने कहा कि उसे अतिथिशाला मे ठहरा दो। इसके बाद मन्त्री और राजा में बहुत देर तक युद्ध न करने और करने के विषय में विचार-विमर्श होता रहा। चक्रवाक ने कहा कि पहिले अपने किले को सुदृढ़ बनाना है तथा और भी तैयारियाँ करनी हैं इसलिये शुक को समझा बुझा कर अभी यहीं रोके रहना चाहिये। राजा ने मन्त्री से कहा कि ठीक है। जैसा उचित समझो वैसा करो। इसी बीच द्वारपाल ने कौवे के आने की सूचना दी। राजा ने उसकी चतुराई का वर्णन करते हुये उसको आश्रय देने का प्रस्ताव किया। यद्यपि मन्त्री ने शत्रु पक्ष होने के कारण उसे आश्रय देने का विरोध किया किन्तु राजा ने उस पर ध्यान न देकर उसे आश्रय दे ही दिया।

चक्रवाक ने आकर कहा कि राजन्, दुर्ग आदि सभी की व्यवस्था पूरी हो चुकी है अतः अब शुक को बुला कर उससे बात हो जानी चाहिये। राजा ने सभा में शुक को बुला भेजा। अभिमान से सिर उठाये हुये शुक ने आसन-

पर बैठ कर कहा—हिरण्यगर्भ महाराजाधिराज चित्रवर्ण ने आपको आदेश दिया है कि यदि आप इसी तरह कुशल-पूर्वक रहना चाहते हैं तो आकर मुझे प्रणाम करें अन्यथा दूसरे स्थान में रहने की बात सोचें। यह सुन कर राजा ने क्रोध के साथ उसे सामने से हटा देने का आदेश दिया। चक्रवाक ने समझा बुझा कर राजा को शान्त किया और उपहारादि देकर शुक को विदा कर दिया।

शुक ने लौट कर चित्रवर्ण को नाना प्रकार का क्षोभ दिखाते हुये युद्ध के लिये तैयार हो जाने का आग्रह किया। चित्रवर्ण ने अपने सभी सभासदों को बुलाकर विचार किया। यद्यपि मन्त्री गृध्र ने समय और परिस्थितियों का वर्णन करते हुए युद्ध न करने का दृढ़ विचार प्रकट किया किन्तु चित्रवर्ण ने बिल्कुल ध्यान न देकर ज्योतिषी को बुला कर शुभ मुहूर्त निश्चित करा कर कर्पूर द्वीप पर चढ़ाई कर दी।

इसके पश्चात् प्रणाम गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—राजन् अब चित्रवर्ण आना ही चाहते हैं। आप अपने दुर्ग का हर समय निरीक्षण परीक्षण कराते रहें क्योंकि बातचीत के प्रसंग में उसके मंत्री गृध्र से मुझे ऐसा संकेत मिला है कि उसने गुप्त रूप से किसी को आपके किले में प्रविष्ट कर दिया है। यह सुनकर मन्त्री चक्रवाक ने कहा—वह गुप्त दूत कौआ ही हो सकता है? राजा ने कहा नहीं ऐसा नहीं हो सकता। वह तो बड़ा ही स्वामिभक्त है। अतः अब उपस्थित विषय पर विचार करो। चित्रवर्ण मलय चोटी पर डेरा डाले पड़ा है अब क्या करना चाहिए। मन्त्री चक्रवाक ने कहा—राजन् मैंने दूत के मुँह से सुना है कि चित्रवर्ण ने अपने मन्त्री गृध्र के उपदेशों का तिरस्कार कर दिया है अतः वह जीता जा सकता है। इसलिये जब तक वह हमारे किले के द्वार को न घेर ले तब तक जंगलों नदियों और पहाड़ों के रास्तों में उसकी सेना का विनाश करने के लिये सारस आदि सेनापतियों को नियुक्त कर दीजिये। चक्रवाक की इस व्यवस्था से चित्रवर्ण के बहुत से सेनापति तथा सैनिक मार डाले गये। तब दुखी होकर चित्रवर्ण ने मन्त्री गृध्र से कहा कि तात ! यह क्या हो रहा है? गृध्र ने कहा कि आपने अपनी सेना और उन्मद

उ का सहारा लिया और मेरी शुभ नीतियों की उपेक्षा की।

इसीलिये यह फल भोगना पडा है। चित्रवर्ण ने कहा कि जो हुआ सो हुआ किन्तु अब तो कोई उपाय कीजिए। गृध्र ने कहा राजन् आप डरें न, धैर्य धारण करें और उपहारादि से सेनापतियो और सैनिकों को तुष्ट कर दें। गृध्र ने इस प्रकार सैनिकों और सेनापतियों को तुष्ट करके राजा हिरण्यगर्भ के किले पर घेरा डाल दिया।

इसी बीच चित्रवर्ण के कपट दूत कौवे ने हिरण्यगर्भ से कहा कि राजन् मैं अब अपना पौरुष दिखाना चाहता हूँ। चक्रवाक ने कहा कि किले के बाहर होकर युद्ध करना ठीक नही। किन्तु हिरण्यगर्भ कौवे की बात मे आकर सबको साथ लेकर दुर्ग द्वार पर महान् युद्ध मे सलग्न हो गए। दूसरे दिन चित्रवर्ण ने कहा कि मत्री अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मत्री गृध्र ने कहा कि राजन्, आप शान्त रहे। सभी कुछ हो रहा है और उसने राजा के कान मे कुछ कहा। दूसरे दिन सूर्य निकला भी नही था कि किले के चारो द्वारो पर भयकर युद्ध होने लगा। इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगा दी। तब शत्रुसेना का कोलाहल सुनकर और किले की आग देख कर राजहस के सभी सैनिक शीघ्र ही तालाब मे घुस गये। स्वभाव से धीरे-धीरे चलने वाला हिरण्यगर्भ अपने सेनापति सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे के द्वारा घेर लिया गया और उस पर प्रहार कर दिया। किन्तु सारस ने स्वामी को जल मे प्रविष्ट करा दिया और स्वय मुर्गे से लडता हुआ मारा गया।

इसके पश्चात् चित्रवर्ण ससैन्य किले मे प्रविष्ट हुआ और वहाँ की बची हुई सभी सामग्री लेकर पडाव पर लौट गया। इस प्रकार दूरदर्शी मंत्री चक्रवाक की बात न मान कर शत्रु के कपटदूत कौवे को आश्रय देने तथा किले मे बाहर जाकर युद्ध करने के कारण राजहस पराजित हो गया।

प्रासंगिक कथाएँ

१ वानर पक्षी कथा

नर्मदा के किनारे पहाड की तलहटी मे एक सेमल का पेड था। वहाँ घोसले बनाकर बहुत से पक्षी रहते थे। एक दिन गहरी वर्षा से भींग कर काँपते हुए उसी पेड के नीचे बैठे हुए वानरों को देख कर पक्षियो ने कहा कि भाइयों

तुम लोग अपने लिये घर क्यों नहीं बना लेते ? इस पर सारे बन्दर क्रुद्ध हो गए और उन्होंने सभी घोंसलों को नष्ट कर दिया ।

२ रजक गर्दभ कथा

हस्तिनापुर में विलास नाम का धोबी था । उसका गधा बोझ ढोते-ढोते दुबला हो गया था । इसलिये धोबी ने उस बाघ के चमड़े से ढक कर अनाज के पास खेत में छोड़ दिया । गदहा खा-पीकर खूब मोटा हो गया । उसे दूर से देख कर बाघ समझ कर खेत के मालिक भागने लगे । एक दिन एक खेत का रख वाला मटमैला कम्बल ओढ़ कर धनुष चढ़ाकर तथा शरीर को झुका कर एकान्त में बैठ गया । उसे देख कर गदहा उसको भी गदहा समझ कर रेंकने लगा और रखवाले के द्वारा मार डाला गया ।

३ गजयूथ शशक कथा

एक बार पानी न बरसने से सभी हाथी प्यास से व्याकुल हो स्वामी से किसी जलमय स्थान में ले चलने की प्रार्थना करने लगे । स्वामी ने उन्हें एक *तालाब दिखा दिया । वहाँ बहुत से खरगोश रहते थे जो हाथियों के पैरों तले* कुचल कुचल कर मरने लगे । यह देख एक दिन विजय नामक बूढ़े खरगोश ने हाथियों के स्वामी से जाकर कहा कि मेरे स्वामी चन्द्रदेव ने मुझे आपके पास यह कहने के लिए भेजा है कि खरगोशों का इस प्रकार विनाश करना ठीक नहीं है । हाथियों के स्वामी ने कहा कि बड़ी भूल हुई अब हम लोग वहाँ नहीं जायेंगे । इसके बाद उसने खरगोश के साथ तालाब के किनारे जाकर चन्द्रबिम्ब को प्रणाम किया और माफी माँग ली ।

४ हंस काक-पथिक कथा

उज्जयिनी में पाकड़ का एक पेड़ था । उस पर हंस और कौआ रहते थे । एक दिन एक राही ने गर्मी से थककर उसी पेड़ के नीचे जाकर धनुष रख दिया और सो गया । कुछ देर बाद छाया हट जाने से उसके मुँह पर धूप पड़ने लगी । तब हंस ने अपने पंखों को फैला कर उसके मुँह पर छाया कर दी । इधर राही के सोने ही के ज्यों ही मुँह खोला त्यों ही कौआ उसमें बीट कर के उड़ गया और बेचारा हंस राही के द्वारा मार डाला गया ।

५ काक-वत्तक कथा

एक पेड पर कौवा और वत्तक साथ-साथ रहते थे। एक ग्वाला सिर पर दही का वर्तन रखे जा रहा था। कौवा वार वार दही खा लिया करता था। जव ग्वाले ने दही का वर्तन नीचे रखकर ऊपर देखा तो कौवा तो भाग गया और वेचारा वत्तक पकड लिया गया और मार डाला गया।

६ रथकार कथा

श्रीनगर मे एक वढ़ई रहता था। वह अपनी पत्नी को कुलटा तो समझता था किन्तु उसने कभी उसे जार के साथ देखा नही था। एक दिन वह घर मे चारपाई के नीचे छिप गया। जिस समय जार उसी चारपाई पर सोकर उसकी पत्नी के साथ सभोग करने लगा उस समय उस स्त्री का कोई अग वढई से छू गया। वह यह जानकर उदास हो गई। जार ने जव उसकी उदासी का कारण पूछा तो वह अपने पति की प्रशसा और उसके वियोग मे दु खी होने की वात कहने लगी जिसे सुनकर वढई प्रसन्न हो गया और चारपाई को सिर पर उठा कर नाचने लगा।

७ नीलवर्ण शृगाल कथा

एक गीदड नगर के किनारे घूमता हुआ नील के माँड मे गिर पडा। दूसरे दिन जव वह वन मे गया तो अपने वदले हुए रग को देखकर उसने गीदडों को वुलाकर कहा कि वनदेवियों ने अपने हाथ से मेरा रसौषधियों मे अभिषेक किया है। गीदडो ने उसकी वात को सत्य मानकर उसे राजा मान लिया। धीरे-धीरे वह सभी जगली पशुओ का राजा वन गया। वह व्याघ्र, सिंह आदि उत्तम सेवकों को पाकर अपनी जाति वालो का तिरस्कार करने लगा। इससे सभी दुखी गीदडों ने सध्या समय इकट्ठा होकर वोलना प्रारभ किया। उस शब्द को सुनकर जाति स्वभाव से वह भी वोलने लगा और वाघ के द्वारा मार डाला गया।

८ वीरवर कथा

एक दिन राजा शूद्रक के दरवार मे वीरवर नाम के राजकुमार ने आकर प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा वेतन लेकर सेवा करने की प्रार्थना की। राजा ने मन्त्रियों के कहने से उसे सेवा में नियुक्त कर लिया। एक दिन राजा को सोते

समय रोने की ध्वनि सुनाई पड़ी। उसने वीरवर को पता लगाने के लिए भेजा किन्तु स्वयं भी चुपचाप उसके पीछे चल पड़ा। वीरवर ने नगर के बाहर एक स्त्री को रोते हुए देखा जो दूसरी ही राज्यलक्ष्मी थी। उसने वीरवर से कहा कि मैं जा रही हूँ इसलिए रो रही हूँ। यदि तुम मुझे रोकना चाहते हो तो अपने पुत्र की बलि चढ़ा दो। वीरवर चुपचाप अपने घर गया और वहाँ से पुत्र तथा स्त्री के साथ देवी के मन्दिर में पहुँचा। वहाँ उसने अपने पुत्र की बलि दे दी। इसके बाद उसने अपना भी सिर काट दिया। पति और पुत्र को इस प्रकार मरा देख उसकी स्त्री ने भी वैसा ही किया। राजा यह सब छिपकर देख रहा था। उसने भी अपना सिर काटने के लिए ज्यों ही तलवार हाथ में ली त्यों ही देवी ने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया और राज्यलक्ष्मी के स्थिर होने का वरदान देकर वीरवर को भी स्त्री-पुत्र के साथ जीवित कर दिया। राजा चुपके से अपने महल में चला आया और जब दूसरे दिन उसने वीरवर से पूछा तो उसने कहा कि एक स्त्री रो रही थी और मुझे देखकर चुप हो गई। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और सभा करके उसने सारी बातें कहकर वीरवर को कर्णाटक देश का राजा बना दिया।

९. भिक्षुवधी नापित कथा

अयोध्या में चूड़ामणि नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसने धन के लिए शंकर जी की बड़ी आराधना की। भगवान शंकर ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि आज प्रातःकाल बाल बनवाकर तुम डंडा लेकर अपने दरवाजे पर बैठे रहना और जब कोई भिक्षुक तुम्हारे द्वार पर आए तो तुम डंडे से उसे पीटना जिससे वह भिक्षुक सोने का घड़ा बन जायगा। उस क्षत्रिय ने वैसा ही किया और भिक्षुक सोने का घड़ा बन गया। वहाँ बाल बनाने के लिए आए हुए नाई ने जब यह देखा तो उसने भी दूसरे दिन अपने घर आए हुए भिक्षुक को डंडे से मार डाला और इस अपराध में वह भी राजपुरुषों द्वारा मार डाला गया।

सन्धि

कथासार

मूलकथा

राजा हिरण्यगर्भ ने अपने मन्त्री से पूछा कि मेरे किले में आग किसने लगाई थी। मन्त्री चक्रवाक ने कहा कि उसी अकारण बन्धु बने हुए कौवे ने, जिसे आपने मेरे मना करने पर भी आश्रय दिया था। राजा ने कहा कि यह हमारा दुर्भाग्य था जो आपकी बात हमने नहीं सुनी। इसी बीच गुप्तचर ने आकर कहा कि 'वह कौवा आग लगा कर चित्रवर्ण के पास गया और उसने सारी बात कह सुनाई तो चित्रवर्ण ने उसे कपूर द्वीप का राजा बना देने का प्रस्ताव किया। तब मंत्री गृध्र ने दृष्टान्त देते हुए उसका विरोध किया और कहा कि राजा राजहंस से संधि कर लेनी चाहिये। इस पर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि आपने पहिले ही क्यों नहीं कहा। तब गृध्र ने कहा कि आपने मेरी बात ही कहाँ सुनी। मैं तो पहिले ही संधि के पक्ष में था। आपने ही अपने मद में आकर लड़ाई ठानी। फिर भी जो हुआ सो हुआ, अब भी आपको राजहंस जैसे राजा के साथ संधि कर लेनी चाहिये। किन्तु हे राजन्, मन्त्री गृध्र के कहने पर भी प्राप्त विजय के अभिमान में चित्रवर्ण संधि नहीं करना चाहता इसलिये अपने मित्र सिंहलद्वीप के राजा सारस को उसके प्रति भड़का देना चाहिये।' राजा हिरण्यगर्भ ने उसकी बात मानकर विचित्र नामक बगुले को गुप्त पत्र के साथ सिंहलद्वीप भेज दिया।

इसके बाद गुप्तचर ने आकर फिर कहा कि राजन् इस समय शत्रु पक्ष में जो हो रहा है उसे सुनिये। राजा चित्रवर्ण ने जब कौवे से आपके विषय में पूछा तो उसने आप की बड़ी प्रशंसा की। इस पर मन्त्री गृध्र ने फिर कहा कि राजन् राजा राजहंस से संधि कर लेनी चाहिये। इस पर चित्रवर्ण ने कहा कि यह कैसे हो सकता है? हम विजयी हैं और यह पराजित है। इसी बीच चित्रवर्ण

के गुप्तचर शुक ने आकर कहा कि महाबली सारस ने जम्बूद्वीप पर घेरा डाल दिया है। यह सुनते ही चित्रवर्ण क्रुद्ध हो गया और उससे लड़ने के लिये जाने को तैयार हो गया। इस पर मंत्री गृध्र ने समझाया कि एक ही साथ युद्ध करने वाले बहुत से शत्रुओं के साथ राजा को कभी नहीं लड़ना चाहिये इसलिये यहाँ से बिना संधि किये जाना उचित नहीं है क्योंकि यह पीछे से हम लोगों पर आक्रमण कर देगा। इसलिये इस समय मेरी बात मानकर संधि करके ही यहाँ से चलना ठीक होगा। इस पर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि अब यह कैसे होगा? मंत्री गृध्र ने कहा—बहुत शीघ्र हो जायगा। राजा हिरण्यगर्भ धर्मात्मा और उसका मंत्री चक्रवाक सर्वज्ञ है अतः वह दोनों बातों से प्रसन्न हो जायेंगे। तब राजा चित्रवर्ण ने कहा कि जैसा उचित समझो वैसा ही करो।

दूसरे दिन फिर गुप्तचर ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से कहा कि राजन् संधि करने के लिए महामन्त्री गृध्र आ रहे हैं। राजा हिरण्यगर्भ ने मन्त्री चक्रवाक से कहा—मंत्री क्या इसमें कोई रहस्य है? यह सुन कर मंत्री ने कहा—राजन् डरने की बात नहीं है। उसके सत्कार के लिये रत्नादि उपहार सजा लेना चाहिये। ऐसा कहकर मन्त्री चक्रवाक ने दुर्गद्वार पर जाकर मन्त्री गृध्र का सत्कार किया और उन्हें आदर के साथ राजा के पास लाकर आसन पर बिठाया। कुछ इधर-उधर की बातें होने के बाद गृध्र ने कहा कि मैं आप से संधि करके यहाँ से जाना चाहता हूँ। तब मंत्री चक्रवाक ने कहा कि आप किस प्रकार की संधि करना चाहते हैं। गृध्र ने सभी प्रकार की संधियों का वर्णन करते हुए कहा कि मैंने सभी प्रकार की संधियाँ बता दी हैं अब आप जिस प्रकार की संधि चाहें कर लें। अंत में यह निश्चय हुआ कि कांचनाभिधान संधि कर ली जाय।

इसके पश्चात् राजा हिरण्यगर्भ ने यथायोग्य सत्कार से गृध्र को प्रसन्न किया। वह चक्रवाक को साथ लेकर अपने राजा चित्रवर्ण के पास गया। वहाँ राजा चित्रवर्ण ने गृध्र तथा चक्रवाक द्वारा बताई गई संधि को स्वीकार कर लिया और चक्रवाक को विदा किया। तब गृध्र ने अपने राजा चित्रवर्ण से कहा कि राजन् अब आपकी अभिलाषा पूरी हो गई। अब हमें अपने देश को लौट चलना चाहिए।

प्रासंगिक कथाएँ

१ कूर्मकथा

मगध देश मे एक तालाव था वहाँ सकट-विकट नाम के हस रहते थे। वही उनका मित्र कम्बुग्रीव कछुआ भी रहता था। एक दिन वहाँ कछुओ ने आकर कहा कि कल प्रात काल मछलियो और कछुओ का शिकार किया जायगा। यह सुनकर कछुवे ने हंसो से कहा कि अब क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि प्रात काल देखा जायगा। कछुवे ने कहा कि यह ठीक नहीं है, मैं एक उपाय बताता हूँ। उसी सहारे तुम दोनो मुझे दूसरे तालाव मे पहुँचा दो। मैं एक काठ अपने मुँह मे दबा लूंगा और तुम दोनों उसे लेकर उड चलना। हसों ने कहा कि बोलना मत नही तो गिर पडोगे। कछुवे ने कहा कि मैं इतना मूर्ख नही हूँ। किन्तु जिस समय ये दोनो हस एक नगर से उडे जा रहे थे उस समय कछुवे को लटकता हुआ देखकर लोगो ने कोलाहल करना शुरू किया जिसे सुनकर कछुवा बोल पडा और जमीन पर गिर पडा।

२ त्रिमत्स्य कथा

एक तालाव मे तीन मछलियाँ रहती थीं। एक दिन मछुओ को वहाँ आया हुआ देख कर एक मछली ने कहा कि मैं तो अब दूसरे तालाव मे जा रही हूँ। दूसरी ने कहा कि जब कोई बाधा होगी तो देखा जायगा। तीसरी ने कहा कि जो होगा वह होगा ही फिर डरने की क्या बात। प्रात काल दूसरी और तीसरी मछलियाँ जाल में फँस गई। दूसरी मछली ने तो अपने को मरा हुआ सा दिखाया जिससे मछुवे ने उसे फेंक दिया और वह कूद कर पानी मे चली गई किन्तु तीसरी मछुवो द्वारा मार डाली गई।

३ वणिग्भार्या कथा

त्रिविक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक वनिया था। उसकी स्त्री रत्नप्रभा अपने सेवक के साथ भोग करती थी। एक वार वह सेवक को चुम्बन दे रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया। तब वह वनिये के पास जाकर बोली कि यह सेवक कपूर चुराकर खाता है। मैंने इसका मुंह सूंघ कर देखा है। सेवक ने कहा कि जिस घर में ऐसी औरत हो वहाँ कोई सेवक कैसे रह सकता है। यह

अब घर वह चल पड़ा । तब बनिये ने उसे किसी प्रकार मना कर लौटाया और वह फिर सुख से रहने लगा ।

४ बक-नकुल कथा

एक जंगल में पेड़ पर बहुत से बगुले रहते थे । उस पेड़ के नीचे बिल में एक साँप रहता था । वह बगुले के बच्चों को खा जाया करता था । यह देख कर एक बूढ़े बगुले ने कहा कि साँप के बिल से नेवले के बिल तक मछलियाँ बिखेर दो जिससे नेवला आकर साँप को मार डालेगा । बगुलों ने वैसा ही किया जिससे नेवले ने साँप को मार डाला किन्तु वृक्ष पर चढ़ कर वह बगुलों के बच्चों को खाने लगा ।

५ मूषक मुनि कथा

एक तपोवन में गौतम नाम के मुनि थे । उन्होंने कौवे के मुँह से गिरे हुए एक चूहे के बच्चे को पाया और उसे पाल-पोस कर बड़ा किया । जब वह बिल्ली से डरने लगा तो उसे मुनि ने बिल्ली बना दिया फिर जब वह कुत्ते से डरने लगा तो उसे कुत्ता बना दिया और जब वह बाघ से डरने लगा तो उसे बाघ बना दिया । लेकिन मुनि उसे चूहा ही समझते थे और दूसरे लोग भी उसके इस रूप परिवर्तन की चर्चा किया करते थे । इसलिए वह मुनि को मार डालने के लिए उद्यत जिससे मुनि ने फिर उसे चूहा बना दिया ।

६. बक-कर्कट कथा

मालव देश के एक तालाब के किनारे एक बगुला उदास होकर बैठा था । एक बूढ़े केकड़े ने उसे देखकर पूछा कि आप इस तरह खाना-पीना छोड़ कर यहाँ क्यों पड़े हैं ? बगुले ने कहा कि मछलियाँ मेरा भोजन हैं और उन्हें मछुवे पकड़ ले जायेंगे इसीलिए मैंने आज ही से खाना-पीना छोड़ दिया है । मछलियों ने यह सुन कर कहा कि हमारी रक्षा कैसे हो सकती है । बगुले ने कहा कि मैं एक एक करके तुम लोगों को दूसरे तालाब में पहुँचा दूँगा । इस प्रकार वह एक-एक को ले जाकर खाने लगा । एक दिन उसने केकड़े को खाना चाहा कि उसने बगुले का गला पकड़ लिया जिससे वह मर गया ।

७ भग्नभाड ब्राह्मण कथा

देवकोट नगर मे देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण था। उसे सतुवा सक्रान्ति के दिन सतुवे से भरा एक घडा मिला। उसे लेकर वह कुम्हार के मडप मे सो गया जहाँ वहुत से वर्तन रखे हुए थे। ब्राह्मण हाथ मे एक डडा लेकर सोचने लगा कि इस सतुवे को वेंचकर दश कौडी प्राप्त करूँगा, उससे घडा आदि खरीद वेंच कर धन इकठठा करके फिर सुपारी वस्त्र आदि का व्यापार करके धनी वन जाऊँगा और चार स्त्रियो से विवाह करूँगा। जव वह झगडने लगेंगी तो इसी डडे से मारूँगा। ऐसा कह कर उसने डडा चला दिया जिससे कुम्हार के वहुत मे वर्तन टूट गए जिसे देख कर कुम्हारने उसे अपने मडप से वाहर निकाल दिया।

८ सुन्दोपसुन्द कथा

प्राचीन काल मे सुन्द उपसुन्द नाम के दो सगे भाइयो ने तीनों लोकों के राज्य की कामना से शकर जी की आराधना की। जव शकर जी ने प्रसन्न होकर उनसे वर मांगने को कहा तो उन दोनो ने राज्य मांगने के वदले पार्वती को मांगा। शकर ने क्रुद्ध होकर पार्वती को दे दिया। लेकिन दोनो उन्हें अपना-अपना वनाने के लिए आपस में लड मरे।

९ धूर्त एवं ब्राह्मण कथा

गौतमारण्य मे एक ब्राह्मण रहता था। वह यज्ञ करने के लिए एक वकरा कधे पर रखे लिए आ रहा था। रास्ते मे तीनो धूर्तो ने उसे देखा और वकरा किसी प्रकार ले-लेने का षड्यत्र किया। तीनो थोडी-थोडी दूर पर खडे हो गए। एक ने कहा कि ब्राह्मण देवता कुत्ता कधे पर रखे क्यो जा रहे हो। ब्राह्मण ने कहा यह कुत्ता नहीं यह तो यज्ञ का वकरा है। फिर थोडी दूर पर जाने पर दूसरे ने भी वही कहा तव ब्राह्मण ने वकरे को उतार कर भली भांति देखा और फिर कधे पर रख कर चल दिया किंतु जव थोडी दूर जाने पर तीसरे ने भी उसे कुत्ता कहा तो ब्राह्मण ने उसे वहीं छोड दिया और स्वयं अपनी कुटी में चला गया।

१०. सिंह-व्याघ्र-काक-जम्बुक कथा

एक जगल में एक सिंह था। उसके कौवा, वाघ और गीदड तीन सेवक थे। उन्होंने जगल में भटका हुआ एक ऊँट देखा और उसे सिंह के पास पहुँचा दिया। सिंह ने उसे अभयदान देकर अपनी शरण में रख लिया। एक वार

सिंह बीमारी तथा वर्षा के कारण भोजन न मिलने से बड़ा दुखी हो गया। तब उन्होंने आपस में विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे स्वामी ऊँट को मार डाले। इसके बाद सब सिंह के पास गये और बाघ ने कहा कि आप मुझे मार कर खा जायें फिर इसी प्रकार कौवे और गीदड़ ने भी कहा किन्तु सिंह ने किसी को नहीं मारा। तब ऊँट ने भी यही कहा। इस पर बाघ ने उसे मार डाला और सब ने खूब पेट भर मांस खाया।

११ वृद्ध सर्प-मण्डूक कथा

एक पुराने बगीचे में मन्दविष नाम का एक साँप रहता था। वह बुढ़ापे के कारण आहार खोजने में असमर्थ होकर तालाब के किनारे पड़ा था। उसे देख कर एक मेढक ने पूछा कि आप भोजन क्यों नहीं ढूँढते। साँप ने कहा कि मैंने ब्रह्मपुर में एक ब्राह्मण के नौजवान लड़के को काट लिया और वह मर गया। तब उसके पिता ने संन्यास ले लिया और मुझे मेढक ढोने का शाप दिया इसी लिए मैं यहाँ मेढकों के लिए आया हूँ। मेढक ने जब अपने स्वामी से यह चर्चा की तो वह साँप की पीठ पर चढ़ गया लेकिन जब दूसरे दिन उसने साँप से पूछा कि तुम चल क्यों नहीं पा रहे हो तो उसने कहा कि भोजन न मिलने से मेरी यह दशा हो गई है। तब मेढकों के स्वामी ने मरे मेढकों को खाने का आदेश दे दिया। जब सारे मेढक खतम हो गए तो उसने मेढकों के स्वामी को भी खा डाला।

१२ ब्राह्मण-नकुल कथा

उज्जैनी में माधव नामका एक ब्राह्मण था। एक दिन उसकी पत्नी अपने बच्चे को ब्राह्मण को सौंप कर स्नान करने गई। इसी बीच राजा ने ब्राह्मण को श्राद्ध कराने के लिए बुला भेजा ब्राह्मण ने अपने पालतू नेवले को बालक की रखवाली के लिए नियुक्त कर दिया और स्वयं राजा के यहाँ चला गया। बालक के पास आने वाले साँप को नेवले ने मार डाला और ब्राह्मण को आता देख खून भरे मुँह से उसके पास पहुँचा ब्राह्मण ने समझा कि इसने बच्चे को ही खा लिया है जिससे उसने क्रुद्ध होकर नेवले को मार डाला। लेकिन जब उसने घर में आकर बालक को सोता देखा तो वह अपने क्रोध पर पश्चाताप करने लगा।

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

सान्वय 'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

— ० —

विग्रहः

अथ पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः-'आर्य ! राजपुत्रा वयम्। तद्विग्रहं श्रोतु नः कुतूहलमस्ति।' विष्णुशर्मणोक्तम्-'यदेवं भवद्भ्यो रोचते तत् कथयामि। विग्रहः श्रूयतां, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

कथारम्भकाले=कथाप्रारम्भसमये। राजपुत्रा =राजकुमारा। ऊचु =उक्तवन्त। विग्रहम्=युद्धम्। श्रोतुम्=आकर्णयितुम्। न =अस्माकम्। कुतूहलम्=औत्सुक्यम्। श्रूयताम्=आकर्ण्यताम्। यस्य = विग्रहप्रसगस्य। आद्य =प्रथम। श्लोक =पद्यम्।

फिर कथा आरम होने के समय राजकुमारो ने कहा—आर्य ! हमलोग राजकुमार हैं, अत हमलोगो मे विग्रह (युद्ध) सुनने की उत्सुकता हो रही है। विष्णुशर्मा ने कहा—'यदि आपलोगों को ऐसी रुचि है तो कह रहा हूँ। 'विग्रह' सुनिए, जिसका पहला श्लोक यह है—

'हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वारिमन्दिरे' ॥१॥

अन्वयः—हसै. सह मयूराणाम् तुल्यविक्रमे विग्रहे अरिमन्दिरे स्थित्वा (हसान्) विश्वास्य काकै हसा• वञ्चिता ॥ १ ॥

हसै =मरालै। सह=साकम्। मयूराणाम्=बर्हिणाम्। तुल्यविक्रमे=समानबले। विग्रहे=युद्धे। अरिमन्दिरे=शत्रुगृहे, हसभवने इत्यर्थः। स्थित्वा=निवासम् कृत्वा। विश्वास्य=विश्वास विधाय। काकै =वायसै। वञ्चिता =प्रवञ्चनां प्रापिता ॥१॥

समान बलवाले हसों के साथ मोरों के युद्ध मे कौवो ने शत्रु (हंसों) के घर में रहकर और उन्हें विश्वास दिलाकर धोखा दे दिया अर्थात् उन्हें पराजित कर दिया ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत्? विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरैः पक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः। यतः—

कर्पूरद्वीपे=तन्नामकद्वीपे। पद्मकेलिनामधेयम्=पद्मकेलिनाम। सरः=तडाग। तत्र=तस्मिन् सरसि। राजहंस=हंसानां राजा। प्रतिवसति=निवसति। सर्वै समस्तै। जलचरपक्षिभि=जलचारिभिः खगैः। पक्षिराज्ये=पक्षिणां राज्ये अभिषिक्त=प्रतिष्ठापित।

राजकुमारों ने कहा—'यह कैसे'। विष्णुशर्मा ने कहा—

कर्पूरद्वीप में पद्मकेलि नाम का एक तालाब है, वहाँ हिरण्यगर्भनाम राजहंस रहता था। वह सभी जलचारी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया। क्योंकि—

'यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव' ॥ २ ॥

अन्वयः—यदि सम्यक् नेता नरपतिः न स्यात्, ततः प्रजा अकर्णधारा जलधौ नौः इव इह विप्लवेत ॥ २ ॥

यदि=चेत्। सम्यक्=सर्वप्रकारेण। नेता=नायकः रक्षकः स्वयं। नरपति नरपतिः=राजा। ततः=तदा। प्रजा=लोकः। जलधौ=समुद्रे। न कर्णधारः यस्याः सा अकर्णधारा=नाविकरहिता। नौः=तरणिः। इव=यथा। इह=अत्र। विप्लवेत=विमज्जेत्, विनश्येत् ॥ २ ॥

यदि कोई राजा प्रजा का अच्छा नेता न हो तो प्रजा उसी प्रकार डूबी डूब जाती है जैसे बिना मल्लाह की नाव समुद्र में डूब जाती है ॥ २ ॥

अपरञ्च— प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्थिवम्।
वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

अन्वयः—नृपः प्रजाम् संरक्षति सा पार्थिवम् वर्धयति (किन्तु) वर्धनात् रक्षणम् श्रेयः (यतः) तदभावे सत् अपि असत् (भवति) ॥ ३ ॥

नृपः=राजा। प्रजाम्=लोकम्। संरक्षति=रक्षाम् करोति। सा=प्रजा च। पार्थिवम्=नृपम्। वर्धयति=करप्रदानादिना धनधान्यपूर्णं करोति। वर्धनात्= ... श्रेयः=पापम्। श्रेय=श्रेष्ठम्। तदभावे=रक्षणाभावे ... सत् अपि असत् एव=नष्टम् एव ॥ ३ ॥

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा (धन धान्य से) राजा को समृद्धिशाली बनाती है। किन्तु किसी वस्तु को बढाने से उसकी रक्षा करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि रक्षाके अभाव मे विद्यमान वस्तु भी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

एकदासौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखासीनः परिचारपरिवृतस्तिष्ठति। ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः। राजोवाच—'दीर्घमुख! देशान्तरादागतोऽसि, वार्त्तां कथय।' स ब्रूते-'देव! अस्ति महती वार्त्ता। तामाख्यातुकाम एव सत्वरमागतोऽहम्। श्रूयताम्—

एकदा=एकस्मिन्काले। सुविस्तीर्णम्=अतिप्रफुल्लितम् यत् कमलम् = नीरजम् तदेव पर्यङ्कः=शय्या तस्मिन्। सुखेन=आनन्देन आसीन=अधिष्ठित। परिचारेण=स्वजनवर्गेण। परिवृत=परिवेष्टित। तिष्ठति=स्थित अस्ति। कुतश्चिद्देशात्=कुतोऽपि विषयात्। प्रणम्य=नमस्कारं कृत्वा। उपविष्ट=आसनस्थो बभूव। देशान्तरात्=अन्यदेशात्। आगतोऽसि=आयातोऽसि। ब्रूते=उवाच। महती वार्ता=नितान्तगुर्वी वार्ता। ताम्=वार्ताम्। आख्यातुकाम=वक्तुकाम। सत्वरम्=शीघ्रम्।

एक बार वह राजहस कमलो की विस्तृत शय्या पर आनन्द से बैठा हुआ था कि उसी समय किसी अन्य देश से आकर एक बगुला प्रणाम करके बैठ गया। राजाने कहा—'दीर्घमुख, तुम दूसरे देश मे आ रहे हो। अत वहाँ की बातें बताओ।' उसने कहा—'राजन् बहुत बडी बात है। उसी को सुनाने के लिए ही म शीघ्रता से आया हूँ। सुनिए—

'अस्ति जम्बूद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः। तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति। तस्यानुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धारण्यमध्ये चरन्नवलोकितः, पृष्टश्च—'कस्त्वम्? कुतः समागतोऽसि?।' तदा मयोक्तम्—कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्त्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहं, कौतुकाद् देशाऽन्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि। एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्-'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो, राजा च?'।

गिरि=पर्वत। अनुचरै=सेवकै। चरद्भि=भ्रमद्भि। दग्धारण्यमध्ये=दग्धनामककाननान्तरे। चरन्=भ्रमन्। अवलोकित=दृष्ट। कुत=कस्मात् स्थानात्। समागतोऽसि=समायातोऽसि। राजचक्रवर्तिन=मण्डलेश्वरस्य। अनुचर=सेवक। कौतुकात्=औत्सुक्यात्। द्रष्टुम्=अवलोकनार्थम्। एतत् श्रुत्वा=तद्वचनमाकर्ण्य। अनयोर्देशयो:=अनयो द्वयो देशयो मध्ये। भद्रतर=श्रेष्ठतर।

जम्बूद्वीप में विन्ध्य नाम का पहाड़ है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम वाला मोर रहता है। मैं दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था कि उसके घूमने वाले सेवक पक्षियों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो ? और कहाँ से आए हो ?' तब मैंने कहा—मैं कर्पूर द्वीप के चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस हिरण्यगर्भ का सेवक हूँ। कुतूहलवश अन्यदेशों को देखने के लिए आया हूँ। यह सुनकर उन पक्षियों ने कहा—'इन दोनों देशों में कौन देश और कौन राजा अच्छा है।'

ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते महदन्तरम्। यतः कर्पूर द्वीपः स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिताः यूयं किं कुरुथ अस्मद्देशे गम्यताम्। ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

किम्=कथम्। एवम्=अनेन प्रकारेण। उच्यते=कथ्यते। महदन्तरम्=महद्भिन्नत्वम्। द्वितीयः=अन्यः। स्वर्गपतिः=इन्द्रः। कथं=केन प्रकारेण। वर्णयितुम्=कथयितुम्। शक्यते=पार्यते। अत्र मरुस्थले=अस्मिन् जलशून्ये प्रान्ते नीरसे देशे इत्यर्थः। सकोपाः=सक्रोधाः।

मैंने कहा क्या ऐसा कह रहे हो। बहुत अन्तर है। कर्पूर देश स्वर्ग है और राजहंस दूसरे इन्द्र हैं। इस मरुभूमि में पड़े हुए तुम लोग क्या कर रहे हो। हमारे देश में चलो। तब मेरी बातें सुनकर सभी क्रुद्ध हो गए। जैसा कि कहा भी है—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥ ४ ॥

अन्वयः—भुजङ्गानाम् पयःपानम् केवलम् विषवर्धनम् (एव यथा भवति तथैव) मूर्खाणाम् उपदेशः हि प्रकोपाय (एव भवति) न शान्तये (भवति) ॥ ४ ॥

भुजङ्गानाम्=सर्पाणाम्। पयःपानम्=दुग्धपानम्। विषवर्धनम्=विषवृद्धेः कारणम्। मूर्खाणाम्=अज्ञानाम्। उपदेशः=शिक्षा। प्रकोपाय=क्रोधोत्पत्त्यै ॥ ४ ॥

जैसे साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना ही है उसी प्रकार मूर्खों का उपदेश देना क्रोध को बढ़ाना है न कि शान्त करना ॥ ४ ॥

अन्यच्च—'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याऽथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्' ? दीर्घमुखः कथयति—

अन्वयः—विद्वान् एव उपदेष्टव्य , अविद्वान् तु कदाचन न (उपदेष्टव्य) ।
अथ खगा वानरान् उपदिश्य स्थानभ्रष्टा ययु ॥ ५ ॥

विद्वान्=प्राज्ञ । एव । उपदेष्टव्य.=उपदेशयोग्य । अविद्वान्=अज्ञ । तु । कदाचन=कदापि । न । खगा =पक्षिण । वानरान्=कपीन् । उपदिश्य=उपदेशं कृत्वा । स्थानभ्रष्टा.=गृहरहिता । ययु =जग्मु' ॥ ५ ॥

और भी समझदार को ही उपदेश देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी उपदेश नहीं देना चाहिए । पक्षियों ने वानरो को उपदेश दिया जिससे उन्हें बेघरवार का होना पड़ा ॥ ५ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे ?' दीर्घमुखने कहा—

कथा १

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति । अथैकदा वर्षासु नील-पटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धारासारैर्महती वृष्टि-र्बभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्छीताकुलान्कम्पमाना-नवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्—'भो भो वानराः ! शृणुत—

नर्मदातीरे=नर्मदायास्तटे । पर्वतोपत्यकायाम् = अचलासन्नभूम्याम् (तराई में)। विशाल = महान् । शाल्मलीवृक्ष = शाल्मलीतरु (सेमल का पेड़) । निर्मितनीडक्रोडे=रचितकुलायोत्सङ्गे (घोसले मे) । सुखेन=आनन्देन । निवसन्ति=निवासं कुर्वन्ति । एकदा=एकस्मिन् काले । वर्षासु=वर्षाकाले 'प्रावृषि' । जलधर-पटले=मेघवृन्दे । आवृते=आच्छादिते । नभस्तले=आकाशतले । धारासारै.=सवेगवातवर्षै । महती वृष्टि =अत्यन्तजलपात । तरुतले=वृक्षतले । अवस्थितान्=स्थितान् । शीतेन=शैत्येन । आकुलान्=व्यग्रान् । कम्पमानान्=कम्पनं कुर्वाणान् । वानरान्=मर्कटान् । अवलोक्य=दृष्ट्वा । कृपया = करुणया । पक्षिभि = खगै. । उक्तम्=कथितम् ।

नर्मदा के किनारे पहाड़ की तलहटी में सेमल का एक बहुत बड़ा पेड़ है । वहाँ घोसले बनाकर बहुत से पक्षी सुख से रहा करते थे । एक बार वर्षा ऋतु में आकाश बादलो से ढँक गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए बन्दरों को ठंढ से व्याकुल एवं काँपते हुए देखकर पक्षियों को दया आगई । उन्होंने कहा—अरे बन्दरों सुनो—

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?' ॥ ६ ॥

अन्वयः—चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः अस्माभिः नीडाः निर्मिताः हस्तपादादि संयुक्ताः (यूयम्) दुःखम् किम् अवसीदथ ॥ ६ ॥

चञ्चुमात्रैण—चञ्च्वा एव । आहृतैः = आनीतैः तृणैः । अस्माभिः = पक्षिभिः । नीडाः = कुलायाः । निर्मिताः = रचिताः । हस्तपादादिसंयुक्ताः = करचरणादियुता.=करचरणादियुता समर्था इत्यर्थः । यूयम् । दुःखं = कष्टम् । किम् = कस्मात् । अवसीदथ = कष्टम् प्राप्नुथ ॥ ६ ॥

'हम पक्षियों ने केवल चोंच से तिनकों को ला-लाकर घोंसले बना लिए और तुम लोग हाथ-पाँव रखते हुए भी क्यों दुःख झेल रहे हो ?' ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जातामर्षैरालोचितम्—'अहो ! निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति'। तद् भवतु तावद् वृष्टेरुपशमः। अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे, तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नाः तेषामण्डानि चाऽधः पातितानि। अतोऽहं ब्रवीमि 'विद्वानेवोपदेष्टव्यः' इत्यादि ॥

राजोवाच–'ततस्तैः पक्षिभिः किं कृतम् ?'।

बकः कथयति—ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्—'केनासौ राजहंसो राजा कृतः ?'। ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'अयं युष्मदीयो मयूरः केन राजा कृतः ?' एतच्छ्रुत्वा ते पक्षिणो मां हन्तुमुद्यताः। ततो मयापि स्वविक्रमो दर्शितः। यतः—

तच्छ्रुत्वा=तदाकर्ण्य । जातामर्षैः=उत्पन्नकोपैः । आलोचितम्=विचारितम् । निर्वातनीडस्य=वायुरहितकुलायस्य । गर्भे = मध्ये अवस्थिताः = स्थिताः । निन्दन्ति=निन्दां कुर्वन्ति । वृष्टेः उपशमः=वृष्टिनिवृत्तिः । अनन्तरम्=पश्चात् । शान्ते=निवृत्ते । पानीयवर्षे=जलवृष्टौ । वृक्षमारुह्य=वृक्षोपरि आरोहणं कृत्वा । भग्नाः=नष्टाः । अधः पातितानि=भूमौ क्षिप्तानि ।

किं कृतम्=किमाचरितम् । कोपात्=रोषात् । उपजातकोपेन=उत्पन्नक्रोधेन मया । युष्मदीयः = युष्माकम् । हन्तुमुद्यताः = मारयितुम् उद्यताः । स्वविक्रमः = निज पराक्रमः । दर्शितः = प्रदर्शितः ।

यह सुनकर क्रुद्ध वानरों ने मन ही मन विचार किया 'वायुरहित घोंसले में सुख से बैठे हुए ये पक्षी हमलोगों की निन्दा कर रहे हैं। अच्छा ! पानी बन्द होने दो।' इसके बाद वर्षा रुकने पर वे सभी बन्दर वृक्ष पर चढ़ गए, उन्होंने घोंसलों को तोड़ दिया और अंडों को नीचे गिरा दिया। इस लिए मैं कह रहा हूँ—'विद्वान् को ही उपदेश देना चाहिए' इत्यादि।

राजाने कहा—'तब उन्होंने क्या किया।' बगुले ने कहा—तब उन क्रुद्ध पक्षियो ने कहा—किसने राजहंस को राजा बनाया है ? तब मैंने भी क्रुद्ध होकर कहा—तुम्हारे मयूर को किसने राजा बनाया है। यह सुनकर वे सब मुझे मारने के लिए तैयार हो गए तब मैंने भी अपना बल दिखाया। क्योंकि—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे, वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

अन्वयः—अन्यदा योषितः (भूषणम्) लज्जा इव, पुंसः भूषणम् क्षमा (अस्ति, तु) सुरतेषु वैयात्यम् इव परिभवे पराक्रमः (भूषणम् अस्ति) ॥ ७ ॥

अन्यदा = पराभवातिरिक्तकाले, सुरतातिरिक्तसमये। योषितः = नार्याः। लज्जा इव=त्रपा इव। पुंसः =पुरुषस्य। भूषणम्=अलङ्कारः। क्षमा=क्षान्तिः। सुरतेषु=रतिक्रीडायाम्। वैयात्यम्=धृष्टता इव। परिभवे=पराजयकाले। पराक्रमः =बलप्रदर्शनम् एव ॥ ७ ॥

अन्य समय मे जैसे लज्जा स्त्रियो का आभूषण है उसी प्रकार क्षमा पुरुषो का आभूषण है। किन्तु रतिकाल मे धृष्टता जैसे स्त्रियो की शोभा है उसी प्रकार अपमान के समय पराक्रम पुरुषो की शोभा है ॥ ७ ॥

राजा विहस्याऽऽह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाऽबलम्।
अन्तरं नैव जानाति, स तिरस्क्रियतेऽरिभिः' ॥ ८ ॥

अन्वयः—आत्मनः परेषाम् च बलाबलम् समीक्ष्य यः अन्तरम् नैव जानाति सः अरिभिः तिरस्क्रियते ॥ ८ ॥

आत्मनः =स्वस्य च। परेषाम् च=शत्रूणाम् च। बलाबलम् = सामर्थ्यमसामर्थ्यञ्च। समीक्ष्य = दृष्ट्वा यः। अन्तरम् = प्रभेदम्। नैव, जानाति = वेत्ति। अरिभिः =शत्रुभिः। सः, तिरस्क्रियते=पराजितो भवति ॥ ८ ॥

राजा ने हँसकर कहा—

अपने और शत्रु के बलाबल को देखकर भी जो उनके अन्तर को नही समझता वह शत्रुओं से अपमानित होता है ॥ ८ ॥

'सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान्।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, वाग्दोषाद् गर्दभो हतः' ॥ ९ ॥

चक्र. पृच्छति—कथमेतत् ? राजा कथयति—

अन्वयः—क्षेत्रे सुचिरम् नित्यम् चरन् हि द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः अबुद्धिमान् गर्दभः वाग्दोषात् हतः ॥ ९ ॥

तेजेन=तस्योत्पाटितत्वचेन। सुचिरम्=बहुकालपर्यन्तम्। नित्यम्=प्रतिदिनम्। चरन्=खादन् सस्यम्। द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः=व्याघ्रचर्माच्छादितः। अबुद्धिमान्=मूर्खः। गर्दभः=खरः। वाग्दोषात्=शब्ददोषात्। हतः=मृतः॥ १॥

और भी—बहुत दिनों तक नित्य ही खेत में चरने वाला व्याघ्र चर्म से ढँका हुआ गदहा केवल अपने बोलने के दोष से ही मारा गया॥ १॥

सबने ने पूछा—'यह कैसे'। राजा ने कहा—

कथा २

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः। तस्य गर्दभोऽतिभारवहनाद् दुर्बलो मुमूर्षुरिवाऽभवत्। ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यकसमीपे सस्यक्षेत्रे विमुक्तः। ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते।

हस्तिनापुरे=हस्तिनामनगरे। विलासो नाम=विलासाख्यः। रजकः=वस्त्रनिर्णेजकः। धावकः। तस्य गर्दभः=तस्य खरः। अतिभारवहनात्=अत्यन्तभारवाहनात्। दुर्बलः=शरीरेण क्षीणः। मुमूर्षुः इव=मृतकल्प इव। असौ=गर्दभः। व्याघ्रचर्मणा=व्याघ्रत्वचा। प्रच्छाद्य=आवृत्य। अरण्यसमीपे=वनस्य निकटे। सस्यक्षेत्रे=धान्यक्षेत्रे। विमुक्तः=नियोजितः। अवलोक्य=दृष्ट्वा। व्याघ्रबुद्ध्या=व्याघ्रमत्या व्याघ्रोऽयम् इति मत्वा इत्यर्थः। क्षेत्रपतयः=क्षेत्रस्वामिनः। सत्वरम्=शीघ्रम्। पलायन्ते=पलायनं चक्रुः।

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक धोबी था। उसका गदहा बोझा ढोने से दुबला हो मरने-मरने को हो गया। तब धोबी ने उसे बाघ के चमड़े से ढँककर जंगल के पास धान के खेत में छोड़ दिया। खेत के रखवाले उसे दूर ही से देखकर बाघ समझ लिया और वे वहाँ से शीघ्र ही भाग चले हुए।

अथैकदा केनापि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं सज्जीकृत्यावनतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं च दूराद् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो 'गर्दभोऽय'मिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः। ततस्तेन सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दाद् गर्दभोऽयमिति निश्चित्य, लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुचिरं हि चरन्नित्यम्'—इत्यादि॥

सस्यरक्षकेण=धान्यरक्षकेण क्षेत्रस्वामिना। धूसरं धूम्रवर्णं यत् कम्बलम् तेन कृतम् विहितम् तनुत्राणम् देहावगुण्ठनं येन तेन। धनुष्काण्डम्=बाण

दण्डम् । सज्जीकृत्य=उपयुक्तं कृत्वा । आनतकायेन=संकुचितशरीरेण । एकान्ते=रहसि । स्थितम्=अधिष्ठितम् । त च=क्षेत्ररक्षकम् च । पुष्टाग =परिपुष्टदेह । यथेष्टसस्यभक्षणात्=यथेच्छधान्यचर्वणात् । उपजातबल =उत्पन्नपराक्रम. । मत्वा=परिज्ञाय । तदभिमुखम् = क्षेत्ररक्षक प्रति । धावित = वेगेन चलित । निश्चित्य = निश्चयम् कृत्वा । लीलया एव = अप्रयासेनैव, सारल्येन इत्यर्थ. । व्यापादित =मृत्युं प्रापित ।

एक दिन खेत का एक रखवाला मटमैले कम्बल को ओढ़कर और धनुष पर डोरी चढाकर एकान्त में सिकुड कर बैठ गया उसे दूर ही से देखकर गदहे ने उसे भी गदहा समझ लिया । और वह इच्छानुसार धान चरने से बली और मोटा ताजा गदहा उसकी ओर चिल्लाते हुए दौड पडा । खेत के रखवाले उसके शब्द से उसे गदहा जानकर बडी आसानी से मार डाले । इसीलिए मैं कह रहा हूँ–'बहुत दिनों तक नित्य चरता हुआ' आदि ।

दीर्घमुखो ब्रूते—ततः पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्–'अरे पाप दुष्टबक ! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि ।। तन्न क्षन्तव्यमिदानीम्' । इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा, सकोपा ऊचुः—'पश्य रे मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः। तस्य राज्याधिकारो नास्ति । यत एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः । स कथं पृथिवीं शास्ति ? राज्यं वा तस्य किम् ? । त्वं च कूपमण्डूक, तेन तदाश्रयमुपदिशसि' । शृणु—

पाप=पापात्मन् । अस्माकम् भूमौ=पृथिव्याम् । चरन्=विचरन् । स्वामिनम्=राजानम् । अधिक्षिपसि=निन्दसि । इदानीम्=अस्मिन् काले । चञ्चुभि =तुण्डै । हत्वा=प्रहार कृत्वा । सर्वथा=सर्वप्रकारेण । मृदु = कोमल , पराक्रमहीन इत्यर्थं । तस्य=हंसस्य । एकान्तमृदु =अत्यन्तकोमल , तेजोहीन इत्यर्थं । करतलस्थम्=हस्तगतम् । अर्थम्=धनम् । रक्षितुमक्षम =रक्षणे अशक्त । शास्ति=रक्षति । कूपमण्डूक =कूपमण्डूकतुल्य , स्वदेशातिरिक्तान्यदेशज्ञानरहित । तदाश्रयम्=राजहंसस्य आश्रयणम् ।

दीर्घमुख ने कहा—इसके बाद उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि 'अरे पापी दुष्ट बगुले तुम हमारी ही भूमि में चरते हो और हमारे राजा की निन्दा करते हो । इसलिए अब हमलोग तुम्हे क्षमा नहीं करेंगे ।' ऐसा कहकर सभी मुझे चोचों से मारने लगे और कहने लगे कि अरे दुष्ट तुम्हारा वह हंस अत्यन्त निर्बल है इसलिए वह राज्य का अधिकार नहीं पा सकता, क्योंकि अत्यन्त निर्बल व्यक्ति

हाथ में आई हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता फिर वह पृथ्वी का पालन कैसे करेगा ? और उसका राज्य ही कैसा ? तुम कुएँ के मेढक की तरह अपने देश को छोड़कर दूसरे देशों के बारे में कुछ जानते ही नहीं हो। इसीलिए अपने राजा के आश्रय में रहने का उपदेश दे रहे हो। सुनो—

'सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति छाया केन निवार्यते' ॥ १० ॥

अन्वयः—फलच्छायासमन्वितः महावृक्षः सेवितव्यः यदि दैवात् फलम् नास्ति (तर्हि) छाया केन निवार्यते ॥ १० ॥

फलच्छायासमन्वितः=फलच्छायायुक्तः। महावृक्षः = महातरुः। सेवितव्यः = सेव्यः। दैवात्=भाग्यात्। फलम् नास्ति = तस्मिन् फलाप्तिर्न भवेत्। छाया= आतपत्र केन निवार्यते = निषिध्यते ॥ १० ॥

'फल और छाया से युक्त बड़े वृक्ष की ही सेवा करनी चाहिए। यदि दैवात् उससे फल नहीं मिला तो छाया कौन रोक सकता है ? ॥ १० ॥

अन्यच्च—'हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते 'वारुणी'त्यभिधीयते' ॥ ११ ॥

अन्वयः—हीनसेवा न कर्तव्या महदाश्रयः कर्तव्यः। शौण्डिकीहस्ते पयः अपि वारुणी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

हीनसेवा=क्षुद्रजनस्य सेवा। न कर्तव्या = न करणीया। महदाश्रयः = श्रीमत सेवा। शौण्डिकीहस्ते=मद्यपायिकाकरे। पयः अपि=जलमपि। वारुणी इति=मद्यम् इति। अभिधीयते = कथ्यते ॥ ११ ॥

और भी— नीच की सेवा नहीं करनी चाहिए, बड़ों का ही सहारा लेना चाहिए। क्योंकि कलवारिन के हाथ में जल भी शराब ही समझा जाता है' ॥

अन्यच्च—'महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः।
आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

अन्वयः—निर्गुणे (स्थितः) महान् गुणविस्तरः अपि आधाराधेयभावेन दर्पणे गजेन्द्र इव अल्पताम् याति ॥ १२ ॥

निर्गुणे = गुणहीने विद्यमान। महान् अपि = अत्युत्कृष्टोऽपि। गुणविस्तरः = गुणप्रकर। आधाराधेयभावेन=आश्रयाश्रयिभावेन आश्रयस्य तुच्छतया। अल्पताम् = विस्तारशून्यताम् इव याति अर्थ। याति = गच्छति। दर्पणे = आदर्शे। गजेन्द्र इव = करिराजस्य ॥ १२ ॥

और भी—'निर्गुणी में रहने वाला महान् गुण भी आधार के प्रभाव से तुच्छ बन जाता है जैसे गजराज भी शीशे में उसके प्रभाव से छोटा दिखाई पड़ता है' ॥

किन्तु—'अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।
रामम आसाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः' ॥ १३ ॥

अन्वयः—सिंहप्रसादेन अजा वने निर्भयम् चरति । विभीषण रामम् आसाद्य लङ्कायाम् राज्यम् लेभे ॥ १३ ॥

सिंहप्रसादेन = सिंहस्य कृपया । अजा = छागी । वने = अरण्ये । निर्भयम्= निःशङ्कम् । चरति=विचरति । विभीषण =रावणस्य अनुज । राम=सीतापतिम् । आसाद्य=शरणं प्राप्य । लङ्काया=तन्नामकपुर्याम् । राज्य = राजपदम् । लेभे= प्राप्तवान् ॥ १३ ॥

किंतु—'सिंह की कृपा से बकरी भी जंगल मे निर्भय होकर चरती है । विभीषण ने राम का आश्रय लेकर ही लंका मे राज्य प्राप्त किया था' ॥ १३ ॥

विशेषतश्च—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १४ ॥

मयोक्त—कथमेतत् ? पक्षिणः कथयन्ति—

अन्वयः—अतिशक्ते नराधिपे व्यपदेशे अपि सिद्धि स्यात् । शशकाः शशिन-व्यपदेशेन सुखमासते ॥ १४ ॥

अतिशक्ते = बलशालिनि । नराधिपे = नृपे सति । व्यपदेशेऽपि=तस्य नाम-ग्रहणे अपि । सिद्धि =कार्यपूर्ति । शशका =तन्नामका जन्तुविशेषा (खरगोश) । शशिन = चन्द्रस्य । व्यपदेशेन=व्याजेन नाम्ना । सुख = सानन्दम् । आसते = निवसन्ति ॥ १४ ॥

प्राय —'कभी-कभी अत्यन्त शक्तिशाली राजा के नाम से ही कार्य सिद्ध हो जाता है । जैसे खरगोशो ने चद्रमा का नाम लेकर सुख प्राप्त किया था' ॥१४॥

कथा ३

कदाचिद्वर्षास्वपि वृष्टेरभावात्तृषार्त्तो गजयूथो यूथपतिमाह—'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? नाऽस्ति क्षुद्रजन्तूनाम् (अपि) निमज्जनस्थानम् । वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताः, अन्धा इव किं कुर्मः ?, क्व यामः ?' ततो हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान् ।

कदाचित्=किसी समय । वर्षास्वपि=प्रावृषि । वृष्टेरभावात्=वर्षा के अभाव से । तृषार्तः = पिपासाकुल । गजयूथः = हस्तिसमूह । यूथपतिम् = यूथनायकम् । आह=उक्तवान् । नाथ=स्वामिन् । अभ्युपाय = युक्तिः । जीवनाय= प्राणधारणाय । क्षुद्रजन्तूनाम्=स्वल्पानाम् जीवानाम् । निमज्जनस्थानम्=स्नान-योग्य सरोवर किं पुनः अस्माकं तृषार्तानां निमज्जनस्थानम् इति शेष । निमज्जन-स्थानाभावात्=सरोवर बिना । मृता=मृततुल्याः । हस्तिराज = गजाधिप । नातिदूरं=समीपम् । निर्मलम्=स्वच्छजलम् । ह्रदम्=सरोवरम् ।

एक बार वर्षा ऋतु में भी पानी न बरसने के कारण प्यास से आकुल हाथियों के झुण्ड ने अपने स्वामी से कहा—'स्वामी ! हम लोगों के जीवन का कोई उपाय है ? छोटे-छोटे जन्तुओं के स्नान करने योग्य भी कोई जगह नहीं है। इसलिए तो स्नान करने की जगह के बिना मृतक तुल्य हो गए हैं। अब हम अन्धों की तरह क्या करें ? कहाँ जायें ? तब हाथियों के राजा ने थोड़ी दूर जाकर उन्हें एक निर्मल तालाब दिखाया।

ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिताः क्षुद्रशशकाः गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः। अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास— अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन प्रत्यहमत्रागन्तव्यम्। ततो विनष्टमस्मत्कुलम्।

ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विषीदत, मयात्र प्रतीकारः कर्तव्यः। ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः। गच्छता च तेना-लोचितम्—'कथं मया गजयूथनाथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम् ?'।

दिनेषु गच्छत्सु=कालपरिच्छिन्नातिक्रान्तेषु । तत्तीरावस्थिता =सरोवरतट निवासिनः । क्षुद्रशशकाः =स्वल्पकाया शशकाः । गजपादाहतिभिः = हस्तिचरण न हते । चूर्णिता =नष्टा । अनन्तरम्=तत्पश्चात् । चिन्तयामास=विचारयामास । पिपासाकुलितेन = तृषार्तेन । प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् । कुलम् = वंशः । अवदत्= उक्तवान् । मा विषीदत=विषादं न कुरुत । प्रतीकारः = रक्षायाः उपायः । प्रतिज्ञाय=प्रतिज्ञां कृत्वा । चलितः =प्रस्थितः । आलोचितम्=विचारितम् । गजयूथ-नाथसमीपे=हस्तियूथाधिपसन्निकटे ।

कुछ समय बाद तालाब के किनारे रहने वाले छोटे खरगोश हाथियों के पैरों से दबकर कुचल गए। इसके पश्चात् शिलीमुख नाम के खरगोश ने विचार

किया—'प्यास से व्याकुल हाथियो का झुण्ड तो यहाँ प्रतिदिन आयेगा। इससे तो हमारा सारा वंश ही नष्ट हो जायगा' तब विजय नाम के एक बूढे खरगोश ने कहा—'डरो मत, मैं विपत्ति को दूर करने का उपाय करूगा।' तब वह प्रतिज्ञा करके चला। चलते-चलते उसने विचार किया कि मैं हाथियो के झुण्ड के स्वामी के पास खडा होकर कैसे बातचीत करूगा? क्योकि—

यतः—'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः' ॥ १५ ॥

अन्वयः—गज स्पृशन् अपि हन्ति, भुजङ्गम जिघ्रन् अपि (हन्ति) भूपालः पालयन् अपि (हन्ति) दुर्जन प्रहसन् अपि (हन्ति) ॥ १५ ॥

गज =करी। स्पृशन् अपि = स्पर्शमात्रेणापि। हन्ति = प्राणान्त करोति। भुजङ्गम =सर्प। जिघ्रन् अपि=आघ्राण कुर्वन्नपि (सूघते हो)। भूपाल =नृपति। पालयन् अपि=पोषयन् अपि। दुर्जन =दुष्ट। प्रहसन् अपि = हसन् अपि। स्वप्रसन्नता प्रकटीकुर्वन् अपि (हन्ति) ॥ १५ ॥

छूने मात्र से हाथी, सूघने मात्र से सप, पालन करते हुए भी राजा, और हँसते हुए भी दुर्जन प्राणों का घातक बन जाता है ॥ १५ ॥

अतोहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि।' तथानुष्ठिते सति यूथनाथ उवाच—'कस्त्वम्? कुतः समायातः?'।

स ब्रूते—'शशकोहम्, भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः।' यूथपतिराह—'कार्यमुच्यताम्'। विजयो ब्रूते—

आरुह्य=आरोहण कृत्वा। संवादयामि=वार्तालाप करोमि। तथाऽनुष्ठिते=पूर्वोक्तप्रकारेण कृते सति। समायात =आगतोऽसि। भवदन्तिकम् = त्वत्पार्श्वम्, विजय = वृद्धशशक।

इसलिए मैं पहाड की चोटी पर चढकर हाथियो के स्वामी से बातचीत करूँगा।, ऐसा करने के बाद गजस्वामी ने कहा—'तुम कौन हो? कहाँ से आए हो।' उसने कहा—'मैं खरगोश हूँ। भगवान चन्द्रदेव ने मुझे आप के पास भेजा है।' गजपति ने कहा 'बताओ, किस काम के लिए भेजा है।' तब विजय ने कहा—

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा।
सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः' ॥ १६ ॥

अन्वय.—शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि दूत अन्यथा न वदति। हि अवध्यभावेन (निर्भय स) सदैव यथार्थस्य वाचक (भवति) ॥ १६ ॥

तब मंत्री गृध्र ने मुझसे पूछा—'वहाँ मुख्य मंत्री कौन है ? मैंने कहा—'सभी शास्त्रों में कुशल सर्वज्ञ नाम का चकवा है।

गृध्र ने कहा बिल्कुल ठीक। वह राजहंस ने देश में ही पैदा हुआ है। क्योंकि—

> 'स्वदेशजं, कुलाचारविशुद्धमुपधाशुचिम्।
> मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥
> अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं, विपश्चितम्।
> अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥ १८ ॥

अन्वयः—नृप स्वदेशजम् कुलाचारविशुद्धम् उपधाशुचिम्, मन्त्रज्ञम् अव्यसनिनम् व्यभिचारविवर्जितम् अधीतव्यवहारार्थम् मौलम् ख्यातम्, विपश्चितम् अर्थस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विदध्यात् ॥ १७–१८ ॥

स्वदेशजम्=स्वदेशोत्पन्नम्। कुलाचारविशुद्धम् = कुलाचारेण=कुलव्यवहारेण विशुद्धम्, उत्तमकुलोत्पन्नम् इत्यर्थः। उपधाशुचिम् = धर्मपरीक्षासु पवित्रम् लोभादिप्रसङ्गेषु अनुत्तीर्णमध्यमिति इत्यर्थः। मन्त्रज्ञम्—मन्त्रणायाः वेत्तारम्। अव्यसनिनम्—मद्यद्यूतादिव्यापाररहितम्। व्यभिचारवर्जितम् = परस्त्रीगमनादिदोषे अनभियुक्तम्। अधीतव्यवहारार्थम्=धर्मशास्त्रोक्तव्यवहारेषु च निष्णातम्। मौलम्=वंशपरम्परागतम्। ख्यातम् = स्वगुणैः लोकमध्ये प्रसिद्धम्। विपश्चितम् = पण्डितम्। अर्थस्योत्पादकम् = वित्तोपार्जकम्। विदध्यात्=नियुक्तं कुर्यात् ॥ १७–१८ ॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले कुलीन आचरणों से पवित्र धार्मिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण राजनीति के ज्ञाता किसी भी प्रकार के व्यसन (मद्यपानादि) से रहित व्यभिचार से हीन अर्थात् सदाचारी व्यवहारकुशल कुलक्रमागत प्रसिद्ध विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को ही मंत्रीपद पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८ ॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम्। ततो राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव। यतः—

अत्रान्तरे = अस्मिन्नेव समये। लघुद्वीपा—क्षुद्रद्वीपा। जम्बूद्वीपान्तर्गता.= जम्बूद्वीपस्य मध्ये स्थिता। तत्रापि = कर्पूरद्वीपेऽपि। देवपादानाम्—भवताम्। आधिपत्यम् = स्वामित्वम्।

इसी बीच शुक ने कहा—'राजन् कर्पूर द्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वहाँ भी आप का ही स्वामित्व है। तब राजा ने कहा—हाँ ऐसा ही है। क्योंकि—

'राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा, धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजा, मत्त , शिशु , च एव प्रमदा, धनगर्वित , अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा=नृप । मत्त =उन्मादग्रस्त । शिशु = बालक. । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । धनगर्वित =धनावलेपी । अप्राप्यम् अपि=अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्यं सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णयः ?' । मयोक्तम्—'सग्राम एव ।'

राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूत. कार्यः'—

वचनमात्रेणैव=कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । सग्राम.=युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्ध कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तब मैंने कहा— यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।' सुग्गे ने कहा–'तो इसका निर्णय कैसे हो ?' मैंने कहा–'युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।'

राजा ने हँसकर कहा–'तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।' तब मैंने कहा—'आप अपना दूत भी भेज दें ।' राजा ने कहा 'दूत बनकर कौन जाएगा ?' क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष , प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ २० ॥

अन्वयः—दूत , भक्त , गुणी, शुचि , दक्ष , प्रगल्भ , अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण , परमर्मज्ञ , प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त =स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी=सर्वगुणोपेत । शुचि =व्यवहार-शुद्ध । दक्ष =विचक्षण । प्रगल्भ =वाक्पटु । अव्यसनी=व्यसनरहित । क्षमी=

सर्वेषु शस्त्रेषु अपि—अस्त्रप्रहारकरणाय उद्यतेषु अपि प्राणनाशेऽपि इत्यर्थः। दूतः—वार्त्ताहरः। अवध्यभावः—अवध्यत्वम्। न वदति = न कथयति। हि = निश्चयेन। अवध्यभावेन—अहं तु अवध्य इत्येतेन मनसः निश्चयेन। यथार्थस्य—सत्यस्य। वाचकः = वक्ता॥ १६॥

दूत अपने ऊपर हथियारों का प्रहार करने के लिए तैयार होने पर भी झूठ नहीं बोलता क्योंकि अवध्य होने के कारण वह सदा सत्य ही बोलने वाला होता है॥ १६॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि शृणु—ये ते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम्। ते शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः। अत एव मे 'शशाङ्क' इति प्रसिद्धिः।'

एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—'प्रणिधे! इदमज्ञानतः कृतम्। पुनर्न तत्र गमिष्यामि।'

दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य च गच्छ।'

ततस्तेन रात्रौ यूथपतिं नीत्वा तत्र जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा स यूथपतिः प्रणामं कारितः।

उक्तं च तेन—'देव! अज्ञानादनेनापराधः कृतः ततः क्षम्यताम्, नैवं वारान्तरं विधास्यते।' इत्युक्त्वा प्रस्थापितः। अतो वयं ब्रूमः—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति॥

तदाज्ञया—स्वामिनः आज्ञानिर्देशेन। ब्रवीमि = कथयामि। चन्द्रसरोरक्षकाः—चन्द्रसरोवरस्य रक्षायाम् नियुक्ताः। निःसारिताः—निष्कासिताः। अनुचितं कृतम्—अकार्यस्य विहितम्। चिरम् = बहुकालात्। रक्षिताः—पालिताः। शशाङ्कः = शशः अङ्के यस्य। एवमुक्तवति—अनेन प्रकारेण कथितवति। आह = उक्तवान्। प्रणिधे—दूत!। अज्ञानतः—ज्ञानाभावात्। कोपात्—क्रोधात्। कम्पमानम्—वेपमानम्। चञ्चलम्—चपलम्। प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा। प्रसाद्य—प्रसन्नं कृत्वा। चन्द्रबिम्बम् = चन्द्रमण्डलम्। तेन = दूतेन। क्षम्यताम् = क्षमा क्रियताम्। वारान्तरम्—पुनरपि। विधास्यते—करिष्यते।

इसलिए मैं उनकी आज्ञा से कह रहा हूँ। सुनो—वह जो तुमने चन्द्रसरोवर के रक्षक खरगोशों को निकाल दिया है वह बड़ा ही अनुचित किया है। क्योंकि वे खरगोश बहुत दिनों से मेरे द्वारा रक्षित हैं इसीलिए मैं शशाङ्क (खरगोश है जिसकी गोद में) नाम से प्रसिद्ध हूँ। दूत के ऐसा कहने पर यूथपति ने भयभीत होकर कहा—हे दूत! मैंने यह काम अनजाने ही किया है। फिर

वहाँ नही जाऊँगा।' दूत ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो इस तालाब में क्रोध से काँपते हुए भगवान् चन्द्रदेव को प्रमाण करके और प्रसन्न करके चले जाओ।'

तब दूत ने गजपति को रात मे लेजाकर जल म चद्रमा की छाया दिखाई और उसे प्रणाम कराया। उसने कहा—'देव, अनजान मे ही इन्होने यह अपराध किया है। इसलिए क्षमा करें। अब आगे ऐसा नही करेंगे।' ऐसा कहकर उसे भेज दिया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'बडो के बहाने से सिद्धि हो जाती है' इत्यादि।

ततो मयोक्तम्-'स एवाऽस्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्—' इति। तदाह तैः पक्षिभिः-'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि'—इत्यभिधाय, 'राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीत'। ततो राज्ञः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम् देव! अवधीयताम्, एष दुष्टोऽस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति'।

राजाह—'कोऽयम्?, कुतः समायातः।' ते ऊचुः-'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः कर्पूरद्वीपादागतः।'

अथाह गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः-'कस्तत्र मुख्यो मन्त्रीति?'। मयोक्तम्-'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः।'

गृध्रो ब्रूते-'युज्यते। स्वदेशजोऽसौ'। यत.—

मया=बकेन। महाप्रताप=अमिततेजा। अतिसमर्थ=महाशक्त। त्रैलोक्यस्य=त्रिलोक्या। अपि प्रभुत्वम्=स्वामित्वम्। युज्यते=योग्यमस्ति। इत्यभिधाय=इत्युक्त्वा। राज्ञ पुर=नृपस्य समुखे। प्रदर्श्य=उपस्थित कृत्वा। अवधीयताम्=सावधानतया श्रूयताम्। देवपादान्=महाराजान्। अधिक्षिपति=निन्दति। समायात=समागत। तत्र=कर्पूरद्वीपे। सर्वशास्त्रपारग=सर्वशास्त्रकुशल। स्वदेशज=स्वदेशोत्पन्न।

तब मैंने कहा—'वह हमारे स्वामी राजहंस बडे प्रतापी और शक्तिशाली हैं। उनके लिए तीनों लोको का प्रभुत्व उचित है फिर पक्षियो के राजा बनने की तो बात ही क्या!' तब उन पक्षियो ने मुझसे कहा कि 'तुम हमारे राज्य मे क्यों घूम रहे हो?' ऐसा कहकर वे मुझे पकडकर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए। उन्होंने मुझे राजा के सामने उपस्थित किया और उन्हे प्रणाम करके कहा—राजन्, सावधानी से सुनिए हमारे ही देश मे विचरण करता हुआ यह बगुला आप की निन्दा करता है।'

राजा ने कहा—'यह कौन है और कहाँ से आया है!' उन्होंने कहा—'यह हिरण्यगर्भ नाम राजहंस का सेवक है और कर्पूर द्वीप से आया है।'

तब मंत्री गृध्र ने मुझसे पूछा—'वहाँ मुख्य मंत्री कौन है ?' मैंने कहा—'समी शास्त्रों में कुशल सर्वज्ञ नाम का चकवा है।

गृध्र ने कहा बिल्कुल ठीक। वह राजपूत है देश में ही पैदा हुआ है। क्योंकि—

स्वदेशजं, कुलाचारविशुद्धमुपधाशुचिम्।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥
अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं, विपश्चितम्।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥ १८ ॥

अन्वयः—नृपः स्वदेशजम् कुलाचारविशुद्धम् उपधाशुचिम्, मन्त्रज्ञम् अव्यसनिनम् व्यभिचारविवर्जितम् अधीतव्यवहारार्थम् मौलम् ख्यातम् विपश्चितम्, अर्थस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विदध्यात् ॥ १७–१८ ॥

स्वदेशजम्—स्वदेशोत्पन्नम्। कुलाचारविशुद्धम् = कुलाचारेण—कुलव्यवहारेण विशुद्धम्, उत्तमकुलोत्पन्नम् इत्यर्थः। उपधाशुचिम् = धर्मपरीक्षासु पवित्रम् 'कोपादिप्रसङ्गेषु अनुल्लङ्घितस्वधर्माणम्' इत्यर्थः। मन्त्रज्ञम्—मन्त्रणातत्त्ववेत्तारम्। अव्यसनिनम्—मद्यपानादिव्यसनरहितम्। व्यभिचारविवर्जितम् = परदारादिविषये अनभिलाषुकम्। अधीतव्यवहारार्थम्—अर्थशास्त्रोक्तव्यवहारेषु च निष्णातम्। मौलम्—वंशपरम्परागतम्। ख्यातम् = स्वगुणैः लोकेषु प्रसिद्धम्। विपश्चितम् = पण्डितम्। अर्थस्योत्पादकम् = वित्तार्जकम्। विदध्यात्—नियुक्तं कुर्यात् ॥ १७–१८ ॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले कुलीन आचरणों से पवित्र धार्मिक परीक्षणों में उत्तीर्ण राजनीति के ज्ञाता किसी भी प्रकार के व्यसन (मद्यपानादि) से रहित व्यभिचार से हीन अर्थात् सदाचारी व्यवहारकुशल कुलक्रमागत प्रसिद्ध विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को ही मंत्रीपद पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८ ॥

अत्रान्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव तत्रापि देवपादानामेवाधिपत्यम्। ततो राज्ञाप्युक्तम्—'एवमेव। यतः—

अत्रान्तरे = अस्मिन्नेव समये। लघुद्वीपा—क्षुद्रद्वीपा। जम्बूद्वीपान्तर्गता = जम्बूद्वीपस्य मध्ये स्थिता। तत्रापि = लघुद्वीपेऽपि। देवपादानाम्—भवताम्। आधिपत्यम् = स्वामित्वम्।

इसी बीच शुक ने कहा—'राजन् कर्पूर द्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वहाँ भी आप का ही स्वामित्व है। तब राजा ने कहा—हाँ ऐसा ही है। क्योंकि—

'राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा, धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १९ ॥

अन्वयः—राजा, मत्त , शिशु , च एव प्रमदा, धनगर्वित , अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा=नृप । मत्त =उन्मादग्रस्त । शिशु =बालक । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । धनगर्वित =धनावलेपी । अप्राप्यम् अपि=अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्य सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णय. ?' । मयोक्तम्—'सग्राम एव ।'

राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूत. कार्यः'—

वचनमात्रेणैव=कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । सग्राम =युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्ध कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तब मैंने कहा— यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।' सुग्गे ने कहा–'तो इसका निर्णय कैसे हो ?' मैंने कहा–'युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।'

राजा ने हँसकर कहा–'तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।' तब मैंने कहा—'आप अपना दूत भी भेज दें ।' राजा ने कहा 'दूत बनकर कौन जाएगा ?' क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष', प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ २० ॥

अन्वयः—दूत , भक्त , गुणी, शुचि , दक्ष , प्रगल्भ , अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण , परमर्मज्ञ , प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त =स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी=सर्वगुणोपेत । शुचि =व्यवहार-शुद्ध । दक्ष =विचक्षण । प्रगल्भ =वाक्पटु । अव्यसनी=व्यसनरहित । क्षमी=

समानशील परमर्मज्ञ—अन्यस्य रहस्यविज्ञ । प्रतिमानवान् = प्रतिभाशाली । दूत—सन्देशहर । स्यात्—भवेत् ॥ २ ॥

स्वामी के प्रति भक्तिमान्, गुणवान्, पवित्र चतुर निडर व्यसनरहित, समाशील तथा दूसरों के मर्म को समझने में बुद्धिमान पटु एवं ब्राह्मण (त्यागी तथा निर्लोभी) व्यक्ति को ही दूत बनाना चाहिए ॥ २ ॥

गृध्रो वदति—सन्त्येव दूता बहवः, किन्तु ब्राह्मण एव कर्त्तव्यः। यतः—

गृध्र ने कहा—'यों तो दूत बहुत से हैं किन्तु ब्राह्मण को ही दूत बनाना चाहिये । क्योंकि—

'प्रसाद कुरुते पत्युः, सम्पत्ति नाभिवाञ्छति ।
कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसङ्गमात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—(ब्राह्मणः) पत्युः प्रसादम् कुरुते (तस्य) सम्पत्तिम् न अभिवाञ्छति (यथा) कालकूटस्य कालिमा ईश्वरसङ्गमात् न अपैति ॥ २१ ॥

पत्युः—स्वामिनः राज्ञश्च । प्रसादम् = प्रसन्नताम् । सम्पत्तिम् = ऐश्वर्यम् । न अभिवाञ्छति = अभिलषति । कालकूटस्य कालिमा = विषस्य कालुष्यम् । ईश्वर सङ्गमात्—शम्भुकण्ठसंसर्गात् । न अपैति—न अपगच्छति । ब्राह्मणः स्वनिर्लोभत्वम् कदापि न जहाति यत स्वेन स्वभावेन व्यवहरति इत्यर्थः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण स्वामी को प्रसन्न रखता है और किसी भी प्रकार की सम्पत्ति की अभिलाषा नहीं रखता (वि स्वार्थ भाव से स्वामी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है ।) शंकर का सहवास पाकर भी विष की कालिमा दूर नहीं होती । अर्थात् ब्राह्मण सम्पत्ति के बीच में रहकर भी अपनी निर्लोभी प्रकृति का परित्याग नहीं करता ॥ २१ ॥

राजाह—'ततः शुक एव प्रयातु । शुक ! त्वमेवानेन सह तत्र गत्वास्मदभिलषितं ब्रूहि । शुको ब्रूते—'यथाज्ञापयति देवः। किन्त्वयं दुर्जनो बकः तदनेन सह न गच्छामि' । तथा चोक्तम्—

शुक एव—शिवु ब्राह्मण शुक एव । प्रयातु—गच्छतु । अनेन सह—अनेन सार्धम् । अभिलषितम्—अभीष्टम् । दुर्जन = दुष्टस्वभावः ।

राजा ने कहा—'तो यह तुम्हीं ही दूत बनकर जायें । तुम्हें इसके साथ जाकर (राजहंस से) हमारी इच्छा कह सुनाओ । शुक ने कहा—'स्वामी की जैसी आज्ञा । किन्तु यह बगुला बड़ा दुष्ट है । इसलिए इसके साथ नहीं जाऊँगा । जैसा कि कहा भी गया है—

'खल. करोति दुर्वृत्तं, नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोहरत्सीतां, बन्धनं स्यान्महोदधेः' ॥ २२ ॥

अन्वयः—खल दुर्वृत्तम् करोति (किन्तु तत) साधुषु नूनम् फलति । (यथा) दशानन सीताम् अहरत् (किन्तु) महोदधे बन्धनम् स्यात् ॥ २२ ॥

खल =दुर्जन । दुर्वृत्तम्=दुश्चरित्रम् । करोति=आचरति । साधुषु= सद्वृत्तेषु । नूनम्=निश्चयेन । फलति=फलदायक भवति । दुष्टस्य दुराचारेण सज्जनोपि प्रभावितो भवति इत्यथ । दशानन =रावण । सीताम्=जानकीम् । अहरत्=अपहृतवान् । महोदधे = सागरस्य । रावणस्य दुष्कृत्येन सागर अमर्यादितोऽभूत् इत्यर्थं ॥ २२ ॥

दुष्टता तो दुष्ट करता है किन्तु उसका फल सज्जन को भोगना पडता है । सीता का हरण रावण ने किया था किन्तु बाँधा गया वेचारा समुद्र ॥ २२ ॥

अपरञ्च—'न स्थातव्य न गन्तव्य दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः' ॥ २३ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' शुकः कथयति—

अन्वयः—दुर्जनेन समम् क्वचित् न स्थातव्यम् न गन्तव्यम्, काकससर्गात् तिष्ठन् हस गच्छन् च वर्तक हत ॥ २३ ॥

दुजनेन=दुष्टेन । समम्=सार्द्धम् । क्वचित्=कदापि । न स्थातव्यम्=न वस्तव्यम् । न गन्तव्यम् = न गमनीयम् । काकससर्गात् = काकेन सह संगमात् । तिष्ठन्=वसन् । वर्तक (वत्तक) पक्षिविशेष । हत =व्यापादित ॥ २३ ॥

और भी—'दुष्ट के साथ न तो रहना चाहिए और न तो कहीं जाना ही चाहिए । कौवे के साथ रहने से हस और साथ जाने से वत्तक मारा गया' ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे हुआ ।' सुग्गे ने कहा—

कथा ४

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः । तत्र हंस काकौ निवसतः । कदाचित् ग्रीष्मसमये परिश्रान्त कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुष्काण्डं सन्निधाय सुप्त. । तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद् वृक्षच्छायापगता । ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य, तद्वृक्षस्थितेन पुण्यशीलेन शुचिना [illegible]सेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे

छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना पथिभ्रमणपरिश्रान्तेन पान्थेन मुखव्यादानं कृतम्।

अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते, तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'न स्थातव्य'मिति ॥ ॥

'देव ! वर्तककथामपि कथयामि। श्रूयताम्—

उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे = उज्जयिनीदूरस्थमार्गे। प्लक्षतरुः = पर्कटीवृक्षः। तत्र = तस्मिन्वृक्षे। कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले। ग्रीष्मसमये = ग्रीष्मर्तौ। परिश्रान्तः = श्रान्तः (थका हुआ) धनुःकाण्डम् = धनुर्बाणम्। संनिधाय = निकटस्थं कृत्वा। सुप्तः = सुप्तवान्। क्षणान्तरे = मुहूर्तान्तरे। तन्मुखात् = पथिकस्य आननात्। अपगता = दूरीभूता। सूर्यतेजसा = रव्यातपेन। व्याप्तम् = परिपूर्णम्। पुण्यशीलेन = पुण्यस्वभावेन। सुजनेन = पवित्राचरणेन। कृपया = दयया। पक्षौ प्रसार्य = पक्षप्रसारणं विधाय। तन्मुखे = पथिकानने। निर्भरनिद्रासुखिना (निर्भरा निर्भया वा निद्रा तस्याम् सुखी च यः तेन) = निःशङ्कनिद्रा सुख अनुभवता। तेन = पान्थेन। मुखव्यादानम् = मुखविवरणम्। परसुखमसहिष्णुः = अन्यानन्दसहने अशक्तः। स्वभावदौर्जन्येन = प्रकृतिदुष्टत्वेन। पुरीषोत्सर्गम् = विष्ठात्यागम्। पलायितः = अपक्रमणम् कृतवान्। उत्थाय = बिस्तर त्यक्त्वा। ऊर्ध्वं = वृक्षोपरि। निरीक्षते = पश्यति। अवलोकितः = दृष्टः। काण्डेन = बाणेन। हतः = ताडितः। व्यापादितः = मारितः।

उज्जयिनी जाने वाले मार्ग में एक पाकड़ का वृक्ष है। वहाँ हंस और कौआ एक साथ रहते थे। एक बार गर्मी के मौसम में कोई थका हुआ राही उस वृक्ष के नीचे धनुष बाण रखकर सो गया। कुछ ही देर में उसके मुख के ऊपर से पेड़ की छाया हट गयी। उसके मुख पर पड़ती हुई सूर्य की धूप को देखकर उसी वृक्ष पर बैठे हुए हंस ने दया करके अपने पंखों को फैलाकर फिर उसके मुँह पर छाया कर दी। नींद में सुख से निश्चिन्त सोए हुए राही ने अपना मुँह खोल दिया। दूसरे के सुख को न सहन कर सकने वाले तथा स्वभाव ही से दुष्ट कौवे ने उसके मुख में बीट कर दिया और वहाँ से उड़ भी गया। जब उस राही ने उठकर ऊपर देखा तो उसने हंस को देखा और उसे धनुष के बाणों से मार डाला। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि 'नहीं रहना चाहिए' इत्यादि। राजन्, बटेर की कहानी सुना रहा हूँ। सुनिए—

कथा ५

एकत्र वृक्षे काक-वर्त्तकौ सुखं निवसतः। एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरङ्गताः। ततः काकेन सह वर्त्तकश्चलितः। अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकावस्थितदधिभाण्डाद्वारं वारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते, तावत्तेन काकवर्त्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन दृष्टः काकः पलायितः। वर्त्तकः स्वभावनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादित.। अतोऽहं ब्रवीमि–'न गन्तव्यम्' इत्यादि ॥ ॐ ॥

ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि? मां प्रति यथा श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्'। किन्तु–

एकदा=एकस्मिन् काले। यात्राप्रसङ्गेन=दर्शनप्रसङ्गेन। पक्षिण =खगा । समुद्रतीरम् = सागरस्य तटम्। गता = प्राप्ता । गोपालस्य=गोपस्य। मस्तकावस्थितदधिभाण्डात्=(मस्तके अवस्थितम् यत् दधिभाण्डम् तस्मात्) शिर स्थितदधिपात्रात्। असौ=गोप । स्वभावनिरपराध = प्रकृत्या दोषरहित । मन्दगति. (मन्दा गतिर्यस्य स)=मन्द मन्दम् सचरणशील । श्रीमद्देव =अस्मत्प्रभु ।

एक वृक्ष पर कौवा और वत्तक एक साथ सुख से रहते थे। एक बार घूमते घामते हुए सारे पक्षी समुद्र के किनारे भगवान् गरुड का दर्शन करने चले। उस समय कौवे के साथ वत्तक भी चला। कौवा रास्ते में जाते हुए ग्वाले के दही के वर्तन से बार-बार दही खा लिया करता था। जब उसने दही का वर्त्तन जमीन पर रखकर ऊपर देखा तब उसे कौवा और वत्तक दोनों दिखाई पडे। उसने दोनों को दौडाया, लेकिन कौवा तो भाग गया और स्वभाव से ही भोला भाला तथा धीरे-धीरे चलने वाला वत्तक पकडा गया और मार डाला गया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'न चलना चाहिए' इत्यादि। तब मैंने कहा—'भाई सुग्गे, ऐसा क्यों कह रहे हो। मेरे लिए जैसे महाराज हैं वैसे ही तुम भी हो।' सुग्गे ने कहा—'ऐसा हो सकता है' किन्तु—

'दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि, प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति हि'॥ २४॥

अन्वयः—संमतानि प्रियाणि अपि दुर्जनै उच्यमानानि अकालकुसमानि इव हि भय संजनयन्ति ॥ २४ ॥

पवागत.। पश्चात्तेन जारेण समं तस्मिन् पर्यङ्के निर्भरं क्रीडन्ती, पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनं विज्ञाय, मनसि सा विषण्णाभवत्।

ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ?। विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम् ?।' अथ तयोक्तम्—'अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मम प्राणेश्वरो—येन ममाकौमारं सख्यं, सोद्य ग्रामान्तरं गतः। तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवत्प्रतिभाति। किं भावि ? तत्र परस्थाने किं खादितवान् ?। कथं वा प्रसुप्तः' ?—इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते।

जारो ब्रूते—'तव किमेवंविधः स्नेहभूमी रथकारः ?।'

बन्धक्यवदत्—'रे बर्बर ! किं वदसि ?। शृणु—

बन्धकीं=कुलटाम्। जारेण समम्=जारेण सह। स्वचक्षुषा=स्वनेत्रेण। एकस्थाने=एकस्मिन् स्थले, एकान्ते इत्यर्थ। कियद्दूरम्=किञ्चित् मार्गम्। पर्यङ्कतले = शय्यातले। निभृतम् = प्रच्छन्नम्। ग्रामान्तरम्=अन्यग्रामम्। उपजातविश्वास =विश्वस्त सन्। आगत =रथकारस्य गृहे आगतवान्। क्रीडन्ती = विनोद कुर्वन्ती। पर्यङ्कतलस्थितस्य=शय्यातले उपविष्टस्य। भर्तु =स्वस्वामिन। अङ्गस्पर्शात्=अंगसगात्। मायाविनम्=कपटकारिणम्। विज्ञाय=ज्ञात्वा। विषण्णा=नितान्तम् उदासीना। निर्भरम् = भृशम्, एकचित्तेन इत्यर्थ। विस्मिता इव = चकिता इव। अनभिज्ञ =अज्ञ। आकौमारम् सख्यम् = कौमार्यावस्थाया आरभ्य अद्यावधि प्रीति। सकलजनपूर्ण = मनुष्यसकुल अपि। अरण्यवत् = काननवत् निर्जन। प्रतिभाति=ज्ञायते। किं भावि=किं भविष्यति। परस्थाने=अन्यस्थाने। स्नेहभूमि =स्नेहस्थानम्, प्रिय इत्यय।

यौवनश्रीनगर में मंदमति नाम का एक बढई रहता था, वह अपनी पत्नी को दुराचारिणी तो समझता था किन्तु उसने अपनी आँखो से उसे जार के साथ कभी नही देखा था। एक दिन वह–'मैं दूसरे गाँव मे जा रहा हूँ' ऐसा कहकर चला गया किन्तु दूर जाकर वह फिर लौट आया और अपने घर ही में चारपाई के नीचे चुपचाप बैठ गया। 'बढ़ई तो दूसरे गाँव में चला गया है'–इस विचार से निश्चिन्त होकर वह जार शाम ही को आ गया। इसके बाद चारपाई पर उसके साथ उपभोग करते समय बढ़ई की स्त्री का कोई अग चारपाई के नीचे पडे हुए पति के शरीर से छूता था। उसने छल करने वाले स्वामी को पहिचान लिया और वह उदास हो गई। तब जार ने कहा—'आज तुम निश्चिन्त होकर

मेरे साथ क्यों नहीं रमण कर रही हो। आज तुम मुझे कुछ चकित सी दिखाई पड़ रही हो। तब उसने कहा— क्या तुम नहीं जानते हो कि कुमारावस्था से प्रिय मेरे स्वामी आज दूसरे गाँव गए हैं। सभी लोगों से भरा हुआ यह गाँव आज मुझे जंगल जैसा लग रहा है। दूसरी जगह पता नहीं क्या होवे क्या खाये होवे कैसे सोए होवे। यह सोचकर मेरा हृदय फट रहा है। जार ने कहा—'क्या यह बढ़ई तुम्हें इतना प्रिय है। तब कुलटाने कहा—'रे बर्बर क्या कह रहा है? सुनो—

'परुषाण्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभाजनम्' ॥ २६ ॥

अन्वयः—या (नारी परुषा) परुषाणि अपि प्रोक्ता क्रोधचक्षुषा दृष्टा भर्तुः (अग्रे) प्रसन्नमुखी (दृश्यते) सा (नारी) धर्मभाजनम् (भवति) ॥ २६ ॥

परुषाणि—कठोराणि वचनानि। क्रोधचक्षुषा—क्रोधपूर्णनेत्रेण। भर्तुः—स्वामिनः अग्रे। प्रसन्नमुखी—प्रसन्नवदना। धर्मभाजनम्—धर्मभागिनी ॥ २६ ॥

पति द्वारा कठोर बातें कहने पर और क्रोध भरी आँखोंसे देखनेपर भी जो स्त्री प्रसन्नमुख रहती है वही धर्मभागिनी होती है ॥ २६ ॥

अपरञ्च—'नगरस्थो, वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुचिः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता, तासां लोका महोदयाः' ॥२७॥

अन्वयः—नगरस्थः वनस्थः वा पापः वा यदि वा शुचिः भर्ता यासाम् स्त्रीणाम् प्रियः तासाम् महोदयाः लोकाः (भवन्ति) ॥ २ ॥

नगरस्थः—नगरे स्थितः। वनस्थः—वनमें स्थित। पापः—पापाचारी। शुचिः—पवित्र। भर्ता—पति। प्रियः—प्रियतर। महोदयाः—सम्पूर्णसुखदाः। लोकाः—स्वर्गादि ॥ २७ ॥

और भी—चाहे नगरी में रहने वाला हो या जंगल में चाहे पापी हो या पुण्यात्मा फिर भी जो स्त्री अपने पति से प्रेम करती है वह उत्तम लोकों (स्वर्गादि) को प्राप्त करती है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—'भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना।
एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभते' ॥ २८ ॥

अन्वयः—भूषणैः विना (अपि) भर्ता हि नार्याः परमम् भूषणम् (अस्ति) तेन विरहिता (भूषणैः) शोभनापि एषा न शोभते ॥ २८ ॥

भूषणं विना=अलङ्कारैः रहिता। भर्त्ता=पतिः। नार्याः=ललनायाः। परमम् भूषणम्=सर्वोत्कृष्टालङ्कारः। तेन विरहिता=भर्त्रा हीना। शोभना=सुशोभिता। एषा=नारी। न शोभते=शोभां न धत्ते॥ २८॥

और भी—चाँदी सोने के गहनों से रहित होने पर भी पति ही स्त्री का सबसे श्रेष्ठ आभूषण होता है क्योंकि गहनों से लदी होने पर भी पतिहीना स्त्री सुशोभित नहीं होती है॥ २८॥

त्वञ्च जारः पापमतिः, मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित् सेव्यसे, कदाचिन्न सेव्यसे च। स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं, देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो वा दातुमीश्वरः। किं बहुना? 'तस्मिञ्जीवति जीवामि, तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामी'ति प्रतिज्ञा वर्त्तते। यतः—

जारः=परदारोपभोगी। पापमतिः=दुष्टबुद्धिः। मनोलौल्यात्=चित्तचाञ्चल्यात्। पुष्पताम्बूलसदृशः=कुसुमनागवल्लीपत्रसदृशः। सेव्यसे=उपभुज्यसे। ईश्वरः=प्रभुः समर्थश्च। तस्मिन्=पत्यौ। जीवति=प्राणधारणं कुर्वति सति। अनुमरणम्=तस्यानुगमनम्।

तुम जार और पापी हो। मन की चंचलता से फूल-पान की तरह कभी स्त्री का भोग करते कभी नहीं करते हो। वह मेरा पति मुझे बेच भी सकता है तथा देवताओं और ब्राह्मणों को दे भी सकता है। अधिक क्या कहें। यह मेरी प्रतिज्ञा है कि 'उसके जीते जी जीती रहूँगी और मरने पर सती हो जाऊँगी।' क्योंकि—

'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं योऽनुगच्छति'॥ २९॥

अन्वयः—या (नारी) भर्त्तारम् अनुगच्छति सा, मानवे यानि तिस्रः कोट्यः अर्धकोटी च लोमानि तावत् कालम् स्वर्गे वसेत्॥ २९॥

भर्त्तारम्=स्वामिनम्। अनुगच्छति=अनुसरति। मानवे=मनुष्यदेहे। तिस्रः कोट्यः अर्धकोटी च=(सार्धकोटित्रयमितानि) साढे तीन करोड। लोमानि=रोमाणि। तावत्कालम्=तावत्कालपर्यन्तम्, सार्धत्रिकोटिवर्षपर्यन्तम्॥ २९॥

जो स्त्री स्वामी के मरने पर सती हो जाती है वह मनुष्य शरीर में जो साढे तीन करोड रोएँ होते हैं उतने ही अर्थात् साढ़े तीन करोड वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है॥ २९॥

अन्यच्च—**'व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।**
तद्वद्भर्त्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते'॥ ३०॥

अन्वयः—यथा व्यालग्राही बिलात् व्यालम् बलात् उद्धरते तद्वत् (नारी) भर्तारम् । (नरकात्) आदाय स्वर्गलोके महीयते ॥ २० ॥

व्यालग्राही=सर्पग्राही (सँपेरा) । व्यालम्=सर्पम् । बलात्=हठात् । तद्वत्=तेन प्रकारेणैव । आदाय=नरकात् उद्धृत्य । महीयते=पूज्यते ॥ २० ॥

और भी—जैसे सँपेरा बलपूर्वक बिल से साँप को खींचकर अपने साथ ले जाता है उसी प्रकार सती स्त्री भी अपने स्वामी को नरक से खींचकर अपने साथ स्वर्ग ले जाती है ॥ २० ॥

अपरञ्च—'चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं,
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।
कृत्वापि पापं शतलक्षमप्यसौ
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—या हि प्रिया चितौ विचेतनम् पतिम् परिष्वज्य आत्मनः देहम् मुञ्चति असौ शतलक्षम् पापम् कृत्वापि पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

या हि प्रिया=या स्त्री । चितौ=चितायाम् । विचेतनम्=मृतम् । पतिम्=स्वामिनम् । परिष्वज्य=आलिङ्गनं कृत्वा । आत्मनः=स्वस्य । देहम्=शरीरम् । मुञ्चति=त्यजति । असौ=सती नारी । पतिं गृहीत्वा=भर्तारमादाय । सुरलोकम्=स्वर्गम् । आप्नुयात्=प्राप्नुयात् ॥ २१ ॥

और भी—

इसके अतिरिक्त जो चिता पर मरे हुए पति को छाती से लगाकर जो स्त्री अपने शरीर का परित्याग कर देती है वह सैकड़ों पाप करने पर भी पति को लेकर स्वर्ग चली जाती है ॥ २१ ॥

अतः—'यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितञ्च न लङ्घयेत्' ॥ २२ ॥

अन्वयः—पिता वा पितुः अनुमते भ्राता यस्मै एनाम् दद्यात् (नारी) जीवन्तम् तं शुश्रूषेत संस्थितञ्च न लङ्घयेत् ॥ २२ ॥

पितुः अनुमते=पितुः अनुमोदिते सति । यस्मै=पुरुषाय । एनाम्=कन्याम् । जीवन्तम्=सजीवम् । तम्=पुरुषम् पतिमित्यर्थः । शुश्रूषेत=सेवेत । संस्थितम्=मृतम् च । न लङ्घयेत्=न अतिचरेत् । तमनुस्मरेत् इत्यर्थः ॥ २२ ॥

क्योंकि—

'स्त्री को चाहिए कि उसका पिता या पिता की राय से भाई भी उसे जिस पुरुष को समर्पित कर दे, उसकी वह जीवन भर सेवा करे और उसके मरने पर भी उसका साथ न छोड़े' ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमतिः स रथकारः—'धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी, स्वामिवत्सला च भार्ये'ति मनसि निधाय, तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा, सानन्दं ननर्त। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे'—इत्यादि ॥

अतोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्त्तव्यमनुसन्धीयताम्।

चक्रवाको विहस्याह—'देव! बकेन तावद् देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किन्तु देव! स्वभाव एष मूर्खाणाम्'।

मन्दमति=कुण्ठितबुद्धि। धन्योऽहम् = प्रशस्योऽहम्। प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी। स्वामिवत्सला=पतिप्रेमकारिणी। निधाय = सस्थाप्य, विचार्येत्यर्थ। स्त्रीपुरुषसहिताम् = निजपत्नीजारसयुक्ताम्। मूर्ध्नि कृत्वा = शिरसि आदाय। सानन्दम्=सहर्षम्। ननर्त=नृत्य कृतवान्। तत = तदनन्तरम्। तेन राज्ञा= मयूरनृपेण। यथाव्यवहारम्=यथायोग्यम्। सपूज्य = सम्मान्य। प्रस्थापित = प्राहिणोत्। परिज्ञाय=विमृश्य। यथाकर्तव्यम्=यथाकरणीयम्। अनुसधीयताम्= विचार्यताम्। देशान्तरमपि गत्वा=अन्यदेशमपि प्राप्य। राजकार्यमनुष्ठितम्=राज कार्यम् कृतम्। अत्र व्यङ्ग्योक्ति स्वदोर्जन्येन भवान् विग्रहे निपातित बकेनेत्यर्थ।

यह सब सुनकर उस बढई ने कहा—'मैं धन्य हूँ। जिससे इतनी मधुरभाषिणी और पतिप्रिया स्त्री प्राप्त हुई है।' वह मन मे इस प्रकार सोचते हुए स्त्री पुरुष सहित चारपाई को सिर पर उठाकर नाचने लगा। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'प्रत्यक्ष दोष करने पर भी' इत्यादि।

इसके बाद राजा चित्रवर्ण ने मेरा यथोचित सम्मान करके मुझे बिदा किया। सुग्गा भी मेरे पीछे आ रहा है। यह सब जानकर अब क्या करना चाहिए, इस पर आप विचार करें।

चकवे ने हँसकर कहा—'देव! इस बगुले ने विदेश में जाकर भी यथाशक्ति राज्यकार्य ही किया है। (अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध में फँसा दिया)। किन्तु हे राजन्, मूर्खों का तो स्वभाव ही यही है। क्योंकि—

यतः—'सर्वं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य संमतम्।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्॥१३॥

अन्वयः—सर्वं दद्यात् (किन्तु) न विवदेत् इति विज्ञस्य संमतम्। हेतुं विनापि द्वन्द्वम् एतत् मूर्खस्य लक्षणम् (अस्ति)॥१३॥

न विवदेत्=विवादं न कुर्यात्। विज्ञस्य=विदुषः। संमतम्=सिद्धान्तः अस्ति। हेतुं विनापि=कारणम् विनापि। द्वन्द्वम्=कलहः॥१३॥

लोगों का यह सिद्धान्त है कि सबको देकर भी झगड़ा नहीं करना चाहिए और अकारण ही संघर्ष करना तो मूर्खों का काम है॥१३॥

राजाह—अलमनेनातीतोपालम्भनेन। प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्। चक्रवाको ब्रूते—देव! विजने ब्रवीमि। यतः—

अतीतोपालम्भनेन=अतीतस्य=व्यतीतस्य उपालम्भेन=निन्दया। प्रस्तुतम्=उपस्थितम्। विजने=एकान्ते। ब्रवीमि=कथयामि।

राजा ने कहा—बीती हुई बात पर किसी को उलाहना देना ठीक नहीं। अब जो सामने है उस पर विचार करो। चक्रवाक ने कहा—देव मैं एकान्त में कहूँगा।' क्योंकि—

'वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः।
अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्'॥१४॥

अन्वयः—धीराः वर्णाकारप्रतिध्वानैः नेत्रवक्त्रविकारतः मनः अपि ऊहन्ति तस्मात् रहसि मन्त्रयेत्॥१४॥

वर्णाकारप्रतिध्वानैः=वर्णैः=रङ्गैः, आकारैः=आकृतिभिः। प्रतिध्वानैः=शब्दैः। नेत्रवक्त्रविकारतः=नयनमुखभङ्गीभेदेन। धीराः=सूक्ष्मबुद्धयः। मनः=मनोगतम् भावम्। ऊहन्ति=तर्कयन्ति। रहसि=एकान्ते। मन्त्रयेत्=मन्त्रणाम् कुर्यात्॥१४॥

रूप रंग आकृति शब्द और आँख-मुँह का बनना-बिगड़ना देखकर गम्भीर व्यक्ति मन की थाह पा जाते हैं अतः विचार-विमर्श एकान्त में करना चाहिए॥

ततो राजा मन्त्री च तत्र स्थितौ अन्येऽन्यत्र गताः। चक्रवाको ब्रूते—देव! अहमेवं जानामि—'कस्याप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्। यतः—

अन्ये=अपरजना । एवं जानामि=एव तर्कयामि । अस्मान्नियोगिन = अस्मद्राजकमचारिण । प्रेरणया=उत्तेजनया । इदम् = विग्रह । अनुष्ठितम्=कृतम् ।

राजा और मन्त्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए। चकवे ने कहा—'राजन्, मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य कर्मचारी के उकसाने से ही बगुले ने ऐसा किया है।' क्योंकि—

'वैद्यानामातुरः श्रेयान्, व्यसनी यो नियोगिनाम् ।
विदुषां जीवनं मूर्खः, सद्वर्णो जीवनं सताम्' ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वैद्यानाम् आतुर नियोगिनाम् य व्यसनी (स नृप) श्रेयान् । मूर्ख विदुषाम् जीवनम् (अस्ति) सद्वर्ण सताम् जीवनम् (अस्ति) ॥ ३५ ॥

आतुर = रोगी । नियोगिनाम् = राजपुरुषाणाम् । य = नृप । व्यसनी= विपत्तिग्रस्त , मद्यमृगयादिव्यसनेषु आसक्तश्च । श्रेयान् = श्रेष्ठ , जीविकादानेन सुखद इत्यर्थ । विदुषाम्=विद्यावताम् । जीवनम्=वृत्तिप्रदानेन जीवनदायक । सताम्=सज्जनानाम् । सद्वर्ण =ब्राह्मण-क्षत्रियादिवर्ण ॥ ३५ ॥

वैद्यों के लिए रोगी, कर्मचारियों के लिए स्वामी का आपत्तियो मे फँसना, विद्वानों के लिए मूर्ख, सज्जनो के लिए कुलीन ही उनका जीवन होता है ॥३५॥

राजाब्रवीत्—'भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति यत्कर्त्तव्यं तन्निरूप्यताम् ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! प्रणिधिस्तावत्तत्र प्रहीयताम् । ततस्तदनुष्ठानं, बलाबलं च जानीमः' । तथाहि—

अत्र=अस्मिन् उपस्थिते विषये । कारणम्=हेतु , निरूपणीयम् = विचारणीयम् । सम्प्रति=अधुना । यत्कर्त्तव्यम्=यदाचरणीयम् । निरूप्यताम् = उच्यताम् । प्रणिधि = गुप्तचर । प्रहीयताम्=प्रेष्यताम् । तत् = तस्य शत्रो । अनुष्ठानम्= अभिमतम् कर्तव्यम् वा ।

राजा ने कहा—'अच्छा, जो हो, किंतु कारण पर पीछे विचार करो। इस समय क्या करना चाहिए उसे निश्चय करो।' चकवे ने कहा— राजन् पहले गुप्तचर भेजिए। जिससे शत्रु की अभिलाषा और उसकी सबलता तथा निर्बलता को हम लोग जान लें।' जैसा कि—

'भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने ।
चारश्चक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः' ॥ ३६ ॥

अन्वय.—स्वपरराष्ट्राणाम् कार्याकार्यावलोकने (नृप) चारचक्षु (भवति) यस्य महीभर्तु (तत् चक्षु) नास्ति स अन्ध एव (भवति) ॥ ३६ ॥

स्वपरराष्ट्राणाम् = निजपरराज्यानाम्। कार्याकार्यावलोकने = कार्यस्य अनुचितकार्यस्य अवलोकनेऽवदर्शने। चारचक्षुः = चरनेत्र। महीभर्तुः = नृपस्य। अन्धः = नेत्रहीन। चाररहितो नृपः नेत्रहीन अन्धः इव बोधव्योऽन्धकः इत्यर्थः॥ १६॥

राजा अपने देश तथा अन्य देशों के अच्छे बुरे कार्यों का ज्ञान गुप्तचर रूपी आँख से ही प्राप्त करता है। अतः जिस राजा के पास गुप्तचर नहीं होता वह आँख होते हुए भी अंधा होता है॥ १६॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनासौ स्वयं तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्थापयति। तथा चोक्तम्—

द्वितीयम् = अन्यम् गुप्तचरम्। विश्वासपात्रम् = विश्वासयोग्यम्। यातु = गच्छतु। असौ = गुप्तचरः। तत्र = शत्रुराज्ये। अवस्थाय = स्थितिं कृत्वा। तत्रत्यमन्त्रकार्यम् = शत्रुनृपस्य मन्त्रणादीनि तेन निश्चितानि कार्याणि च। सुनिभृतम् = अतिगोप्येन। निश्चित्य = निश्चयं कृत्वा। निगद्य = कथयित्वा। प्रस्थापयति = प्रेषयति।

वह एक दूसरे विश्वासपात्र गुप्तचर को अपने साथ लेकर जाय। वह तो वहीं स्वयम् रहे और वहाँ के सभी कार्यों को छिपकर भली भाँति समझकर दूसरे सहायक को समझा कर यहाँ भेज दे। जैसा कि कहा भी है—

> 'तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना।
> तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत्॥ १७॥

अन्वयः—तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवसेत्॥ १७॥

तीर्थे = पुण्यस्थाने। आश्रमे = तपोवने। सुरस्थाने = देवालये। शास्त्रविज्ञान हेतुना = शास्त्रस्य कौशलविशिष्टज्ञानस्य व्याजं कृत्वा। तपस्विव्यञ्जनैः = मुनिवेषाधिकरणमपि। उपेतैः = युक्तैः। स्वचरैः = निजगुप्तचरैः। सह = सार्धम्। संवसेत् = निवासं कुर्यात्॥ १७॥

तीर्थ स्थान में किसी साधु के आश्रम में अथवा देवालय में तपस्वियों का वेष धारण करके शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के बहाने प्रधान गुप्तचर को अपने सहायक गुप्तचरों के साथ निवास करना चाहिए॥ १७॥

गूढचारश्च—यो जले स्थले च चरति। ततोऽसावेव बको

नियुज्यताम्। एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु। तद्गृह-लोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु। किन्तु एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्'।

गूढचार = गुप्तदूत । जले स्थले=सर्वत्र समानतया। चरति = गच्छति। नियुज्यताम् = चारकर्मणि नियुक्त क्रियताम् । द्वितीयत्वेन=सहायकरूपेण। प्रयातु=गच्छतु। तद्गृहलोका =तयो स्वजना । राजद्वारे=राजगृहे। तिष्ठन्तु=निवास कुर्वन्तु। एतत् अपि=चरप्रेषणमपि। सुगुप्तम्=सुनिभृतम्। अनुष्ठातव्यम्=कर्तव्यम्।

गुप्तचर वही हो सकता है जो जल और स्थल मे समान रूप से आ जा सके। इसलिए इसी बगुले को ही गुप्तचर नियुक्त करें। ऐसा ही एक दूसरा बगुला भी इसके साथ जाय और इसके घर के लोग राजदरवार मे आकर रहें किन्तु राजन्, यह सभी गुप्त रूप से होना चाहिए। क्योंकि—

यतः—'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्त्तया'।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३८ ॥

अन्वयः—षट्कर्ण तथा वार्त्तया प्राप्तश्च मन्त्र भिद्यते (अत) महीभृता आत्मना द्वितीयेन मन्त्र कार्य ॥ ३८ ॥

षट्कर्ण = त्रिभि जनै कृत । वार्त्तया प्राप्त = पुरुषान्तरेण सदिष्ट । मन्त्र =मन्त्रणा। भिद्यते=भेदमुपयाति। इति = इति हेतो । आत्मना = निजेन, द्वितीयेन येन सह मन्त्र कार्य तेन, द्वाभ्यामेवेति भाव । महीभृता=नृपेण ॥३८॥

छ कानो मे पडी हुई तथा सन्देश रूप से कहलाई गई मन्त्रणा प्रकट हो जाती है। अत राजा को चाहिए कि वह स्वय अपने निजी आदमी के साथ विचार विमर्श करे ॥ ३८ ॥

पश्य—'मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्' ॥ ३९ ॥

अन्वयः—मन्त्रभेदे (सति) पृथिवीपते ये दोषा भवन्ति ते समाधातुम् न शक्या इति नीतिविदाम् मतम् ॥ ३९ ॥

मन्त्रभेदे=मन्त्रस्य भेदमुपगते। पृथिवीपते=भूपते ये दोषा = विपत्त्यादय.। समाधातुम्=समाधानम् कर्तुम् न शक्या = न योग्या। नीतिविदाम् = नीतिज्ञ-पुरुषाणाम्। मतम्=विचार ॥ ३९ ॥

देखो—

गोष्ठियों का यह दृढ़ विचार है कि मंत्रणा के फूट जाने से जो दोष राजा में आ जाते हैं उनका समाधान किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता ॥ ३९ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः।' मन्त्री ब्रूते—'देव! संग्रामे विजयोऽपि प्राप्तः।

विमृश्य = विचार्य। उत्तमः = श्रेष्ठः गुप्तचरः। प्राप्तः = लब्धः पूर्वमेव निपुणः इत्यर्थः।

राजा ने विचार करके कहा कि— मुझे अच्छा गुप्तचर मिल गया है।' मंत्री ने कहा—'तो संग्राम में विजय भी प्राप्त होगी।

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव! जम्बूद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति।' राजा चक्रवाकमालोकते।

चक्रवाकेणोक्तम्— कृतावासे तावद् गत्वा तिष्ठतु, पश्चादानीय द्रष्टव्यः। 'यथाज्ञापयति देवः' इत्यभिधाय प्रतीहारः शुकं गृहीत्वा तमावासस्थानं गतः। राजाह—'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः।' चक्रवाको ब्रूते—'देव! तथापि प्रागेव विग्रहो न विधिः। यतः—

अत्रान्तरे=अस्मिन्नेव काले। प्रतीहारः = द्वारपालः। प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा। आवास = आवासं। [illegible] विचिन्त्य [illegible]। आनीय = [illegible]। विग्रहः = युद्धम्। उपस्थितः = [illegible]। प्रागेव=प्रथममेव न विधिः=उचितः।

इसी बीच द्वारपाल ने आकर राजा को प्रणाम किया और कहा—'राजन्! जम्बूद्वीप से आया हुआ सुग्गा द्वार पर खड़ा है।' राजा ने चकवे की ओर देखा।

चकवे ने कहा—'ले जाकर अतिथिशाला में ठहरा दो। फिर ले आकर दर्शन कराना।' 'जैसी श्रीमान् की आज्ञा' यह कहकर द्वारपाल उसे लेकर अतिथिशाला में चला गया। राजा ने कहा—'अब तो युद्ध आ ही गया।' चकवे ने कहा—'देव पहले ही युद्ध करना उचित नहीं है। क्योंकि—

स किंभृत्यः स किंमन्त्री य आदावेव भूपतिम्।
युद्धोद्योगं स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम्॥ ४० ॥

अन्वयः—यः आदौ एव भूपतिम् युद्धोद्योगम् स्वभूत्यागम् अविचारितम् निर्दिशति स किं भृत्यः स किं मन्त्री (कर्तव्यः) ॥ ४० ॥

य = भृत्य मन्त्री च । आदावेव = प्रथममेव, अन्योपाये विद्यमाने सति प्रथममेव इत्यर्थं । भूपतिम्=नृपतिम् । अविचारितम् = विचार विनैव । युद्धोद्योगम् = विग्रहाय प्रयत्नम् । स्वभृत्यागम् = स्वदेशात् पलायनम् । निर्दिशति= उपदिशति । किंभृत्यः=कुत्सित सेवक. । किमन्त्री=अयोग्योऽमात्य ॥ ४० ॥

विना सोचे समझे पहले ही राजा को लड़ाई करने अथवा देश त्याग की राय देने वाला मन्त्री दुष्ट मंत्री और सेवक दुष्ट सेवक होता है ॥ ४० ॥

अपरं च—'विजेतु प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः' ॥ ४१ ॥

अन्वयः—कदाचन युद्धेन अरीन् विजेतुम् न प्रयतेत । यस्मात् युद्धमानयो विजय अनित्य दृश्यते ॥ ४१ ॥

कदाचन=जातुचित् । युद्धेन = विग्रहेण । अरीन् = शत्रून् । विजेतुम्=विजय कर्तुम् । प्रयतेत=प्रयत्नम् कुर्यात् । यस्मात्=यत । युद्ध्यमानयो =युद्ध कुर्वाणयो । विजय =विजयलाभ । अनित्य =अनियत । दृश्यते=अवलोक्यते ॥ ४१ ॥

इसके अतिरिक्त—युद्ध द्वारा शत्रु को जीतने का प्रयत्न कभी नही करना चाहिए, क्योंकि दोनों लड़ने वाले की विजय अनिश्चित दिखाई देती है (जीतने वाला भी पीछे हार सकता है अत विजय अनिश्चित होती है) ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—'साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक्।
साधितु प्रयतेतारीन्, न युद्धेन कदाचन' ॥ ४२ ॥

अन्वयः—साम्ना दानेन भेदेन समस्तै अथवा पृथक् अरीन् साधयितुम् प्रयतेत, किन्तु युद्धेन कदाचन न ॥ ४२ ॥

साम्ना=सान्त्वेन । दानेन = धनादिप्रदानेन । भेदेन=शत्रुसहायकेषु भेदोत्पादनेन । एभि त्रिभि उपायै, समस्तै =सर्वोपायै । अथवा पृथक्= एकैकेनोपायेन । अरीन्=शत्रून् । साधयितुम् = वशीकर्तुम् । प्रयतेत = प्रयत्नम् कुर्यात् ॥ ४२ ॥

और भी—

शत्रु को युद्ध द्वारा नहीं बल्कि साम, दान, भेद—तीनो अथवा अलग अलग उपायो से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ ४२ ॥

अपरञ्च— सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अनासादितविग्रहः सर्वः एव जनः शूरः (भवति)। अदृष्टपरसामर्थ्यः हि कः सदर्पः न भवेत् ॥ ५३ ॥

अनासादितविग्रहः=अप्राप्तयुद्धः। सर्व एव जनः=सर्व एव लोकः। शूरः=वीरः। अदृष्टपरसामर्थ्यः=अनवलोकितशत्रुबलः। सदर्पः=सगर्वः ॥ ५३ ॥

जब तक युद्ध सिर पर नहीं आ जाता तब तक सभी अपने को बहादुर समझते हैं। दूसरे की शक्ति को बिना देखे कौन अभिमानी नहीं होता है ॥५३॥

किञ्च—'न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत्' ॥ ५४ ॥

अन्वयः—यथा प्राणिभिः दारुणा ग्रावा उत्थाप्यते तथा (तेन दारुणा विना) न (उत्थाप्यते एवमेव) अल्पोपायात् महासिद्धिः (भवेत्)। एतत् महत् मन्त्रफलम् (अस्ति) ॥ ५४ ॥

यथा=येन प्रकारेण बलावधानेनेत्यर्थः। प्राणिभिः=जनैः। दारुणा=काष्ठदण्डेन। ग्रावा=प्रस्तरः। तथा=तेन प्रकारेण। न उत्थापयितुं शक्यते। अल्पोपायात्=स्तोकोद्यमात्। महासिद्धिः=महाकार्यस्य सफलता। महत्=श्रेष्ठम्। मन्त्रफलम्=मन्त्रस्य परिणामः ॥ ५४ ॥

इसके अतिरिक्त और भी—

पत्थर की चट्टान लकड़ी द्वारा जितनी सरलता से उठाई जा सकती है उतनी अन्य किसी भी साधन से नहीं। इसलिए थोड़े प्रयत्न से बड़ी सफलता ही मन्त्रणा का महान फल है ॥ ५४ ॥

किन्तु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्। यतः—

विग्रहम्=युद्धम्। उपस्थितम्=सम्मुखागतम्। विलोक्य=दृष्ट्वा। व्यवह्रियताम्=उपायः क्रियताम्।

किन्तु युद्ध सामने आया हुआ जान कर उपाय ढूँढो। क्योंकि—

'यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत्।
तद्वन्नीतिरियं देव! चिरात्फलति न क्षणात्' ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे देव, यथा कृषि कालकृतोद्योगात् फलवती भवेत् तद्वत् इयं नीति रक्षणात् चिरात्फलति ॥ ४५ ॥

देव=राजन् । काले=समये । कृत =विहित । यः उद्योग = प्रयत्न । तस्मात् । फलवती=सफला । तद्वत् = एवमेव । इय नीति = इय राजनीति । रक्षणात्=सम्यक् रूपेण पालनात् । चिरात्=कियता कालेन । फलति = सफला भवति ॥ ४५ ॥

जैसे समय पर किए गए प्रयत्न से खेती कुछ समय बाद होती है, उसी प्रकार नीति की समय पर उचित रक्षा करने से वह दूर मे फल देती है न कि तत्काल ही ॥ ४५ ॥

अपरं च—'दूरे भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।
विपत्तौ हि महॉल्लोके धीरत्वमधिगच्छति' ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दूरे भीरुत्वम् (किन्तु) आसन्ने शूरता महत गुण । लोके विपत्तौ च महान् धीरत्वम् अनुगच्छति ॥ ४६ ॥

दूरे भीरुत्वम्=भये दूरे सति भीरुता । आसन्ने=निकटे सति । शूरता=शौर्यम् । महत =महापुरुषस्य । गुण =विशेषता । लोके=जगति । विपत्तौ=विपदि । महान्=महापुरुष । धीरत्वम् = धैर्यम् । अनुगच्छति = अनुव्रजति ॥ ४६ ॥

और भी—

विपत्तियों को दूर देख कर डरना किन्तु निकट आ जाने पर पराक्रम दिखाना बडे लोगो का गुण होता है । इसीलिए बडे लोग ससार मे विपत्ति के समय धैर्य का आश्रय लेते हैं ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—'प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ?' ॥ ४७ ॥

विशेषतश्च देव ! महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा । यतः—

अन्वयः—उत्ताप सर्वसिद्धीनाम् प्रथम प्रत्यूह । अतिशीतलमपि अम्भ किं भूभृत न भिनत्ति ॥ ४७ ॥

उत्ताप =क्रोध । सर्वसिद्धीनाम्=सर्वकार्यसफलतानाम् । प्रथम =मुख्य । प्रत्यूह = विघ्न । अतिशीतलमपि = अत्यन्तहिममपि । अम्भ = जलम् । भूभृत =पर्वतान् । न भिनत्ति=न विदारयत्ति, विदारयति एवेत्यर्थ ॥ ४७ ॥

और भी—

प्रारंभ में ही नरम हो जाना (झुक हो जाना) सभी प्रकार की सफलताओं की बहुत बड़ी बाधा है। क्या अत्यन्त ठंडा पानी पहाड़ को नहीं तोड़ देता है? अर्थात् क्रोध के स्थान पर शान्ति से भी सफलता मिल सकती है॥ ४७॥

विशेषकर यह राजा चित्रवर्ण महान बली है। क्योंकि—

'बलिना सह योद्धव्यमिति नाऽस्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत्॥ ४८॥

अन्वयः—बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति। हस्तिना सार्धं नराणाम् युद्धम् मृत्युम् आवहेत्॥ ४८॥

बलिना सह = बलवानों के साथ। योद्धव्यम् = युद्ध करनीय। इति एवम्। निदर्शनम् = प्रमाणम्। हस्तिना सार्धम् = गजेन सह। नराणाम् = मनुष्याणाम्। युद्धम् = विग्रह। मृत्युम् = मरणम्। आवहेत् = आनयेत्॥ ४८॥

बलवान के साथ युद्ध करना नीति नहीं है क्योंकि मनुष्य का हाथी से लड़ना अपनी मौत को बुलाना है। ४८॥

अन्यच्च— स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा'॥ ४९॥

अन्वयः—यः कालमप्राप्य अपकर्तरि वर्तते स मूर्खः बलवता सार्धं कलिः कीटपक्षोद्गमः यथा (भवति)॥ ४९॥

यः = पुरुषः। कालमप्राप्य = अवसरं विना। अपकर्तरि = शत्रौ वर्तते = विग्रहे शत्रुणा सह कलहं करोति इत्यर्थः। सः मूर्खः = अज्ञः। बलवता सार्धम् = बलशालिना सह। कलिः = कलहः। कीटपक्षोद्गम = कीटानाम् पक्षोद्गम (चींटी के पंख आना)। यथा = इव॥ ४९॥

और भी—

जो उपयुक्त समय देखे बिना ही शत्रु पर चढ़ाई करता है वह मूर्ख होता है। और बलवान के साथ लड़ना तो चींटी के पर निकलने के समान है॥ ४९॥

किञ्च—'कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत्॥ ५०॥

अन्वयः—नीतिज्ञः कौर्मम् संकोचम् आस्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् (किन्तु) प्राप्तकाले तु क्रूरसर्पवत् उत्तिष्ठेत्॥ ५०॥

नीतिज्ञ.=नीतिकुशल । कौर्मम्=कच्छपसम्बन्धिनम् । सकोचम् = अगसकोचनम्, क्रोधसङ्कोचञ्च । आस्थाय=आश्रित्य । प्रहारमपि=शत्रुणा कृतम् आघातमपि । मर्षयेत् = क्षमेत । प्राप्तकाले = लब्धावसरे । क्रूरसर्पवत्=दुष्टसर्प-तुल्य । उत्तिष्ठेत्=उत्थानम् कुर्यात् ॥ ५० ॥

अत —

जिस प्रकार कछुआ (समय पर) अपने अंगों को समेट कर अपने ऊपर होने वाली चोट को भी सहन कर लेता है उसी प्रकार नीतिज्ञ को समयानुसार सब सहन करना चाहिए । और समय पाकर ही क्रुद्ध सर्प के समान उठ खड़ा होना चाहिए ॥ ५० ॥

'महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितु वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः' ॥ ५१ ॥

अन्वयः—उपायज्ञ महति अल्पे (शत्रौ) अपि समम् एव क्षम भवेत् । वृक्षास्तृणानि, समुन्मूलयितु नदीरय इव ॥ ५१ ॥

उपायज्ञ =विधिज्ञ । महति = बलशालिनि शत्रौ । अल्पे = अल्पबले शत्रौ । सममेव = तुल्यमेव । वृक्षास्तृणानि = महत वृक्षान् अल्पानि तृणानि । समुन्मूल-यितुम्=उत्पाटयितुम् । नदीरय =सरिद्वेग । इव=तुल्य । क्षम =समर्थ. भवेत् ॥

उपाय का जानने वाला बड़ी छोटी सभी प्रकार की कठिनाइयों (बड़े छोटे शत्रुओं) को दूर करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जैसे नदी की धारा वृक्षों और तृणों को समान रूप से उखाड़ने में समर्थ होती है ॥ ५१ ॥

अतो दूतोऽयं शुकोऽत्राश्वास्य तावद्ध्रियतां यावद्दुर्गं सज्जी-क्रियते । यतः—

अत =अस्मात्कारणात् । दूत =मयूरेण प्रेषित शुक । आश्वास्य = साम-वचनै आश्वासनम् विधाय । ध्रियताम्=अत्रैव स्थाप्यताम् ।

इसलिए जब तक किले की तैयारी हो तब तक दूत को समझा बुझा कर रोके रहें । क्योंकि—

'एक. शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं विशिष्यते' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—एक प्राकारस्थ धनुर्धर शतम् योधयति (एवम्) शत शत-सहस्राणि (योधयन्ति) तस्मात् दुर्गम् विशिष्यते ॥ ५२ ॥

प्राकारस्य =दुर्गस्य समन्तात् [illegible]चीरस्तस्यान्तरे स्थित । एक धनुर्धर =

एकः भटः । शतम्=शतसङ्ख्यकान् भटान् । योधयति = योद्धुं शक्नोति । शत एव सहस्राणि=सहस्राणि । विशिष्यते=प्रशस्यते ॥ ५२ ॥

किले की दीवारों के भीतर रहने वाला एक ही धनुषधारी वीर सैकड़ों वीरों तथा सौ वीर हजारों वीरों के साथ युद्ध कर सकता है । इसीलिए युद्ध में किले का विशेष महत्त्व है ॥ ५२ ॥

किञ्च—'अदुर्गविषयः कस्य नारेः परिभवास्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्' ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अदुर्गविषयः (नृपः) कस्य अरेः परिभवास्पदम् न (भवति) अदुर्गः अनाश्रयः राजा पोतच्युतमनुष्यवत् (भवति) ॥ ५३ ॥

अदुर्गविषयः=दुर्गरहितराज्यः । कस्य अरेः=कस्य शत्रोः । परिभवास्पदम्=पराभवस्थानम्, पराजेय इत्यर्थः । न भवति=भवत्येवेत्यर्थः । अदुर्गः=दुर्गरहितः । अनाश्रयः=अतएव आश्रयहीनः । राजा=नृपः । पोतच्युतमनुष्यवत्=जलयानाद्भ्रष्टमनुष्यवत्, यथा पोतच्युतः सामाजिको जले निमज्जति तथैव राजापि विपत्तिसागरे निमग्नो भवति ॥ ५३ ॥

किला रहित किस राजा का देश शत्रु द्वारा विजित नहीं हो जाता ? दुर्ग तथा आश्रय के बिना राजा जहाज से गिरे हुये मनुष्य के समान डूब जाता है ॥

'दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।
सयन्त्रं सजलं शैल-सरिन्मरु-वनाश्रयम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—महाखातम् उच्चप्राकारसंयुतम् सयन्त्रम् सजलम् शैल-सरिन्मरु-वनाश्रयम्, दुर्गम् कुर्यात् ॥ ५४ ॥

महाखातम्=महापरिखोपेतम् । उच्चप्राकारसंयुतम्=उच्चप्राचीरैः समन्वितम् । सयन्त्रम्=युद्धोपयोगिभिः यन्त्रैः युतम् । सजलम्=जलाशययुतम् । शैल-सरिन्मरुवनाश्रयम्=पर्वतनदीमरुभूमिकाननादिदुर्गमभूमिस्थितम् । दुर्गं दुर्गम्=दुर्गस्य निर्माणं कारयेत् ॥ ५४ ॥

किला बहुत बड़ी खाई से घिरा हुआ ऊँची चहारदीवारी युद्ध के यन्त्रों एवं जल (कुआँ बावली आदि) से युक्त तथा पहाड़ नदी मरुभूमि अथवा वन के किनारे बनवाना चाहिए ॥ ५४ ॥

'विस्तीर्णतातिवैषम्यं, रसधान्येध्मसंग्रहः ।
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसम्पदः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—विस्तीर्णता, अतिवैषम्यम्, रसधान्येध्मसंग्रह , प्रवेश , अपसारश्च एता सप्त दुर्गसम्पद (सन्ति) ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता=आयाम विशालता च । अतिवैषम्यम् = अत्यन्तदुर्गमत्वम् । रसधान्येध्मसग्रह = जलान्नेन्धनसग्रह । प्रवेश =निगूढनानाप्रवेशपथ । अपसार =निगूढनिर्गमनमार्ग । दुर्गसम्पद =दुर्गसम्पत्तय ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता (काफी लम्बाई चौडाई) अत्यन्त दुर्गमता (पहुँचने की कठिनाई), रस, अन्न और लकडी का सग्रह तथा आने-जाने के गुप्त मार्ग—किले की यह सात विशेषताएँ होती हैं ॥ ५५ ॥

राजाह—'दुर्गानुसन्धाने को नियुज्यताम्' ? चक्रवाको ब्रूते-

दुर्गानुसन्धाने=दुर्गपरीक्षणे । नियुज्यताम्=नियुक्त क्रियताम् ।

राजा ने कहा—'दुर्ग का अन्वेषण करने के लिए किसे नियुक्त करना चाहिए' ? चकवे ने कहा—

'यो यत्र कुशलः कार्ये त तत्र विनियोजयेत् ।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति' ॥ ५६ ॥

अन्वयः—य यत्र कार्ये कुशल त तत्र विनियोजयेत् (यत) कर्मसु य अदृष्टकर्मा (भवति स) शास्त्रज्ञ अपि विमुह्यति ॥ ५६ ॥

य =पुरुष । यत्र कार्ये=यस्मिन्कर्मणि । कुशल =चतुर । तं=पुरुषम् । तत्र = तस्मिन् कार्ये । विनियोजयेत्=नियुक्त कुर्यात् । कर्मसु=कर्तव्यकार्येषु । अदृष्टकर्मा=अनवलोकितकार्य । शास्त्रज्ञ =शास्त्रेषु कुशल । विमुह्यति=मोह गच्छति, व्याकुलो भवतीत्यर्थ ॥ ५६ ॥

जो व्यक्ति जिस काय मे कुशल हो उसे वहीं नियुक्त करना चाहिए क्योंकि शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी किसी कार्य मे अनुभव न होने से वह उस कार्य मे मूर्ख बन जाता है ॥

'तदाहूयता सारस'। तथानुष्ठिते सति समागतं सारसमव लोक्य राजोवाच—'भो सारस ! त्व सत्वर दुर्गमनुसन्धेहि ।'

सारसं प्रणम्योवाच—'देव ! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनि रूपितमास्ते महत्सर. । किन्त्वेतन्मध्यद्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम् ।' यतः—

सत्वरम्=शीघ्रम् । अनुसन्धेहि = अनुसधानम् कुरु, 'कुत्र दुर्गम् निर्मेयम्' इति परीक्षणम् कुरु इति भाव । चिरात्=बहुकालात् । सुनिरूपितम्=सुपरीक्षितम् । महत्सर = महान् सरोवर । मध्यवर्तिद्वीपे = मध्यमागे स्थिते भूप्रान्ते । द्रव्य सग्रह =वस्तुसग्रह , धान्येन्धनादिसग्रह ।

इसलिए सारस को बुलाइए। ऐसा करने पर आए हुए सारस को देख कर राजा ने कहा—'सारस तुम शीघ्र ही किले की छान-बीन कर डालो।

सारस ने प्रणाम करके कहा—राजन् बहुत दिनों से देखा भाला हुआ यह तालाब ही इस लोगों का किला है। किन्तु इसके बीच के टापू पर सभी द्रव्यों (अन्न लकड़ी आदि) को इकट्ठा कर लेना चाहिए। क्योंकि—

'धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे राजन्! धान्यानाम् संग्रहः सर्वसंग्रहात् उत्तमः (अस्ति) हि मुखे निक्षिप्तम् रत्नम् प्राणधारणम् न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

धान्यानाम्—अन्नानाम्। संग्रहः = एकत्रीकरणम्। सर्वसंग्रहात् = संपूर्णवस्तुसंग्रहात्। उत्तमः—श्रेष्ठः। मुखे निक्षिप्तम्—आनने स्थापितम्। प्राणधारणम्=उदर पूर्त्या प्राणरक्षणम् ॥

हे राजन्, सभी वस्तुओं के संग्रह से अन्न का संग्रह करना उत्तम है। क्योंकि मुख में रखा हुआ रत्न भी प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

किञ्च— ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सर्वरसानाम् लवणः उत्तमः ख्यातः। तेन विना गृहीतं व्यञ्जनम् गोमयायते ॥ ५८ ॥

सर्वरसानाम्—षड्रसानाम्। उत्तमः—श्रेष्ठः। ख्यातः—प्रसिद्धः। तेन विना—लवणम् विना। व्यञ्जनम् = भोज्यवस्तु। गोमयायते—गोमयम् (गोबर) इव न स्वादुहितम् भवति ॥

और भी—

सभी रसों में नमक सबसे प्रसिद्ध और उत्तम रस कहा जाता है। अतः उसका संग्रह अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उसके बिना अच्छे से अच्छा भोजन भी गोबर के समान लगता है ॥ ५८ ॥

राजाह—'सत्वरं गत्वा लवणमुपनीयताम्। पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—देव! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि वर्तते। स च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति। राजाह—काकः प्राज्ञो बहुदृश्वा च तद्भवति स संग्राह्यः।

चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः । तेनास्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं सङ्गृह्यते ? तथा चोक्तम्—

सर्वमनुष्ठीयताम्=सर्वम् क्रियताम् । आगत = आयात । वायस = काक । देवपादान् = श्रीमत । द्रष्टुमिच्छति=दर्शनमभिवाञ्छति । प्राज्ञ =पण्डित । बहुदृश्वा=बहुश्रुत । सग्राह्य =स्वाश्रये रक्षणीय । स्थलचर = स्थलवासी । विपक्षपक्षे नियुक्त =शत्रुपक्षे अनुरक्त ।

राजा ने कहा—'तो शीघ्र ही जाकर सभी आवश्यक कार्य करो ।' फिर द्वारपाल ने आकर कहा–राजन् सिंहल द्वीप मे आया हुआ मेघवर्ण नाम का एक कौवा अपने परिवार के साथ द्वार पर खडा है । वह आप का दर्शन करना चाहता है । राजा ने कहा—'कौवे एक तो सभी बातों को जानने वाले, दूसरे बहुत सी वस्तुओ को देखने वाले होते हैं । इसलिए मेरी राय है कि उसे रख लेना चाहिए ।'

चकवे ने कहा—'राजन्, यह तो ठीक है किन्तु कौवा भूमि का पक्षी है । इसलिए वह हमारे शत्रु के पक्ष का है अत उसे किस प्रकार रखा जाये ? कहा भी है—

'आत्मपक्षं परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो, नीलवर्णश्रृगालवत्' ॥ ५९ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

अन्वयः—य आत्मपक्षम् परित्यज्य परपक्षेषु रत स मूढ नीलवर्णश्रृगालवत् परै हन्यते ॥ ५९ ॥

आत्मपक्षम्=स्वपक्षम् । परित्यज्य=त्यक्त्वा । परपक्षेषु=शत्रुपक्षेषु । रत = अनुरक्त । मूढ =मूर्ख । परै =शत्रुभि । हन्यते=म्रियते ॥ ५९ ॥

अपने पक्ष को छोड कर जो दूसरे पक्ष वालों से अनुराग करता है वह मूर्ख नीलवर्ण गीदड के समान दूसरो (शत्रुओ) से अवश्य मारा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे ?' मन्त्री ने कहा—

कथा ७

[अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्यन्नीलीभाण्डे निपतितः । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्वामिना 'मृत' इति ज्ञात्वा, तस्मात्समुत्थाप्य, दूरे नीत्वासौ परित्यक्तः, तस्मात्पलायितः ।

अरण्ये = कानने । स्वेच्छया = यदृच्छया । नगरोपान्ते=नगरस्य समीपे । भ्राम्यन् = विचरन् । नीलीभाण्डे = नीलीरागमिश्रितपात्रे । तत = तस्मात् भाण्डात् । उत्थातुम्=बहिरागन्तुम् । असमर्थ = अशक्त । आत्मानम् = स्वम् । मृतवत् संदर्श्य = मृततुल्यम् प्रदर्श्य । ज्ञात्वा = मत्वा । समुत्थाप्य = बहि कृत्वा । परित्यक्त.=अपसारित. ।

एक जंगल में एक गीदड़ था । वह नगर के किनारे इच्छानुसार घूम रहा था कि एक नील के बर्तन में गिर पड़ा । वहाँ से निकलने में असमर्थ होने के कारण वह प्रात काल मरा हुआ सा उसी में पड़ा रहा । उस नील के बर्तन के स्वामी ने उसे मरा हुआ समझ कर दूर ले जाकर फेंक दिया । तब वह वहाँ से भाग गया ।

ततोऽसौ वने गत्वा आत्मानं नीलवर्णमवलोक्याचिन्तयत्— 'अहमिदानीमुत्तमवर्णः तदहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि'— इत्यालोच्य शृगालानाहूय तेनोक्तम्— 'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनारण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाभिषिक्तः । [पश्यन्तु मम वर्णम्] । तदद्यारभ्यास्मदाज्ञयास्मिन्नरण्ये व्यवहारः कार्यः ।'

शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः— 'यथाज्ञापयति देवः' इति । अनेनैव क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं तस्य बभूव । ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाधिक्यं साधितम् । ततस्तेन व्याघ्रसिंहादीनुत्तमपरिजनान्प्राप्य, सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनावज्ञया स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः । ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद् वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातम्— 'मा विषीदत यदनेनानीतिज्ञेन वयं मर्मज्ञाः । [स्वसमीपात्] परिभूतास्तद्यथायं नश्यति तथा विधेयम् । यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते । तद्यथायं परिचीयते तथा कुरुत । तत्र चैवमनुष्ठेयं यथा वदामि—सर्वे सन्ध्यासमये तत्सन्निधाने महारावमेकदैव करिष्यथ । ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः । यतः—

असौ=शृगाल । नीलवर्णम्=नीलरङ्गम् । इदानीम्=साम्प्रतम् । उत्तमवर्ण = श्रेष्ठराग । स्वकीयोत्कर्षम = स्वोन्नतिम् । आलोच्य = विचार्य । वनदेवतया = वनदेव्या । स्वहस्तेन = स्वकरेण । अरण्यराज्ये=काननराज्ये । अभिषिक्त = राज्ये स्थापित । व्यवहार=विवाद निर्णय (मुकदमा) । साष्टाङ्गपातम्=साष्टाङ्गदण्ड-

मम् । अरण्यवासिषु = काननचारिषु जीवेषु । आधिपत्यम् = प्रभुत्वम् । स्वज्ञातिभि =स्वपरिवारैः । आवृतेन=परिवेष्टितेन । आधिक्यम्=स्वजातिश्रेष्ठत्वम् । साधितम्=अधिगतम् । उत्तमपरिजनान्=जात्या श्रेष्ठान् अनुचरान् । तेन=शृगालेन । सदसि=सभायाम् । लज्जमानेन = लज्जामनुभवता । अवज्ञया = अपमानेन । दूरीकृता =निष्कासिता । विषण्णान् = दुःखितान् । प्रतिज्ञातम् = प्रतिज्ञा कृता । अनीतिज्ञेन=अज्ञेन । ममज्ञा =स्वरहस्यविद । परिभूता =अपमानिता । विधेयम्=करणीयम् । वर्णमात्रविप्रलब्धा =वर्णपरिवर्तनमात्रेण वञ्चिता । इमम्=नीलवर्णम्, शृगालम् । परिचीयते=व्याघ्रादिभि स्वशृगालरूपत. ज्ञायते । तत्-सन्निधाने=तत्समीपे । महारावम्=महान्त शब्दम् । जाति-स्वभावात्=जातिप्रकृत्या ॥

इसके बाद जंगल मे जाकर उसने अपने नीले रग को देखकर विचार किया—'मैं अब उत्तम वर्ण का हो गया हूँ। इसलिए मैं इसमे अपनी उन्नति क्यो न कर लूँ।' ऐसा सोचकर उसने गीदडो को बुला कर कहा—मुझे भगवती वनदेवी ने अपने हाथ मे सभी ओषधियो एव रसो से नहला कर मेरा राज्याभिषेक किया है। इसलिए आज से इस जगल म मेरी आज्ञा के अनुसार ही सभी काम किए जायें।'

गीदडो ने उसके विशेष रग को देखकर प्रणाम करते हुए कहा—'राजन् आप की आज्ञा शिरोधार्य है।' इस प्रकार धीरे-धीरे वह सभी जगली जानवरो का राजा बन गया। इसके पश्चात् वह अपने को अपनी जाति वालो के बीच मे उत्तम समझने लगा। और सिंह, व्याघ्र आदि उत्तम कुल के परिजनो को पाकर तथा अपनी सभा मे गीदडो को देख कर वह लज्जित हो गया। तब उसने अपनी जाति के सभी लोगो को अपमानित करके वहाँ से निकाल दिया। इस पर गीदडो को दुखी देख कर एक बुड्ढे गीदड ने कहा—तुम लोग दुखी मत बनो। इस मूर्ख ने हम ममज्ञो को अपने पास से अपमानित करके हटा दिया है इसलिए मैं वही करूगा जिससे इसका विनाश हो। क्योकि ये बाघ आदि इसके रग के धोखे मे आकर इसे गीदड नही समझ रहे हैं इसीलिए इसे राजा मानते हैं।' इसलिए ऐसा काम करो जिससे यह परिचित हो जाय (इसे सब गीदड जान जायें)। तुम लोग अब ऐसा करो कि सध्या के समय सभी लोग इसके पास इकट्ठे होकर एक ही साथ चिल्लाना शुरू करो। जिससे उस शब्द को सुन कर जाति स्वभाव से यह भी चिल्लाने लगेगा। ऐसा होने पर इसे सभी पहचान लेंगे। क्योकि—

'यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्य दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा, तत्किं नाश्नात्युपानहम्' ॥ ६० ॥

अन्वयः—यस्य यः स्वभावः अस्ति सः नित्यम् दुरतिक्रमः (भवति) श्वा यदि राजा क्रियते तर्हि उपानहम् न अश्नाति ॥ ६० ॥

यस्य=पुरुषस्य । यः स्वभावः=या प्रकृतिः । दुरतिक्रमः=दुर्लङ्घ्यः । श्वा=कुक्कुरः । उपानहम्=चर्मणा निर्मितम् पादत्राणम् । न अश्नाति=न भक्षयति ? ॥

जिसका जो स्वभाव है वह सर्वदा रहने वाला तथा अमिट होता है । यदि कुत्ते को राजा बना दिया जाय तो क्या वह जूता नहीं चबाएगा ? ॥ ६० ॥

ततः शब्दानभिज्ञाय स व्यापाद्य हन्तव्यः । ततस्तथानुष्ठिते सति तद् वृत्तम् । तथा चोक्तम्—

शब्दात्=तस्य रावात् । अभिज्ञाय=श्रृगालः अयम् इति परिज्ञाय । हन्तव्यः=व्यापादितव्यः ।

इसके बाद शब्द द्वारा पहचाने जाने पर बाघ उसे मार डालेगा । जैसा कि कहा भी गया है—

छिद्रं, मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—(यः) निजः रिपुः छिद्रम् मर्म वीर्यम्, च सर्वम् वेत्ति (सः) अन्तर्गतः शुष्कवृक्षम् अनलः इव दहति ॥ ६१ ॥

निजः=स्वजनः । रिपुः=शत्रुः । छिद्रम्=रन्ध्रम् दौर्बल्यम् । मर्म=रहस्यम् । वीर्यम्=पराक्रमम् । सर्वम् वेत्ति=सर्वम् जानाति । अन्तर्गतः=अन्तः स्थितः । अनलः=अग्निः । इव=यथा । यथा वृक्षमध्ये स्थितः अग्निः वृक्षम् दहति तथैव रात्रुः स्वजनो भूत्वा अन्तरस्थितः राजानम् नाशयति ॥

जो व्यक्ति अपनी दुर्बलता अपने रहस्य बल और मित्र तथा शत्रु सभी को भलीभाँति समझ लेता है वह शत्रु के भीतर प्रवेश करके उसे उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे काठ के भीतर रहने वाली आग उसे जला देती है ॥ ६१ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि— आत्मपक्षं परित्यज्य' इत्यादि ॥ ५९ ॥

राजाह—'यद्येवं तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः । तत्संग्रहे विचारः कार्यः' । मन्त्री ब्रूते— देव ! प्रणिधिस्तावत् प्रहितो दुर्गश्च सज्जीकृतम् । अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम् । किन्तु कोषबलसमन्वितो भूत्वा दूरादेव तमवलोकय' । यतः—

दृश्यताम्=विलोक्यताम् । दूरादागत=दूरदेशादागतः । तत्संग्रहे करणीयम् तस्मात् संग्रहविषये विचारणीयम् इत्यर्थः । प्रणिधिः=गुप्तचरः । प्रहित=प्रेषितः । सज्जीकृतम्=आवश्यकवस्तुभिः पूरितम् । आनीय=समानीय प्रस्थाप्य । कोषबल-समन्वित=सर्वविधबलयुक्तः । तम्=शुकम् ॥

इसलिए मैं कह रहा हूँ—'अपने पक्ष को छोड़कर' इत्यादि। राजा ने कहा—यद्यपि यह ठीक है फिर भी यह दूर से आ रहा है, अत इससे मिलना आवश्यक है और इसे अपने पास रखने का विचार भी जरूरी है। चकव ने कहा—राजन्, दूत भेज दिया गया और किला भी तैयार हो गया अत सुग्गे को भी अब यहाँ बुला लेना चाहिए। किन्तु अपने सैनिक आदि दल बल के साथ आप उससे दूर ही से बात करें। क्योंकि—

'नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः।
तद् दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वित.' ॥ ६२ ॥

अन्वयः—चाणक्य तीक्ष्णदूतप्रयोगत नन्द जघान तत् (नृप) वीरसमन्वित दूरान्तरितम् दूतम् पश्येत् ॥ ६२ ॥

चाणक्य = कौटिल्य । 'तीक्ष्णदूतप्रयोगत =कपटवेशधारिवलिष्ठच्छद्मदूतप्रयोगेण । नन्दम्=तन्नामान नृपम् । जघान=मारयति स्म । तत्=तस्मात् कारणात् । वीरसमन्वित =वीरै परिवेष्टित सन् । दूरान्तरितम्=दूरेस्थितम् ॥६२॥

चाणक्य ने तीक्ष्ण कपट दूत के द्वारा नद को मार डाला था अत आप उसे दूर ही रख कर मत्रियो से युक्त होकर उसे देखें ॥ ६२ ॥

ततः सभा कृत्वाहूतः शुकः, काकश्च। शुकः किञ्चिदुन्नतशिरा दत्तासने उपविश्य ब्रूते—'भो हिरण्यगर्भ! त्वां महाराजाधिराजः श्रीमच्चित्रवर्ण. समाज्ञापयति—'यदि जीवितेन, श्रिया वा प्रयोजनमस्ति, तदा सत्वरमागत्यास्मच्चरणौ प्रणम। नो चेदवस्थातुं स्थानान्तर परिचिन्तय'। राजा सकोपमाह—'आः, सभायामस्माक न कोऽपि विद्यते य एन गलहस्तयति?।' तत उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते—'देव! आज्ञापय, हन्मि चैन दुष्टशुकम्।' सर्वज्ञो राजानं, काक च सान्त्वयन् ब्रूते—'भद्र! मा मैवं। शृणु तावत्—

उन्नतशिरा =गर्वोन्नतमस्तक । दत्तासने=दत्तलघुविष्टरे । समाज्ञापयति=समादिशति । जीवितेन=प्राणै । श्रिया=राजलक्ष्म्या । प्रयोजनम्=कार्यम् । सत्वरम्=शीघ्रमेव । अवस्थातुम्=निवासार्थम् । स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानम् । परिचिन्तय=विचारय । एनम्=दूतम्, शुकम् । गलहस्तयति=बहि निष्कासयति । आज्ञापय=आदेशय । सर्वज्ञ =तन्नामा चक्रवाक ।

इसके पश्चात् राजहस ने सभा करके सुग्गे और कौवे को वहाँ बुलवाया। अभिमान से सिर उठाये हुए, सुग्गे ने दिए हुए आसन पर बैठकर कहा—'हे हिरण्यगर्भ, महाराजाधिराज श्रीमान चित्रवर्ण ने आप को आदेश दिया है कि

यदि प्राणों और राज्यलक्ष्मी से आपको मतलब हो तो शीघ्र ही आकर तुम मेरे चरणों में प्रणाम करो। नहीं तो दूसरे स्थान पर रहने की बात सोचो। राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—'अरे यहाँ ऐसा कोई नहीं है जो इसके गर्दन में हाथ लगा कर मेरे सामने से इसे हटा दे। मेघवर्ण ने उठकर कहा—'राजन्, आज्ञा दीजिए। मैं इस दुष्ट सुग्गे को मारूँगा। सर्वज्ञ नामके चकवे ने राजा और कौवे को शान्त करते हुए कहा—थोड़ा सुनिए तो सही।

'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—यत्र वृद्धाः न सन्ति सा सभा न ये धर्मम् न वदन्ति ते वृद्धाः न यत्र सत्यम् न अस्ति स धर्मः न यत् छलमभ्युपैति तत् सत्यं न (भवति) ॥ ५३ ॥

यत्र—यस्याम् सभायाम्। सा सभा न = सा सभा नोच्यते। धर्मम्—धर्मवचनम्। न वदन्ति = न कथयन्ति। यत्र सत्यम् = यस्मिन् धर्मे सत्यम्। छलमभ्युपैति—कपटेन युक्तः भवति ॥ ५३ ॥

वह सभा सभा नहीं है जिसमें वृद्ध न हों वह वृद्ध वृद्ध नहीं जो धर्म की बातें न कहता हो वह धर्म-धर्म भी नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य सत्य भी नहीं जो कपट से भरा हुआ हो ॥ ५३ ॥

यतो राजधर्मश्चैषः—

'दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ५४ ॥

अन्वयः—म्लेच्छः अपि दूतः अवध्यः यतः राजा दूतमुखः स्यात्। शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि दूतः अन्यथा न वदति ॥ ५४ ॥

म्लेच्छः = हीनजातिः अस्पृश्य अपि। अवध्यः = हन्तुमयोग्यः। दूतमुख = दूतेन स्वाज्ञाप्रेषक। उद्यतेषु—उत्थापितेषु। शस्त्रेषु, अन्यथा—असत्यम्। न वदति—नाचरयति ॥ ५५ ॥

क्योंकि यही राजधर्म है—

जाति से म्लेच्छ (नीच वर्ण का) होने पर भी दूत अवध्य होता है। क्योंकि राजा दूतमुख (दूत द्वारा अपनी बातें कहलाने वाला) होता है। इसीलिए उठे हुए हथियारों के बीच भी दूत झूठी बातें नहीं कहता है। ५४ ॥

अन्यच्च—'स्वापकर्षं, परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ?।

सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति' ॥ ६५ ॥

अन्वयः—दूतोक्तैः स्वापकर्षम्, परोत्कर्षम् तु कः मन्यते। दूतः सदैव अवध्यभावेन सर्वं जल्पति ॥ ६५ ॥

दूतोक्तैः = दूतवचनैः। स्वापकर्षम् = निजावनतिम्। परोत्कर्षम = अन्यस्य शत्रोश्चोन्नतिम्। कः मन्यते = कः कल्पयति। अवध्यभावेन = निर्भयः सन्। सर्वम्=उत्कर्षापकर्षञ्च निन्दास्तुतिम् वा। जल्पति=कथयति ॥ ६५ ॥

और भी—दूत के मुँह से अपनी तुच्छता और शत्रु की उच्चता सुन कर भला कौन राजा उस पर ध्यान देता है ? क्योंकि अवध्य होने के नाते निर्भय होकर दूत अच्छी बुरी सभी बातें कहता है ॥ ६५ ॥

ततो राजा, काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ। शुकोऽप्युत्थाय चलितः। पश्चाच्चक्रवाकेणानीय, प्रबोध्य, कनकालङ्कारादिकं दत्त्वा, सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ। शुकोऽपि विन्ध्याचलं गत्वा, स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान्।

तं विलोक्य राजोवाच—'शुक ! का वार्त्ता ?, कीदृशोऽसौ देशः ?'।

शुको ब्रूते—'देव ! संक्षेपादियं वार्त्ता,-सम्प्रति युद्धोद्योगः क्रियताम्। देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते।' ततः सर्वाञ्छिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः। आह च तान्—'सम्प्रति कर्त्तव्ये विग्रहे यथा-कर्त्तव्यमुपदेशं ब्रूत। विग्रहः पुनरवश्यं कर्त्तव्यः'। तथा चोक्तम्—

प्रकृतिमापन्नौ=शान्तिं प्राप्तौ। प्रबोध्य=सान्त्ववचनैः आश्वास्य। सम्प्रेषितः = सम्प्रहितः। ययौ=गतवान्। विन्ध्याचलं=विन्ध्यदेशम्। प्रणतवान्=नमश्चक्रे।

सम्प्रति = इदानीम्। युद्धोद्योगः = युद्धाय प्रयत्नः। स्वर्गैकदेशः = स्वर्गस्य एकांशः। द्वितीयः=अपरः। स्वर्गपतिः=इन्द्रः। शिष्टान्=सभ्यान्। मन्त्रयितुम्= मन्त्रणां कर्तुम्। कर्तव्यविग्रहे = करणीययुद्धे। यथाकर्तव्यम् = यथाकरणीयम्। उपदेशम=उपायवचनम्।

तब राजा और कौआ शान्त हुए। सुग्गा भी उठकर चला। किन्तु चकवे ने उसे बुला कर सोने के आभूषण आदि देकर विदा किया और वह चला गया। सुग्गे ने जाकर विन्ध्याचल के राजा चित्रवर्ण को प्रणाम किया।

राजा ने उसे देखकर कहा— क्या समाचार है ? वह देश कैसा है ?

शुक ने कहा—राजन् थोड़े में समाचार यह है कि इस समय आप युद्ध की तैयारी करें। कर्पूरद्वीप स्वर्ग का एक टुकड़ा है और राजा दूसरा इन्द्र है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। तब सभी सभासदों को बुलाकर राजा ने विचार करना प्रारम्भ किया। और उसने कहा—इस समय किए जाने वाले युद्ध में क्या करना चाहिए। यही आप लोग बतायें। लड़ाई तो अवश्य ही करनी है। जैसा कि कहा भी गया है—

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—असंतुष्टा द्विजाः सन्तुष्टाः च महीभुजः, नष्टाः। सलज्जा गणिका निर्लज्जा कुलाङ्गना च नष्टाः ॥ ६६ ॥

असन्तुष्टाः = संतोषमनापन्नाः। द्विजाः = ब्राह्मणाः। सन्तुष्टाः = स्वैश्वर्येण तुष्टिं गताः। महीभुजः = नृपाः। नष्टाः = नष्टप्रायाः। सलज्जा = लज्जायुक्ता। गणिका = वेश्या। निर्लज्जा = लज्जाहीना। कुलाङ्गना = कुलस्त्रियः ॥ ६६ ॥

असंतुष्ट ब्राह्मण संतुष्ट (जितना है उतना बहुत है ऐसा सोचने वाला) राजा लज्जा करने वाली वेश्या तथा निर्लज्ज कुलीन स्त्री अवश्य नष्ट हो जाती है ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्री ब्रूते—'देव ! व्यसनितया विग्रहो न विधिः'। यतः—

व्यसनितया = प्रजापरिजनादिविरक्तत्वात् आपद्ग्रस्ततया। विग्रहः = युद्ध। न विधिः = नोचित।

दूरदर्शी नाम के गृद्ध ने कहा—राजन्, व्यसन के समय—(मित्र प्रजा मन्त्री तथा अधिकारी आदि के अनुकूल न होने पर) युद्ध करना ठीक नहीं है क्योंकि—

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६७ ॥

अन्वयः—यदा मित्रामात्यसुहृद्वर्गाः दृढभक्तयः शत्रूणाम् विपरीताश्च स्युः तदा विग्रहः कर्तव्यः ॥ ६७ ॥

यदा=यस्मिन्काले। मित्रामात्यसुहृद्वर्गाः=मित्रमन्त्रिस्वजनवर्गाः। दृढभक्तयः = स्वराज्ये नृपे च दृढानुरक्ताः। विपरीताः=विरुद्धाः। तदा = तस्मिन्काले। विग्रहः = युद्ध। कर्तव्यः=करणीय ॥ ६७ ॥

मित्र मन्त्री सम्बन्धी लोग जब राजा के प्रति दृढ़ भाव से श्रद्धा करते हों और शत्रु के विपरीत हों उस समय युद्ध करना चाहिए ॥ ६७ ॥

अन्यच्च—'भूमिर्मित्रं, हिरण्यं च, विग्रहस्य फलं त्रयम्।
यदैतन्निश्चितं भावि, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६८ ॥

अन्वयः—भूमि मित्र हिरण्य च विग्रहस्य त्रयम् फलम्। यदा एतत् निश्चितम् भावि तदा विग्रह कर्तव्य ॥ ६८ ॥

भूमि =भूभाग । मित्रम्=सुहृत् । हिरण्यम्=सुवर्णम् । विग्रहस्य=युद्धस्य । एतत्=भूम्यादि त्रयम् । निश्चितम्=अवश्यमेव प्राप्तव्यम् । भावि=स्यात् ॥ ६८ ॥

भूमि प्राप्त करना, मित्र प्राप्त करना तथा धन प्राप्त करना यही तीन लड़ाई के फल होते हैं—जब इन तीनो की प्राप्ति निश्चित हो तभी युद्ध करना चाहिए॥

राजाह—'मद्बलं तावदवलोकयतु मन्त्री। तदेतेषामुपयोगो ज्ञायताम्। एवमाहूयतां मौहूर्त्तिकः। स यात्रार्थं शुभलग्नं निर्णीय ददातु'। मन्त्री ब्रूते—'देव! तथापि सहसा यात्राकरणमनुचितम्'। यतः—

मद्बलम्=मत्सैन्यम् । अवलोकयतु=निरीक्षणम् करोतु । तदा=तत्पश्चात् । उपयोग = युद्धप्रयोगविधि । मौहूर्तिक = ज्योतिषिक । निर्णीय = शास्त्रदृष्ट्या निर्णय कृत्वा । शुभलग्नम्=मगलकालम् । यात्राकरणम्=युद्धाय प्रस्थानम् ।

राजा ने कहा—'मंत्री, पहले आप मेरी सेना का निरीक्षण कर लें और उसके उपयोग की व्यवस्था भी जान लें। फिर शुभ दिन का निश्चय करने वाले ज्योतिषी को बुलावें। वह निर्णय करके शुभ मुहूर्त बता दे' मंत्री ने कहा—'फिर भी जल्दी में यात्रा करना अनुचित है'। क्योंकि—

'विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम्।
खड्गधारापरिष्वङ्ग लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६९ ॥

अन्वयः—य मूढा द्विषद्बलम् अविचार्य सहसा विशन्ति ते सुनिश्चितम् खड्गधारापरिष्वङ्गम् लभन्ते ॥ ६९ ॥

ये मूढा =विचारशून्या । द्विषद्बलम्=शत्रुपराक्रमम् । अविचार्य = अनालोच्य । विशन्ति = शत्रुदेशे, सेनायाम् विग्रहे वा प्रविशन्ति । ते = मूढा । सुनिश्चितम्=ध्रुवम् । खड्गधारापरिष्वङ्गम्=कृपाणधारालिङ्गनम् मृत्युमित्यर्थ । लभन्ते=प्राप्नुवन्ति ॥ ६९ ॥

'जो मूर्ख शत्रु की सेना अथवा बल का विचार किए विना ही उसके देश में घुस जाते हैं वे निश्चय ही तलवार की धार का आलिंगन पाते हैं अर्थात् तलवार से काट दिए जाते हैं' ॥ ६९ ॥

राजाह—'मन्त्रिन् ! ममोत्साहभङ्गं सर्वथा मा कृथाः । विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय । गृध्रो ब्रूते—'देव ! तत्कथयामि । किन्तु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्' । तथा चोक्तम्—

ममोत्साहभङ्गम्=ममोत्साहस्य विरोधं । सर्वथा=केनापि हेतुना । मा कृथाः=मा कार्षीः । विजिगीषुः = विजयाभिलाषी । यथा = येन प्रकारेण । परभूमिम्=शत्रुदेशम् । आक्रामति = स्वाधीनताम् नयति । तदनुष्ठितम् = तदनुसारेण कृतम् एव । फलप्रदम्=सफलम् ।

राजा ने कहा—'मन्त्री अब किसी भी प्रकार से मेरे उत्साह को भङ्ग न करो । विजय चाहनेवाला जिन उपायों से शत्रुदेश को प्राप्त करता है उन्हें बताओ । गृध्र ने कहा— मैं कह रहा हूँ । किन्तु उसके अनुसार काम करने से ही लाभ होगा । जैसा कि कहा भी गया है—

किं मन्त्रेणाननुष्ठाने शास्त्रवित्पृथिवीपतेः ।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत् ॥ ७० ॥

अन्वयः—शास्त्रवित्पृथिवीपतेः अननुष्ठाने मन्त्रेण किम् (प्रयोजनम्) हि औषधपरिज्ञानात् क्वचित् व्याधेः शान्तिः न भवेत् ॥ ७० ॥

शास्त्रवित्पृथिवीपतेः=शास्त्रज्ञस्य राज्ञः अपि । अननुष्ठानेन=अनाचरितेन । मन्त्रेण=परामर्शेन । किम् = किम् फलम् किमपि नेत्यर्थः । औषधपरिज्ञानात्=औषधस्य ज्ञानात् । व्याधेः = रोगस्य । शान्तिः = शमनम् ॥ ७० ॥

'यदि शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी राजा मन्त्रणा के अनुसार कार्य न करे तो उससे उसे क्या लाभ होगा । क्या औषधि का ज्ञान होने से ही कहीं रोग दूर हो सकता है ? ॥ ७० ॥

राजादेशश्चानतिक्रमणीयः । —इति यथाश्रुतं निवेदयामि । शृणु— देव !

राजादेश = राज्ञः आज्ञा । अनतिक्रमणीय = नोल्लङ्घनीयः । यथाश्रुतं = यथा श्रुतम् । निवेदयामि=कथयामि ।

राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए । इसलिए मैंने जैसा सुना है वैसा कह रहा हूँ । सुनिए—

'नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे नृप नदी-अद्रि वन दुर्गेषु यत्र यत्र भयम् (अस्ति) तत्र तत्र व्यूहीकृतैः बलैः (सह) सेनानीः यायात् ॥ ७१ ॥

यत्र यत्र=यस्मिन् यस्मिन् स्थाने । नद्यद्रिवनदुर्गेषु = सरित्पर्वतकाननादिदुर्गमस्थलेषु । व्यूहीकृते =आकृतिविशेषेण सज्जिते । बले =सैन्यै सह । सेनानी = सेनापति । यायात्=गच्छेत् ॥ ७१ ॥

'नदी, पहाड, जगल आदि भयकर स्थानों में जहाँ-जहाँ भय का कारण हो, हे राजन् ! वहाँ-वहाँ मोर्चेबन्दी से व्यवस्थित सेनाओं के साथ सेनापति चले जायँ' ॥

'बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।
मध्ये कलत्रं, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्बलम्' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रवीरपुरुषान्वित बलाध्यक्ष पुर यायात् मध्ये कलत्र, स्वामी, कोश , यत् फल्गुबलम् च (यायात्) ॥ ७२ ॥

प्रवीरपुरुषान्वित —श्रेष्ठवीरयोद्धृसमन्वित । बलाध्यक्ष =सेनापति । पुर = अग्रे । कलत्रम्=राजान्त पुरम् । स्वामी=राजा । फल्गुबलम्=अल्पबलसैन्यम् ॥७२॥

'बडे बडे योद्धा पुरुषों के साथ प्रधान सेनापति सेना के आगे रहे, बीच मे स्त्रियाँ, राजा, खजाना और अल्प बलशाली सेना रहे' ॥ ७२ ॥

'पार्श्वयोरुभयोरश्वा, अश्वानां, पार्श्वतो रथाः ।
रथानां पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः' ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उभयो पार्श्वयो अश्वा , अश्वानाम् पार्श्वतो रथा , रथानाम् पार्श्वतो नागा , नागानाम् च पार्श्वतो पदातय ॥ ७३ ॥

उभयो =द्वयो । पार्श्वयो =(बगल मे) । अश्वा =घोटका । नागा =गजा पदातय =पत्तिसैनिका (पैदल सैनिक) ॥ ७३ ॥

'उसके दोनो ओर (दाएँ बाएँ) घोडे, घोडो के बगल मे रथ और रथो के बगल मे हाथी तथा हाथियो के बगल मे पैदल सैनिक रहें' ॥ ७३ ॥

'पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः'—॥ ७४ ॥

अन्वय'—पश्चात् सेनापति खिन्नान् शनै आश्वासयन् यायात् (तत्पश्चात्) मन्त्रिभि सुभटै युक्त नृप बलम् प्रतिगृह्य (यायात्) ॥ ७४ ॥

खिन्नान्=श्रान्तान् सैनिकान् । शनैराश्वासयन् = मृदुवचनै सान्त्वयन् । यायात्=गच्छेत् । नृप = राजा । मन्त्रिभि =सचिवै । सुभटै =सुशूरै । युक्त = सहित । बलम्=सेनाम् । प्रगृह्य=समादाय ॥ ७४ ॥

'उसके पीछे थके हुए लोगो को मीठी मीठी बातो से धैर्य देते हुए सेनापति चले और उसके पीछे मन्त्रियो और अच्छे अच्छे वीरो से युक्त सेना लिए हुए राजा चले' ॥ ७४ ॥

सतोयविषमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—विषमम् (स्थलम्) जलाढ्यम् समहीधरम् (स्थलम्) च नागैः समम् (भूमिम्) अश्वैः जलम् नौभिः पदातिभिः सर्वत्रैव समेयात् ॥ ७५ ॥

विषमम्=उच्चावचम् प्रदेशम् । जलाढ्यम्=जलपूर्णम् । समहीधरम्=पर्वतीयाम् भूमिम् । नागैः=हाथियों । समम्=समतलम् । अश्वैः=घोड़ों । जलम्=जलयुक्तम् नद्यादिप्रदेशम् । पदातिभिः=पैदलों । सर्वत्र=समम् विषमम् वा प्रदेशम् ॥ ७५ ॥

'ऊँची नीची जल से भरी हुई तथा पहाड़ियों से घिरी हुई भूमि पर हाथियों से समतल भूमि पर घोड़ों से नदी आदि जल प्रदेश में नाव से तथा सभी जगहों में पैदल सैनिकों द्वारा यात्रा करनी चाहिए' ॥ ७५ ॥

'हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।
तदन्यत्र तुरङ्गाणां पत्तीनां सर्वदैव हि' ॥ ७६ ॥

अन्वयः—जलदागमे हस्तिनाम् गमनम् प्रशस्तम् प्रोक्तम् तदन्यत्र तुरङ्गाणाम्, सर्वदैव हि पत्तीनाम् (गमनम् प्रशस्तम्) ॥ ७६ ॥

जलदागमे=वर्षाकाले । हस्तिनाम्=हाथियों का । गमनम्=यात्राकरणम् । प्रशस्तम्=श्रेष्ठतरम् । प्रोक्तम्=कथितम् । तदन्यत्र=वर्षाकालातिरिक्ते । तुरङ्गाणाम्=अश्वानाम् । पत्तीनाम्=पदातीनाम् । सर्वदा=सर्वकालेषु एव ॥ ७६ ॥

वर्षा के समय हाथियों से यात्रा करना उत्तम है । और अन्य समय में घोड़ों से तथा पैदल तो हर समय यात्रा अच्छी होती है ॥ ७६ ॥

'शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगनिद्रया' ॥ ७७ ॥

अन्वयः—शैलेषु दुर्गमार्गेषु नृपरक्षणम् विधेयम् । स्वयोधैः रक्षितस्यापि (राज्ञः) योगनिद्रया शयनम् (विधेयम्) ॥ ७७ ॥

शैलेषु=पर्वतेषु । दुर्गमार्गेषु=दुर्गम्यमार्गेषु । नृपरक्षणम्=राज्ञः रक्षणम् । विधेयम्=कर्तव्यम् । स्वयोधैः=स्वभटैः । रक्षितस्यापि=पालितस्यापि । योगनिद्रया=अर्धजागरितया । शयनम्=स्वपनम् ॥ ७७ ॥

पर्वतों और बीहड़ रास्तों में राजा की रक्षा करनी चाहिए और राजा को अपने वीरों द्वारा रक्षित होने पर भी योगनिद्रा से (आधी-जगती नींद अर्थात् सावधानी से) ही सोना चाहिए ॥ ७७ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्ग-कण्टक-मर्दनैः ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—दुर्गकण्टकमर्दनैः शत्रून् नाशयेत् कर्षयेत् वा । परदेशप्रवेशी आटविकान् पुर कुर्यात् ॥ ७८ ॥

दुर्गकंटकमर्दनै=दुर्गबाधाविनाशनैः । शत्रून् = रिपून् । नाशयेत् = विनाशयेत् । कर्षयेत्=क्लेशयेत् । परदेशप्रवेशी=शत्रुदेशप्रवेशी । आटविकान्=वनेचरान् किरातादीन् इत्यर्थः । पुर=अग्रे ॥ ७८ ॥

किले की तोड फोड कर और रास्ते की रुकावटो को कुचल कर शत्रुओ का विनाश करना चाहिए तथा उन्हें कष्ट पहुँचाना चाहिए और शत्रुदेश मे घुमने के पहिले आगे आगे जगली व्यक्तियो को रास्ता वताने के लिए नियुक्त कर देना चाहिए ॥ ७८ ॥

'यत्र राजा तत्र कोशो, विना कोशं न राजता ।
सुभटेभ्यस्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युध्यते' ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यत्र राजा (विद्यते) तत्र कोश (स्थाप्य) कोश विना राजता न । तत सुभटेभ्य दद्यात्, दातु को हि न युध्यते ॥ ७९ ॥

यत्र राजा=यस्मिन् स्थाने राजा विद्यते । तत्र=तस्मिन् स्थाने । कोश =कोश सस्थाप्य । राजता = नृपत्वम् । तत = कोशात् । सुभटेभ्य = वीरसैनिकेभ्य । दातु =दातु. अर्थे । न युध्येत्=युद्ध न करोति ॥ ७९ ॥

जहाँ राजा रहता है वहीं खजाना भी रहता है क्योकि खजाने के विना राजा का राजत्व व्यर्थ है । राजा को चाहिए कि उस खजाने से सेवकों को खूव धन दे क्योंकि दाता राजा के लिए कौन नहीं लडाई करता अर्थात् सभी करते हैं ॥ ७९ ॥

यतः—'न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते ।
गौरवं लाघवं वापि धनाधननिबन्धनम्' ॥ ८० ॥

अन्वयः— हे भूपते नर नरस्य दास न (अपितु) अर्थस्य दास भवति । गौरवम् लाघवम् वापि धनाधननिबन्धनम् (भवति) ॥ ८० ॥

भूपते=राजन् । नर =मनुष्य । नरस्य=मनुष्यस्य । दास न = सेवक न । अर्थस्य=धनस्य । गौरवम्=महत्वम् । लाघवम्=लघुत्वम् च । धनाधननिवन्धनम्= धनधनाभावहेतुकम् ॥ ८० ॥

क्योंकि हे राजन्, मनुष्य मनुष्य की चाकरी नहीं करता वल्कि वह धन का गुलाम होता है । और वडाई छोटाई भी धन के आधार पर ही निश्चित की जाती है ॥ ८० ॥

'अभेदेन च युध्येत, रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्' ॥ ८१ ॥

अन्वयः—परस्परम् अभेदेन युध्येत रक्षेत् च यत्किञ्चित् फल्गु सैन्यं च (तत्) व्यूहस्य मध्ये कारयेत् ॥ ८१ ॥

परस्परम्=अन्योन्यम् । अभेदेन=मिलित्वा । युध्येत=युद्धं कुर्यात् । रक्षेत्=रक्षणं कुर्यात् । फल्गु=निस्सारम् निर्बलमित्यर्थः । सैन्यम्=बलम् । व्यूहस्य=सैन्यविन्यासस्य (मोर्चाबन्दी) । मध्ये=अन्तराले । कारयेत्=स्थापयेत् ॥ ८१ ॥

सैनिकों को परस्पर मिल कर लड़ना तथा एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिए । और निर्बल सेना को व्यूह (मोर्चाबन्दी) के बीच में रखना चाहिए ॥

'पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्' ॥ ८२ ॥

अन्वयः—महीपालः पदातीन् च अनीकस्य पुरः योजयेत् । अरिम् उपरुध्य आसीत अस्य राष्ट्रं च उपपीडयेत् ॥ ८२ ॥

महीपालः=नृपः । पदातीन्=पदिकान् । अनीकस्य=सेनायाः । पुरः=अग्रे । योजयेत्=स्थापयेत् । अरिम्=शत्रुम् । उपरुध्य=समन्तात् अवरोधम् कृत्वा । आसीत=तिष्ठेत् । अस्य=शत्रोः । राष्ट्रम्=राज्यम् । उपपीडयेत्=पीडयेत् ॥ ८२ ॥

राजा को चाहिए कि वह पैदल सेना को अन्य सेना के आगे रखे शत्रु को चारों ओर से घेर ले (घेरा डाले) तथा उसके राज्य को (लूट पाट तथा कत्ल आदि कर के) पीड़ा पहुँचावे ॥ ८२ ॥

'स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ ८३ ॥

अन्वयः—समे स्यन्दनाश्वैः अनूपे नौद्विपैः वृक्षगुल्मावृते चापैः, तथा स्थले असिचर्मायुधैः युध्येत् ॥ ८३ ॥

समे=समप्रदेशे । स्यन्दनाश्वैः=रथघोटकैः । अनूपे=जलप्राये । नौद्विपैः=नौकाभिः गजैश्च । वृक्षगुल्मावृते=तरुभिः लताभिश्चाच्छादिते प्रदेशे । चापैः=धनुर्भिः । स्थले=भूमौ । असिचर्मायुधैः=खड्गचर्मप्रभृतिभिः शस्त्रैः । युध्येत्=युद्धं कुर्यात् ॥

समतल भूमि पर रथ और घोड़ों से, जलपूर्ण स्थान में नावों तथा हाथियों से, वृक्ष और झाड़ियों से ढके हुए स्थान पर धनुष तथा स्थल भूमि पर तलवार और ढाल से युद्ध करना चाहिए ॥ ८३ ॥

दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ।
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान्परिखास्तथा ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अस्य यवसान्नोदकेन्धनम् सततम् दूषयेत् तडागानि तथा प्राकारान् परिखा च भिन्द्यात् एव ॥ ८४ ॥

अस्य = शत्रो । यवसम् = घासम् । अन्नम् = भोज्यपदार्थम् । उदकम् = जलम् । इन्धनम् = इध्मम् । सततम् = निरन्तरम् । दूषयेत् = विषादिप्रयोगेण दूषितम् कुर्यात् । तडागानि = सरांसि । प्राकारान् परिखा = सालान् खेयानि च (किले की चहारदिवारी और खाई) भिन्द्यात् = नष्ट कुर्यात् ॥ ८४ ॥

शत्रु की घास, अन्न तथा जल आदि को (विषादि प्रयोगों से) दूषित कर देना चाहिए, तालावो किले की चहार दीवारो और खाइयो को तोड फोड देना चाहिए ॥ ८४ ॥

'बलेषु प्रमुखो हस्ती, न तथाऽन्यो महीपतेः ।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः' ॥ ८५ ॥

अन्वयः—महीपते बलेषु (यथा) हस्ती प्रमुख तथा अन्य न (प्रमुख) निजै अवयवै मातङ्ग अष्टायुध स्मृत ॥ ८५ ॥

महीपते = नृपस्य । बलेषु = सैन्येषु । हस्ती = गज । प्रमुख = मुख्य । निजै = स्वकीयै । अवयवै = अङ्गै । मातङ्ग = गज । अष्टायुध = शुण्डपुच्छदन्तद्वयपाद-चतुष्टयै अवयवै युद्ध करोति अत अष्टायुध कथ्यते ॥ ८५ ॥

राजा की सेना मे हाथी जितना प्रधान होता है उतना और काई नही, क्योकि अपने अगो (१ सूंड, १ पूंछ, २ दांत तथा ४ पैर) के कारण हाथी आठ हथियारों वाला कहा जाता है ॥ ८५ ॥

'बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः ।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे' ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सैन्यानाम् बलम् अश्व यत (स) जगम प्राकार । तस्मात् अश्वाधिक राजा स्थलविग्रहे विजयी (भवति) ॥ ८६ ॥

सैन्यानाम् = सैनिकानाम् । अश्व = घोटक । जगम = गमनशील । प्राकार = साल । अश्वाधिक = अश्वसेनाबहुल । स्थलविग्रहे = स्थलयुद्धे । विजयी = जयम् लभेत ॥ ८६ ॥

घोडा भी सेना का मुख्य बल होता है क्योकि वह एक चलती फिरती दीवार है । इसलिए स्थल की लडाई मे अधिक घोडो वाला राजा अवश्य विजयी होता है ॥ ८६ ॥

'तथा चोक्त—'युध्यमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः ।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्त्तिन.' ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हयारूढा युध्यमानाः देवानाम् अपि दुर्जयाः (भवन्ति) तेषाम् दूरस्थिताः वैरिणः अपि हस्तवर्तिनः भवन्ति ॥ ८७ ॥

हयारूढाः = अश्वारूढाः । युध्यमानाः = युद्धं कुर्वन्तः । देवानाम् = सुराणाम् । दुर्जयाः = जेतुमशक्याः । तेषाम् = अश्वारूढानाम् । दूरस्थिताः = दूरस्थाः । वैरिणः = शत्रवः । हस्तवर्तिनः = करगताः इव भवन्ति ॥ ८७ ॥

और भी कहा गया है—

घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने वाले राजा को देवता भी नहीं जीत सकते हैं। क्योंकि बहुत दूरी पर रहने वाला शत्रु भी मानो उसके हाथ में ही स्थित होता है॥

'प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रथमम् युद्धकारित्वम्, समस्तबलपालनम् दिङ्-मार्गाणाम् विशोधित्वम् पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८८ ॥

प्रथमम् = अग्रतः । युद्धकारित्वम् = योधनम् । समस्तबलपालनम् = सम्पूर्णसैन्यरक्षणम् । दिङ्मार्गाणाम् = समस्तदिक्पथानाम् । विशोधित्वम् = परिष्करणम् । पत्तिकर्म = पदातिकार्यम् । प्रचक्षते = कथयन्ति ॥ ८८ ॥

सभी सेनाओं के आगे होकर युद्ध करना सारी सेना की रक्षा करना तथा सभी ओर के रास्तों को साफ करना पैदल सेना के काम हैं ॥ ८८ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्वभावशूरम् अस्त्रज्ञम् अविरक्तम् जितश्रमम् प्रसिद्धक्षत्रियप्रायम् बलम् श्रेष्ठतमम् विदुः ॥ ८९ ॥

स्वभावशूरम् = प्रकृत्या वीरम् । अस्त्रज्ञम् = अस्त्रचालनचतुरम् । अविरक्तम् = स्वपालकम् प्रति अनुरक्तम् । जितश्रमम् = श्रमशीलम् । प्रसिद्धक्षत्रियप्रायम् = ख्यातक्षत्रियबहुलम् । बलम् = सैन्यम् । श्रेष्ठतमम् = उत्तमम् । विदुः = जानन्ति ॥ ८९ ॥

स्वभाव से ही वीर, हथियार चलाने में निपुण राजा के प्रति श्रद्धा रखने वाली सभी प्रकार के परिश्रम को सहन करने वाली प्रसिद्ध क्षत्रियों से भरी हुई सेना श्रेष्ठ मानी जाती है ॥ ८९ ॥

'यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे भूपते यथा प्रभुकृतात् मानात् भुवि मानवा युध्यन्ते तथा दत्तै-
बहुभि द्रविणै अपि न (युध्यते) ॥ ९० ॥

हे भूपते=हे राजन् । यथा = येन प्रकारेण । प्रभुकृतात् = स्वामिकृतात् । मानात्=सम्मानात् । भुवि=जगति । मानवा =मनुष्या । द्रविणै =धनै ॥९०॥

इस ससार मे मनुष्य राजा से सम्मान पाकर जितना युद्ध करते हैं उतना अत्यधिक धन देने पर भी नहीं करते ॥ ९० ॥

'वरमल्पबलं सार न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम्' ॥ ९१ ॥

अन्वयः—सारम् अल्पबलम् वरम् (अत) मुण्डमण्डलीम् न कुर्यात् (यत) असारभङ्ग सारभङ्गमपि स्फुटम् कुर्यात् ॥ ९१ ॥

सारम्=तत्त्वयुक्तम्, दृढपराक्रमम् । अल्पबलम् = लघुसैन्यम् । वरम्= श्रेष्ठम् । मुण्डमण्डलीम्=निर्बलमनुष्यमुण्डमण्डलम् निर्बलानाम् आधिक्येन संग्रहणम् इत्यथ । असारभङ्ग.=निर्बलसैन्यपराजय । सारभङ्गम् = सबलशूरसैन्य-पराजयम् । स्फुटम्=निश्चितम् ॥ ९१ ॥

तत्त्वयुक्त (बलवानो से पूर्ण) छोटी सेना अच्छी होती है अत सिर गिनाने के लिए व्यर्थ बहुत से साधारण व्यक्तियो को सेना में नहीं रखना चाहिए । क्योंकि बलहीन सेना के टूट जाने पर (हार कर भाग जाने पर) बलवान सेना भी तितर बितर हो जाती है ॥ ९१ ॥

'अप्रसादोऽनधिष्ठानं, देयांशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अप्रसाद , अनधिष्ठानम्, देयांशहरणम्, कालयाप , अप्रतीकार च तत् वैराग्यस्य कारणम् (भवति) ॥ ९२ ॥

अप्रसाद = सैनिकान् प्रति राज्ञ अकृपा, सुष्ठुकार्यकरणेऽपि पारितोषिकादिभि सम्मानाभाव । अनधिष्ठानम् = योग्यबलाध्यक्षाभाव । देयांशहरणम्= देयवेतनादिसङ्कोच । कालयाप = वेतनादिदाने विलम्ब । अप्रतीकार = सैन्य-क्लेशदूरीकरणे अशक्ति । तत्=तं प्रति । वैराग्यकारणम्=सैन्यानाम् उदासीनताया हेतु ॥ ९२ ॥

१ अप्रसाद (अच्छा कार्य करने पर भी सैनिकों को पुरस्कृत न करना), २ योग्य सेनापति की कमी, ३ दिए हुए धन को पुन छीन लेना, ४ कुछ देने मे समय गवाना (टाल मटोल करना) ५ सैनिको के कष्ट निवारण का उपाय न करना–यही पाँच सैनिको के असतोष के कारण होते हैं ॥ ९२ ॥

'अपीडयन् बलं शत्रून् जिगीषुरभिषेणयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम्' ॥ ९३ ॥

अन्वयः—जिगीषुः बलम् अपीडयन् शत्रून् अभिषेणयेत् (यत) दीर्घयानप्रपीडितम् द्विषाम् सैन्यम् सुखसाध्यम् (भवति) ॥ ९३ ॥

जिगीषुः = विजयेच्छुः । बलम् = सैन्यम् । अपीडयन् = अक्लेशयन् । शत्रून् = अरीन् । अभिषेणयेत् = अभियायात् (आक्रमण करे) दीर्घयानप्रपीडितम् = दीर्घमार्गपरिश्रान्तम् । द्विषाम् = शत्रूणाम् । सैन्यम् = बलम् । सुखसाध्यम् = अनायासेन जेतुं शक्यम् ॥ ९३ ॥

विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर वह अपनी सेना को बिना कष्ट पहुँचाए हुए ही शत्रु पर चढ़ाई करे। क्योंकि बहुत दूरी से आने के कारण थकी हुई शत्रु की सेना आसानी से पराजित की जा सकती है ॥ ९३ ॥

'दायादादपरो यस्मान्नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः' ॥ ९४ ॥

अन्वयः—द्विषाम् भेदकरः दायादात् अपरः यत् नास्ति तस्मात् तस्य विद्विषः दायादम् यत्नात् उत्थापयेत् ॥ ९४ ॥

द्विषाम् = शत्रूणाम् । भेदकरः = विघटनकारकः । दायादात् = सपिण्डात् (पट्टीदार) अपरः यतः=अन्य उपाय । विद्विषः=शत्रोः । दायादम् = सपिण्डम् । यत्नात्=प्रयत्नात् । उत्थापयेत्=तेन सह विरोधम् कारयेत् ॥ ९४ ॥

शत्रु के हिस्सेदारों के अतिरिक्त उनमें फूट उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा उत्तम उपाय नहीं होता। इसलिए बड़े प्रयत्न से साथ शत्रु के हिस्सेदारों को उसके विपरीत खड़ा कर देना चाहिए ॥ ९४ ॥

'संधाय युवराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपनं कुर्यादभियोक्ता स्थिरात्मनः' ॥ ९५ ॥

अन्वयः—युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा संधाय स्थिरात्मनः अभियोक्तुः अन्तःप्रकोपनम् कार्यम् ॥ ९५ ॥

युवराजेन=राजकुमारेण । यदि वा=अथवा । मुख्यमन्त्रिणा—प्रधानामात्येन । संधाय=गुप्तसंधिम् विधाय । स्थिरात्मनः=पूर्वबलाधायमपन शुल्कस्य । अभियोक्ता मुख्यमात्यस्य रानो । अन्तःप्रकोपनम् = गृहकलहम् विद्रोहम् वा । कार्यम् = करणीयम् ॥ ९५ ॥

राजकुमार अथवा मन्त्री के साथ गुप्त संधि करके स्थिर बुद्धि से दृढ़ स्थिति वाले युद्ध में समर्थ शत्रु के घर में ही विद्रोह करा देना चाहिए ॥ ९५ ॥

'क्रूरामित्र रणे चापि भङ्ग दत्वा विघातयेत् ।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या, तन्मुख्याश्रितवन्धनात्' ॥ ९६ ॥

अन्वयः—क्रूरामित्रम् रणे भङ्गम् दत्वा विघातयेत् अथवा तन्मुख्याश्रित-बन्धनात् गोग्रहाकृष्ट्या (विघातयेत्) ॥ ९६ ॥

क्रूरामित्रम्=दुष्टशत्रुम् । रणे=युद्धे । गोग्रहाकृष्ट्या=वत्सबन्धनेन गोग्रहणवत् । तन्मुख्याश्रितबन्धनात्=दारपुत्रादिबन्धनात् । भङ्गम्=पराजयम् । विघातयेत्=हन्यात् ॥ ९६ ॥

दुष्ट शत्रु को युद्ध में पराजित करके मार डालना चाहिए अथवा जैसे बछड़ा पकड लेने से गाय स्वयम् पास आजाने से पकड ली जाती है उसी प्रकार शत्रु के सम्बन्धियों को पकड कर उसे अपने वश मे करके मरवा देना चाहिए ॥ ९६ ॥

'स्वराज्य वासयेद्राजा परदेशापहरणात् ।
अथवा दान मानाभ्यां वासितं धनदं हि तत' ॥ ९७ ॥

अन्वयः—परदेशापहरणात् राजा स्वराज्यम् वासयेत् अथवा दानमानाभ्याम् (वशीकृत्य वासयेत्) । तत् वासितम् धनदम् हि भवति ॥ ९७ ॥

परदेशापहरणात्=शत्रुदेशम् उद्वास्य । स्वराज्यम्=स्वराष्ट्रम् । दानमानाभ्याम्=शत्रुजनान् अभयदान-सम्मानादिभि । तत् = दानमानाभ्याम् पुरस्कृतम् । धनदम्=लाभकरम् ॥ ९७ ॥

राजा को चाहिए कि शत्रु देश को उजाड कर वहाँ के लोगो को अपने देश मे ले आकर बसाए । अथवा उन्हें धन तथा सम्मान के लोभ से अपने देश मे ले आए । क्योंकि इस प्रकार बसाए गए लोगों से धन की प्राप्ति होती है ॥९७॥

अथवा किं बहुनोदितेन—

बहुनोदितेन=प्रलापाधिकेन ।

अथवा, अधिक कहने मे क्या लाभ ?

'आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वय नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ९८ ॥

अन्वयः—आत्मोदय परग्लानि इतीयती द्वयम् नीति तद् ऊरीकृत्य कृतिभि वाचस्पत्यम् प्रतायते ॥ ९८ ॥

आत्मोदय =स्वोन्नति । परग्लानि =शत्रुहानि । इतीयती=(इति + इयती) एतावन्मात्रमेव । नीति = राजनीतिसारम् । तत्=उक्तद्वयम् नीतितत्त्वम् ।

कर्षितस्य=स्तोकस्य । कृतिभिः=विद्वद्भिः । नायकत्वम्=नीतित्वम् । प्रकाश्यते=प्रख्याप्यते ॥ ९८ ॥

अपनी उन्नति और शत्रु की अवनति—यही दो प्रधान नीति हैं । इन्हीं को ग्रहण करके विद्वान् अपनी निपुणता प्रकट करते हैं ॥ ९८ ॥

राजा विहस्योवाच—'सर्वमेतद्विशेषतस्तूपपद्यते । किन्तु—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ? ॥ ९९ ॥

अन्वयः—उच्छृङ्खलं सत्त्वम् अन्यत् शास्त्रनियन्त्रितम् (सत्त्वम् अन्यत्) तेजस्तिमिरयोः सामानाधिकरण्यं हि कुतः (भवेत्) ॥ ९९ ॥

उच्छृङ्खलम्=मर्यादाहीनम् स्वेच्छया प्रवर्तितम् इति भावः । सत्त्वम्=पराक्रमः । अन्यत्=भिन्नविधम् । शास्त्रनियन्त्रितम्=शास्त्रविधिना मर्यादितम् । तेजस्तिमिरयोः=प्रकाशान्धकारयोः । सामानाधिकरण्यम्=सहावस्थितिः । कुतः=कथम् ॥ ९९ ॥

राजा ने हँस कर कहा—'विशेषतः यह सभी ठीक है । किन्तु—

किसी प्रकार की मर्यादा न रखने वाला पराक्रम और होता है तथा शास्त्र द्वारा नियन्त्रित बल दूसरा होता है । भला प्रकाश और अन्धकार दोनों की एकत्र स्थिति कैसे हो सकती है ? ॥ ९९ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलग्ने प्रस्थितः ।

ततः=तदनन्तरम् । राजा=नृपः । उत्थाय=सभायाः उत्थानम् कृत्वा । मौहूर्तिकावेदितलग्ने=ज्यौतिषिकोक्तशुभमुहूर्ते । प्रस्थितः=युद्धाय चलितः ।

इसके बाद राजा ने उठकर ज्यौतिषियों के द्वारा बताए गए शुभ लग्न में प्रस्थान किया ।

अथ प्रहितप्रणिधिश्चरो हिरण्यगर्भमागत्य प्रणम्योवाच—'देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । सम्प्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटको वर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसन्धातव्यम् । यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किं च केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैतदिङ्गितमवगतं मया, यत्—'अनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः । चक्रवाको ब्रूते—देव ! काक एवाऽसौ सम्भवति ।

प्रहितप्रणिधिः=प्रेषितचरोऽनुचरः । हिरण्यगर्भम्=तन्नामानम् राजहंसम् । उत्थाय=उत्थाय । सम्प्रति=इदानीम् । मलयपर्वताधित्यकायाम्=मलयाचलस्य ऊर्ध्वप्रदेशे । समावासितकटकः=स्थापितसैन्यः (डेरा डाले हुए) । वर्तते=

विद्यते । दुर्गशोधनम्=दुर्गान्वेषणम् । अनुसंधातव्यम्=अन्वेषणीयम् । महामन्त्री=कूटनीतिज्ञ । विश्वासकथाप्रसंगेन=गुप्तवार्ताप्रकरणन । तदिङ्गितम्=गूढ़ग्रन्थ संकेतम् । अवगतम्=ज्ञातम् । प्रागेव=अभियानात्पूर्वमेव । कोऽपि=गुप्तचर । नियुक्त=वस्तु प्रेषित ।

इसके पश्चात् प्रधान गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने हिरण्यगर्भ के पास आकर कहा—राजन् राजा चित्रवर्ण अब यहाँ आना ही चाहते हैं। इस समय मलय पहाड़ पर डेरा डाले सेना के साथ पड़े हैं। आप अपने दुर्ग का निरीक्षण हर क्षण कराते रहें। क्योंकि उसका मन्त्री गीध है। उसके किसी गुप्त बातचीत के प्रसंग से मुझे उसका यह संकेत मालूम हुआ है कि उसने हमारे किले मे किसी को पहले से ही नियुक्त कर रखा है।' चकवे ने कहा—'राजन, वह गुप्त दूत यह कौवा ही हो सकता है।'

राजाह—'न कदाचिदेतत्। यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याभिभवोद्योगः कृतः? अपरञ्च शुकस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः। स च चिरादत्रास्ते।' मन्त्री ब्रूते—'तथाप्यागन्तुकः शङ्कनीयः।' राजाह—आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते। शृणु—

अभिभवोद्योग=तिरस्करणाय प्रयत्न । विग्रहोत्साह=युद्धोत्साह । स च=काक । चिरात्=बहुकालात् । अत्रास्ते=अत्रैव वर्तते । आगन्तुक=अज्ञातकुलशील आगन्तुक ।

राजा ने कहा—'यह कभी नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होता तो वह सुग्गे को अपमानित करने का प्रयत्न ही क्यों करता? इसके अतिरिक्त तोते के आने के समय से ही उसमें (राजा चित्रवर्ण मे) युद्ध करने का उत्साह हुआ है। यह कौवा तो यहाँ बहुत दिनों से है।' मन्त्री ने कहा—'फिर भी आगन्तुक संदेहास्पद होता है।' राजा ने कहा—'कभी कभी आने वाले बड़े ही लाभदायक होते हैं। सुनो—

'परोऽपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्' ॥ १०० ॥

अन्वयः—हितवान्पर अपि बन्धु, अहित बन्धु अपि पर (भवति यत) देहज व्याधि अहित, आरण्यम् औषधम् हितमेव ॥ १०० ॥

हितवान्=शरीरोत्पन्न । व्याधि=रोग । अहित=क्षतिकारक । पर=शत्रु । देहज=शरीरोत्पन्न । व्याधि=रोग । अहित=क्षतिकारक । आरण्यम्=वनोद्भूतम् । औषधम्=भेषजम् । हितम्=हितकारकम् ॥ १०० ॥

शम् = अहोरात्रम् । खड्गपाणिः = कृपाणहस्तः । सेवते = राजानम् अनुसरति । समादिशति = आज्ञापयति ।

राजा ने गुप्त रूप से उस वेतन के खर्च का ब्योरा भी ज्ञात किया। वीरवर ने उसका आधा देवताओं तथा ब्राह्मणों के लिए खर्च किया। शेष का आधा दुखियों को दे दिया और उससे बचे हुए धन को भोजन तथा विलास में खर्च किया। इसी प्रकार प्रतिदिन व्यय करके वह रातदिन हाथ में तलवार लिए राजद्वार पर खड़ा रहता था। जब राजा स्वयम् आज्ञा देता था तभी वह अपने घर भी जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव। तत् श्रुत्वा राजा ब्रूते— कः कोऽत्र द्वारि तिष्ठति' ?

सकरुणम् = सदयम् । क्रन्दनध्वनिम् = रोदनशब्दम् । शुश्राव = अशृणोत् । कः कः अत्र द्वारि— कः द्वाररक्षक अत्र वर्तते ।

एक बार कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को आधी रात के समय राजा ने करुणा से भरी रोने की ध्वनि सुनी ? सुनकर ने कहा— द्वार पर कौन है ?

तदा तेनोक्तं—'देव ! अहं वीरवरः'। राजोवाच 'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्' । वीरवरोऽपि—'यथाज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः ।

क्रन्दनानुसरणम् = रोदनानुसन्धानम् ।

उसने कहा—'राजन् मैं वीरवर हूँ'। राजा ने कहा— जाकर रोने का पता लगाओ। 'महाराज की जैसी आज्ञा'—यह कह कर वीरवर चल गया।

राज्ञा च चिन्तितम्— अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि प्रेरितः। नैतदुचितम्। तदहमपि गत्वा 'किमेतदिति निरूपयामि।'

ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा च वीरवरेण रुदती रूपयौवनसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा पृष्टा च— का त्वम् ? किमर्थं रोदिषि ? इति। स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः। चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता। इदानीमन्यत्र गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते— 'यत्रापायः सम्भवति तत्रोपायोऽप्यस्ति। तत्कथं स्यात्पुनरिहावासो भवत्याः ?'

चिन्तितम् = मनसा विचारितम् । नैतद् उचितम् = न च एतद् उचितम् । सूचीभेद्ये = अतिघने । तमसि अन्धकारे । प्रेरितः = प्रेषितः । तदनु इति पश्चात्

वीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण=वीरवरमनुसरन् । रुदती=रोदनम् कुर्वन्ती । रूपयौवनसपन्ना=सौन्दर्यतारुण्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता=सर्वाभूषणै सुशोभिता । रोदिषि=रोदन करोषि । भुजच्छायायाम्=आश्रये । सुखेन विश्रान्ता=आनन्देनावस्थिता । अपाय: = तत्र निवसने विपत्ति । उपाय = तत्रावस्थातुं साधनम् । इहावास =अत्र स्थिति ।

राजा ने विचार किया—'यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को इस घने अन्धकार मे अकेले ही भेज दिया । इसलिए इसके पीछे पीछे चलकर देखूं कि क्या बात है ।'

तब राजा भी हाथ मे तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चलता हुआ नगर के बाहर पहुँचा । वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनो से सुशोभित किसी सुन्दरी युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा-'तुम कौन हो ? और क्यो रो रही हो ? ।' स्त्री ने कहा—'मैं इस शूद्रक की राज्यलक्ष्मी हूं । बहुत दिनों तक इसकी भुजाओ की छाया मे सुख से निवास करती रही । अब दूसरी जगह चली जाऊँगी ।' वीरवर ने कहा— जहाँ बाधा होती है, वही उसके दूर करने का उपाय भी होता है । तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं ?'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि' । इत्युक्त्वादृश्याभवत् ।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतम्=महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशल्लक्षणै युक्तम् । सर्वमङ्गलाया = दुर्गाया ।

लक्ष्मी ने कहा—'यदि तुम बत्तीस लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढ़ा दो तो मैं फिर यहाँ बहुत दिनो तक रह सकती हूं ।' ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गयी ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता, पुत्रश्च । तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ । वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान् । तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवंभूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः । तात ! तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः ? । एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः । यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा । स्ववधू =स्वपत्नी । प्रबोधिता = उत्थापिता । देहस्य=शरीरस्य । विनियोग: = व्यय । श्लाघ्य =प्रशस्य ।

भलाई चाहने वाला शत्रु भी अपना भाई तथा नुकसान चाहने वाला भाई भी शत्रु होता है। शरीर से ही उत्पन्न होने वाला रोग अकल्याणकारी होता है किन्तु वन में पैदा होने वाली दवा लाभदायक होती है॥ १०० ॥

अपरञ्च—'आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः।
सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः॥ १०१ ॥

अन्वयः—महीभृतः शूद्रकस्य वीरवरः नाम सेवकः आसीत् स स्वल्पकालेन आत्मनः सुतम् ददौ॥ १०१ ॥

महीभृत = राजा। सेवकः = अनुचरः। स्वल्पकालेन = स्वल्पकालस्य परिसेवनेन। आत्मनः = स्वस्य। सुतम् = पुत्रम्। ददौ = पुत्रहिताय बलिं अर्पयत्।

और भी—

राजा शूद्रक का वीरवर नामक एक सेवक था जिसने थोड़े ही समय में राजा की भलाई के लिए अपने पुत्र को भी दे दिया था॥ १०१ ॥

चक्रवाकः पृच्छति—'कथमेतत्?' राजा कथयति—
चकवे ने कहा—यह कैसे? राजा ने कहा—

कथा ८

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवानभवम्। वीरवरो नाम [महान्] राजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य, राजद्वारमुपगम्य प्रतीहारमुवाच—'अहं तावद्वर्तनार्थी राजपुत्रः मां राजदर्शनं कारय।' ततस्तेनासौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते—'देव! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदास्मद्वर्तनं क्रियताम्।'

क्रीडासरसि = केलिसरोवरे। अनुरागवान् = अनुरक्तः। प्रतीहारम् = द्वाररक्षकम्। वर्तनार्थी = आजीविकार्थी। राजपुत्र = राजकुमारः। वर्तनम् = वेतनम्।

आज से बहुत दिनों पहले मैं राजा शूद्रक के क्रीडासरोवर में रहने वाले कर्पूरकेलि नाम के राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी से प्रेम करने लगा था। (इसलिए वहीं रहता भी था) एक दिन वीरवर नाम का एक राजकुमार कहीं से आया और राजद्वार पर पहुँच कर उसने द्वारपाल से कहा—'मैं जीविका का इच्छुक एक राजकुमार हूँ अतः तुम मुझे राजा का दर्शन करा दो।

द्वारपाल ने उसे राजा का दर्शन करा दिया तब राजकुमार ने कहा—'राजन् यदि आप मुझे अपनी सेवा मे रखना चाहते हो तो मेरा वेतन निश्चित कर दीजिए।'

शूद्रक उवाच—'किं ते वर्त्तनम् ?' वीरवरो ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि'। राजाह—'का ते सामग्री ?' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू, तृतीयश्च खड्गः।' राजाह—'नैतच्छक्यम्।'

प्रत्यहम्=प्रतिदिनम्। सुवर्णपञ्चशतानि=पञ्चशतानि दीनाराणि। सामग्री=सेवासाधनम्। एतत्=एतावत् वेतनम्।

शूद्रक ने कहा—'तुम्हारा वेतन क्या होगा ?' वीरवर ने कहा—'प्रतिदिन पाँच सौ मुद्रा दीजिए'। राजा ने कहा—'तुम्हारे पास सेवा के साधन क्या हैं ?' वीरवर ने कहा—'दो भुजाएँ तथा तीसरी तलवार।' राजा ने कहा—'इतना वेतन तो नही दिया जा सकता है।'

तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः। अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्त्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयमेतावद् वर्त्तनं गृह्णाति, अनुपयुक्तो वे'ति ?' ततो मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि।

अस्य स्वरूपम्=वीरवरस्य अन्तस्तत्त्वम्, वेतनयोग्यम् गुणमित्यर्थं। उपयुक्त=उचित। ताम्बूलम् दत्वा=(पान देकर) तस्य सेवाम्, वर्तनम् च स्वीकृत्य।

यह सुनकर वीरवर प्रणाम करके चल दिया। इसके पश्चात् मन्त्रियो ने कहा—'राजन्, चार दिन का वेतन देकर इसकी वास्तविकता समझिए कि यह इतना वेतन उचित ढग से ले रहा है अथवा अनुचित ढग से।' तब मन्त्रियो की बात मान कर राजा ने वीरवर को बुलवाया और उसे पान देकर पाँच सौ अशर्फियाँ दे दी।

वर्त्तनविनियोगश्च राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः। तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। स्थितस्यार्द्धं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्यविलासव्ययेन। एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते। यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति।

तद्विनियोग=गृहीतवेतनव्ययप्रकार। सुनिभृतम्=प्रच्छन्नम्। निरूपित=ज्ञात। तदर्धम्=प्राप्तवेतनार्धम्। स्थितस्यार्धम्=शेषस्यार्धम्। भोज्यव्ययविलासव्ययेन=भोजनामोदादिव्ययेन। नित्यकृत्यम्=नित्याचरणम्। अहर्नि-

ष्पम्—महोत्सवम् । खड्गपाणि = कृपाणहस्त । सेवते = राजानम् अनुसरति । समाविशति = आश्रयति ।

राजा ने कुछ कम दे उस वेतन के खर्च का ब्यौरा भी ज्ञात किया। वीरवर ने उसका आधा देवताओं तथा ब्राह्मणों के लिए खर्च किया। शेष का आधा दुखियों को दे दिया और उससे बचे हुए धन को भोजन तथा विलास में खर्च किया। इसी प्रकार प्रतिदिन व्यय करके वह रातदिन हाथ में तलवार लिए हुए राजद्वार पर खड़ा रहता था। जब राजा स्वयम् आज्ञा देता था तभी वह अपने घर भी जाता था।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव। ततः श्रुत्वा राजा ब्रूते—'कः कोऽत्र द्वारि तिष्ठति' ?

सकरुणम् = सदयम् । क्रन्दनध्वनिम् = रोदनशब्दम् । शुश्राव = अशृणोत् । कः कः अत्र द्वारि—कः कः द्वाररक्षक अत्र वर्तते ।

एक बार कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की आधी रात के समय राजा ने करुणा से भरी रोने की ध्वनि सुनी ? सुनकर ने कहा— द्वार पर कौन है ?

तदा तेनोक्तम्—'देव ! अहं वीरवरः। राजोवाच 'क्रन्दनानुसरणं क्रियताम् ।' वीरवरोऽपि-'यथाज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः ।

क्रन्दनानुसरणम्=रोदनानुसन्धानम् ।

उसने कहा— राजन् मैं वीरवर हूँ। राजा ने कहा—'जाकर रोने का पता लगाओ। श्रीमान की जैसी आज्ञा'—यह कह कर वीरवर वहाँ से चल पड़ा।

राज्ञा च चिन्तितम्— अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि प्रहितः। नैतदुचितम्। तदहमपि गत्वा 'किमेतद्'इति निरूपयामि ।'

ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। गत्वा (च) वीरवरेण रुदती रूपयौवनसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा पृष्टा च—'का त्वम् ? किमर्थं रोदिषि ?' इति। स्त्रियोक्तम्-'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता, इदानीमन्यत्र गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते—'यत्रापायः सम्भवति तत्रोपायोऽप्यस्ति तत्कथं स्यात्पुनरिहावासो भवत्याः ?

चिन्तितम् = मनस्यालोचितम् । नैतद् उचितम् = तस्य प्रेषणम् अनुचितम् । सूचीभेद्ये = अतिघने । तमसि=अन्धकारे । प्रहितः=प्रेषितः । तदहमपि गत्वा—

वीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण=वीरवरमनुसरन् । रुदती=रोदनम् कुर्वन्ती । रूपयौवनसपन्ना=सौन्दर्यतारुण्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता=सर्वाभूषणै सुशोभिता । रोदिषि=रोदनं करोषि । भुजच्छायायाम्=आश्रये । सुखेन विश्रान्ता=आनन्देनावस्थिता । अपाय॰ = तत्र निवसने विपत्ति । उपाय = तत्रावस्थातुं साधनम् । इहावास =अत्र स्थिति ।

राजा ने विचार किया—'यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को इस घने अन्धकार मे अकेले ही भेज दिया। इसलिए इसके पीछे-पीछे चलकर देखूं कि क्या बात है।'

तब राजा भी हाथ में तलवार लेकर उसके पीछे-पीछे चलता हुआ नगर के बाहर पहुँचा। वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनो से सुशोभित किसी सुन्दरी युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा-'तुम कौन हो? और क्यो रो रही हो?।' स्त्री ने कहा—'मैं इस शूद्रक की राजयलक्ष्मी हूँ। बहुत दिनों तक इसकी भुजाओ की छाया मे सुख से निवास करती रही। अब दूसरी जगह चली जाऊँगी।' वीरवर ने कहा— जहाँ बाधा होती है, वही उसके दूर करने का उपाय भी होता है। तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं?'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्र शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाह पुनरत्र सुचिरं निवसामि'। इत्युक्त्वादृश्याभवत्।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपतम्=महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशल्लक्षणै युक्तम्। सर्वमङ्गलाया.=दुर्गाया ।

लक्ष्मी ने कहा—'यदि तुम वत्तीस लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढ़ा दो तो मैं फिर यहाँ वहुत दिनो तक रह सकती हूं।' ऐसा कहकर वह अदृश्य हो गयी।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता पुत्रश्च। तौ निद्रा परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवं भूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः। तात! तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः?। एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोग. श्लाघ्यः यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा। स्ववधू॰=स्वपत्नी। प्रबोधिता = उत्थापिता देहस्य=शरीरस्य। विनियोग. = व्यय.। श्लाघ्य =प्रशस्य ।

तब वीरवर ने घर जाकर सोते हुए अपने स्त्री-पुत्र को जगाया। वह दोनों नींद छोड़कर उठ बैठे। वीरवर ने लक्ष्मी द्वारा कही गई सारी बातें उन्हें सुना दी। उसे सुनकर आनन्द के साथ शक्तिधर ने कहा—'मैं अत्यन्त धन्य हूँ क्योंकि आज स्वामी के राज्य की रक्षा में मेरे इस शरीर का इतना प्रशंसनीय उपयोग हो रहा है। तो फिर विलम्ब क्यों हो रहा है। इस प्रकार के कार्य में इस शरीर का लग जाना अत्यन्त प्रशंसनीय है। क्योंकि—

'धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
तन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति' ॥ १०२ ॥

अन्वयः—प्राज्ञ धनानि जीवितं चैव परार्थे उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति तन्निमित्त त्यागः वरम् ॥ १०२ ॥

प्राज्ञ = बुद्धिमान्। धनानि = द्रव्याणि। जीवितम्=प्राणान्। परार्थे=परहिताय। उत्सृजेत् = त्यजेत्। विनाशे नियते = विनाशे निश्चिते। तन्निमित्त = परहिताय। वरम्—श्रेष्ठम् ॥ १०२ ॥

बुद्धिमान् धन तथा जीवन दोनों ही दूसरों की भलाई के लिए समर्पित कर देते हैं। जब इस शरीर का विनाश निश्चित है ही तो परोपकार के लिए इसे त्याग देना ही श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

शक्तिधरमातोवाच—'यद्येतन्न कर्तव्यं तदनेनाप्येन कर्मणा गृहीतस्य महावर्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति।' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः स्थानं गताः। तत्र सर्वमङ्गलां सम्पूज्य वीरवरो ब्रूते—'देवि! प्रसीद विजयतां शूद्रको महाराजः, गृह्यतामयमुपहारः।' इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास—'गृहीतराजवर्तनस्य निस्तारः कृतः। अधुना निष्पुत्रस्य मे जीवनेनालम्।' इत्यालोच्यात्मनः शिरश्चिच्छेद।

तद् न कर्तव्यम्=स्वामिहिताय पुत्रार्पणं न कार्यं। महावर्तनस्य=बहुमूल्यवेतनस्य। निष्क्रय=निस्तार [illegible] आलोच्य=विचार्य। ब्रूते=अवदत् [illegible]। कृतः — दान। निस्तार — आनृण्यम्। निष्पुत्रस्य=पुत्रहीनस्य।

[illegible] माता ने कहा—'यदि यह कार्य नहीं किया जायगा तो फिर [illegible] कार्य [illegible]। इतने बड़े वेतन लेने का बदला चुक जा सकेगा?' [illegible] सर्वमङ्गला दुर्गा के मन्दिर में गये। वहाँ देवी की पूजा [illegible] कहा—'देवि प्रसन्न हो जाओ महाराज शूद्रक की जय हो।

यह भेंट स्वीकार करें।' ऐसा कहकर उसने पुत्र का सिर काट दिया। इसके बाद वीरवर ने विचार किया कि राजा द्वारा प्राप्त वेतन का ऋण चुका दिया। अब पुत्रहीन जीवन तो व्यर्थ है ऐसा सोचकर उसने अपना सिर भी काट दिया।

ततः स्त्रियापि स्वामि-पुत्रशोकार्त्तया तदनुष्ठितम्। तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—

स्वामिपुत्रशोकार्तया = पतिपुत्रशोकव्यथया। तदनुष्ठितम्=स्वशिरश्छेदनम् विहितम्। चिन्तयामास=विचारितवान्।

तब उसकी स्त्री ने भी पति-पुत्र के शोक से दुखी होकर वही किया (अपना सिर काट दिया)। यह सब देखकर आश्चर्य मे पड़े हुए राजा ने विचार किया—

'जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।
अनेन सदृशो लोके न भूतो, न भविष्यति' ॥ १०३ ॥

अन्वयः—मद्विधा क्षुद्रजन्तव जायन्ते म्रियन्ते च (किन्तु) अनेन सदृश. लोके न भूत न भविष्यति ॥ १०३ ॥

मद्विधा =मत्सदृशा। जायन्ते=उत्पद्यन्ते। म्रियन्ते=मरणं प्राप्नुवन्ति। क्षुद्रजन्तव =क्षुद्रजीवा। अनेन=वीरवरेण। सदृश =तुल्य ॥ १०३ ॥

'मेरे जैसे तुच्छ प्राणी ही जन्म लेते और मरते रहते हैं किन्तु इसके समान न तो कोई हुआ न होगा' ॥ १०३ ॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनापि किं प्रयोजनम्।' ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः। अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया प्रत्यक्षभूतया राजा हस्ते धृत, उक्तश्च—'पुत्र! प्रसन्नोऽस्मि ते, एतावता साहसेनालम्। जीवनान्तेऽपि तव राजभङ्गो नास्ति।'

तदेतेन = तत वीरवरेण। परित्यक्तेन = विरहितेन। समुत्थापित =समुत्तोलित। साहसेनालम्=साहस मा कुरु। राजभग =राज्यविनाश।

अत इसे छोडकर मैं अब राज्य लेकर क्या करूँगा।' तब शूद्रक ने भी अपना सिर काटने के लिए तलवार उठा ली। इसी बीच भगवती दुर्गा ने राजा का हाथ पकड़ते हुए कहा—'पुत्र' मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब इतने साहस की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे जीवन का अत हो जाने पर भी तुम्हारे राज्य का विनाश नहीं होगा।'

राजा च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देवि! किं मे राज्येन? जीवितेन वा किं प्रयोजनम्?। यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममायुःशेषेणाप्यय सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु। अन्यथाहं यथाप्राप्तां गतिं

गच्छामि।' भगवत्युवाच—पुत्र ! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण, भृत्यवात्सल्येन च सर्वथा संतुष्टास्मि। गच्छ विजयी भव। अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु। इत्युक्त्वा देव्यदृश्याभवत्। ततो वीरवरः सपुत्रदारो गृहं गतः। राजापि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः।

जीवितेन=प्राणैः। किं प्रयोजनम्=किं फलम्। अनुकम्पनीय=कृपापात्र। सदारपुत्र=पत्नीपुत्रसहित। यथाप्राप्तां गतिम्=वीरवरेण प्राप्तवाम् मृत्युमित्यर्थः। सत्त्वोत्कर्षेण=धीरतातिशयेन। भृत्यवात्सल्येन=सेवकप्रेम्णा। सर्वथा=सर्वप्रकारेण। संतुष्टा=प्रसन्ना। तैः=वीरवरादिभिः। अलक्षितः=अदृष्टः। अन्तःपुरम्=स्त्रीवासगृहे (रनिवास)।

राजा ने साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—देवि मुझे राज्य अथवा अपने जीवन से भी कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आप मेरे ऊपर कृपा ही करना चाहती हैं तो मेरी बची हुई आयु से पत्नी-पुत्र के साथ यह वीरवर जीवित हो जाए। नहीं तो मैं भी इसी की गति प्राप्त करूँगा (मैं भी अपना सिर काट डालूँगा)। देवी ने कहा—'पुत्र मैं तुम्हारे इस अत्यन्त उत्कृष्ट साहस और सेवक के प्रति प्रदर्शित प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। जाओ। विजयी बनो। यह राजकुमार भी सपरिवार जीवित हो जाए।' ऐसा कहकर देवी अदृश्य हो गई। फिर वीरवर भी स्त्री-पुत्र के साथ घर चला गया। राजा भी उनसे छिपकर शीघ्र ही रनिवास में चला गया।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः सन्नाह—'देव ! सा रुदती मामवलोक्यादृश्याभवत्। न काप्यन्या वार्ता विद्यते। तद्वचनमाकर्ण्य संतुष्टो राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—'कथमयं श्लाघ्यो महासत्त्वः'। यतः—

इसके पश्चात् प्रातःकाल द्वार पर स्थित वीरवर ने राजा के फिर पूछने पर कहा—'राजन् वह रोने वाली मुझे देखकर अदृश्य हो गयी। और कोई दूसरी बात नहीं है। उसकी बात सुनकर राजा ने विचार किया—यह महापुरुष कितना प्रशंसनीय है। क्योंकि—

प्रियं ब्रूयादकृपणः, शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः' ॥ १०४ ॥

अन्वयः—अकृपणः प्रियम् ब्रूयात्, शूरः अविकत्थनः स्यात्, दाता अपात्रवर्षी न प्रगल्भः च अनिष्ठुरः स्यात् ॥ १०४ ॥

अकृपण =दानशील । प्रियम् ब्रूयात्=मधुरं वचनम् उच्चरेत् । शूर =वीरः अविकत्थन = आत्मश्लाघारहित । स्यात् = भवेत् । अपात्रवर्षी = कुपात्रप्रद । प्रगल्भ =तेजसान्वित । अनिष्ठुर = अक्रूर ॥ १०४ ॥

उदार को प्रिय बोलना चाहिए, वीर को आत्मश्लाघी नहीं होना चाहिए, दानी को अपात्र (अयोग्य) व्यक्ति के लिए दान नहीं देना चाहिए तथा प्रगल्भ को निष्ठुर नहीं होना चाहिए ॥ १०४ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति।' ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा, सर्वं वृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्तस्मै कर्णाटकराज्यं ददौ। तत्किमागन्तुको जातिमात्राद् दुष्टः ? । तत्राप्युत्तमाधम-मध्यमाः सन्ति। चक्रवाको ब्रूते—

एतस्मिन्=वीरवरे । शिष्टसभाम्=शिष्टानाम् सभाम् । सर्वं वृत्तान्तम् = वीर-वरेण रात्रौ यत्कृतम् । तत्सर्वम् । प्रस्तुत्य=समक्ष कृत्वा । आगन्तुक = अतिथि. । तत्रापि=आगन्तुकेषु अपि ।

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण वर्तमान हैं।' इसके पश्चात् प्रात काल राजा ने शिष्टों की सभा करके सभी घटना कह सुनाई और प्रसन्न होकर उसे कर्नाटक का राज्य दे दिया। तो क्या आगन्तुक जातिमात्र से ही दुष्ट होते हैं। उसमें भी उत्तम, मध्यम और अधम हैं।' चकवे ने कहा—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया।
वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नाशो न त्वकार्यतः॥ १०५॥

अन्वयः—य (मन्त्री) नृपेच्छया अकार्यम् कार्यवत् शास्ति स किंमन्त्री। स्वामिमनोदु खम् वरम् (किन्तु) अकायत तन्नाश न वरम् ॥ १०५ ॥

नृपेच्छया=राज्ञ इच्छानुसारेण । अकायम्=अनुचितम् कार्यमपि । कार्यवत्= उचितकार्यसदृशम् । शास्ति = उपदिशति । स किमन्त्री = स दुर्मन्त्री भवति । स्वामिमनोदु खम्=राजहृदयपीडा । वरम्=श्रेय. । अकायत =अकार्यस्य करणाय उपदेशात् । तन्नाश =नृपविनाश ॥ १०५ ॥

जो मन्त्री केवल राजा की इच्छा से ही न करने योग्य कार्य को भी करणीय कार्य के समान बताता है वह दुष्ट होता है। स्वामी का मन दु खी हो जाना तो ठीक है किन्तु बुरे कर्म के उपदेश से उसका विनाश करा देना ठीक नहीं ॥१०५॥

'वैद्यो, गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदाः ।
शरीर धर्म-कोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते' ॥ १०६ ॥

अन्वयः—यस्य राज्ञः वैद्यः गुरुः मन्त्री च प्रियंवदाः भवन्ति सः (राजा) शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रम् परिहीयते ॥ १ ६ ॥

यस्य राज्ञः=नृपस्य । वैद्यः=चिकित्सकः । गुरुः=उपदेशकः । प्रियंवदाः= राज्ञः इच्छानुसारेण प्रियवक्तारः । शरीरधर्मकोशेभ्यः=देहधर्मकोशेभ्यः । क्षिप्रम्=शीघ्रम् । परिहीयते=हीनो भवति ॥ १ ६ ॥

जिस राजा के वैद्य गुरु तथा मंत्री सर्वदा उसकी प्रिय बातों का ही ध्यान रखते हैं वह शरीर धर्म और खजाने से शीघ्र ही रहित हो जाता है ॥ १ ६ ॥

शृणु—देव !

'पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं यतो मोहान्निध्यर्थी नापितो हतः ॥ १०७ ॥

राजा पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

अन्वयः—एकेन पुण्यात् यत् लब्धम् तत् ममापि भविष्यति—(इति) निध्यर्थी नापितः यतः मोहात् भिक्षुं हत्वा (स्वयं) हतः ॥ १ ७ ॥

एकेन=केनापि पुरुषेण । पुण्यात्=विगतपूर्वजन्मकृतात् धर्मेण । लब्धम्=प्राप्तम् । निध्यर्थी=धनार्थी । हतः=मृतः ॥ १ ७ ॥

हे राजन् सुनो—

किसी ने पुण्य से कुछ पा लिया तो वैसा ही मेरे लिए भी हो जायगा। ऐसा ही सोचकर धन के अभिलाषी नाई ने लोभ में आकर भिक्षुक को मार डाला जिससे स्वयम् भी मारा गया ॥ १ ७ ॥

राजा ने पूछा—यह कैसे हुआ। मंत्री ने कहा—

कथा ९

अस्त्ययोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियः। तेन धनार्थिना महता क्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः। ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणादिष्टो यत्-त्वमद्य प्रातः क्षौरं कारयित्वा लगुडहस्तः सन् स्वगृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि ततो यमेवागतं भिक्षुकं प्राङ्गणे पश्यसि तं निर्दयं

लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्ण-कलसो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम् । ततस्तथानुष्ठिते तद् वृत्तम् ।

धनार्थिना=द्रव्याकाङ्क्षिणा । क्लेशेन=कष्टकरेण साधनेन । चन्द्रार्धचूडामणि = भगवान् शिव । आराधित =सेवित पूजितश्च । क्षीणपाप =नष्टदुष्कर्मा । यक्षेश्वरेण=कुबेरेण । लगुडं हस्ते कृत्वा=यष्टिम् गृहीत्वा । आदिष्ट = आज्ञप्त । निभृतम्=प्रच्छन्नो भूत्वा । समागतम्=समायातम् । हनिष्यसि=ताडयिष्यसि । तथानुष्ठिते=भिक्षुके हते सति । तद्वृत्तम्=तथैव भूतम् ।

अयोध्या में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय था । उसने धन की अभिलाषा से बड़े कष्ट के साथ बहुत दिनों तक शकर जी की आराधना की । तब उसके सारे पाप नष्ट हो गए और एक दिन भगवान् शकर की आज्ञा से कुबेर ने उसे स्वप्न मे दर्शन देकर कहा—'आज तुम बाल बनवाकर, हाथ में लाठी लेकर घर में छिपकर बैठ जाना । तब आँगन मे आए हुए भिक्षुक को देख कर जब उसे निर्दयता के साथ डडे से मारोगे तो वह सोने का कलश हो जायगा । जिससे तुम अपने जीवन भर के लिए सुखी बन जाओगे ।' उसके ऐसा करने पर सचमुच वही हुआ ।

तत्र क्षौरकरणायानीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्—'अये निधिप्राप्तेरयमुपायः । तदहमप्येवं किं न करोमि ?' । ततः प्रभृति स नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृत भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते । एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः । तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेने'-त्यादि ॥ ॐ ॥

निधिप्राप्ते.=धनागमस्य । सुनिभृतम्=प्रच्छन्नो भूत्वा । प्रतीक्षते=प्रतीक्षां करोति । व्यापादित =हत ।

वहाँ बाल बनाने के लिए लाए गए नाई ने सोचा—धन प्राप्त करने का यह तो अच्छा उपाय है । मैं भी ऐसा ही क्यो न करूँ । उसी दिन से नाई प्रति दिन उसी प्रकार हाथ मे डडा लिए हुए छिप कर भिक्षुक के आने की प्रतीक्षा करता था । एक दिन उसे भिक्षुक मिल ही गया और उसने उसे डडे से मार डाला । इस अपराध के कारण उसे भी राजपुरुषों ने मार डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'एक ने जो पुण्य से प्राप्त किया' इत्यादि ।

राजाह—'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः ।
स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा, किं वा विश्वासघातकः ? ॥१८॥

अन्वयः—पुरावृत्तकथोद्गारैः परः निष्कारणबन्धुः किंवा विश्वासघातकः स्यात् (इति) कथम् निर्णीयते ॥ १ ८ ॥

पुरावृत्तकथोद्गारैः=प्राचीनकाले घटितकथाकथनैः । परः—अन्यः जनः वा । निष्कारणबन्धुः = निःस्वार्थसहायकः । विश्वासघातकः = विश्वासपूर्वकं घातकः । कथं—केन प्रकारेण । निर्णीयते—निश्चीयते ॥ १ ८ ॥

राजा ने कहा—

प्राचीन कथाओं के कहने मात्र से ही यह कैसे निर्णय किया जा सकता है कि आगन्तुक निःस्वार्थ भलाई करने वाला है अथवा विश्वासघाती ॥ १ ८ ॥

भवतु, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् । मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्ण-स्तदधुना किं विधेयम् ?।' मन्त्री वदति-'देव ! आगतप्रणिधिमुखा-न्मया श्रुतं, यत्—महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे चित्रवर्णेनानादरः कृतः ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः । तथा चोक्तम्—

भवतु—आस्ताम् तावत् । प्रस्तुतम् = उपस्थितम् । अनुसन्धीयताम्—विचार्यताम् । मलयाधित्यकायाम् = मलयपर्वतोपरिभागे । किं विधेयम् = किं कर्तव्यम् । चित्रवर्णेन—मयूरेण । अनादरः कृतः—अपमानितः । मूढः—मूर्खः ।

अस्तु जाने दो । अब उपस्थित विषय पर विचार करो' यदि चित्रवर्ण मलय की चोटी पर डेरा डाले पड़ा है तो फिर क्या करना चाहिए । मन्त्री ने कहा— राजन् आए हुए चर के मुँह से मैंने सुना है कि चित्रवर्ण ने महामन्त्री गृध्र के उपदेशों का तिरस्कार कर दिया है इस लिए वह मूर्ख जीता जा सकता है । जैसा कि कहा भी गया है—

'लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः, प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो, योधावमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः' ॥ १०९ ॥

अन्वयः—लुब्धः क्रूरः अलसः असत्यः प्रमादी भीरुः अस्थिरः, योधावमन्ता मूढः रिपुः सुखच्छेद्यः स्मृतः ॥ १ ९ ॥

लुब्धः =लोभयुक्तः । क्रूरः—नृशंसः । अलसः —आलस्येन युक्तः । असत्यः = मिथ्यावादी । प्रमादी—असावधानः । भीरुः—कातरः । अस्थिरः = चञ्चलस्वभावः । योधावमन्ता = स्वसैनिकतिरस्कर्ता । रिपुः—शत्रुः । सुखच्छेद्यः —सरलतया विनाशयितुम् शक्यः ॥ १ ९ ॥

लालची, निष्ठुर, आलसी, असत्यवादी, असावधान, कायर, चंचल तथा अपने वीर सैनिकों का अपमान करने वाला मूर्ख शत्रु सरलता से जीता जा सकता है ॥ १०९ ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं न करोति, तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तु सारसादयः सेनापतयो नियुज्यन्ताम्। तथा चोक्तम्—

असौ=चित्रवर्ण मयूर। नद्यद्रिवनवर्त्मसु = सरित्पर्वतकाननमार्गेषु। तद्बलानि=मयूरस्य सैन्यानि।

इसलिए जब तक वह हमारे किले का द्वार रोक न ले (किले पर घेरा न डाल दे) तब तक नदियो, पहाड़ो, जंगलो और रास्तो में उसकी सेना का विनाश करने के लिए सारस आदि सेनापतियों को नियुक्त कर दीजिए। जैसा कि कहा भी गया है—

'दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं, नद्यद्रिवनसङ्कुलम्।
घोराग्निभयसन्त्रस्तं, क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥ ११० ॥
प्रमत्तं, भोजनव्यग्रं, व्याधिदुर्भिक्षपीडितम्।
असंस्थितमभूयिष्ठं, वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १११ ॥
पङ्कपांशुजलाच्छन्नं, सुव्यस्तं, दस्युविद्रुतम्।
एवम्भूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत्' ॥ ११२ ॥

अन्वयः—दीर्घवर्त्म परिश्रान्तम् एवम् भूतम् परसैन्यम् महीपालः विघातयेत् ॥ ११०–११२ ॥

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तम् = दूरमार्गगमनात् श्रान्तम्। नद्यद्रिवनसंकुलम् = सरित्पर्वतादिलघनात् व्याकुलम्। घोराग्निभयसन्त्रस्तम्=भीषणवनाग्निना भीतम्। क्षुत्पिपासार्दितम् = क्षुधया जलेच्छया च पीडितम्। प्रमत्तम् = असावधानम्। भोजनव्यग्रम् = भोजने लग्नम्। व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् = रोगाकालदुःखितम्। असंस्थितम्=व्यूहरचनारहितम्। अभूयिष्ठम् = अल्पम्। वृष्टिवातसमाकुलम् = वर्षवायुव्यग्रम्। पङ्कपांशुजलाच्छन्नम् = कर्दमधूलिजलावरुद्धम्। सुव्यस्तम् = निश्चिन्तम्। दस्युविद्रुतम् = मोषकपराहतम् (दस्यु=डाकू)। परसैन्यम् = शत्रुबलम्। महीपाल =पृथ्वीपति। विघातयेत्=विनाशयेत् ॥ ११ –११२ ॥

लम्बे रास्ते से थके हुए, नदी, पहाड़ तथा जंगलो से व्याकुल भयकर अग्नि से डरे हुए, भूख प्यास से पीडित, असावधान, भोजन मे व्यस्त, रोग तथा अकाल से दुखी, अव्यवस्थित, वर्षा तथा वायु से घबड़ाए हुए, कीचड़, धूल तथा

पानी से आप्लावित शिविर और डाकुओं से लूटे हुए शत्रुसैनिकों को नष्ट कर डालना चाहिए ॥ ११०—११२ ॥

अन्यच्च—'भयस्कन्दप्रमादाद्वा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवा सुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्' ॥ ११३ ॥

अन्वयः—राजा भयस्कन्दप्रमादात् प्रजागरकृतश्रमम् दिवासुप्तम् निद्राव्याकुलसैनिकम् समाहन्यात् ॥ ११३ ॥

भयस्कन्दप्रमादात् = आकस्मिकाक्रमणशङ्कया । प्रजागरकृतश्रमम् = प्रजागरेण परिश्रान्तम् । दिवासुप्तम् = दिवसनिद्रितम् । निद्राव्याकुलसैनिकम् = निद्राव्याकुलसेनागणम् । समाहन्यात्=विनाशम् कुर्यात् ॥ ११३ ॥

राजा को चाहिए कि वह आक्रमण के भय से रात भर जागने के कारण थकी हुई दिन में ही सोई हुई तथा नींद से व्याकुल शत्रु सेना को मार डाले ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः । तथानुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—'तात ! किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते ? किं क्वाप्यविनयो ममास्ति ? तथा चोक्तम्—

प्रमादिनः =असावधानस्य । बलम्=सैन्यम् । यथावकाशम् = यथावसरम् । घ्नन्तु = मारयन्तु । तथानुष्ठिते = एवं व्यवहारमित्याने कृते सति । निहताः = मृताः । विषण्णः = दुःखितः । आह = कथयामास । अस्मदुपेक्षा=अस्मदतिरस्कारः । किम्=कस्मात् हेतोः । अविनयः = धृष्टता ।

इसलिए पहुँच कर हमारे सेनापति यथावकाश रात दिन उस प्रमादी की सेना का विनाश करें । ऐसा किए जाने पर चित्रवर्ण के बहुत से सेनापति तथा सैनिक मार डाले गए । तब दुःखी होकर चित्रवर्ण ने अपने मंत्री दूरदर्शी नाम के गृध्र से कहा—तात मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं । क्या मुझसे कोई धृष्टता हुई है ? जैसा कि कहा भी गया है—

'न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्' ॥ ११४ ॥

अन्वयः— राज्यम् प्राप्तम् इत्येव (विचार्य) असाम्प्रतम् न वर्तितव्यम् हि अविनयः तथा श्रियम् हन्ति (यथा) जरा उत्तमम् रूपम् (हन्ति) ॥ ११४ ॥

राज्यम् प्राप्तम्=राज्यमासादितम् । असाम्प्रतम्=अनुचितम् । न वर्तितव्यम्=नाचरणीयम् । अविनयः =धाष्टर्यम् । श्रियम् = राज्यसम्पदम् । हन्ति = विनाशयति । जरा=वृद्धावस्था । उत्तमं रूपम्—उत्कृष्टं सौन्दर्यम् ॥ ११४ ॥

अब राज्य तो मुझे मिल ही गया, ऐसा सोचकर राजा को अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि धृष्टता राज्यलक्ष्मी का उसी प्रकार विनाश कर डालती है जैसे बुढापा उत्कृष्ट सौन्दर्य को ॥ ११४ ॥

अपि च—'दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी।
उद्युक्तो विद्यान्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः' ॥ ११५ ॥

अन्वयः—दक्ष श्रियम्, पथ्याशी कल्यताम्, अरोगी सुखम्, उद्युक्त विद्यान्तम्, विनीत धर्मार्थयशांसि च अधिगच्छति ॥ ११५ ॥

दक्ष = चतुर । श्रियम् = लक्ष्मीम् । पथ्याशी = पथ्यभोक्ता । कल्यताम्= आरोग्यम् । अरोगी=रुग्रहित । सुखम् = आनन्दम् । उद्युक्त =उद्योगशील । विद्यान्तम्=विद्याया पर्यवसानम् । विनीत =विनम्र । धर्मार्थयशांसि= धर्मधनकीर्ती । अधिगच्छति=प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

और भी—चतुर लक्ष्मी को, पथ्य (उचित) भोजन करने वाला आरोग्य, नीरोग सुख, परिश्रमी विद्या की पूर्णता तथा विनम्र स्वभाव वाला धर्म, धन और कीर्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ११५ ॥

गृध्रोऽवदत्—'देव ! शृणु
'अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा' ॥ ११६ ॥

अन्वयः—अविद्वान् अपि भूपाल विद्यावृद्धोपसेवया जलासन्नतरुर्यथा परा श्रियमवाप्नोति ॥ ११६ ॥

अविद्वान्=मूर्ख । भूपाल =नृप । विद्यावृद्धोपसेवया = विदुषाम् सेवनेन । जलासन्नतरु = जलनिकटस्थवृक्ष । यथा = इव । परां = श्रेष्ठाम् । श्रियम् = लक्ष्मीम्, उन्नतिञ्च । अवाप्नोति = लभते ॥ ११६ ॥

विद्या का ज्ञाता न होते हुए भी राजा विद्वान् की सेवा से उसी प्रकार लक्ष्मी को प्राप्त करता है जैसे जल के समीप रहने वाला वृक्ष उन्नति को प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

अन्यच्च—'पानं, स्त्री, मृगया, द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महीभुजाम्' ॥ ११७ ॥

अन्वयः—पान' '' 'महीभुजाम् व्यसनानि (सन्ति) ॥ ११७ ॥

पानम् = सुराभक्षणम् । मृगया = आखेटः । द्यूतम् = अक्षक्रीडा । अर्थदूषणम् = धनोन्मुक्तिः, धनात् धनापहरणम् । वाग्दण्डयो = कथने दण्डदाने च । पारुष्यम् = नैष्ठुर्यम् । महीभुजाम् = नृपाणाम् । व्यसनानि = दोषाः ॥ ११७ ॥

और भी—शराब पीना स्त्री में आसक्त रहना जुआ खेलना बुरे ढंग से धन एकत्रित करना और बोलने तथा दंड देने में निष्ठुर होना—राजाओं के दुर्गुण हैं ॥ ११७ ॥

किञ्च—'न साहसैकान्त-रसानुवर्तिना,
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

अन्वयः—साहसैकान्तरसानुवर्तिना उपायोपहतान्तरात्मना ऊर्जिता विभूतयः अवाप्तुम् न शक्यम् (यतः) सम्पदः नये शौर्ये च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्तिना = साहसैकपरायणेन । उपायोपहतान्तरात्मना = उपायोपचिन्तारहितेन । ऊर्जिता = वृद्धिं गता । विभूतयः = सम्पदः । अवाप्तुम् = प्राप्तुम् । न शक्यम् = न समर्था । सम्पदः = श्रियः । नये = नीतौ । शौर्ये = पराक्रमे च । वसन्ति = निवसन्ति ॥ ११८ ॥

क्योंकि—एकमात्र साहस का ही सहारा लेने वाले तथा केवल उपायमात्र का चिंतन करने वाले बढ़ी हुई विभूतियों को प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि सम्पत्ति नीति और पराक्रम अर्थात् नीतियुक्त वीरता में ही निवास करती है ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्—

स्वबलोत्साहम् = स्वपराक्रमोत्साहनम् । अवलोक्य = दृष्ट्वा । साहसैकरसिकेन = केवलसाहसानुरागेण । मयोपन्यस्तेषु = मया विचार्य प्रस्तावितेषु । मन्त्रेषु = नीतिविषयेषु । अनवधानम् = अवधानशून्यता अनादरश्च ।

तुमने अपनी सेना और उत्साह को देखकर केवल साहस का सहारा लिया और मेरे प्रस्तावित नीतियुक्त मन्त्रों के प्रति असावधानी बरती तथा कठोर शब्दों का उच्चारण भी किया । इसीलिए बुरी नीति का फल भोगना पड़ा है । जैसा कि कहा भी गया है—

'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?
सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ?' ॥ ११९ ॥

अन्वयः—कम् दुर्मन्त्रिणम् नीतिदोषा न उपयान्ति, कम् अपथ्यभुजम् रोगा न सन्तापयन्ति, श्री कम् न दर्पयति, मृत्यु क न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषया क न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नीतिदोषा =मन्त्रदोषा । अपथ्यभुजम्=कुपथ्याशिनम् । सतापयन्ति = पोडयन्ति । श्री = लक्ष्मी । दर्पयति=मदयति । स्त्रीकृता = स्त्रीसम्बन्धिन । विषया =भोगाभिलाषा । परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसंबंधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नही पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे अभिमानी नही बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नही करती है ? और स्त्रीसंबंधी विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—'मुदं विषादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

अन्वयः—विषाद मुदम्, हिमागम शरदम्, विवस्वान् तम , कृतघ्नता सुकृतम्, प्रियोपपत्ति शुचम्, नय आपदम्, दुर्नय समृद्धा अपि श्रियः हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषाद = शोक । शरदम्=शरदृतुम् । हिमागम =हेमन्त । विवस्वान्=रवि । तम =अन्धकारम् । प्रियोपपत्ति =इष्टप्राप्ति । शुच=शोकम् । आपदम् = विपत्तिम् । नय = नीति । दुर्नय = दुर्नीति । समृद्धा =उन्नता । श्रिय =लक्ष्मी । हन्ति=विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद् को, सूर्य अन्धकार को, कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति । यतः—

पानम् = सुरासेवनम् । मृगया = आखेटः । द्यूतम् = अक्षक्रीडा । अर्थदूषणम् = अर्थाशुचिः बलात् धनापहरणम् । वाक्पारुष्ये = कटुवचने दण्डपाते च । पारुष्यम् = नैष्ठुर्यम् । महीभुजाम् = नृपाणाम् । व्यसनानि = दोषाः ॥ ११७ ॥

और भी—शराब पीना स्त्री में आसक्त रहना जुआ खेलना बुरे ढंग से धन एकत्रित करना और बोलने तथा दंड देने में निष्ठुर होना—राजाओं के दुर्गुण हैं ॥ ११७ ॥

किञ्च—'न साहसैकान्त-रसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

अन्वयः—साहसैकान्तरसानुवर्तिना उपायोपहतान्तरात्मना ऊर्जिता विभूतयः अवाप्तुम् न शक्यम् (अतः) सम्पदः नये शौर्ये च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्तिना = साहसैकपरायणेन । उपायोपहतान्तरात्मना = उपायविचाररहितेन । ऊर्जिता = वृद्धिं गताः । विभूतयः = सम्पदः । अवाप्तुम् = प्राप्तुम् । न शक्यम् = न शक्याः । सम्पदः = श्रियः । नये = नीतौ । शौर्ये = पराक्रमे च । वसन्ति = निवसन्ति ॥ ११८ ॥

क्योंकि—एकमात्र साहस का ही सहारा लेने वाले तथा केवल उपायमात्र का चिन्तन करने वाले बढ़ी हुई विभूतियों को प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि सम्पत्ति नीति और पराक्रम अर्थात् नीतियुक्त वीरता में ही निवास करती है ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्—

स्वबलोत्साहम् = स्वपराक्रमोत्साहम् । अवलोक्य = दृष्ट्वा । साहसैकरसिकेन = केवलसाहसानुरागेण । मयोपन्यस्तेषु = मया विचार्य प्रस्तावितेषु । मन्त्रेषु = नीतिविधिषु । अनवधानम् = असावधानता अनादरश्च ।

तुमने अपनी सेना और उत्साह को देखकर केवल साहस का सहारा लिया और मेरे प्रस्तावित नीतियुक्त मन्त्रों के प्रति असावधानी बरती तथा कठोर शब्दों का उच्चारण भी किया । इसीलिए बुरी नीति का फल भोगना पड़ा है । जैसा कि कहा भी गया है—

'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?
सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ?' ॥ ११९ ॥

अन्वयः—कम् दुर्मन्त्रिणम् नीतिदोषा न उपयान्ति, कम् अपथ्यभुजम् रोगा न सन्तापयन्ति, श्री कम् न दर्पयति, मृत्यु क न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषया क न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नीतिदोषा=मन्त्रदोषा । अपथ्य-भुजम्=कुपथ्याशिनम् । सतापयन्ति = पीडयन्ति । श्री = लक्ष्मी । दर्पयति=मद-यति । स्त्रीकृता = स्त्रीसम्बन्धिन । विषया =भोगाभिलाषा । परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसंबधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नही पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे अभिमानी नहीं बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नही करती है ? और स्त्रीसंबधी विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—'मुदं विषादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

अन्वयः—विषाद मुदम्, हिमागम शरदम्, विवस्वान् तम ; कृतघ्नता सुकृतम्, प्रियोपपत्ति शुचम्, नय आपदम्, दुर्नय समृद्धा अपि श्रियः हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषाद = शोक । शरदम्=शरदृतुम् । हिमागम =हेमन्त । विवस्वान्=रवि । तम =अन्धकारम् । प्रियोपपत्ति =इष्टप्राप्ति । शुच=शोकम् । आपदम् = विपत्तिम् । नय = नीति । दुर्नय = दुर्नीति । समृद्धा =उन्नता । श्रिय =लक्ष्मी । हन्ति=विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद् को, सूर्य अन्धकार को, कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीति-शास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति । यतः—

विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्। तत्सत्वरमेव दुर्गद्वारावरोधः क्रियताम्।'

अत्र = अस्मिन्नवसरे। भवत्प्रतापात् = भवत्तेजसा। दुर्गम् = राजहंसस्य दुर्गम्। भङ्क्त्वा = भेदनं कृत्वा। कीर्तिप्रतापसहितम् = यशसैव समन्वितम्। अचिरेण = शीघ्रमेव। नेष्यामि = प्रापयिष्यामि। स्वल्पबलेन = अल्पसैन्येन। तत् = विन्ध्याचलगमनम्। सम्भवति = भवति। अदीर्घसूत्रता = क्षिप्रक्रिया। विजयसिद्धेः = जयलाभस्य।

इसलिए इस कठिनाई के समय भी आपके प्रताप से ही शत्रु का दुर्ग तोड़कर यश और तेज के साथ आपको शीघ्र ही विन्ध्याचल ले पहुँचूँगा। राजा चित्रवर्ण ने कहा— इस समय इतनी थोड़ी सेना से यह कैसे हो सकता है। गृध्र ने कहा—'राजन् सब होगा। क्योंकि विजय की अभिलाषा रखने वाले की जयप्राप्ति के लिए कार्य में शीघ्रता अत्यन्त आवश्यक है। अतः तुरत किले पर घेरा डाल देना चाहिए।

अथ (प्रहितैः) प्रणिधिभिर्बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य कथितम्—'देव! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य वचनोपष्टम्भादागत्य दुर्गद्वारावरोधं करिष्यति।' राजहंसो ब्रूते—'भोः सर्वज्ञ! किमधुना विधेयम्?' चक्रवाको ब्रूते—'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम्। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्।'

प्रहितैः = प्रेषितैः। प्रणिधिना = यथानुचरेण। वचनोपष्टम्भात् = वचनबलात्। सारासारविचारः = बलाबलविमर्शः। तद् ज्ञात्वा = निर्णयम् अवगम्य। यथार्हम् = यथायोग्यम्। प्रसादप्रदानम् = पारितोषिकवितरणम्।

शत्रुपक्ष का पता लगाने के लिए भेजे गये गुप्तचर बगुले ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—'राजन् थोड़ी सेना होते हुए भी राजा चित्रवर्ण मंत्री गृध्र की मन्त्रणा के अनुसार किले पर घेरा डालेगा।' राजहंस ने कहा— मन्त्री सर्वज्ञ अब क्या करना चाहिए। चकवे ने कहा —अपनी सेना की सबलता-निर्बलता का विचार करना चाहिए। उसे जान कर सोने तथा वस्त्र इत्यादि का यथायोग्य पारितोषिक वितरण करना चाहिए।

यतः—'यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
　　समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
　कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
　　स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—य अपथप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्धरेत्, (किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्त भवेत् त राजसिहम् लक्ष्मी न जहाति ॥ १२५ ॥

अपथप्रपन्नाम्=अस्थानच्युताम् । काकिणीम्=एकाम् कपर्दिकाम् । निष्कसहस्रतुल्याम्=दीनारसहस्रसदृशाम् । समुद्धरेत्=उत्थापयेत् । कालेषु= प्राप्तावसरेषु । कोटिषु=कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्त =अविचारितव्यय । राज-सिहम्=श्रेष्ठ राजानम् । लक्ष्मी =राज्यश्री । न जहाति=न परित्यजति ॥१२५॥

क्योकि—

जो राजा अनुचित स्थान मे पड़ी हुई एक कौडी को भी हजारों सोनेके सिक्के के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोडो का व्यय करने मे भी हाथ खोल दे तो उस राजसिह को लक्ष्मी कभी नही छोडती है ॥

अन्यच्च—'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु वान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु' ॥ १२६ ॥

अन्वयः—क्रतौ ' ' '' अष्टसु (अवसरेषु) नराधिप अतिव्यय नास्ति ॥

क्रतौ=यज्ञकर्मणि । व्यसने=विपदि । रिपुक्षये=शत्रुविनाशने । यशस्करे कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अधनेषु = दरिद्रेषु । वान्धवेषु=स्वजनेषु । अष्टसु= अष्टावसरेषु । नराधिप =नृप ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ मे, विवाह मे, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में, कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने मे, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों मे तथा अपने बंधुओ मे अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं मे बहुत खर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यत —'मूर्ख. स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
क' सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्' ॥१२७॥

अन्वयः—स्वल्पव्ययत्रासात् मूर्ख सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्वसात् क सुधी भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

मयापि=गृध्रेणापि । आलोचितम्=निरूपितम् । प्रज्ञाहीनः=बुद्धिहीनः । नीतिशास्त्रकथाकौमुदीम्=नीतिशास्त्रकथाज्योत्स्नाम् । वागुल्काभिः=वचोल्काभिः । तिमिरयति=आच्छादयति ।

तब मैंने भली भाँति जान लिया कि यह राजा बुद्धिहीन है नहीं तो अपने वचन के अन्धकाररूपी उल्का से नीतिशास्त्र की कथारूपी चाँदनी को क्यों आच्छादित करता ? क्योंकि—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ? ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?' ॥ १२१ ॥

अन्वयः—यस्य स्वयं प्रज्ञा नास्ति तस्य शास्त्रम् किं करोति । लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १२१ ॥

यस्य=पुरुषस्य । स्वयम्=आत्मनः । प्रज्ञा=बुद्धिः । तस्य=पुरुषस्य । शास्त्रम्=शास्त्रोपदेशः । किम् करोति=कमुपकारं करोति । लोचनाभ्याम्=नेत्राभ्याम् । विहीनस्य=रहितस्य ॥ १२१ ॥

जिसके पास स्वयं बुद्धि न हो तो शास्त्र उसका क्या उपकार कर सकता है । भला नेत्रहीन के लिए दर्पण की क्या उपयोगिता हो सकती है ॥

—इत्यालोच्याहमपि तूष्णीं स्थितः । अथ राजा बद्धाञ्जलिराह—'तात ! अस्त्ययं ममापराधः । इदानीं यथाहमवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि तथोपदिश । गृध्रः स्वगतं चिन्तयति— क्रियतामत्र प्रतीकारः । यतः—

इत्यालोच्य=इत्थं विचार्य । तूष्णीं स्थितः=मौनमवलम्बितः । बद्धाञ्जलिः=निबद्धकरः । प्रतीकारः=उपायः ।

इस प्रकार विचार करके गृध्र चुप हो गया । तब राजा हाथ जोड़कर बोला—तात यह मेरा अपराध तो है किन्तु अब जिस उपाय से बची हुई सेना के साथ लौट कर विन्ध्याचल जाऊँ वह उपाय बताइए । गृध्र ने मन में विचार किया—अब यहाँ कोई न कोई उपाय करना ही होगा । क्योंकि—

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च ॥ १२२ ॥

देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और रोगी के प्रति अपने क्रोध को सर्वदा रोकते रहना चाहिए ॥ १२२ ॥

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव मा भैषीः, समाश्वसिहि। शृणु देव!

मा भैषी.=भय मा कुरु। समाश्वसिहि=धैर्यं धारय।

मन्त्री गृद्ध ने हँसकर कहा—राजन्; आप डरें मत। धैर्य धारण करें। हे देव, सुनिए—

'मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सांनिपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः?' ॥ १२३ ॥

अन्वयः—मन्त्रिणाम् भिन्नसंधाने कर्मणि भिषजाम् सानिपातिके कर्मणि प्रज्ञा व्यज्यते, सुस्थे क वा न पण्डित (भवति) ॥ १२३ ॥

भिन्नसधाने = भिन्नस्य=स्फुटितस्य, सधाने=मेलने। कर्मणि = व्यापारे। भिषजाम्=वैद्यानाम्। सान्निपातिके=सन्निपातचिकित्सायाम्। प्रज्ञा = बुद्धि। व्यज्यते=ज्ञायते। सुस्थे=सामान्यस्थितौ ॥ १२३ ॥

फूट पैदा हो जाने पर पुन उसे मिलाने (दूर करने) के कार्य मे मन्त्रियो तथा सन्निपात हो जाने पर वैद्यों की बुद्धि का पता चल जाता है। यों सामान्य स्थिति में कौन पडित नही होता है ॥ १२३ ॥

अपरञ्च—'आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः, कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः' ॥ १२४ ॥

अन्वयः—(यद्यपि) अज्ञा अल्पमेव आरभन्ते (किन्तु) काम व्यग्रा. भवन्ति कृतधिय च महारम्भा निराकुला च तिष्ठन्ति ॥ १२४ ॥

अज्ञा =मूढा। अल्पमेव=स्तोकमेव। आरभन्ते=प्रारम्भ करोति। कामम्=अत्यन्तम्। व्यग्रा =व्याकुला। कृतधिय = कृतबुद्धय। महारम्भा = वृहत्कार्यारम्भा। निराकुला =अव्यग्रा ॥ १२४ ॥

बुद्धिहीन किसी छोटे कार्य का आरम करके भी अत्यन्त व्यग्र हो जाते हैं किन्तु बुद्धिमान वहुत वडा कार्य आरम करके भी अत्यन्त धैर्यशाली बने रहते हैं ॥

'तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा, कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि।' राजाह—'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्सम्पद्यते?।' गृध्रो वदति—'देव! सर्वं भविष्यति। यतो

विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्। तत्सहसैव दुर्गद्वारावरोधः क्रियताम्।'

अत्र = अस्मिन्नवसरे। भवत्प्रतापात् = भवत्तेजसा। दुर्गम् = राजहंसस्य दुर्गम्। भङ्क्त्वा = भेदनं कृत्वा। कीर्तिप्रतापसहितम् = यशस्तेजःसमन्वितम्। अचिरेण = शीघ्रमेव। नेष्यामि = प्रापयिष्यामि। स्वल्पबलेन = अल्पसैन्येन। तत् = विन्ध्याचलगमनम्। सम्पद्यते = भवति। अदीर्घसूत्रता = क्षिप्रक्रिया। विजयसिद्धेः = जयलाभस्य।

इसलिए इस कठिनाई के समय भी आपके प्रताप से ही शत्रु का दुर्ग भेदकर यश और तेज के साथ आपको शीघ्र ही विन्ध्याचल ले चलूँगा। राजा चित्रवर्ण ने कहा—'इस समय इतनी थोड़ी सेना से यह कैसे हो सकता है।' गृध्र ने कहा—'राजन् सब होगा। क्योंकि विजय की अभिलाषा रखने वाले को फलप्राप्ति के लिए कार्य में शीघ्रता अत्यन्त आवश्यक है। अतः सहसा किले पर घेरा डाल देना चाहिए।

अथ (प्रहित—) प्रणिधिना बकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य कथितं—'देव! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य वचनोपष्टम्भादागत्य दुर्गद्वारावरोधं करिष्यति।' राजहंसो ब्रूते—'भोः सर्वज्ञ! किमधुना विधेयम्?' चक्रवाको ब्रूते—'स्वबले सारासारविचारः क्रियताम्। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथार्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्'।

प्रहितेन = प्रेषितेन। प्रणिधिना = प्रधानगुप्तचरेण। वचनोपष्टम्भात् = वाक्यबलात्। सारासारविचारः = तत्त्वातत्त्वविमर्शः। तद् ज्ञात्वा = निर्णयम् अवगम्य। यथार्हम् = यथायोग्यम्। प्रसादप्रदानम् = पारितोषिकवितरणम्।

मनुष्य का पता लगाने के लिए भेजे गये गुप्तचर बगुले ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—'राजन् थोड़ी सेना होते हुए भी राजा चित्रवर्ण मन्त्री गृध्र की मंत्रणा के अनुसार किले पर घेरा डालेगा।' राजहंस ने कहा—'मन्त्री सर्वज्ञ अब क्या करना चाहिए।' चकवे ने कहा—अपनी सेना की सबलता-निर्बलता का विचार करना चाहिए। इसे जान कर सोने तथा वस्त्र इत्यादि का यथायोग्य पारितोषिक वितरण करना चाहिए।

यतः—'या काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥ १५२॥

अन्वयः—य अपथप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्धरेत्, (किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्त. भवेत् त राजसिंहम् लक्ष्मी न जहाति ॥ १२५ ॥

अपथप्रपन्नाम्=अस्थानच्युताम् । काकिणीम्=एकाम् कपर्दिकाम् । निष्कसहस्रतुल्याम्=दीनारसहस्रसदृशाम् । समुद्धरेत्=उत्थापयेत् । कालेषु=प्राप्तावसरेषु । कोटिषु=कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्त =अविचारितव्यय । राजसिंहम्=श्रेष्ठ राजानम् । लक्ष्मी =राज्यश्री । न जहाति=न परित्यजति ॥१२५॥

क्योंकि—

जो राजा अनुचित स्थान में पड़ी हुई एक कौड़ी को भी हजारों सोनेके सिक्के के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोड़ो का व्यय करने में भी हाथ खोल दे तो उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥

अन्यच्च—'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु' ॥ १२६ ॥

अन्वयः—क्रतौ ·· ·· अष्टसु (अवसरेषु) नराधिप अतिव्यय· नास्ति ॥

क्रतौ=यज्ञकर्मणि । व्यसने=विपदि । रिपुक्षये=शत्रुविनाशने । यशस्करे कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अधनेषु = दरिद्रेषु । बान्धवेषु=स्वजनेषु । अष्टसु= अष्टावसरेषु । नराधिप =नृप ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ में, विवाह में, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में, कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने में, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों में तथा अपने बंधुओं में अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं में बहुत खर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यतः—'मूर्ख· स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
कः सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात्' ॥१२७॥

अन्वयः—स्वल्पव्ययत्रासात् मूर्ख सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्वसात् क सुधी भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

स्वल्पव्ययभयात् = स्तोकव्ययभीत्या । सर्वनाशम् = सर्ववस्तुविनाशनम् । शुल्कस्य = राज्यकरस्य । अतिसाध्वसात् = अधिकभयात् । भाण्डम् = द्रव्यम् (माल) । सुधी = विद्वान्, कार्यकुशलश्च ॥ १२७ ॥

क्योंकि—मूर्ख थोड़े से खर्च के डर से सभी वस्तुओं का नाश कर बैठता है। भला, कौन बुद्धिमान् राज्यकर के डर से अपना माल छोड़ देगा ॥ १२७ ॥

राजाह—'कथमिह समयेऽप्यर्थव्ययो युज्यते ?' उक्तञ्च—'आपदर्थे धनं रक्षेत्' इति । मन्त्री ब्रूते—'श्रीमतां कथमापदः' । राजाह—'कदाचिच्चलिता लक्ष्मीः' । मन्त्री ब्रूते—'सञ्चितापि विनश्यति ।' तद्देव ! कार्पण्यं विमुच्य स्वभटा दानमानाभ्यां पुरस्क्रियन्ताम्' ।

इह समये = अस्मिन् विपत्तिकाले । आपदर्थे = विपदर्थे । श्रीमताम् = धनिनाम् । सञ्चितापि = रक्षितापि । कार्पण्यम् = कृपणताम् । विमुच्य = त्यक्त्वा । स्वभटाः = स्वसैनिकाः ।

राजा ने कहा—इस आपत्ति के समय अधिक खर्च कैसे उचित हो सकता है। कहा भी गया है—आपत्ति काल में काम आने के लिए धन का संग्रह करना चाहिए। मंत्री ने कहा—धनवानों को कैसी आपत्ति ? राजा ने कहा—अगर कहीं दैवात् लक्ष्मी चली जाय तो। मंत्री ने कहा—तो संचित किया हुआ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे राजन् कंजूसी छोड़ कर दान मान से अपने योद्धाओं को पुरस्कृत कीजिए। जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—'परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान् सुनिश्चिताः ।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम् ॥

अन्वयः—परस्परज्ञाः संहृष्टाः प्राणान् त्यक्तुं सुनिश्चिताः, कुलीनाः पूजिताः (भटाः) द्विषद्बलम् सम्यग्विजयन्ते ॥ १२८ ॥

परस्परज्ञाः = एकत्र सम्मिलिताः अन्योन्यं गुणैर्ज्ञातारः । संहृष्टाः = रणार्थ-दानेनोचितेन पूजिताः । प्राणान् त्यक्तुं सुनिश्चिताः = प्राणत्यागे दृढनिश्चयाः । कुलीनाः = उच्चैः प्रसूताः । सम्यक् पूजिताः = सर्वप्रकारेण सत्कृताः । द्विषद्बलम् = शत्रुसैन्यम् । विजयन्ते = स्वाधीनीकुर्वन्ति ॥ १२८ ॥

आपस में मिलकर एक दूसरे की शुभ कामना करने वाले, राजा के पारितोषिकादि से प्रसन्न, अपने प्राणों के परित्याग करने में भी दृढ, उच्च वंश में जन्म लेने वाले और राजा द्वारा भली भाँति सम्मानित सैनिक शत्रु की सेना को जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—'सुभटाः, शीलसम्पन्नाः, संहताः, कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशत शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम्' ॥ १२९ ॥

अन्वयः—शीलसम्पन्ना, संहता, कृतनिश्चया पञ्चशतम् सुभटा शूरा अपि रिपुवाहिनीम् निघ्नन्ति ॥ १२९ ॥

शीलसम्पन्ना =शीलपूर्णा । संहता = परस्परम् मिलिता । कृतनिश्चया = दृढप्रतिज्ञा । शूरा सुभटा = वीरसैनिका । रिपुवाहिनीम् = शत्रुसेनाम् । निघ्नन्ति=विघातयन्ति ॥ १२९ ॥

और भी—शीलवान, आपस में मिले हुए, दृढ-निश्चय वाले बहादुर पाँच सौ सैनिक भी सारी शत्रु की सेना का विनाश कर सकते हैं ॥ १२९ ॥

किञ्च—'शिष्टैरप्यविशेषज्ञ, उग्रश्च, कृतनाशकः ।
त्यज्यते, किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः' ॥ १३० ॥

अन्वयः—अविशेषज्ञ, उग्र, कृतनाशक आत्मम्भरि नर शिष्टै अपि त्यज्यते किं पुन अन्यै च न (त्यज्यते) ॥ १३० ॥

अविशेषज्ञ = विशेषयोग्यताशून्य । उग्र = उद्दण्ड । कृतनाशक = कार्यविघातक । शिष्टै = साध्वाचरणै । त्यज्यते = परिहीयते । अन्यै = इतरै, सामान्यलोकै । न=न त्यज्यते ? अपितु त्यज्यते एव ॥ १३० ॥

और भी—विशेष योग्यता से रहित, उद्दण्ड, कार्य को नष्ट करने वाले तथा अपने स्वार्थ की चिन्ता करने वाले मनुष्य को सज्जन भी छोड देते हैं साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या ॥ १३० ॥

यतः—'सत्यं, शौर्यं, दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एतैस्त्यक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्' ॥ १३१ ॥

अन्वयः—सत्यं, त्याग, दया, शौर्यम् एते नृपस्य महागुणा । एभि त्यक्त महीपाल वाच्यताम् खलु प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

सत्यम्=सत्यभाषणम्। शौर्यम्=वीरताप्रदर्शनम्। दया=प्राण्युपरि कारुण्य। त्यागः=सत्पात्रे धनवितरणम्। एतैस्त्यक्तः=एतद्गुणैः मुक्तः। महीपालः=नृपः। वाच्यताम्=लोकनिन्दाम्। प्राप्नोति=अधिगच्छति ॥ १११ ॥

क्योंकि—सत्य वीरता दया और त्याग ये राजा के महान् गुण होते हैं। इनसे वंचित राजा निश्चय ही लोकनिन्दा का पात्र होता है ॥ १११ ॥ —

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावत्प्रथममेव पुरस्कर्तव्याः।

ईदृशि प्रस्तावे = पुरस्कारवितरणप्रसङ्गे। तावत् = प्रथमम्। अमात्याः = मन्त्रिणः। पुरस्कर्तव्याः=पुरस्कार्याः।

इस प्रकार का समय उपस्थित होने पर पहले अमात्यों को पुरस्कार देना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—'यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च' ॥

अन्वयः—यः येन सह प्रतिबद्धः (सः) तेन सह उदयी व्ययी च भवति (अतः) सः (एव) विश्वस्तः प्राणेषु च धनेषु च नियोक्तव्यः ॥ ११२ ॥

यः = पुरुषः। येन = येन पुरुषेण नृपेण वा। प्रतिबद्धः = सर्वप्रकारादि-सहभावात् सम्बद्धः। तेन सह = नृपेण सह। उदयी = उन्नतिशीलः। व्ययी = अवनतिशीलः। विश्वस्तः = विश्वासयोग्यः। प्राणेषु = प्राणरक्षणकार्ये। धनेषु = धनरक्षाव्यापारे। नियोक्तव्यः = अधिकारी कार्यः ॥ ११२ ॥

जो व्यक्ति जिस व्यक्ति (राजा) के साथ सम्बन्धित होकर उसकी उन्नति में अपनी भी उन्नति और अवनति में अपनी अवनति समझता है ऐसे ही विश्वस्त व्यक्ति को प्राणों तथा धन की रक्षा के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ ११२ ॥

यतः—'मूर्खः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः।
अनीतिपवनक्षिप्तोऽकार्याब्धौ स निमज्जति ॥ ११३ ॥

अन्वयः—यस्य महीपतेः मूर्खः शिशुः स्त्री वा मन्त्रिणः स्युः अनीतिपवनक्षिप्तः स अकार्याब्धौ निमज्जति ॥ ११३ ॥

यस्य महीपतेः = यस्य राज्ञः। मूर्खः = अज्ञः। शिशुः = बालः। मन्त्रिणः = मन्त्रदातारः। स्युः = भवेयुः। अनीतिपवनक्षिप्तः = कुनीतिवायुना पातितः। अकार्याब्धौ = दुष्कर्मसागरे। निमज्जति = मग्नो भवति ॥ ११३ ॥

जिस राजा के मंत्री धूर्त, स्त्री या बालक हो वह राजा अनीतिरूपी वायु से कठिन कार्यरूपी समुद्र में फेंक दिया जाता है और डूब भी जाता है ॥ १३३ ॥

शृणु देव !

'हर्षक्रोधौ यतौ यस्य, शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च, तस्य स्याद्धनदा धरा' ॥ १३४ ॥

अन्वयः—यस्य हर्षक्रोधौ यतौ, तथा शास्त्रार्थे प्रत्यय, नित्यम् भृत्यानुपेक्षा च तस्य धरा धनदा स्यात् ॥ १३४ ॥

यस्य=नृपस्य । हर्षक्रोधौ, यतौ = संयतौ । तथा शास्त्रार्थे = शास्त्रवचने । प्रत्यय =विश्वास । नित्यम्=सदैव । भृत्यानुपेक्षा = सेवकपर्यवेक्षणम् । च, तस्य, धरा=पृथ्वी । धनदा=वित्तदा, स्यात् ॥ १३४ ॥

राजन् सुनिए—

जो राजा हर्ष तथा क्रोध में समान रूप से संयत रहता है, जिसे शास्त्रवचनों में विश्वास होता है और जो सेवकों पर बराबर ध्यान रखता है, उसकी राज्यभूमि सर्वदा धन देने वाली होती है ॥ १३४ ॥

'येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम् ।
'अमात्या' इति तान् राजा नावमन्येत्कदाचन' ॥ १३५ ॥

अन्वयः—येषाम् राज्ञा सह उच्चयापचयौ ध्रुवम् स्याताम् (ते एव) अमात्या (भवन्ति अत) राजा तान् कदाचन न अवमन्येत् ॥ १३५ ॥

येषाम्=पुरुषाणाम् । राज्ञा सह=नृपेण सह । उच्चयापचयौ=उन्नत्यवनती । ध्रुवम्=निश्चितम् । तान्=अमात्यान् । कदाचन=कदाचिदपि । न अवमन्येत्=न तिरस्कुर्यात् ॥ १३५ ॥

जिन अमात्यों की उन्नति तथा अवनति राजा के साथ ही होती है, राजा को चाहिए कि ऐसे अमात्यों का भी निरादर न करे ॥ १३५ ॥

'महीभुजो मदान्धस्य सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
स्खलतो हि करालम्बः सुशिष्टैरेव दीयते' ॥ १३६ ॥

अन्वयः—मदान्धस्य स्खलत दन्तिन इव सकीर्णस्य महीभुज सुशिष्टै एव करालम्ब दीयते हि ॥ १३६ ॥

मदान्धस्य=मदमत्तस्य, राज्यमदोन्मत्तस्य च । दन्तिन =गजस्य । स्खलत = पतितस्य विपन्नस्य च । सकीर्णस्य=सकुचितहृदयस्य । महीभुज =नृपस्य ।

सुश्लिष्टैः—अप्रमत्तैः सहचरैः श्लिष्टैः समाश्रितैः। करालम्बः—पुरुषस्य हस्तावलम्बनम्। दीयते—वितीर्यते॥ ११६॥

जिस प्रकार मद से मतवाले तथा कीचड़ आदि में गिरने वाले हाथी को उसके संग चिपकाये हुए स्वस्थ हाथी अपनी सूंड का सहारा देकर बचा लेते हैं। इसी प्रकार अभिमानी तथा छोटे हृदयवाले विपत्ति में पड़े हुए राजा को अमात्य अपने हाथों का सहारा देकर उबार लेते हैं॥ ११६॥

अथागत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु। इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्तते। तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि। तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि।'

चक्रवाको ब्रूते—'मैवं, यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गाश्रयणमेव निष्प्रयोजनम्। अपरञ्च—

मेघवर्णः=प्रमुखः वायसः। दृष्टिप्रसादम्=दर्शनानुग्रहम्। विपक्षः=शत्रुवर्गः। देवपादादेशात्—श्रीमदाज्ञया। बहिर्निःसृत्य=दुर्गात् बहिर्भूत्वा। आनृण्यमुपगच्छामि—ऋणमोचनम् करिष्यामि।

इसी बीच मेघवर्ण (चित्रवर्ण का कपटदूत जिसे राजहंस ने मना करने पर भी आश्रय दिया था) ने आकर कहा—'राजन्, इधर देखने की कृपा करें। इस समय शत्रु किले के द्वार पर वर्तमान है। इसलिए मैं आपकी आज्ञा से इस किले से बाहर निकल कर अपना पराक्रम दिखाना चाहता हूँ। और इसी कार्य द्वारा आपके ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ।' चकवे ने कहा—'नहीं ऐसा मत करो। अगर बाहर निकल कर ही युद्ध करना है तो किले का आश्रय लेना ही व्यर्थ है। और भी—

विषमोऽपि यथा नक्रः सलिलान्निःसृतो वशः।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत्॥ ११७॥

अन्वयः—यथा सलिलात् निःसृतः विषमः अपि नक्रः वशः, वनात् विनिर्गतः सिंहः अपि शूरः (दुर्गात् विनिर्गत्य) शृगालवत् वशः स्यात्॥ ११७॥

सलिलात्=जलात्। निःसृतः=निर्गतः। विषमः=भयङ्करः। नक्रः=ग्राहः। वनात् विनिर्गतः=अरण्यात् निःसृतः। वशः स्यात्=प्रभुणा वशीकृतः भवेत्॥ ११७॥

भयङ्कर होते हुए भी घड़ियाल पानी से बाहर निकल कर, तथा बहादुर सिंह भी जंगल से बाहर आकर गीदड़ के समान दूसरों द्वारा वश में कर लिया जाता है॥ ११७॥

[वायसो ब्रूते—] 'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्' । यतः—
राजन् आप स्वयम् चल कर युद्ध देखिये क्योंकि—

'पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥१३८॥

अन्वयः—राजा बलम् पुरस्कृत्य (तत्) अवलोकयन् योधयेत् । स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं ध्रुवम् न सिंहायते ॥ १३८ ॥

राजा = नृप । बलम्=सैन्यम् । पुरस्कृत्य = अग्रे कृत्वा । अवलोकयन् = निरीक्षमाण । योधयेत् = युद्ध कारयेत् । स्वामिनाधिष्ठित = प्रभुणा सनाथ । श्वापि=कुक्कुरोऽपि । ध्रुवम्=निश्चितम् । सिंहायते=सिंह इव आचरति ॥१३८॥

राजा सेना को आगे करके स्वयम् उसका निरीक्षण करते हुए युद्ध कराये क्योंकि स्वामी के साथ रहने से कुत्ता भी निश्चय ही सिंह जैसा पराक्रम दिखाता है ॥ १३८ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय ।'
गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्'—

महाहवम्=महायुद्धम् । ते=राजहंसादय. । अपरेद्यु = अन्यदिने । स्वप्रतिज्ञातम्=निजप्रतिश्रुतम् । निर्वाहय=पूरय ।

तब वे सभी दुर्ग के द्वार पर जाकर महान युद्ध करने लगे । दूसरे दिन चित्रवर्ण ने गृध्र से कहा—'तात अब, अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए ।' गृध्र ने कहा तो सुनिए—

'अकालसहमत्यल्पं, मूर्खव्यसनि नायकम् ।
अगुप्तं, भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अकालसहम् ' दुर्गव्यसनम् उच्यते ॥ १३९ ॥

अकालसहम् = बहुकालावरोधस्य सहने अशक्तम् । मूर्खव्यसनि नायकम् = युद्धविधानाज्ञमद्यपानादिव्यसनासक्तरक्षकम् । अगुप्तम् = अरक्षितम् । भीरुयोधम्= कृपणसैनिकम् । दुर्गव्यसनम्=दुर्गदूषणम् । उच्यते=कथ्यते ॥ १३९ ॥

बहुत दिनों के घेरे को सहन करने में असमर्थता, मूर्ख और व्यसनी नायकों के हाथ में रक्षा का भार होना, भलीभाँति रक्षित न होना और कायर सैनिकों से युक्त होना दुर्ग के दोष कहे जाते हैं ॥ १३९ ॥

तथाप्यत्र नास्ति ।

'उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे' ॥ १४० ॥

अन्वयः—उपजापः चिरारोधः अवस्कन्दः तीव्रपौरुषम् इमे चत्वारः दुर्गस्य लङ्घनोपायाः कथिताः ॥ १४ ॥

उपजापः=दुर्गान्तरे सैनिकानाम् मिथो भेदः । चिरारोधः=दुर्गस्य बहुकाल-वरोधः । अवस्कन्दः=सहसाक्रमणम् । तीव्रपौरुषम्=अतिपराक्रमः । लङ्घनोपायाः=विजयोपायाः ॥ १४ ॥

वे सब तो इस दुर्ग में नहीं हैं ।

किले के भीतर सैनिकों में फूट डाल देना बहुत समय तक घेरा डाले रहना सहसा आक्रमण कर देना और अत्यन्त कठिन पौरुष करना यही चार दुर्ग जीतने के उपाय हैं ॥ १४ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः । कर्णे कथयति—एवमेवम् । ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः। ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताग्निमवलोक्य राजहंससैनिका बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः । यतः—

अनुदिते=अनभ्युदिते । भास्करे=सूर्ये । एकदा=सहसा । प्रदीप्ताग्निम्=प्रज्वलिताग्निम् । सत्वरम्=शीघ्रम् । ह्रदम्=सरोवरम् ।

अब यहाँ शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए । कान में कहता है—ऐसे ही ! अभी सूर्य निकला भी नहीं था कि किले के चारों द्वारों पर भयंकर युद्ध होने लगा । इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगा दी । फिर 'किला ले लिया किला ले लिया' इस प्रकार के कोलाहल सुनकर तथा जलती हुई आग देखकर राजहंस के सभी सैनिक तथा किले के रहने वाले शीघ्र ही तालाब में घुस गए । क्योंकि—

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

अन्वयः—कार्यकाले सुमन्त्रितम्, सुविक्रान्तम्, सुयुद्धम्, सुपलायितम् यथाशक्ति (त्वरितम्) कुर्यात् न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

कार्यकाले=आपत्कालें । सुमन्त्रितम्=सुष्ठुविमर्शनम् । सुविक्रान्तम्=पराक्रमातिशयदर्शनम् । सुयुद्धम्=सुष्ठुरीत्या युद्धकरणम् । सुपलायितम्=निरापद

सर्वोपाये विनष्टे सति पलायनम्। यथाशक्ति=शक्त्यनुसारेण। त्वरितम् कुर्यात्, न तु विचारयेत्=विमृशेत् ॥ १४१ ॥

समय आ जाने पर अच्छी मंत्रणा, अच्छा पराक्रम, अच्छी लड़ाई और ठीक ढंग से भागने का काम तत्काल कर डालना चाहिए। इसमें किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए ॥ १४१ ॥

राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगतिः, सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनागत्य वेष्टितः। हिरण्यगर्भः सारसमाह—'सेनापते! सारस'! ममानुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि। (अधुनाहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनापि समर्थः। तद्गत्वा जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष। अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य संमत्या राजानं करिष्यसि'। सारसो ब्रूते—'देव! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्राकौं दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः। अहं देव! दुर्गाधिकारी। तन्मम मांसासृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत् प्रविशतु शत्रुः'। अपरञ्च-देव!

मन्दगति=धीरगमन। सारसद्वितीय=सारसेन सहित। वेष्टित=आक्रान्त। ममानुरोधात् = मदपेक्षणात्। व्यापादयसि = मारयसि। दुःसहं वच=कठोरवचनम्। दिवि=आकाशे। चन्द्रार्कौ=शशिसूर्यौ। दुर्गाधिकारी = दुर्गपति। मांसासृग्विलिप्तेन=मांसरुधिरपूरितेन। द्वारवर्त्मना=दुर्गद्वारमार्गेण।

स्वभाव से ही धीरे धीरे चलने वाला राजहंस सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे द्वारा घेर लिया गया। तब हिरण्यगर्भ ने सारस से कहा—'सेनापति सारस, मेरी प्रतीक्षा में तुम अपना विनाश क्यों करोगे? तुम इस समय जा सकते हो। इसलिए जल मे जाकर अपनी रक्षा करो। मेरे पुत्र चूडामणि को सर्वज्ञ की राय से राजा बना देना। सारस ने कहा—'राजन्, आप ऐसी असह्य बात न कीजिए। जब तक आकाश में सूर्यचन्द्रमा स्थित रहे तब तक आप विजयी बने रहें। राजन्, मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ। इसलिए मेरे मांस और रक्त से सने हुए द्वार के मार्ग से ही शत्रु भीतर जाने पावेंगे और भी—

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते'।

राजाह—'सत्यमेवैतत्'! किन्तु—

'शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४२ ॥

अन्वयः—दाता क्षमी भृत्य. अपि दुर्लभ जाने ॥ १४२ ॥

दाता=दानशील । क्षमी=क्षमायुक्त । गुणग्राही=गुणानुरक्तः । स्वामी= प्रभु । दुःखेन=प्रयासेन । लभ्यते=प्राप्यते । शुचिः=शुद्धाचरण । सेवकानाम् मध्ये । अनुरक्तः=स्वामिभक्त । दुर्लभः=दुराप । नाम=मध्ये ॥१४२॥

दाता क्षमाशील और गुणों को ग्रहण करने वाले स्वामी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं ।

राजा ने कहा—यह तो ठीक है, किन्तु—

मैं ऐसा समझता हूँ कि पवित्र चतुर एवं स्वामिभक्त सेवक भी दुर्लभ होते हैं ॥ १४२ ॥

सारसो ब्रूते—'शृणु देव !

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत ? ॥ १४३ ॥

अन्वयः—यदि समरम् अपास्य मृत्योर्भयम् नास्ति इति (तर्हि) इतोऽन्यतः प्रयातुम् युक्तम् । अथ जन्तोः मरणम् अवश्यम् एव (तर्हि) यशः मुधा किमिति मलिनम् क्रियेत ॥ १४३ ॥

यदि=चेत् । समरम्=युद्धम् । अपास्य=त्यक्त्वा पलायिते सति । मृत्योर्भयम्=मृत्युभीतिः । न=न भवेत् । तर्हि । इतोऽन्यतः=समरभूमेः अन्यत्र । प्रयातुम्=गन्तुम् । युक्तम्=उचितम् । अथ=चेत् । जन्तोः=प्राणिनः । मरणम्=मृत्युः । अवश्यमेव=ध्रुवमेव । तर्हि । यशः=कीर्तिः । मुधा=वृथा । किमिति=कथम् । मलिनम्=म्लानम् । क्रियेत=क्रियेत ॥ १४३ ॥

सारस ने कहा—राजन् सुनिए ।

यदि युद्ध छोड़ कर भाग जाने से मृत्यु का भय नष्ट हो जाये तो यहाँ से दूसरी जगह भाग जाना ठीक हो सकता है । किन्तु जब प्राणी के लिए मृत्यु अवश्यम्भावी है तो व्यर्थ ही कायर बनकर कीर्ति को मलिन क्यों बनाया जाय ॥१४३॥

अन्यच्च—'भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे अस्मिन् भवे पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः जायते ॥ १४४ ॥

पवनोद्भ्रान्तेन=वायुनोत्थितेन । वीचिविभ्रमभङ्गुरे=तरङ्गविलासवत् नाशशीलो । अस्मिन्भवे=अस्मिन् ससारे । पुण्ययोगेन=सुकृतसपर्केण । परार्थे=अन्योपकारव्यापारे । जीवितव्यय =प्राणोत्सर्जनम् । जायते=भवति ॥ १४४ ॥

और भी—वायुद्वारा उठने गिरने वाली चचल लहरो के समान क्षण भरमे नाश हो जाने वाले इस ससार से बडे पुण्य से ही दूसरो की भलाई मे प्राणत्याग करने का अवसर मिलता है ॥ १४४ ॥

'स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बल, सुहृत् ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ १४५ ॥

अन्वयः—स्वामी, अमात्य , राष्ट्रम्, दुगम्, कोश , बलम्, सुहृत्, प्रकृतय , पौराणाम् श्रेणय अपि च राज्याङ्गानि ॥ १४५ ॥

स्वामी = नृप । अमात्य = मन्त्री । राष्ट्र=स्वशासितदेश । दुर्गम्=दुर्गम युद्धोपकरणयुक्त विशाल राजभवनम् । बलम् = सैन्यम् । सुहृत्=मित्रम् । प्रकृतय =प्रजा । पौराणाम्=पुरवासिनाम् । श्रेणय =मण्डलानि । राज्याङ्गानि=राज्यस्य अवयवा ॥ १४५ ॥

राजा, मत्री, राष्ट्र दुग, कोश, सेना, मित्र तथा प्रजा एवं नागरिको के मडल य आठ राज्य के अङ्ग होते हैं ॥ १४५ ॥

देव ! त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

'प्रकृतिः स्वामिन त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः, किं करोति गतायुषि' ॥ १४६ ॥

अन्वयः—स्वामिनम् त्यक्त्वा समृद्धापि प्रकृति न जीवति । धन्वन्तरि वैद्य अपि गतायुषि किं करोति ॥ १४६ ॥

स्वामिनम्=राजानम् । त्यक्त्वा=विहाय । समृद्धा=सर्वभवा । प्रकृति = प्रजा । धन्वन्तरि वैद्य =तन्नामा कुशलवैद्य अपि । गतायुषि=क्षीणायुषि । किं करोति=न किमपि कर्तुं प्रभवेत् ॥ १४६ ॥

राजन्, आप स्वामी हैं इसलिए आप की रक्षा सभी प्रकार से होनी ही चाहिए । क्योंकि—

धन-धान्य से भरी पूरी होने पर भी प्रजा स्वामी को छोडकर जीवित नही रह सकती । अगर किसी रोगी की आयु ही समाप्त हो जाय तो धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकते हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—'नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति, निमीलति।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्॥ १४७॥

अन्वयः—अयम् जीवलोकः नरेशे निमीलति निमीलति उदीयमाने रवौ सरोरुहम् इव उदेति॥ १४७॥

अयम् जीवलोकः=इस समस्त प्राणिवर्ग। नरेशे=राजनि। निमीलति=विपन्ने मृते वा सति। निमीलति=विपन्नो भवति म्रियते च। उदीयमाने=अभ्युदयमापन्ने। उदेति=अभ्युदयमाप्नोति। रवौ=सूर्ये। निमीलति=अस्तं गच्छति सति। निमीलति=मुकुलीभवति। सरोरुहम्=कमलम्, इव=यथा॥

यह सारे प्राणी राजा के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं और सूर्य के उदय होने पर कमल के समान राजा की उन्नति से विकसित हो जाते हैं॥

अत्रापि प्रधानाङ्गं राजा।

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः। तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा जले क्षिप्तः।

अथ कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेनापि सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता। पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः। अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा बन्दिभिर्जयशब्देनानन्दितः स्वस्कन्धावारं जगाम।

शरीरे=देहे। खरतरनखाघातः=तीक्ष्णनखप्रहारः। स्वदेहान्तरितः=निज शरीरवेष्टितः। नखप्रहारेण=नखाघातेन। जर्जरीकृतेन=छिन्नभिन्नशरीरेण। विभिद्य=विदार्य। व्यापादितः=हतः। चञ्चुप्रहारेण=तुण्डाघातेन। दुर्गम्=राजहंसदुर्गम्। दुर्गावस्थितम्=दुर्गे विद्यमानम्। द्रव्यम्=रत्नादिकम्। ग्राहयित्वा=भिन्नाधिकारिभिः ग्रहणं कारयित्वा। स्वस्कन्धावारम्=स्वसैन्यनिवेशम्। बन्दिभिः=चारणैः। तस्मिन् राजकम्=राजहंसस्य सैन्य। चञ्चुभ्याम्=तुण्डाभ्याम्। स्वदेहान्तरेण=निज शरीरविनिमज्जनम्।

इसके पश्चात् मुर्गे ने आकर अपने तेज नखों का प्रहार किया किन्तु सारस ने शीघ्रता से पास आकर शरीर से उसे ढककर पानी में फेंक दिया। यद्यपि मुर्गों के

नख की चोट से सारस का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया फिर भी उसने बहुत-सी मुर्गों की सेना को मार गिराया। किन्तु मुर्गों के चोचो की मार से अन्त में वह मर गया। इसके बाद चित्रवर्ण ने किले मे प्रवेश किया और वहाँ की वर्तमान सभी सामग्री को लेकर चारणो के जय शब्द से आनंदित होता हुआ अपने पडाव पर चला गया।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजहंसबले पुण्यवान् स सारस एव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः'। यतः—

'जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव गवाकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्' ॥ १४८ ॥

अन्वय.—सर्वा गाव एव गवाकृतीन् सुतान् जनयन्ति (किन्तु) विषाणोल्लिखितस्कन्धम् गवाम् पतिम् काचिदेव (जनयति) ॥ १४८ ॥

सर्वा गाव =सर्वा सुरभय·। गवाकृतीन्=स्वसमानाकृतीन्। सुतान्=वत्सान्। जनयन्ति=उत्पादयन्ति। विषाणोल्लिखितस्कन्धम्=शृङ्गक्षतककुदम्। गवां पतिम्=बलीवर्दश्रेष्ठम् ॥ १४८ ॥

राजकुमारो ने कहा—उस राजहंस की सेना में सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपने शरीर का त्याग करके स्वामी की रक्षा की। ऐसा कहा भी गया है—

सभी गायें बैलो जैसी आकृति वाले बछडो को जन्म देती हैं किन्तु युद्ध मे सींगों के प्रहार से कटे हुए कधों वाले साँड का जन्म कोई-कोई गाय ही देती है॥

विष्णुशर्मोवाच—'स तावत्सत्त्वक्रीतानक्षयलोकान् विद्याधरीपरिवृतोऽनुभवतु महासत्त्वः'। तथा चोक्तम्—

स =सारस। विद्याधरीपरिवृत =विद्याधरीभि सेवित। महासत्त्व =महापराक्रम।

विष्णुशर्मा ने कहा—वह महापराक्रमी तो विद्याधरियो से घिरा हुआ स्वर्ग सुख का अनुभव कर रहा होगा। जैसा कि कहा गया है—

'आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः' ॥ १४९ ॥

अन्वयः—ये आहवेषु शूरा, स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविता भर्तृभक्ता कृतज्ञा च (भवन्ति) ते नरा [illegible] भवन्ति ॥ १४९ ॥

ये=नराः । आहवेषु=युद्धेषु । शूराः=पराक्रमशीलाः । स्वाम्यर्थे=स्वामिनिमित्तम् । त्यक्तजीविताः=परित्यक्तप्राणाः । भर्तृभक्ताः=स्वामिभक्ताः ॥ १४९ ॥

जो वीर युद्ध में स्वामी की रक्षा में अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं ऐसे स्वामिभक्त और कृतज्ञ लोग स्वर्ग में चले जाते हैं ॥ १४९ ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥ १५० ॥

अन्वयः—यत्र तत्र शत्रुभिः परिवेष्टितः हतः शूरः यदि क्लैब्यम् न गच्छति (तर्हि) अक्षयान् लोकान् लभते ॥ १५० ॥

यत्र तत्र=यत्र कुत्रापि स्थाने । शत्रुभिः=वैरिभिः । परिवेष्टितः=आक्रान्तः । हतः=मृतः । शूरः=वीरः । क्लैब्यम्=दैन्यम् । अक्षयान् लोकान्=स्वर्गादिनित्यलोकान् । लभते=प्राप्नोति ॥ १५० ॥

शत्रुओं से घिर कर जहाँ कहीं भी मरा हुआ वीर यदि कायरता न दिखावे तो वह अक्षय लोक को प्राप्त करता है ॥ १५० ॥

अथ विष्णुशर्मा प्राह—

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः । राजपुत्रैरुक्तम्—'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम् । विष्णुशर्माब्रवीत्—अपरमप्येवमस्तु—

विग्रहः करितुरगपत्तिभि—
नों कदापि भवतान्महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपण्डितकृते हितोपदेशे नीतिशास्त्रे
विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः ॥ ३ ॥

अन्वयः—करितुरगपत्तिभिः कदापि महीभुजाम् विग्रहः न भवतात् नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः द्विषः गिरिगह्वरम् संश्रयन्तु ॥ १५१ ॥

करितुरगपत्तिभिः=गजाश्वपदातिभिः सह । कदापि महीभुजाम्=राज्ञाम् विग्रहः=युद्धम् । नो भवतात्=न भवतात् । नीतिमन्त्रपवनैः=नयमन्त्रवायुभिः ।

समाहता =प्रताडिता । द्विष =शत्रव । गिरिगह्वरम्=पर्वतकन्दरम् । संश्रयन्तु= अवलम्बन्ताम् ।। १५१ ।।

— ० —

फिर विष्णुशर्मा ने कहा—

आपलोगों ने विग्रह सुन लिया। राजपुत्रो ने कहा—सुनकर हमलोग सुखी हुए। विष्णुशर्मा ने कहा—अब यह और भी हो।

राजाओं का हाथी, घोडे तथा पैदल सेना में कभी भी युद्ध न हो। किन्तु शत्रु नीति और मन्त्रणा रूपी वायु से पीडित होकर पहाड की गुफाओं का आश्रय लें। अर्थात् राजा लोग नीतिकुशलता तथा मन्त्रियो की सन्मन्त्रणा से ही शत्रुओं को मार भगाएँ ।। १५१ ।।

— ० —

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

— ० —

सन्धिः

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः । सन्धिरधुनाभिधीयताम् ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, सन्धिमपि कथयामि । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

पुन कथारम्भकाले=भूय कथाप्रारम्भसमये । आर्य=समान्य । विग्रह =युद्धम् । श्रुत =आकर्णित । सधि =परस्परमेलनम् । अधुना=इदानीम् । अभिधीयताम्=कथ्यताम् ।

फिर कथा प्रारम्भ होने के समय राजपुत्रो ने कहा—'आर्य, हम लोगो ने युद्ध का प्रसग सुन लिया, अब संधि का प्रसङ्ग सुनाइए ।' विष्णुशर्मा ने कहा—सुनिए, सधि का विषय भी कह रहा हूँ । जिसका पहिला श्लोक यह है—

'वृत्ते महति सग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयाभ्यां गृध्र-चक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात्' ॥१॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

अन्वयः—महति सग्रामे वृत्ते स्थेयाभ्याम् गृध्रचक्राभ्याम् निहतसेनयो राज्ञो क्षणात् वाचा सन्धि कृत ॥ १ ॥

महति—अतिभीषणे । सग्रामे=युद्धे । वृत्ते=सञ्जाते सति । स्थेयाभ्याम्=मध्यस्थाभ्याम् । गृध्रचक्राभ्याम्=द्वयो राज्ञो मन्त्रिभ्याम् । निहतसेनयो =नष्टबलयो । राज्ञो =हंसमयूरयो नृपयो । क्षणात्=तत्कालमेव । वाचा = वाङ्मात्रेणैव । सन्धि =परस्परमेलनम् । कृत =विहित ॥ १ ॥

उन दोनों राजाओ (राजहस तथा चित्रवर्ण) के बीच भयानक युद्ध होने तथा दोनो पक्षो के बहुत से सैनिकों के मारे जाने पर उन दोनों के प्रधान मन्त्री चकवे तथा गृद्ध ने बीच मे पडकर क्षण भर मे ही बातचीत के द्वारा सन्धि कर ली ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—'वह कैसे हुआ ?' विष्णुशर्मा ने कहा—

'ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—केनास्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? । किं पारक्येण ?, किं दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?' चक्रवाको ब्रूते—देव ! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते । तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।

राजा क्षणं विचिन्त्याह—अस्ति तावदेवं, मम दुर्दैवमेतत्' । तथा चोक्तम्—

केन=केनापि प्रकारेण पारक्येन रक्षितेन । राजहंसेन=हिरण्यगर्भेण । अग्निः = वह्निः । निक्षिप्तः =पातितः । पारक्येण = परपक्षीयेण । विपक्षप्रयुक्तेन=शत्रुनियुक्तेन । भवतः=तव । निष्कारणबन्धुः = अकारणसुहृद् । न दृश्यते—नावलोक्यते । मन्ये=जाने । विचेष्टितम्=दुष्टाचरितम् । इदम् = अग्निप्रक्षेपणम् । अस्ति तावदेवम्=युक्तमेतदेवम् । दुर्दैवम्—दुर्भाग्यम् ।

इसके पश्चात् उस राजहंस ने कहा—हमारे किले में आग किसने फेंकी थी ? क्या किसी शत्रु ने अथवा मेरे किले में ही रहने वाले शत्रु से मिले हुए किसी व्यक्ति ने ? चकवे ने कहा—राजन्, आपका अकारणबन्धु बना हुआ मेघवर्ण इस समय अपने परिवार वालों के साथ यहाँ नहीं दिखाई पड़ रहा है इसलिए मैं समझता हूँ कि उसी ने यह अग्निकांड किया है । राजा ने थोड़ी देर सोच कर कहा—हाँ ऐसा ही है; किन्तु यह मेरा दुर्भाग्य भी है । जैसा कि कहा भी गया है—

> अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
> कार्यं सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते—उक्तमेवैतत्—

अन्वयः—स दैवस्य अपराधः न पुनः अयम् मन्त्रिणाम् (अपराधः) क्वापि सुचरितम् कार्यमपि दैवयोगात् विनश्यति ॥ २ ॥

सः=अपराधः । दैवस्य=भाग्यस्य । अपराधः=दोषः । अयम् मन्त्रिणाम् दोषः न । क्वापि=कुत्रापि । सुचरितम्=सुविचारितमपि । कार्यम् = करणीयम् । दैवयोगात्—भाग्यवशात् । विनश्यति=विनाशमुपगच्छति ॥ २ ॥

यह जो कुछ हुआ वह सभी दुर्भाग्य के दोष से ही हुआ । इसमें मंत्रियों का कोई भी दोष नहीं है । क्योंकि कभी-कभी भली-भाँति सोच कर किए गए कार्य भी भाग्यदोष से नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मंत्री चक्रवाक ने कहा—'यह भी तो कहा गया है—

'विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः' ॥ ३ ॥

अन्वयः—नर विषमां दशाम् प्राप्य दैव गर्हयते। अपण्डित' आत्मन कर्मदोषान् नैव जानाति ॥ ३ ॥

नर =मनुष्य । विषमाम्=विपत्तिभीषणाम् । दशाम् = स्थितिम् । प्राप्य=लब्ध्वा । दैवम्=भाग्यम् । गर्हयते = विनिन्दति । अपण्डित = मूर्ख । आत्मन = स्वस्य । कर्मदोषान्=कर्तव्यच्युती । न जानाति=नावगच्छति ॥ ३ ॥

मनुष्य विपत्तियो मे पड कर भाग्य को दोष देता है किन्तु वह मूर्ख अपने किए हुए काम की त्रुटियो को नही समझता है ॥ ३ ॥

अपरञ्च—'सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ४ ॥

अन्वयः—य हितकामानाम् सुहृदाम् वाक्यम् न अभिनन्दति स दुर्बुद्धि काष्ठाद् भ्रष्ट कूर्म इव विनश्यति ॥ ४ ॥

य'=नर । हितकामानाम्=शुभेच्छुकानाम् । सुहृदाम्=मित्राणाम् । वाक्यम्=उपदेशम् । न अभिनन्दति=नाद्रियते । स दुर्बुद्धि = स दुर्मति । काष्ठाद्भ्रष्ट.=काष्ठात्पतित । कूर्म =कच्छप इव । विनश्यति=मृत्युमाप्नोति ॥ ४ ॥

और भी—जो व्यक्ति अपनी भलाई चाहने वाले मित्रो की बात का आदर नहीं करता है वह मूर्ख, कछुवे के समान लकडी से नीचे गिर कर नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

[अन्यच्च—रक्षितव्य सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम्।
हंसाभ्या नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा'] ॥ ५ ॥

राजाह—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

अन्वयः—वाक्यम् सदा रक्षितव्यम् (यत) वाक्यात् नाशनम् भवति यथा हंसाभ्याम् नीयमानस्य कूर्मस्य (वचनात् एव) पतनम् (अभवत्) ॥ ५ ॥

वाक्यम्=स्ववाणी । रक्षितव्यम्=संयमनीयम् । वाक्यात् = वृथा प्रलापात् । नाशनम्=विनाश । भवति=आगच्छति । यथा हंसाभ्याम्=मरालाभ्याम् । नीयमानस्य=वाह्यमानस्य । कूर्मस्य=कच्छपस्य । पतनम्=काष्ठाद् भ्रंश , (अभवत्) ॥५॥

और भी—मनुष्य को सदा अपनी वाणी को संयत रखना चाहिए क्योंकि बोलने से कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है जैसे हंसों द्वारा ले जाए जाते हुए कछुवे का पतन हुआ था।

राजा-राजहंस ने कहा—यह कैसे? मंत्री चकवे ने कहा—

कथा १

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः। तत्र चिरं सङ्कट-विकटनामानौ हंसौ निवसतः। तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मः प्रतिवसति।

अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तं, यत्—अत्रास्माभिरद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः। तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह—'सुहृदौ! श्रुतोऽयं धीवरालापः। अधुना किं मया कर्तव्यम्?' हंसावाहतुः—'ज्ञायतां तावत्, पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्'। कूर्मो ब्रूते—'मैवम्। यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र'। तथा चोक्तम्—

फुल्लोत्पलाभिधानम् = फुल्लोत्पलनामकम्। तत्र=तस्मिन् सरसि। चिरं=बहुकालम्। धीवरैः = मत्स्यघातिभिः। अत्र = अस्मिन् स्थाने। उषित्वा = निवासं कृत्वा। व्यापादयितव्याः = हन्तव्याः। तदाकर्ण्य=धीवरवचनं श्रुत्वा। हंसौ=हंसौ प्रति। आह=उवाच। सुहृदौ = हे मित्रे। धीवरालापः = धीवर वार्ता। अधुना=इदानीम्। किं कर्तव्यम्=कः प्रतीकारः कार्यः। ज्ञायताम् अवगम्य विचार्यताम् तावत्। आहतुः = ऊचतुः। उचितम् = यद् योग्यं प्रतिभासेत्। दृष्टव्यतिकरः =निरीक्षितोपद्रवः, अमुष्मिन् स्थाने उपद्रवो वा क्षतिः कार्ये वा मया दृष्टा एवेत्यर्थः।

मगध देश में फुल्लोत्पल नाम का एक तालाब है उसमें बहुत दिनों से संकट और विकट नाम के दो हंस रहते थे। उन दोनों का मित्र कम्बुग्रीव नामक कछुआ भी वहीं रहता था। एक बार मछुओं ने वहाँ आकर कहा कि—'आज हम लोग यहीं ठहरें और प्रातःकाल मछली तथा कछुओं आदि का शिकार करें।' यह सुन कर कछुवे ने हंसों से कहा—'मित्रो! इन मछुओं की बात सुन ली न! अब मुझे क्या करना चाहिए?' हंसों ने कहा—'अभी विचार किया जाय फिर प्रातःकाल जैसा उचित होगा वैसा किया जायगा।' कछुवे ने कहा—'नहीं ऐसा नहीं क्योंकि मैंने ऐसा करने से होने वाली हानि देखी है।' जैसा कि कहा भी गया है—

'अनागतविधाता च, प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते, यद्भविष्यो विनश्यति' ॥ ६ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?'। कूर्मः कथयति—

अन्वयः—अनागतविधाता तथा प्रत्युत्पन्नमति च एतौ द्वौ सुखमेधेते (किन्तु) यद्भविष्य विनश्यति ॥ ६ ॥

अनागतविधाता=तन्नामा मत्स्य, भाविन्यर्थे विचारकुशल, इत्यभिधेयार्थं । प्रत्युत्पन्नमति =तन्नामा अपर मत्स्य, कार्यकाले तीक्ष्णबुद्धि, इति अभिधेयार्थं । सुखमेधेते=सुखेन वर्द्धेते । यद्भविष्य =तन्नामा मत्स्य । भाविन्यर्थे न कोऽपि शक्त यद्भविष्यति तद्भविष्यत्येवेति विचारक इति अभिधेयार्थं । विनश्यति=मृत्यु प्राप्नोति ॥ ६ ॥

'जो भविष्य की चिन्ता करने वाला तथा समयानुसार बुद्धि द्वारा कार्य पूरा करने वाला होता है वह दोनो सुख से वढते हैं किन्तु जो होगा सो होगा, ऐसा सोचने वाला नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

दोनों हंसों ने कहा—यह कैसे । कछुवे ने कहा—

कथा २

पुरास्मिन्नेव सरस्येवंविधेष्वेव धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणालोचितम् । तत्रानागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनोक्तम्—'अहं तावज्जलाशयान्तर गच्छामि' । इत्युक्त्वा स ह्रदान्तर गतः । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितं—'भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात्कुत्र मया गन्तव्यम् ?। तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्'। तथा चोक्तम्—

पुरा=प्राचीनकाले । एवंविधेषु=ईदृशेषु । उपस्थितेषु=मत्स्यव्यापादनायागतेषु । आलोचितम्=निरूपितम् । जलाशयान्तरम्=अन्यसरोवरम् । ह्रदान्तरम्=अन्यतडागम् । अपरेण=द्वितीयेन । अभिहितम्=उक्तम् । भविष्यदर्थे = भाविनि विषये । प्रमाणाभावात्=प्रमाण विना । तदुत्पन्ने=भये समागते सति । यथाकार्यं=कर्तव्यमनुगम्य । अनुष्ठेयम्=प्रतिविधान कार्यम् ।

आज से वहुत पहिले इसी तालाव पर इसी प्रकार मछुओ के आने पर तीन मछलियों ने विचार किया था । उनमें एक मछली का नाम अनागतविधाता था । उसने कहा कि 'मैं तो दूसरे तालाव में चली जा रही हूं ।' ऐसा कह कर वह

दूसरे तालाब में चली गई। प्रत्युत्पन्नमति नाम की दूसरी मछली ने कहा— 'भविष्य में होने वाली बात के प्रमाण के अभाव में कहाँ मैं कहाँ जाऊँ। समयानुसार जो करना होगा करूँगा। जैसा कि कहा भी गया है—

'उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा' ॥ ७ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत्?' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

अन्वयः—यः आगताम् आपदम् समाधत्ते स बुद्धिमान् (यथा) वणिजः भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतः ॥ ७ ॥

उत्पन्नाम्=समागताम्। आपदम् विपदम्। समाधत्ते = समाधानं करोति, दूरीकरोतीत्यर्थः। स बुद्धिमान्=मतिमान्। वणिजः=वैश्यस्य। भार्यया पत्न्या। जारः उपपतिः। प्रत्यक्षे समक्षे अपि। निह्नुतः = गोपितः ॥ ७ ॥

जो आई हुई विपत्ति का समाधान तत्काल कर लेता है वही बुद्धिमान होता है जैसे वणिक् की स्त्री ने अपने पति के सामने ही अपने जार को छिपा लिया था' ॥ ७ ॥

यद्भविष्य ने पूछा— यह कैसे? प्रत्युत्पन्नमति ने कहा—

कथा ३

'पुरा विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते। यतः—

विक्रमपुरे=विक्रमपुर नगरे। वणिक्=बनिया। गृहिणी=पत्नी। स्वसेवकेन = निज सेवक से। रमते = रमण करती थी।

प्राचीन काल में विक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक बनिया था। उसकी स्त्री रत्नप्रभा अपने नौकर के साथ सदा रमण किया करती थी। क्योंकि—

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित् प्रियो वापि न विद्यते।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ते नवं नवम्' ॥ ८ ॥

स्त्रियो के लिए न तो कोई अप्रिय होता है और न तो कोई प्रिय ही होता है। बल्कि जैसे जंगल मे गायें नित्य नई-नई घास चरना चाहती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ नए नए नवयुवकों की कामना किया करती हैं ॥ ८ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता। ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाह—'नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निकृतिः। यतोऽयं 'चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादती'ति मयास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्। तथा चोक्तम्—

सेवकस्य=भृत्यस्य। अवलोकिता=दृष्टा। बन्धकी=कुलटा। सत्वरम्=शीघ्रम्। आह=उक्तवती। निकृतिः=दुष्टप्रवृत्तिः। चौरिकाम् कृत्वा=चोरयित्वा।

एक बार रत्नप्रभा उस सेवक का चुम्बन ले रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया। तब उस कुलटा ने शीघ्र ही पति के पास जाकर कहा कि 'नाथ, इस नौकर में एक बहुत बड़ी दुष्टता है, यह चोरी करके कपूर खाता है। मैंने इसका मुख सूँघ कर ऐसा जान लिया है। कहा भी गया है—

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' ॥ ९ ॥

अन्वयः—स्त्रीणाम् आहारः द्विगुणः, तासाम् बुद्धिः चतुर्गुणा, व्यवसायः षड्गुणः, कामः च अष्टगुणः स्मृतः ॥ ९ ॥

स्त्रीणाम्=नारीणाम्। आहारः=भोज्यम्। द्विगुणः=पुरुषापेक्षया द्विगुणः। व्यवसायः=उद्यमः। कामः=विषयाभिलाषः ॥ ९ ॥

स्त्री में पुरुष की अपेक्षा भोजन की शक्ति दुगुनी, बुद्धि चौगुनी, परिश्रम करने की शक्ति छगुनी और कामवासना आठगुनी होती है ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा सेवकेनापि प्रकुप्योक्तं-'नाथ ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यम्? यत्र च प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति।' ततोऽसावुत्थाय चलितः। साधुना च यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि- 'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि ॥ ☸ ॥

ततो यद्भविष्येणोक्तम्—

प्रकुप्योक्तम्=क्रोधावेशेन कथितम्। जिघ्रति=गन्धमुपादत्ते। असौ=सेवकः। यत्नात्प्रबोध्य=प्रयत्नेन सन्तोष्य। धृतः=गमनात् वारितः।

यह सुनकर सेवक ने क्रुद्ध होकर कहा कि—स्वामी जिस मालिक के घर में ऐसी भी होती? वहाँ भला नौकर कैसे रह सकते हैं? जहाँ भी हर समय नौकर का मुँह सूँघती है। बनिये ने कहा इसके बाद वह नौकर उठ कर चल पड़ा। तब उस बनिये ने उसे समझा-बुझा कर किसी प्रकार रोका। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'अनागत आने पर' इत्यादि। तब यद्भविष्य ने कहा—

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा'।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ? ॥ १० ॥

अन्वयः—यद् अभावि न तद्भावि भावि चेत् तद् अन्यथा न इति अयम् चिन्ताविषघ्न अगदः किं न पीयते ? ॥ १० ॥

यद् अभावि = यद् न भविष्यति। न तद्भावि—तद् न भविष्यत्येव। भावि चेत्—यदि भविष्यति। तद् अन्यथा न—तद् कदापि केनापि दूरीकर्तुं न शक्यं। चिन्ताविषघ्न=चिन्तारूपविषापहारक। अगद=औषधम्। किं न पीयते=कथं न सेव्यते ॥ १० ॥

जो नहीं होने वाला है वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अवश्य ही होगा उसे कोई टाल नहीं सकता। यह चिन्तारूपी विष को दूर करने की सबसे अच्छी दवा है। इसे क्यों नहीं पीते ? ॥ १० ॥

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्श्य स्थितः। ततो जालापसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः। यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इत्यादि॥

तद्यथाहमन्यं ह्रदं प्राप्नोमि तथा क्रियताम्। हंसावाहतुः—'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः ?'। कूर्म आह—'यथाहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि तथा विधीयताम्। हंसौ ब्रूतः—कथमुपायः सम्भवति' ?। कच्छपो वदति—'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्बितव्यम्। तच्च युवयोः पक्षबलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम्। हंसौ ब्रूतः—सम्भवत्येष उपायः। किन्तु—

जालेन बद्धः=धीवरजालेनाबद्धः। आत्मानम्=स्वम्। मृतवत् मृत इव। संदर्श्य=प्रदर्श्य। अपसारित=निष्कासित। उत्प्लुत्य=प्रसर्पणेन क्रमेण (उछलकर)। जलाशयान्तरे=अन्यह्रदे। प्राप्ते=गते। तव कुशलम्=भवद्

मगलम् । स्थले = भूमौ । को विधि = क रक्षणोपाय । आकाशवर्त्मना=गगन-मार्गेण । विधीयताम्=उपाय क्रियताम् ।

तब प्रात काल जाल में बँधे हुए प्रत्युत्पन्न मति ने अपने आप को मुर्दे के समान पड़ा हुआ प्रदर्शित किया । जिससे मछुओं ने उसे जाल से बाहर फेंक दिया । और वह तत्काल अपनी शक्ति के अनुसार शीघ्रता से उछल कर गहरे पानी में चली गई । यद्भविष्य मछुओं के द्वारा पकड़ कर मार डाली गई । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अनागत विधाता इत्यादि' ।

इसलिए मैं जिस उपाय से दूसरे तालाब मे जा सकूँ, वही उपाय कीजिए । हंसों ने कहा—'दूसरे तालाब मे चले जाने पर तो आपकी रक्षा हो जायगी किन्तु भूमि पर चलने समय रक्षा का क्या उपाय होगा ?' कछुवे ने कहा मैं आप दोनों के साथ आकाश मार्ग से जा सकूं, ऐसा उपाय कीजिए । हंसो ने कहा—'इसके लिए क्या उपाय हो सकता है ?' कछुवे ने कहा—आप दोनो अपनी चोंच से इधर उधर एक काठ का टुकड़ा पकड़ लीजिएगा और मैं उस लकड़ी के बीच म अपने मुँह से पकड़ कर लटक जाऊँगा इस प्रकार आप दोनो के पंखो के बल से मैं भी आसानी से चल चलूँगा ।' हंसों ने कहा—'यह उपाय तो हो सकता है' किन्तु—

'उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो, ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः' ॥ ११ ॥

कूर्मः पृच्छति—'कथमेतत् ?।' तौ कथयतः—

अन्वयः—उपायम् चिन्तयन् प्राज्ञ अपायमपि चिन्तयेत् बकमूर्खस्य पश्यतः प्रजा नकुलै भक्षिता ॥ ११ ॥

उपायम्=विधिम् । चिन्तयन्=विचारयन् । प्राज्ञ =बुद्धिमान् । अपायमपि=हानिमपि । चिन्तयेत्=विचारयेत् । पश्यत =दृश्यत । प्रजाः=सन्ताना, भक्षिता =खादिता ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् को उचित है कि वह उपाय का विचार करते समय उससे होने वाली हानि का भी विचार कर ले । नहीं तो जैसे उस मूर्ख बगुले की सन्तानों को नेवले ने खा डाला उसी प्रकार हानि का विचार न करने वाला भी नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

कछुवे ने पूछा 'यह कैसे हुआ ?' दोनो हंसो ने कहा—

कथा ४

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्रानेके बका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति ।

बकानां बालापत्यानि खादति। अथ शोकार्तानां विलापं श्रुत्वा, केनचिद् वृद्धबकेनाभिहितम्—'भो एवं कुरुत, यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण एकैकशो विकिरत। ततस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः, स्वभावद्वेषाद् व्यापादयितव्यश्च।' तथानुष्ठिते सति तद् वृत्तम्।

अथ नकुलैर्वृक्षोपरि बकशावकानां रावः श्रुतः। पश्चात्तद्वृक्षमारुह्य बकशावकाः खादिताः। अत आवां ब्रूमः—'उपायं चिन्तयन्' – इत्यादि॥

आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किञ्चिद्वक्तव्यमेव। यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा त्वन्मरणम्। तत्सर्वथात्रैव स्थीयताम्।

कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः? नाहमुत्तरं दास्यामि। न किमपि मया वक्तव्यम्।' तथानुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति वदन्ति च। अहो! महदाश्चर्यम्! पक्षिभ्यां कूर्मो नीयते।

कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति, तदात्रैव पक्त्वा खादितव्यः'। कश्चिद्वदति— सरसस्तीरे दग्ध्वा खादितव्योऽयम्। कश्चिद्वदति— 'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्' इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हित कामानाम्' इत्यादि ॥ [illegible] ॥

अथ प्रणिधिर्बकस्तमागत्योवाच—'देव! प्रागेव मया निगदितं, 'दुर्गशोधो हि प्रतिक्षणं कर्तव्य'मिति। तच्च युष्माभिर्न कृतं तदनवधानस्य फलमिदमनुभूतम्। 'दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः' राजा निःश्वस्याह—

उत्तरापथे=उत्तरस्यां दिशि। वृक्षस्याधस्तात् = तरोर्मूले। विवरे=बिले। बालापत्यानि = शिशून्। शोकार्तानाम् = शोकपीडितानाम्। विलापम्=रोदनध्वनिम्। अभिहितम्=उक्तम्। उपादाय=गृहीत्वा। विकिरत=विक्षिपत। तदाहारलुब्धैः =मत्स्यभोजनेच्छुभिः। स्वभावद्वेषात्=प्रकृतिवैरात्। व्यापादयितव्यः = हन्तव्यः। बकशावकानाम्=बकशिशूनाम्। रावः=ध्वनिः। श्रुतः=आकर्णितः। दु०=तरुम्। आरुह्य=आरोहणम् कृत्वा। नीयमानम्=आकाशपथे गम्यमानम्। लोकैः=

जनै । किञ्चिद्=उचितमनुचित वा । तदाकर्ण्य = लोकवचन श्रुत्वा । सर्वथा= सर्वतोभावेन । अप्राज्ञ =अविवेकी । गोरक्षका =गोपालका । कोपाविष्ट =क्रोधाभिभूत । विस्मृतपूर्वसस्कार = विस्मृतस्वपूर्वप्रतिज्ञ । निगदितम् = कथितम् । दुर्गशोधनम् = दुर्गान्वेषणम् । अनवधानस्य=असावधानतायाः । अनुभूतम् = अनुभवविषयीकृतम् । गृध्रप्रयुक्तेन = गृध्रनियुक्तेन । वायसेन=काकेन । नि श्वस्य= दीर्घश्वास विसृज्य ।

उत्तरापथ में गृध्रकूट नाम के पहाड़ पर एक बहुत बड़ा पीपल का पेड़ था। उस पर बहुत से बगुले रहते थे। उस वृक्ष के नीचे बिल मे एक साँप रहता था। वह बगुलो के बच्चो को खा जाया करता था। किसी दिन शोक से व्याकुल उन बगुलों का रोना सुन कर एक बूढे बगुले ने कहा—'तुम लोग ऐसा करो, मछलियाँ लेकर नेवले के बिल से साँप के बिल तक एक कतार बाँध कर फैला दो। तब भोजन के लालच मे नेवले साँप की बिल तक पहुँच कर उसे देख लेंगे और स्वाभाविक शत्रुता के कारण उसे मार डालेंगे। बगुलों के ऐसा करने पर वह साँप नेवलो द्वारा मार डाला गया। फिर उन नेवलों ने वृक्ष के ऊपर बगुलो के बच्चों की आवाज सुनी और पेड़ पर चढ़ कर उन बच्चो को भी खा डाला। इसीलिए हम दोनो कह रहे हैं कि 'उपाय सोचते समय' इत्यादि। हम दोनो के द्वारा ले जाते हुए तुम्हे देख कर लोग अवश्य ही कुछ कहेंगे। उसे सुनकर यदि तुम उत्तर दोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। इसलिए तुम्हें यहीं रहना उचित है। कछुवे ने कहा कि क्या मैं मूर्ख हूँ। मैं उत्तर नहीं दूँगा। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। ऐसा करने पर कछुए को उस प्रकार हसो द्वारा ले जाते हुए देख कर गाँव के सभी रखवाले पीछे-पीछे दौड़ते हुए कुछ न कुछ कहने लगे। कितना आश्चर्य है कि दो पक्षी कछुवा लिए जा रहे हैं। किसी ने कहा—'यदि यह कछुवा गिर पड़े तो यहीं पका कर खाया जाय।' किसी ने कहा—'तालाब के किनारे भूनकर खाया जायगा।' किसी ने कहा—'घर ले जाकर खाना ठीक होगा।' इस प्रकार की बातें सुन कर कछुवा क्रोध मे आकर अपनी पहली प्रतिज्ञा भूल गया और उसने कहा कि 'तुम लोग राख खाना।' यह कहते ही वह गिर पड़ा और मारा गया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'हित चाहने वाले मित्रो का' इत्यादि। इसके बाद प्रधान गुप्तचर बगुले ने आकर कहा कि राजन्, मैंने पहले ही कहा था कि किले की टोह हर समय की जानी चाहिए। आप लोगो ने वैसा नहीं किया। उसी असावधानी का यह फल भोगना पड़ा है। किले के जलाने का काम गृद्ध द्वारा भेजे गए मेघवर्ण कौवे ने किया है। राजा ने साँस खींचते हुए कहा—

'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रणयात् उपकाराद्वा य शत्रुषु विश्वसिति स सुप्तः इव वृक्षाग्रात् पतितः प्रतिबुध्यते ॥ १२ ॥

प्रणयात्=प्रेम्ण । उपकाराद्वा=हितभावनया । स सुप्त इव=सुप्तावस्थित इव । वृक्षाग्रात्=तरुशिखरात् । पतितः=भ्रष्टः । प्रतिबुध्यते=जागर्ति ॥

जो व्यक्ति प्रेम अथवा उपकार की भावना से शत्रु पर विश्वास करता है वह कुछ खोने के बाद ही सावधान होता है जैसे पेड़ की चोटी पर सोने वाला वहाँ से गिरने पर जाग जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रणिधिरुवाच—इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्—'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम् । तथा चोक्तम्—

प्रणिधि=गुप्तचर । विधाय=कृत्वा । प्रसादितेन=प्रसन्नेन । अभिषिच्यताम्=अभिषेकः क्रियताम् ।

तब प्रधान गुप्तचर ने कहा—जब किले को जलाकर मेघवर्ण चला गया तो उसके ऊपर प्रसन्न होकर चित्रवर्ण ने कहा—इस मेघवर्ण को इस कर्पूरद्वीप का राजा बना दिया जाय । क्योंकि कहा भी गया है—

'कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा, वाचा, दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतम् न प्रणाशयेत् फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या च एनम् प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

कृतकृत्यस्य=कृतसर्वाभिकार्यस्य । भृत्यस्य=सेवकस्य । कृतम्=उपकारम् । न प्रणाशयेत्=न विस्मरेत् । फलेन=पुरस्कारादिना । मनसा=सौम्यभावेन । वाचा=प्रशंसावचनैश्च । दृष्ट्या=प्रसन्नेक्षणेन । एनम्=भृत्यम् । प्रहर्षयेत्=सन्तोषयेत् ॥ १३ ॥

सभी तरह से अपने काम को पूरा करने वाले नौकर के कार्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । बल्कि धन मन वाणी और कृपा दृष्टि से उसे प्रसन्न करना चाहिए ॥ १३ ॥

चक्रवाको ब्रूते—देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयति ? । राजा प्राह—ततस्ततः ? । प्रणिधिरुवाच 'ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाभिहितम्—देव ! नेदमुचितं प्रसादान्तरं किमपि क्रियताम्' । यतः—

देव=राजन् । श्रुतम्=आकर्णितम् । यत्=दुर्गदाहविषयकतथ्यम् । प्रणिधि=चरनायक । ततस्तत=अग्रे किं वृत्तम् । नेदमुचितम्=वायसस्य कर्पूरद्वीपराज्याभिषेचन नोपयुक्तम् । प्रसादान्तरम्=अभिषेक विहाय अन्यमनुग्रहम् ।

चकवे ने कहा—'राजन्, गुप्तचर ने जो कुछ कहा है उसे आपने सुन लिया न ! राजा राजहंस ने कहा—'तो फिर आगे क्या हुआ !' गुप्तचर ने कहा—'तब प्रधान मन्त्री गृद्ध ने कहा—'राजन्, यह ठीक नहीं है । इसके ऊपर (राज्याभिषेक के अतिरिक्त) कोई दूसरी कृपा होनी चाहिए । क्योंकि—

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव मूत्रितम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—अविचारयत युक्तिकथनम् तुषखण्डनम् (एव) हे राजन्, नीचेषु उपकृतम् वालुकासु मूत्रितम् इव ॥ १४ ॥

अविचारयत =विचाररहितस्य । युक्तिकथनम्=उपायोपदेश । तुषखण्डनम्=तुषावघात , व्यर्थप्रयास (भूसी कूटना अर्थात् व्यर्थ परिश्रम करना) । नीचेषु=निम्नाचारेषु । उपकृतम्=उपहारादिदानम् । बालुकासु = सिकतासु । मूत्रितम्, इव=मूत्रोत्सर्गं इव ॥ १४ ॥

जैसे विचाररहित पुरुष से कोई युक्तिसंगत बात कहना भूसी कूटने के समान (व्यर्थ) होता है वैसे ही नीच पुरुष का उपकार करना भी बालू पर किए गए मूत्र के समान होता है ॥ १४ ॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

महतामास्पदे=महापुरुषाणा योग्यस्थाने । न कर्तव्य =न प्रतिष्ठेय ।

महान् लोगो के योग्य स्थान पर नीच को कभी नही नियुक्त करना चाहिए । जैसा कि कहा भी गया है—

'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १५ ॥

चित्रवर्ण पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

अन्वयः—नीच श्लाघ्यपद प्राप्य स्वामिनम् हन्तुम् इच्छति । यथा मूषिक व्याघ्रताम् प्राप्य मुनिम् हन्तु गत ॥ १५ ॥

नीच =निम्नपुरुष । श्लाघ्यपदम्=उन्नतस्थानम् । प्राप्य = लब्ध्वा । स्वामिनम्=उपकारकारकं नृपमपि । हन्तुम् = व्यापादयितुम् । इच्छति = अभिलषति । मुनिम्=येन स मूषिक. व्याघ्र कृत तमपि ॥ १५ ॥

नीच स्वामी की कृपा से उच्च पद पाकर स्वामी को ही मारना चाहता है। चूहा मुनि द्वारा बाघ बन जाने पर मुनि को ही मारने के लिए तैयार हो गया॥

कथा ९

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः। तत्र तेन आश्रमसंनिधाने मूषिकशावकः काकमुखाद् भ्रष्टो दृष्टः। ततो दयायुक्तेन तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्धितः। ततो बिडालस्तं मूषिकं खादितुमुपधावति। तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश। ततो मुनिनोक्तम्—'मूषिक! त्वं मार्जारो भव।' ततः स बिडालः कुक्कुरं दृष्ट्वा पलायते। ततो मुनिनोक्तम्—'कुक्कुराद्बिभेषि त्वमेव कुक्कुरो भव।' स च कुक्कुरो व्याघ्राद् बिभेति। ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः।

अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति। अथ तं मुनिं व्याघ्रं च दृष्ट्वा सर्वे वदन्ति—'अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः'।

एतच्छ्रुत्वा सव्यथो व्याघ्रोऽचिन्तयत्—'यावदनेन मुनिना स्थीयते तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते'।—इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः। ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव'—इत्युक्त्वा मूषिक एव कृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य' इत्यादि ॥ ९ ॥

अपरञ्च देव—'सुकरमिदम्' इति न मन्तव्यम्, शृणु—

काकमुखात् = वायसवदनात्। शावकः = शिशुः। दयायुक्तेन = कृपान्वितेन। नीवारकणैः = अकृष्टपच्यधान्यकणैः। संवर्धितः = वृद्धिं प्रापितः पोषितश्च। खादितुम् = भक्षयितुम्। तमवलोक्य = बिडालं दृष्ट्वा। क्रोडे = अङ्के। प्रविवेश = प्रविष्टोऽभवत्। मार्जारः = बिडालः। पलायते = भयात् पलायनं करोति। बिभेति = भयमाप्नोति। सर्वे वदन्ति = सर्वे जनाः कथयन्ति।

स्वरूपाख्यानम् = मद्रूपपरिवर्तनसम्बन्धिनी कथा। अकीर्तिकरम् = अपयशस्करम्। न पलायिष्यते = न नङ्क्ष्यति। इत्यालोच्य = एवं विचार्य। तज्ज्ञात्वा = तदूहनं बुद्ध्वा।

सुकरम् = अनायासकरणीयम्। इदम् = नीचस्य राज्याभिषेचनम्। न मन्तव्यम् = न ज्ञातव्यम्

चित्रवर्ण ने पूछा—यह कैसे हुआ ? मंत्री ने कहा—'गौतम ऋषि के तपोवन में महातपा नाम के एक मुनि रहते थे। उन्होंने अपने आश्रम के पास कौवे के मुँह से गिरा हुआ एक चूहा देखा। उस दयालु मुनि ने उसे नीवारकण खिलाकर पाला पोसा। एक बार एक वनविलाव ने उस चूहे को खाने के लिए उसे दौड़ाया। चूहा उस विलाव को देखकर मुनि की गोद मे चला गया। तव मुनि ने कहा—'चूहे तुम भी विलाव वन जाओ।' इसके वाद वह विलाव कुत्ते को देख कर भागा तो मुनि ने कहा 'कुत्ते से डरते हो तो तुम भी कुत्ते हो जाओ।' वह कुत्ता व्याघ्र से डरने लगा तो मुनि ने उसे वाघ वना दिया। उस वाघ को मुनि चूहा ही समझते थे। और उस मुनि तथा वाघ को देखकर सभी लोग कहा करते थे कि इस मुनि ने चूहे को वाघ वना दिया है। यह सुनकर उस वाघ ने सोचा कि जव तक यह मुनि रहेंगे तव तक हमारे रूप वदलने की यह वदनामी से भरी हुई कहानी समाप्त नहीं होगी। यह सोचकर वह मुनि को मारने के लिए गया। मुनि ने यह जानकर 'फिर चूहे वन जाओ' ऐसा कह कर उसे चूहा वना दिया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ 'नीच उत्तम पद पाकर' इत्यादि और भी इसे राजा वनाना आप सरल न समझिए। सुनिए—

'भक्षयित्वा वहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलोभाद्वकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥ १६ ॥

अन्वयः—उत्तमाधममध्यमान् वहून् मत्स्यान् भक्षयित्वा वक अतिलोभात् कर्कटकग्रहात् पश्चात् मृत ॥ १६ ॥

उत्तमा =महान्त । अधमा =अत्यल्पा । वहून्=वहुसख्यकान्। मत्स्यान्= मीनान्। अतिलोभात् = अतिलौल्यात्। कर्कटकग्रहात्=कर्कटकर्तृकादानात् (पकड़ने से)। मृत =मृत्युम् प्राप्त ॥ १६ ॥

उत्तम, मध्यम और अधम कोटि की वहुत सी मछलियों को खाने के वाद लोभ मे वगुले ने केकडे को खाना चाहा जिससे वह केकडे द्वारा पकडे जाने से मर गया ॥ १६ ॥

कथा ६

चित्रवर्ण पृच्छति—'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति—

अस्ति मालवविषये पद्मगर्भाभिधानं सरः। तत्रैको वृद्धो वकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः। स च केनचित्कुलीरेण दूरादेव दृष्ट', पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति'?। वक [illegible]—"मत्स्या मम जीवनहेतवः। ते 'कैवर्त-

रागस्य व्यापादयितव्या'—इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता। अतो 'वर्तनाभावादेवास्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाहारेऽप्यनादरः कृतः। ततो मत्स्यैरालोचितम्—इह समये तावदुपकारक एवायं लक्ष्यते तदयमेव यथाकर्तव्यं पृच्छ्यताम्। तथा चोक्तम्—

मालवविषये=मालवदेशे। पद्मगर्भाभिधानम्=पद्मगर्भनामधेयम्। सरः=तडागः। सामर्थ्यहीनः=वृद्धत्वाच्छक्तिरहितः। उद्विग्नमिव=व्याकुलम् इव। कुलीरेण=कर्कटेन। आहारत्यागेन=भोजनवर्जनेन। मत्स्याः=मीनाः। जीवनहेतुः=प्राणावलम्बनम्। भोज्याः। कैवर्तैः=धीवरैः। व्यापादयितव्याः=हन्तव्याः। नगरोपान्ते=नगरनिकटे। वर्तनाभावात्=जीविकाविरहात्। उपस्थितम्=आगतम्। आहारेऽपि=भोजनेऽपि। अनादरः कृतः=तिरस्कारः=अनिच्छा कृता। मत्स्यैरालोचितम्=मीनैः विचिन्तितम्। इह समये=इदानीम्। उपकारक=पुष्टेच्छुः। लक्ष्यते=दृश्यते। यथाकर्तव्यम्=यथोचितम् कार्यम्।

चित्रवर्ण ने पूछा—यह कैसे हुआ? मंत्री ने कहा—मालवा देश में पद्मगर्भ नाम का एक तालाब था। वहाँ एक शक्तिहीन और अत्यन्त व्याकुल सा बूढ़ा बगुला खड़ा हुआ था। उसे किसी केकड़े ने दूर से ही देखा और पूछा—'आप यहाँ भोजन छोड़कर क्यों पड़े हैं? बगुले ने कहा—मछली ही मेरे जीवन का सहारा है और उसे मछुवे यहाँ आकर मारेंगे ऐसी बात मैंने नगर के पास सुनी है। इसलिए भोजन के बिना अब मेरी मौत आ गई है ऐसा सोचकर मैंने भोजन करना छोड़ दिया है। तब मछलियों ने विचार किया कि इस समय तो यह हम लोगों की भलाई करने वाला मालूम पड़ रहा है इसलिए इसी से पूछना चाहिए कि अब हम लोगों को क्या करना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—

'उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ १७ ॥

अन्वयः—उपकर्त्रा अरिणा सन्धिः (कार्यः किन्तु) अपकारिणा मित्रेण न (कार्यः) एतयोः उपकारापकारौ लक्षणम् हि ॥ १७ ॥

उपकर्त्रा=उपकारकारिणा। अरिणा=शत्रुणा। सन्धिः=मेलनम्। अपकारिणा=अपकारकारकेण। मित्रेण=सुहृदा। एतयोः=शत्रुमित्रयोः। लक्ष्यम्=चिह्नम्। लक्षणम्=चैवम् ॥ १७ ॥

उपकार करने वाले शत्रु से सन्धि करना अच्छा है लेकिन बुराई करने वाले मित्र से सन्धि करना ठीक नहीं है। क्योंकि शत्रु और मित्र का लक्षण ही अपकार और उपकार करना होता है ॥ १७ ॥

मत्स्या ऊचुः—'भो वक! कोऽत्र अस्माकं रक्षणोपायः ?'। वको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम्। तत्राहमेकैकशो युष्मान्नयामि'। मत्स्या आहुः—'एवमस्तु।' ततोऽसौ दुष्टबकस्तान्मत्स्यानेकैकशो नीत्वा खादति। अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच 'भो वक, मामपि तत्र नय।' ततो बकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान्। कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णम् स्थलमालोक्याचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। भवतु। इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि।' यतः—

अत्र = इदानीम्। जलाशयान्तराश्रयणम् = अन्यस्य सरोवरस्यालम्बनम्। आहु.=उक्तवन्त। स्थले=भूमौ। मत्स्यकण्टकाकीर्णम्=मीनास्थिसकुलम्। अचिन्तयत्=व्यचारयत्। हतोऽस्मि=मृतोऽस्मि। मन्दभाग्य = हतभाग्य। समयोचितम्=यथावसरम्। व्यवहरिष्यामि=आचरिष्यामि।

मछलियो ने कहा—'हे बगुले अब हम लोगो की रक्षा का क्या उपाय है ?' बगुले ने कहा— दूसरे तालाब मे चला जाना ही रक्षा का उपाय है। इससे तुम लोगों में से एक-एक को वहाँ पहुँचा भी दूँगा।' मछलियो ने कहा—ठीक है, ऐसा ही करो।' तब यह दुष्ट बगुला एक-एक को ले जाकर खाने लगा। इसके बाद केकडे ने कहा—'हे बगुले मुझे भी वहाँ ले चलो। बगुला भी केकडे को पहले कभी नहीं खाया था इसलिए उसके मांस खाने की लालच से बडे आदर के साथ उसे पानी से बाहर निकाल कर रखा। केकडे ने मछलियो की हड्डियों से भरी हुई उस जगह को देखकर विचार किया कि अब तो मुझ अभागे को मरना पडा। अच्छा, समयानुसार उपाय करना चाहिए। क्योंकि—

'तावद्भयेन भेतव्य यावद्भयमनागतम्।
आगतन्तु भय दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत्' ॥ १८ ॥

अन्वयः—यावत् भयम् अनागतम् तावत भयेन भेतव्यम्। तु भयम् आगतं दृष्ट्वा अभीतवत् प्रहर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

भयम्=भयहेतु। अनागतम् = अनुपस्थितम्। अभीतवत् = निर्भयसदृश। प्रहर्त्तव्यम्=तस्योपरि प्रहार करणीय, प्रतीकार कार्यं इत्यर्थः ॥ १८ ॥

'भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक वह सामने न हो किन्तु भय को सामने उपस्थित देखकर निडर होकर उस पर प्रहार करना चाहिए' ॥ १८ ॥

किञ्च—'अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद् गतिमात्मनः।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत रिपुणा सह' ॥ १९ ॥

अन्वयः—अभियुक्तः यदा आत्मनः किञ्चिद् गतिम् न पश्येत् तदा प्राज्ञः रिपुणा सह युध्यमानः म्रियेत ॥ १९ ॥

अभियुक्तः=शत्रुणा स्वकारणेन वा आक्रान्तः पुरुषः । आत्मनः = स्वस्य । किञ्चिद्गतिम्=किञ्चिदन्यम् प्रतीकारोपायम् । न पश्येत्=न विलोकयेत् । प्राज्ञः = बुद्धिमान् । रिपुणा सह=शत्रुणा सह । युध्यमानः=युद्धं कुर्वाणः । म्रियेत = प्राणान् मुञ्चेत् ॥ १९ ॥

शत्रु द्वारा आक्रान्त व्यक्ति जब अपने बचने का दूसरा कोई भी उपाय न देखे तो शत्रु के साथ युद्ध करते हुए मरना ही उसकी बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकस्तस्य बकस्य ग्रीवां चिच्छेद । अथ स बकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि ॥

इत्यालोच्य=एवं विचार्य । कुलीरकः = कर्कटकः । ग्रीवाम् = कण्ठदेशम् । चिच्छेद=कर्तितवान् । पञ्चत्वं गतः=मृत्युं प्राप्तः ।

ऐसा विचार कर केकड़े ने उस बगुले के गले को काट दिया जिससे वह बगुला मर गया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ 'बहुत सी मछलियों को खाकर' इत्यादि ।

ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितम्—(-अस्ति-) यद्—अत्रावस्थितेनानेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि । तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम् । दूरदर्शी विहस्याह—'देव !

आलोचितम्=विचारितम् । अत्रावस्थितेन = अत्राधिष्ठितेन । उपनेतव्यानि=उपढौकितव्यानि । दूरदर्शी=राज्ञः चित्रवर्णस्य मन्त्री गृध्रः ।

तब चित्रवर्ण ने कहा—हे मंत्री सुनो मैंने यह सोचा है कि यहाँ राज्य पर नियुक्त मेघवर्ण कर्पूर द्वीप की सभी अच्छी-अच्छी वस्तुओं को हमारे पास भेजा करेगा जिससे हम लोग विन्ध्याचल पर बड़े सुख से रहेंगे । दूरदर्शी ने हँस कर कहा—राजन्

अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा' ॥ २ ॥

राजाह—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति —

अन्वयः—यः अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा प्रहृष्यति सः भग्नभाण्डः द्विजः यथा तिरस्कारम् आप्नोति ॥ २ ॥

य =पुरुष । अनागतवर्ती=भविष्यानुवर्तिनीम् । प्रहृष्यति = मोदते । भग्न-भाण्ड = भग्नसक्तुपूर्णपात्र । द्विज =ब्राह्मण । यथा=इव । तिरस्कारमाप्नोति= अनादृतो भवति ॥ २० ॥

जो मनुष्य भविष्य की कल्पना करके झूठे सुख की आशा से प्रसन्न होता है वह कुम्हार का वर्तन फोड डालने वाले ब्राह्मण के समान अपमानित होता है ॥

राजा ने कहा—यह कैसे ? मन्त्री ने कहा—

कथा ७

अस्ति देवीकोट्टनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः। तेन महाविषुवत्सङ्क्रान्त्यां सक्तुपूर्णशराव एकः प्राप्तः। ततस्तमादायासौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः। ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—'अद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि, तदात्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिक-मुपक्रीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनै. पुन. पुन' पूगवस्त्रादिमुपक्रीय, विक्रीय, लक्षसङ्ख्यानि धनानि कृत्वा, विवाहचतुष्टयं करिष्यामि। अनन्तरं तासु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकानुरागं करिष्यामि। सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदा कोपाकुलोऽहं ताः सर्वा लगुडेन ताडयिष्यामीत्यभिधाय तेन लगुडः प्रक्षिप्तः। तेन सक्तु-शरावश्चूर्णितो, भाण्डानि च बहूनि भग्नानि। ततस्तेन शब्देना-गतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य, ब्राह्मणस्तिरस्कृतो, मण्डपाद्बहिष्कृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि ॥

ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात ! यथा कर्त्तव्य तथोपदिश।' गृध्रो ब्रूते—

विषुवत्सङ्क्रान्त्याम् = वैशाखमासस्य मेषसक्रान्तिवासरे । सक्तुपूर्ण-शराव =सक्तुपूरितवर्द्धमानक (सतुवे से भरा कसोरा)। भाण्डपूर्णमण्डपैक-देशे = मृत्पात्रपूर्णगृहस्यैकभागे । रौद्रेण=घर्मेण । आकुलित = व्यग्र । सुप्त = सुप्तवान् । दण्डमेकम्=एकां यष्टिकाम् । आदाय=गृहीत्वा । कपर्दकान्=काकिणी । अनेकधावृद्धै = वार वार क्रयविक्रयकरणेन वर्द्धितै । तद्धनै = तन्मूल्यत्वेन प्राप्तधनै । पुन पुन =वार वारम् । पूगवस्त्रादिकम् = पूगीफलवस्त्रादिकम्

(सुपारी तथा कत्थे आदि) । शरावम् = सकोरम् । कोपाकुल = क्रोध से व्याकुल । अर्जुरेण=दण्डेन । ताडयिष्यामि=मारयिष्यामि । चूर्णित=भग्न । भाण्डानि= कुम्भकारस्य पात्राणि । तेन शब्देन = चूर्णितस्य भाण्डस्य शब्देन । तथाविधानि= भग्नानि । अवलोक्य=दृष्ट्वा । तिरस्कृत=अपमानित । बहिष्कृत=निष्कासित । रहसि=एकान्ते ।

देवीकोट्ट नाम के नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था एक बार महाविषुव संक्रान्ति के दिन उसने सत्तुओं से भरा हुआ एक मिट्टी का कसोरा पाया। वह उसे लेकर बर्तनों से भरे हुए कुम्हार के मण्डप के एक किनारे गया और धूप से व्याकुल होकर वहीं सो गया। तब सत्तुओं की रक्षा के लिए हाथ में एक डंडा लेकर वह मन ही मन सोचने लगा। यदि मैं इस सत्तुओं के कसोरे को बेच कर दस कौड़ी पा जाऊँ तो उससे घड़े कसोरे आदि खरीद कर बेच कर लाखों का धन प्राप्त करके चार विवाह करूँगा इसके पश्चात् उन चारों स्त्रियों में जो सबसे सुन्दरी तथा युवती होगी मैं उससे अधिक प्रेम करूँगा। जब वे चारों आपस में झगड़ा करेंगी तो मैं क्रुद्ध होकर उन सभी को डंडे से पीटूँगा। ऐसा कहकर उसने डंडा चला दिया। जिससे सत्तुओं का कसोरा तो टूटा ही साथ ही कुम्हार के बहुत से बर्तन भी टूट गए। बर्तन के टूटने का शब्द सुनकर कुम्हार वहाँ आया और उन टूटे फूटे बर्तनों को देख कर उसने ब्राह्मण को डाँटा। इसी से मैं कह रहा हूँ—'भविष्य की कल्पना करने वाले' आदि।

तब राजा ने एकान्त में गृध्र से कहा—तात

अब मुझे बताइए कि क्या करना चाहिए। गृध्र ने कहा—

मदोद्धतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्येव दन्तिनः ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—मदोद्धतस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य दन्तिन नेतारः इव (मदोद्धतस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य) नृपतेः नेतारः वाच्यताम् गच्छन्ति ॥

मदोद्धतस्य = उन्मत्तस्य गुणाधिक्ये गर्वोन्मत्तस्य । प्रकीर्णस्य=स्वच्छन्दस्य, गुणविरामे विचाररहितस्य उन्मार्गयातस्य = कुपथप्रवृत्तस्य । दन्तिनः = हस्तिनः । नेतारः=हस्तिपकाः उपदेष्टारः=मन्त्रिणः । इव=यथा । वाच्यम् = लोकनिन्दनीयताम् । गच्छन्ति = प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

जैसे मद से पागल हाथी के बुरे मार्ग में चले जाने का सारा दोष महावत के ऊपर होता है उसी प्रकार अभिमानी मतवाले राजा के बुरे मार्ग में जाने का सारा दोष मंत्री पर होता है और वह निन्दा का पात्र बनता है ॥ २१ ॥

'शृणु देव! किमस्माभिर्बलदर्पाद् दुर्गं भग्नम्?, उत तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन?।' राजाह—'भवतामुपायेन।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम्। अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनस्तुल्यबलेन विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति। तत्सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम्। दुर्गं भग्नं, कीर्त्तिश्च लब्धेव'। मम संमतं तावदेतत्'। यतः--

बलदर्पात्=पराक्रमाभिमानात्। उत=अथवा। प्रतापाधिष्ठितेन=प्रतापाश्रयेण। अस्मद्वचनम्=अस्मन्मन्त्रणाम्। पुनर्विग्रहे=पुनः युद्धे सति। परभूमिष्ठानाम्=शत्रुदेशस्थितानाम्। सुखशोभार्थम्=स्वस्य सुखाय यशसे वा। सन्धाय=सन्धिं विधाय।

'यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्त्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि, तेन राजा सहायवान्' ॥ २२ ॥

अन्वयः—यः भर्तुः प्रियाप्रिये हित्वा धर्मं पुरस्कृत्य अप्रियाणि तथ्यानि आह, तेन राजा सहायवान् (भवति) ॥ २२ ॥

यः=राजमन्त्री। भर्तुः=नृपस्य। प्रियाप्रिये=इदम् स्वामिनः प्रियम्, इदम् अप्रियम् इति च। हित्वा=विहाय। धर्मम्=न्यायम्। पुरस्कृत्य=अग्रेकृत्वा। तथ्यानि=तथ्यवचनानि। तेन=मन्त्रिणा। राजा=नृपः। सहायवान्=सहायकान्वितः भवति ॥ २२ ॥

राजन्, सुनिए—'क्या हम लोगों ने अपनी सेना के अभिमान से किला तोड़ा है अथवा आपके प्रताप या उपाय से!' राजा ने कहा—'आपके उपाय से।' गृध्र ने कहा—यदि हमारी बात मानते हैं तो अपने देश चलिए। नहीं तो वर्षा आ जाने पर और फिर समान बल वाले शत्रु से युद्ध होने पर दूसरे देश में रहने वाले हम लोगों को अपने देश में जाना भी कठिन हो जायगा। इसलिए सुख और यश दोनों के लिए सन्धि करके चले चलिए। किला टूट ही गया और यश मिल ही गया। मेरा तो अब यही विचार है। क्योंकि—जो धर्म को आगे करके राजा के प्रिय और अप्रिय का ध्यान छोड़ कर केवल राजा के हित की बात को ही कहता है, भले ही वह राजा को बुरा लगे, वही राजा का सच्चा सहायक होता है ॥ २२ ॥

अन्यच्च—'सुहृद्बलं, तथा राज्यमात्मानं, कीर्त्तिमेव च।
युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः?' ॥ २३ ॥

अन्वयः—युधि सुहृदं बलम् राज्यम्, तथा आत्मानं कीर्तिमेव च हि कः प्राज्ञः संदेहदोलास्थम् कुर्यात्॥ २३॥

युधि—युद्धे। सुहृद्—मित्रम्। बलम्—सैन्यम्। राज्यम्—स्वदेशम्। आत्मानं कीर्तिम्—स्वकीयं यश। प्राज्ञः—पण्डितः। संदेहदोलास्थम्—संशयदोलास्थम्॥ २३॥

भला कौन बुद्धिमान् युद्ध में पड़कर मित्र सेना राज्य कीर्ति तथा अपने आप को सन्देह रूपी झूले में डालेगा॥ २३॥

अपरञ्च—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि।
नहि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः॥ २४॥

अन्वयः—युधि विजयः संदिग्धः (अतः) समेनापि सन्धिं इच्छेत्। संशयितं नहि कुर्यात् इति बृहस्पतिः उवाच॥ २४॥

युधि—युद्धे। विजयः—विजयलाभः। संदिग्धः—अनिश्चितः। अत एव समेनापि—स्वतुल्यपराक्रमेणापि। सन्धिमिच्छेत्—सन्धिं कुर्यात्। संशयितं—संदिग्धं कार्यम्। नहि कुर्यात्—नाचरेत्॥ २४॥

लड़ाई में विजय प्राप्त होने में सन्देह होता है इसलिए समान बल वालों के साथ सन्धि कर लेना चाहिए। क्योंकि बृहस्पति ने बताया है कि जिस कार्य के पूरा होने में संदेह हो उसे नहीं करना चाहिए॥ २४॥

अपि च—'युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं, नष्टौ तुल्यबलौ न किम्?'॥ २५॥

राजोवाच—'कथमेतत्?' मन्त्री कथयति—

अन्वयः—कदाचित् युद्धे उभयोरपि विनाशः भवति तुल्यबलौ सुन्दोपसुन्दौ अन्योन्यं किम् नष्टौ न?॥ २५॥

युद्धे—संग्रामे। उभयोरपि—युध्यमानयोः द्वयोरपि। अन्योन्यम्—परस्परम्। तुल्यबलौ—तुल्यपराक्रमौ। किम् न नष्टौ—नष्टौ एव॥ २५॥

और भी—युद्ध में कभी कभी दोनों पक्षों का विनाश निश्चित होता है। समान बल वाले सुन्द और उपसुन्द क्या आपस में लड़कर नष्ट नहीं हुए?॥

राजा ने कहा—यह कैसे? मंत्री ने कहा—

कथा ८

पुरा दैत्यौ सहोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता कायक्लेशेन त्रैलोक्यराज्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ। ततस्तयोर्भगवान् परितुष्टः सन् 'वरं वरयतम्' इत्युवाच। अनन्तरं तयोः कण्ठाधिष्ठितायाः सरस्वत्याः प्रभावात्तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ—'यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु।'

कायक्लेशेन=शरीरकष्टेन। त्रैलोक्यराज्यकामनया=त्रिभुवनराज्याभिलाषेण। चिरात्=बहुकालात्। चन्द्रशेखरम्=शिवम्। भगवान्=शिव। वरयतम्=याचेथाम्। कण्ठाधिष्ठिताया=कण्ठे स्थिताया। अन्यद् वक्तुकामौ=अन्यत् वक्तुम् अभिलाषुकौ। अभिहितवन्तौ=उक्तवन्तौ। स्वप्रियाम्=निजपत्नीम्।

प्राचीन काल मे सगे भाई सुन्द और उपसुन्द ने तीनों लोक के राज्य की अभिलाषा से बहुत अधिक शारीरिक कष्ट उठा कर बहुत दिनों तक भगवान शंकर की आराधना की। तब भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर कहा कि 'वर मागो ?' तब कंठ में बसी सरस्वती के प्रभाव से वह दोनो जो कुछ मांगना चाहते थे उसके प्रतिकूल बोले—यदि आप हम दोनों पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रियपत्नी पार्वती को हमे दे दीजिए।

अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया, विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता। ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां, जगद्घातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां, पापतिमिराभ्यां, 'ममे'त्यन्योन्यं कलहायमानाभ्यां 'प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छ्यता' मिति मतौ कृतायां, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समागत्य तत्रोपस्थितः। अनन्तरम्—'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति'-इति ब्राह्मणमपृच्छताम्। ब्राह्मणो ब्रूते—

विचारमूढयो=विवेकशून्ययो। रूपलावण्यलुब्धाभ्याम्=सौन्दर्यप्रसक्ताभ्याम्। जगद्घातिभ्याम्=लोकपीडकाभ्याम्। मनसोत्सुकाभ्याम्=चित्तेनोत्सुकाभ्याम्। पापतिमिराभ्याम् = पापान्धकाराच्छादिताभ्याम्। कलहायमानाभ्याम्=द्वन्द्वायमानाभ्याम्। प्रमाणपुरुष=मध्यस्थ। पृच्छ्यताम्=निर्णयार्थम्, पृच्छ्यताम्। भट्टारक=परमेश्वर। वृद्धद्विजरूप=वृद्धब्राह्मणवेश। स्वबललब्धा=स्वपराक्रमें उपार्जिता।

यह सुन कर भगवान् शिव बहुत प्रसन्न हुए किन्तु अपनी वरदान देने की बात पूरी करने के लिए उन मूर्खों को उन्होंने पार्वती जी दे दिया। तब दोनों पार्वती के रूप पर मुग्ध हो गये और संसार के नाशी तथा अत्यन्त पापी वह दोनों अत्यन्त उत्सुक होकर 'यह मेरी है, यह मेरी है' इस प्रकार झगड़ा करने लगे। तब उन दोनों ने यह विचार किया कि किसी मध्यस्थ द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए। उसी समय शंकर जी वृद्ध ब्राह्मण का वेष धारण करके उन दोनों के पास उपस्थित हुए। इसके पश्चात् उन दोनों ने ब्राह्मण से पूछा कि हम दोनों ने इसे अपने बल से प्राप्त किया है अतः यह किसकी होनी चाहिए। ब्राह्मण ने कहा—

'ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि ।
धनधान्याधिको वैश्यः, शूद्रस्तु द्विजसेवया' ॥ २१ ॥

अन्वयः—ज्ञानश्रेष्ठः द्विजः, बलवान् क्षत्रियः, धनधान्याधिकः वैश्यः द्विजसेवया तु शूद्रः पूज्यः (भवति) ॥ २१ ॥

ज्ञानश्रेष्ठः—ज्ञानेषु उत्तमः । द्विजः—ब्राह्मणः । बलवान्—पराक्रमी । धनधान्याधिकः—धनधान्यादिसम्पन्नः । द्विजसेवया—ब्राह्मणसेवया । पूज्यः—मान्यः ॥ २१ ॥

ज्ञान में श्रेष्ठ ब्राह्मण, बल में श्रेष्ठ क्षत्रिय, धनधान्य में श्रेष्ठ वैश्य और सेवा करने में श्रेष्ठ शूद्र सबसे बड़ा माना जाता है ॥ २१ ॥

तद्यथा स्वधर्मानुगौ । युद्ध एव युवयोर्नियमः ।' इत्यभिहिते सति, 'साधूक्तमनेन' इति कृत्वान्योन्यतुल्यवीर्यौ समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं ब्रवीमि—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि' इत्यादि ॥

राजाह—'तत् प्रागेव किं नेदमुपदिष्टं भवद्भिः ?' मन्त्री ब्रूते—'तदा मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः ?। तथापि मम सम्मत्या नायं विग्रहारम्भः । यतः—साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो, न विग्राह्यः । तथा चोक्तम्—

स्वधर्मानुगौ—स्वधर्मानुचारिणौ । नियमः—विधिः निर्णयोपाय इत्यर्थः । अभिहिते सति—कथिते सति । साधूक्तम्—युक्तमुचितम् । इति कृत्वा—इत्थम् मत्वा । समकालम्—तुल्यकालेन । अन्योन्यघातेन—परस्परप्रहारेण । विनाशमुपगतौ—मृतौ । प्रागेव—आदौ एव । अवसानपर्यन्तम्—आद्यन्तम् । तथापि—तस्मिन्नेव काले विग्रहात्पूर्वम् । विग्रहारम्भः—युद्धारम्भः । साधुगुणयुक्तः—शिष्टगुणपूर्णः साधुस्वभाव । न विग्राह्यः—युद्धाय नोचितः ।

तुम दोनो क्षत्रिय हो। युद्ध ही तुम दोनो के बीच निर्णय करने का उपाय है। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर 'इन्होंने बहुत ठीक कहा है' ऐसा कह कर समान बल वाले वह दोनो आपस मे तत्काल ही एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके मर गए। इसीलिये मैं कह रहा हूँ—'समान बलवाले के साथ संधि कर लेनी चाहिए' इत्यादि।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—'तो पहले ही आप ने ऐसा क्यो नही कहा?' मन्त्री गृद्ध ने कहा—

उस समय क्या आप ने मेरी पूरी पूरी बातें सुनी थी? उस समय भी मेरी राय से यह युद्ध प्रारम्भ नही हुआ था। उत्तम गुणों से पूर्ण राजा राजहंस के साथ युद्ध करना उचित नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—

'सत्यार्यौ, धार्मिकोऽनार्यो, भ्रातृसङ्घातवान्बली।
अनेकयुद्धविजयी, सन्धेयाः सप्त कीर्तिताः॥ २७॥

अन्वयः—सत्यार्यौ, धार्मिक, अनार्य, भ्रातृसघातवान्, बली, अनेकयुद्धविजयी (एते) सप्त सन्धेया कीर्तिता॥ २७॥

सत्यार्यौ=सत्यवादी कुलीनश्च। अनार्य=नीचवंशप्रसूत। भ्रातृसघातवान्=बहुभ्रातृयुक्त। सन्धेया=सन्धियोग्या। कीर्तिता=कथिता॥ २७॥

सत्यवादी, आर्य धर्म के पालन करने वाले, धार्मिक, बहुत अनार्य, भाइयो वाले, बलवान् तथा अनेक युद्धो मे विजयी ये सात प्रकार के राजा सन्धि करने के योग्य हैं॥ २७॥

'सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम्।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम्'॥ २८॥

अन्वयः—सत्य सत्यम् अनुपालयन् सन्धित विक्रियाम् न एति, आर्य प्राणबाधे अपि अनार्यताम् न आयाति इति सुव्यक्तम्॥ २८॥

सत्य=सत्यपर। सत्यम्=याथातथ्यम्। अनुपालयन्=समाचरन्। सन्धित=कृतसधान। विक्रियाम्=विकृतिम्। न एति=न प्राप्नोति। आर्य=सद्वंशप्रसूत। प्राणबाधेऽपि=जीवितसंदेहेऽपि। अनार्यताम्=अकुलीनताम्। न आयाति=नागच्छति। सुव्यक्तम्=सुस्पष्टम्॥ २८॥

सत्य का पालन करने वाला राजा सन्धि करने पर भी कभी दोषयुक्त नहीं होता अर्थात् सन्धि के नियमो को नही छोडता और प्राण संकट उपस्थित होने पर भी आर्य नियमो का पालन करने वाला राजा दुष्टता कभी नही ग्रहण करता है॥ २८॥

'धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः' ॥ २९ ॥

अन्वयः—अभियुक्तस्य धार्मिकस्य सर्व एव हि युध्यते (अतः) प्रजानुरागात् धर्मात् च धार्मिकः दुःखोच्छेद्यः (भवति) ॥ २९ ॥

अभियुक्तस्य = शत्रुणा आक्रान्तस्य । धार्मिकस्य = धर्मपरायणस्य नृपस्य । सर्व एव = सम्पूर्णलोकवर्गः । प्रजानुरागात् = प्रजाप्रेम्णः । धर्मात् = धर्माचरणात् । दुःखोच्छेद्यः = काठिन्येन विनाश्यः ॥ २९ ॥

धार्मिक राजा पर जब शत्रु चढ़ाई करता है तो मन्त्री सेना और प्रजा आदि सभी उसके लिये जान देकर लड़ते हैं। इसलिए प्रजाप्रेम तथा धर्म का पालन करने के कारण धार्मिक राजा को जीतना अत्यन्त कठिन होता है ॥२९॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याश्रयेणार्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३० ॥

अन्वयः—विनाशे समुपस्थिते अनार्येण अपि सन्धिः कार्यः तस्य आश्रयेण विना आर्यः कालयापनम् न कुर्यात् ॥ ३० ॥

विनाशे = राज्यकोषादिविनाशे । समुपस्थिते = प्राप्ते सति । अनार्येणापि = नीचेन सहापि । तस्य = अनार्यस्य । आश्रयेण = अवलम्बनेन सहायेन इत्यर्थः । कालयापनम् = समयातिक्रमणम् ॥ ३० ॥

अपना विनाश आया हुआ देख कर दुष्ट राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि उसका सहारा लिये बिना भी अपना समय नहीं बिता सकता है ॥

'संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसङ्घातवांस्तथा' ॥ ३१ ॥

अन्वयः—निबिडैः कण्टकैः वृतः वेणुः संहतत्वात् यथा समुच्छेत्तुं न शक्यते तथा भ्रातृसङ्घातवान् (अपि) ॥ ३१ ॥

निबिडैः = घनैः । कण्टकैः = शल्यकण्टकैः । वृतः = आच्छादितः । वेणुः = वंशः । संहतत्वात् = मिलितत्वात् । समुच्छेत्तुम् = समुद्धर्तुम् । न शक्यते = न पार्यते ॥३१॥

घने काँटों से घिरा हुआ तथा एक से एक जुटा हुआ बाँस जिस प्रकार नहीं काटा जा सकता उसी प्रकार भाइयों का समूह रखने वाला राजा भी शीघ्र ही नहीं विनष्ट किया जा सकता है ॥ ३१ ॥

'बलिना सह योद्धव्य'मिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति' ॥ ३२ ॥

अन्वयः—बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति हि घनः कदाचित् प्रतिवातम् न उपसर्पति ॥ ३२ ॥

वलिना सह=सपराक्रमेण सार्द्धम् । योद्धव्यम्=युद्धम् करणीयम् । निदर्शनम्=दृष्टान्त । घन =पयोद । प्रतिवातम्=विपरीत वायुम्प्रति । न उपगच्छति=न उपधावति ॥ ३२ ॥

ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नही मिलता है कि वली के साथ युद्ध करना उचित है। क्योंकि वादल भी वायु के प्रतिकूल चढाई नहीं करता है ॥ ३२ ॥

'जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भज्यते' ॥ ३३ ॥

अन्वयः—जमदग्ने सुतस्येव अनेकयुद्धजयिन प्रतापात् एव सवत्र सर्वदा सर्वं भज्यते ॥ ३३ ॥

जमदग्न = भृगुवशोद्भूतस्य महर्षे । सुतस्य=पुत्रस्य, परशुरामस्येत्यर्थं । प्रतापादेव=प्रभावादेव । सर्वत्र=सर्वस्थाने । सर्वदा=सर्वकाले । सव =समस्तरिपुवग । भज्यते=समरात् पलायते ॥ ३३ ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम के समान अनेक युद्धो में विजय प्राप्त करने वाले राजा के प्रताप से ही सभी स्थान पर और सभी समय सारे शत्रु वश मे हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

'अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः' ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अनेकयुद्धविजयी यस्य सन्धान गच्छति तत्प्रतापेन तस्य शत्रव आशु वशमायान्ति ॥ ३४ ॥

अनेकयुद्धविजयी=बहुसमरविजेता नृप । यस्य=राज्ञ । सन्धानं गच्छति=सन्धिमायाति । तत्प्रतापेन=विजयप्रभावेण । तस्य, रिपव =शत्रव आशु=शीघ्रम् । वशम्=अधीनत्वम्, आयान्ति=प्राप्नुवन्ति ॥ ३४ ॥

अनेक युद्धो मे जीतने वाले राजा के साथ सन्धि करने वाला राजा भी उसी के प्रताप से शीघ्र ही अपने शत्रुओ को वश मे कर लेता है ॥ ३४ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः सन्धेयोऽयं राजा ।' चक्रवाकोऽवदत्—'प्रणिधे ! सर्वमवगतम् । व्रज । पुनरागमिष्यसि' ।

अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्त्रिन् ! असन्धेयाः कति ? ताञ्छ्रोतुमिच्छामि ।' मन्त्री ब्रूते—'देव ! कथयामि । शृणु—

बालो, वृद्धो, दीर्घरोगी, तथा ज्ञातिवहिष्कृत. ।
भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु, देव-ब्राह्मण-निन्दकः ॥ १६ ॥
दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो, बलव्यसनसङ्कुलः ॥ १७ ॥
अदेशस्थो, बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च, विंशतिः पुरुषा अमी ॥ १८ ॥

बहुरिपुर्युक्तः=अनेकशत्रुयुक्तः । अयम् राजा = राजहंस । सर्वमपवाद= सर्वम् सत्यम् । व्यपेता=अपगता ।

अन्वयः—बाल ... अमी विंशतिः (असंधेया भवन्ति) ॥१५-१८॥

बाल=शिशु । दीर्घरोगी=बहुकालरोगी । ज्ञातिबहिष्कृत = स्वजातिया परित्यक्त । भीरुक=कातर । भीरुकजन=कातरसैन्य । लुब्ध = लोभी । लुब्धजन = लुब्धानुचरवर्ग । विरक्तप्रकृति = अननुरक्तप्रजाजन । विषयेषु = इन्द्रियार्थेषु । अतिसक्तिमान् = आसक्तचित्त । अनेकचित्तमन्त्र = चञ्चलचित्तमति युक्त । देवब्राह्मणनिन्दक = सुरविप्रनिन्दक । दैवोपहत = दुर्भाग्योपहत । दैवपरायण =भाग्याधीन । दुर्भिक्षव्यसनोपेत=दुष्कालापद्युक्त । बलव्यसनसङ्कुल = सैन्यापत्संकुलः । अदेशस्थ=परदेशे स्थित । बहुरिपु = अनेकशत्रु । कालेन = समयेन । न युक्तः=नोपेत । सत्यधर्मव्यपेत =सत्येन धर्मेण च हीन ॥१५-१८॥

इसलिए बहुत गुणों से युक्त यह राजहंस राजा संधि करने के योग्य है । चकवे ने कहा— यह बात मुझे सब मालूम हो गया । जाओ । फिर आना । तब राजा राजहंस ने चक्रवाक से पूछा—'मंत्रिवर किस प्रकार के राजा संधि करने योग्य नहीं होते मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ । मंत्री ने कहा—राजन्, कह रहा हूँ सुनिए—

बालक वृद्ध रोगी जाति से निकाला गया कायर कायर सैनिकों वाला लालची लालची सैनिकों अथवा सेवकों वाला जिसके मंत्री सेवक आदि उससे उदासीन हों जो अत्यन्त विषयी हो जो चंचल हृदय तथा राय वाला हो देव ब्राह्मण की निन्दा करने वाला भाग्य का मारा हुआ भाग्य के अधीन रहने वाला दुर्भिक्ष की विपत्ति में पड़ा हुआ सैनिक विपत्ति में फँसा हुआ बुरे स्थान में स्थित बहुत शत्रुओं वाला समयानुसार कार्य न करने वाला सत्य धर्म से रहित—ये बीस प्रकार के राजा संधि करने योग्य नहीं होते हैं ॥ १५-१८ ॥

एतैः सन्धिं न कुर्वीत, विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—एतै सन्धिम् न कुर्वीत केवलम् विगृह्णीयात् यत एते विगृह्यमाणा क्षिप्रम् रिपोर्वशम् यान्ति ॥ ३९ ॥

एतै =पूर्वोक्तै विंशत्यै पुरुषै । विगृह्णीयात् = युद्धमेव कुर्यात् । विगृह्यमाणा =युध्यमाना. । क्षिप्रम्=त्वरितम् । रिपो =शत्रो । वशम् यान्ति= अधीना भवन्ति ॥ ३९ ॥

इनसे संधि न करके केवल युद्ध ही करना चाहिए क्योंकि यह बीसो प्रकार के राजा युद्ध करने से शीघ्र ही शत्रु के वश मे हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

बालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातु शक्तो न बालिशः' ॥ ४० ॥

अन्वयः—लोक अल्पप्रभावत्वात् बालस्य योद्धुम् न इच्छति । यस्मात् बालिश युद्धायुद्धफलम् ज्ञातु न शक्त ॥ ४० ॥

लोक =जन । अल्पप्रभावत्वात्=स्वल्पप्रतापत्वात् । बालस्य=शिशुनृपते । योद्धु नेच्छन्ति = विग्रह कर्तुं न वाञ्छन्ति । यस्मात्=यत , बालिश = बालक , मूर्खश्च । युद्धायुद्धफलम्=विग्रहाविग्रहपरिणामम् । ज्ञातुम् न शक्त =ज्ञातुमसमर्थः भवति ॥ ४० ॥

राजा यदि बालक होता है तो उसमे तेज का अभाव होने से मन्त्री, सैनिक तथा प्रजा आदि पर उसका प्रभाव बहुत कम पडता है जिससे ये सभी लोग उसके लिए ठीक से युद्ध नहीं करते हैं और युद्ध तथा अयुद्ध का परिणाम जानने की शक्ति भी बालक अथवा मूर्ख में नही होती है ॥ ४० ॥

'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो, दीर्घामयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम्' ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वृद्ध तथा दीर्घामय उत्साहशक्तिहीनत्वात् द्वौ अपि एतौ असंशयम् स्वैरेव परिभूयेते ॥ ४१ ॥

वृद्ध = स्थविर । तथा दीर्घामय = दीर्घरोगी । उत्साहशक्तिहीनत्वात्= सामर्थ्योत्साहरहितत्वात् । असंशयम्=निस्सन्देहम् । स्वैरेव = आत्मीयैरेव । परिभूयेते=तिरस्क्रियेते ॥ ४१ ॥

वृद्ध तथा बहुत दिनो से रोगी राजा उत्साह और शक्ति से रहित होते हैं । अत यह दोनो ही अपने आप पराजित हो जाते हैं, इसमे कोई भी सन्देह नही है' ॥

'सुखोच्छेद्यो हि भवतिसर्व-ज्ञाति बहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः' ॥ ४२ ॥

अन्वयः—स्वजातिबहिष्कृताः युद्धेष्वेव भवति। आत्मसात्कृताः ज्ञातयः तु ते एव एनम् विनिघ्नन्ति ॥ ४२ ॥

स्वजातिबहिष्कृताः—स्वसजातीयैः निष्कासिताः। युद्धेष्वेव =सापल्येनोपयुक्तेषु। आत्मसात्कृताः=स्वपक्षे नीताः। ज्ञातयः =सजातीयाः। तु ते एव=ज्ञातिभेदजाः। एनम्=ज्ञातिबहिष्कृतम्। विनिघ्नन्ति=विनाशयन्ति ॥ ४२ ॥

अपनी जातिवालों (भाई-बन्धुओं) से निकाला हुआ राजा आसानी से वश किया जा सकता है। क्योंकि अपने पक्ष में किए गये उसके भाई बन्धु ही उसे मार डालते हैं ॥ ४२ ॥

> 'भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति।
> तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते' ॥ ४३ ॥

अन्वयः—भीरुः युद्धपरित्यागात् स्वयमेव प्रणश्यति तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैः विमुच्यते ॥ ४३ ॥

भीरुः=कापुरुषः। युद्धपरित्यागात् = युद्धस्य परिहारात्। प्रणश्यति=विनश्यति। भीरुपुरुषः=कातरसैनिकः प्रधानामात्यः स्वयमेव=आत्मना नृपः। तैः= भीरुभिः सैनिकैः। संग्रामे=युद्धे। विमुच्यते=परित्यज्यते ॥ ४३ ॥

कायर युद्ध छोड़ कर भागने से अपने आप मारा जाता है और यदि राजा के सैनिक-मन्त्री आदि कायर हुए तो वे सभी राजा को युद्ध में छोड़ कर भाग जाते हैं ॥ ४३ ॥

> 'लुब्धस्यासंविभागित्वान्न युध्यन्तेऽनुजीविनः।
> लुब्धानुजीवी तैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते' ॥ ४४ ॥

अन्वयः—असंविभागित्वात् अनुजीविनः लुब्धस्य न युध्यन्ते। लुब्धानुजीवी दानभिन्नैः तैः एव निहन्यते ॥ ४४ ॥

असंविभागित्वात्=उचितांशादानात्। अनुजीविनः = सैनिकाः। लुब्धस्य= लोभपरायणस्य नृपस्य। लुब्धानुजीवी=लोलुपसैनिकः नृपः। दानभिन्नैः=शत्रुभिः दत्तैः द्रव्यैः स्वपक्षे स्थितैः। तैः=अनुजीविभिः। निहन्यते=व्यापाद्यते ॥ ४४ ॥

लोभी राजा अपने कर्मचारियों को उचित रूप से धनका हिस्सा न देकर स्वयं हड़प लेता है जिससे उसके कर्मचारी उसके लिए मन से युद्ध नहीं करते हैं। और जिस राजा के कर्मचारी लालची होते हैं वे सभी शत्रु के घूस देने पर फूट जाते तथा राजा को मार डालते हैं ॥ ४४ ॥

> 'समयज्ञते महद्भिर्विद्धस्त्रकृतिर्युधि।
> सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान्' ॥ ४५ ॥

अन्वयः—विरक्तप्रकृति युधि प्रकृतिभि सन्त्यज्यते। विषयेषु अतिसक्तिमान् सुखोभियोज्य भवति ॥ ४५ ॥

विरक्तप्रकृति=उदासीनप्रज, विरक्ता उदासीना प्रकृतय यस्य स नृप। युधि=संग्रामे। प्रकृतिभि=प्रजाभि अमात्यादिभिश्च। सत्यज्यते=विमुच्यते। विषयेषु=इन्द्रियार्थेषु। अतिसक्तिमान्=अत्यासक्त। सुखाभियोज्य=अनायासवश्य. भवति ॥ ४५ ॥

जिस राजा के मन्त्री-कर्मचारी आदि उससे प्रेम नहीं करते वे सभी युद्ध मे राजा का साथ छोड देते हैं और जो राजा विषय वासनाओं मे लिपटा हुआ होता है वह आसानी से पराजित किया जा सकता है ॥ ४५ ॥

'अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो भवति मन्त्रिणाम्।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते' ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेकचित्तमंत्रस्तु मन्त्रिणाम् द्वेष्य भेद्य भवति अनवस्थितचित्तत्वात् कार्यंत स उपेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु=मन्त्रणायाम् चचलस्वभाव, मन्त्रापरायण। मन्त्रिणाम्=अमात्यानाम्। द्वेष्य=द्वेषार्हं भवति। अनवस्थितचित्तत्वात्=चचलहृदयत्वात्। कार्यंत=कार्यकाले, विग्रहे उपस्थिते सति। स=नृप। उपेक्ष्यते=उपेक्षितो भवति ॥

जिस राजा का चित्त चचल और राय अनिश्चित होती है, वह राजा अपने मन्त्रियों द्वारा ही शत्रु समझा जाता है और चचल चित्त होने के कारण लोग काय के समय उसकी उपेक्षा करने लगते हैं ॥ ४६ ॥

'सदाधर्मबलीयस्त्वाद्देव ब्राह्मण निन्दकः।
विशीर्यते स्वय ह्येष', 'दैवोपहतकस्तथा' ॥ ४७ ॥

अन्वयः—देवब्राह्मणनिन्दक सदा अधर्मबलीयस्त्वात् हि एष दैवोपहतक स्वयम् विशीयते ॥ ४७ ॥

देवब्राह्मणनिन्दक=देवताद्विजविनिन्दक। सदा=सर्वदैव। अधर्मबलीयस्त्वात्=पापस्य बलवत्त्वात्। दैवोपहतक=भाग्योपहत। स्वय विशीयते=आत्मनैव नश्यति ॥ ४७ ॥

सदा अधर्म बली होने से देवता और ब्राह्मण की निन्दा करने वाला अधर्म-बल से युक्त होने के कारण तथा भाग्य का मारा हुआ राजा अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

'सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्।
इति दैवपरो [illegible] न विचेष्टते' ॥ ४८ ॥

अन्वयः—दैवपरः सम्पत्तेः विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् इति ध्यायन् आत्मना न विचेष्टते ॥ ४८ ॥

दैवपरः=भाग्यवादी । दैवमेव=भाग्यमेव । हि=निश्चयेन कारणम्=हेतुः । इति ध्यायन्=एवं चिन्तयन् । न विचेष्टते=कर्तव्यकर्माणि न करोति ॥ ४८ ॥

सम्पत्ति और विपत्ति का हेतु केवल भाग्य होता है इस प्रकार भाग्य के अधीन रहने वाला राजा स्वयं ठीक-ठीक प्रयत्न नहीं करता है अतः वह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

'दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति ।
अकालसमरसक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते' ॥ ४९ ॥

अन्वयः—दुर्भिक्षव्यसनी च ... न जायते ॥ ४९ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी=दुर्भिक्षव्यापद्ग्रस्तः । चैव स्वयमेव=आत्मनैव । विषीदति=व्याकुलो भवति । अकालसमरसक्तस्य=सैन्यव्यापद्ग्रस्तस्य । योद्धुम्=विग्रहीतुम् । शक्तिः=सामर्थ्यम् । न जायते=नोद्भवति ॥ ४९ ॥

अकाल की विपत्ति में पड़ा हुआ राजा स्वयम् दुःखी होता है और सैनिक विपत्ति में पड़े हुए राजा में युद्ध करने की शक्ति ही नहीं होती है ॥ ४९ ॥

'अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपकर्षति' ॥ ५० ॥

अन्वयः—अदेशस्थः हि स्वल्पकेनापि रिपुणा हन्यते अल्पीयान् अपि ग्राहः जले गजेन्द्रम् अपकर्षति ॥ ५ ॥

अदेशस्थः=अनुचितप्रदेशस्थः । हि=निश्चयेन स्वल्पकेन=तुच्छकेन सामान्येन । रिपुणा=शत्रुणा । हन्यते=विनाश्यते । अल्पीयान्=अल्पकायः अपि । ग्राहः=मकर । गजेन्द्रम्=बृहत्कायं गजम् अपि । अपकर्षति=अपकर्षति ॥ ५ ॥

बुरे स्थान में पड़ा हुआ राजा छोटे शत्रुओं द्वारा भी आसानी से मारा जाता है जैसे जल में पड़े हुए हाथी को छोटा-सा मगर मार डालता है ॥५०॥

'बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ ५१ ॥

अन्वयः—श्येनमध्ये कपोतवत् सन्त्रस्तः बहुशत्रुः येनैव पथा गच्छति तेनैव आशु विपद्यते ॥ ५१ ॥

श्येनमध्ये=पत्त्रिमध्ये (बाजों के बीच मे)। कपोतवत्=पारावतसदृश । बहुशत्रु =बहुरिपु नृप । सन्त्रस्त.=शत्रुणा भीत सन्। येनैव पथा=येनैव मार्गेण । आशु=शीघ्रम् । विपद्यते=विपत्तिमाप्नोति ॥ ५१ ॥

बहुत शत्रुओ वाला राजा बाज के बीच में पडे हुए कबूतर के समान पीडित रहता है और जिस मार्ग से जाता है उसी मार्ग मे शीघ्र ही मारा जाता है ॥

'अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—निशीथे कौशिकेन हतज्योति वायस इव कालयोधिना अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते ॥ ५२ ॥

निशीथे=अर्द्धरात्रे । हतज्योति =नष्टनेत्रद्युति । वायस =काक । इव=यथा । कौशिकेन=उलूकेन । कालयोधिना=अनुकूलावसरे युद्धकारकेण शत्रुणा । अकालयुक्तसैन्य =असमये सैन्यसञ्चालक नृप । हन्यते=मार्यते ॥ ५२ ॥

जो राजा अवसर का ध्यान रखे बिना दूसरे राजा पर चढाई कर देता है वह समयानुसार युद्ध करने वाले राजा से उसी प्रकार मारा जाता है जैसे आधी रात के समय दिखाई न देने के कारण कौवा उल्लू द्वारा मारा जाता है ॥५२॥

'सत्यधर्मव्यपेतेन सन्दध्यान्न कदाचन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्' ॥५३॥

अन्वयः—सत्यधर्मव्यपेतेन कदाचन न सन्दध्यात् स सन्धित अपि असाधुत्वात् अचिरात् विक्रियाम् याति ॥ ५३ ॥

सत्यधमव्यपेतेन=सत्यधर्मरहितेन, न सन्दध्यात्=सन्धि न कुर्वीत । सन्धित = सन्धिना युक्त अपि । असाधुत्वात्=दुष्टप्रकृतित्वात् । विक्रियाम्=विकारम्, निरोधम् । याति=प्राप्नोति ॥ ५३ ॥

सत्य तथा धम से हीन राजा के साथ कभी भी सधि नही करनी चाहिए क्योकि वह सधि करने पर भी दुष्टता के कारण शीघ्र ही विगड जाता है अर्थात् संधि के नियमो का पालन करना छोड देता है ॥ ५३ ॥

अपरमपि कथयामि—सन्धि-विग्रह-यानासन-संश्रय-द्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुष-द्रव्य-सम्पत्, देश-कालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्च (इति) पञ्चाङ्गो मन्त्रः । साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्तिः, मन्त्र-

शक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम्। एतत्सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः। यतः—

सन्धि = सन्धानम्। विग्रह = युद्धम्। यानम् = रिपुम् प्रति अभियानम् (चढ़ाई)। आसनम् = दुर्गादौ स्थित्वा उचितावसरस्य प्रतीक्षणम्। उभय = अकस्मात्समवनम्। द्वैधीभावः = द्विधा व्यवहारः। कर्मणाम् = कार्याणाम्। आरम्भोपाय = प्रारम्भस्य प्रयत्नः। पुरुषद्रव्यसम्पत् = पुरुषाणाम् = सैन्यादीनाम् सहायकानाम्, द्रव्यस्य = धनधान्यादेश्च सम्पत् = समृद्धिः। देशकालविभाग = देशकाल- (कुत्र कदा च) भेदेन कर्तव्यनिश्चय। विनिपातप्रतीकार = विपत्तेः प्रतीकारः। विजिगीषव = विजयाभिलाषुकाः॥

और भी कहा गया है— सन्धि युद्ध चढ़ाई समय की प्रतीक्षा करने के लिये किसी का आश्रय लेना तथा दोरंगी नीति ग्रहण करना—ये राजनीति के छः गुण होते हैं। कार्यों के आरम्भ करने का उपाय सहायक व्यक्तियों तथा उचित द्रव्य का संग्रह देश-काल का उचित विभाग आई हुई विपत्तियों के दूर करने के उपाय और कार्य की सिद्धि—यह पाँच मन्त्रणा के अंग होते हैं। साम दान दण्ड और भेद—ये चार शत्रु को वश में करने के उपाय होते हैं। उत्साह, मन्त्रणा तथा प्रभुत्व यह राज्य की तीन शक्तियाँ होती हैं। महान् लोग इन सभी बातों का विचार करके ही शत्रु को जीतने की अभिलाषा करते हैं। क्योंकि—

या हि प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलापि प्रधावति॥ ५४॥

अन्वयः—या (श्रीः) प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते सा श्रीः चञ्चलापि नीतिविदं प्रधावति इति पश्य॥ ५४॥

या श्रीः = या लक्ष्मीः। प्राणपरित्यागमूल्येनापि = युद्धे जीवितदानेनापि। नीतिविदम् = नीतिज्ञम्। चञ्चलापि = चञ्चलस्वभावापि। प्रधावति = स्वयमेवागच्छति। इति पश्य = अवलोकय॥ ५४॥

जो लक्ष्मी प्राणत्यागरूपी मूल्य चुकाने पर भी नहीं प्राप्त होती है वही लक्ष्मी नीतिमान राजा के पास चंचल होती हुई जाती है॥ ५४॥

तथा चोक्तम्— वित्तं सदा यस्य समं विभक्तं,
गूढश्चरः संनिभृतश्च मन्त्रः।
न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति॥ ५५॥

अन्वयः—यस्य वित्त सदा समं विभक्तम्, चर गूढ. मन्त्रश्च संनिभृतः, य. प्राणिषु अप्रियं न ब्रवीति स सागरान्ता पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ५५ ॥

यस्य=राज्ञ । वित्तम्=धनम् । सम विभक्तम्=सेवकेषु तुल्यभावेन विभक्तम् । चर.=गुप्तचर । सवदा गूढ = सर्वदेव अत्यंतगोप्यभावेन विचरति । मन्त्रश्च सनिभृत =यस्य मन्त्रणाविषय अतिसुगुप्त । य प्राणिषु=समस्तप्रजासु । अप्रिय न ब्रवीति=प्रियवाग्भवति । स समुद्रान्ताम्=आसमुद्राम् । पृथ्वीं शास्ति = चक्रवर्ती नृप भवति ॥ ५५ ॥

जो राजा अपनी सम्पत्ति को अपने सेवकों में समान रूप से बाँट देता है, जिसके गुप्तचर तथा मंत्रणाएँ अत्यन्त गुप्त होती हैं और जो कभी किसी से कटुभाषण नहीं करता वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करता है ॥ ५५ ॥

किन्तु देव ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण सन्धानमुपन्यस्तं, तथापि तेन राज्ञा सम्प्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । (देव !) तदेवं क्रियतां-सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजास्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु । यतः—

महामंत्रिणा=मयूरस्य चित्रवर्णस्य प्रधानमंत्रिणा । सन्धानम् = सन्धिम् । उपन्यस्तम्=राज्ञ सम्मुखे उपस्थापितम् । सम्प्रति = इदानीम् । भूतजयदर्पात्= पूर्वं प्राप्तविजयाभिमानात् । न मन्तव्यम् = न स्वीकरिष्यति । कोपम् = क्रोधम् । जनयतु=उत्पादयतु ॥

किन्तु राजन्, यद्यपि महामन्त्री गृध्र ने सन्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया किन्तु इस समय राजा चित्रवर्ण प्राप्तविजय के अभिमान से उसे स्वीकार नहीं कर रहा है इसलिए ऐसा कीजिय—सिंहल द्वीप का राजा महाबली सारस, जो हम लोगो का मित्र है, उसे जंबूद्वीप के प्रति क्रुद्ध करा दीजिए ।

'सुगुप्तिमाधाय, सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद् येन समं सुतप्त-
स्तप्तेन सन्धानमुपैति तप्तः' ॥ ५६ ॥

अन्वयः—वीर सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन बलेन विचरन् अरातिम् सन्तापयेत् येन स समं सुतप्त भवेत् हि तप्तेन तप्त सन्धानम् उपैति ॥ ५६ ॥

वीर = बलवान् नृप । सुगुप्तिमाधाय=अत्यतप्रच्छन्नभावं विधाय । सुसंहतेन=परस्परमनुरक्तेन, सुसंगठितेनेत्यर्थ । बलेन=सैन्येन सह । विचरन्=इतस्ततः भ्रमन् । अरातिम्=शत्रुम् । सन्तापयेत = पीडयेत । येन स = [illegible]

शत्रुम्। सम्यक्—सुष्ठुरूपेण संतप्तः—पीडितः संतप्तम्। तप्तेन—संतप्तेन लौहेन च सह। तप्तः—संतप्तः पीडितः। सन्धानमुपैति—सन्धिम् प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

क्योंकि—

विजय की अभिलाषा रखनेवाले को अपनी रक्षा का दृढ़ उपाय करके सुसंगठित सेना लेकर इधर-उधर घूमते हुए शत्रु को भलीभाँति पीड़ित करना चाहिए, उसे संताप पहुँचाना चाहिए, जिससे वह भी अपने ही समान संतप्त हो जाय तभी वह संधि कर सकता है। क्योंकि दो लोहे भलीभाँति गरम हो जाने पर ही आपस में मिल सकते हैं ॥ ५१ ॥

राजा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः।

निगद्य—उक्त्वा। सुगुप्तलेखम्—गुप्तपत्रम्। प्रहितः—प्रेषितः।

राजा राजहंस ने कहा कि ठीक है ऐसा ही हो। फिर उसने विचित्र नाम वाले बगुले को बुलाकर और उसे गुप्त पत्र देकर सिंहलद्वीप भेज दिया।

अथ प्रणिधिः पुनरागत्योवाच—'देव! श्रूयतां तावत्तत्रत्यप्रस्तावः—एवं तत्र गृध्रेणोक्तं—'देव! मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः, स वेत्ति किं सन्धेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो राजा, न वा' !—इति। ततोऽसौ मेघवर्णश्चित्रवर्णेन राज्ञा समाहूय पृष्टः—'वायस! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो राजा ?। चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः' !। वायस उवाच—'देव! स हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः सत्यवाक्। चक्रवाकसमो मन्त्री न क्वाप्यवलोक्यते।' राजाह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ?। विहस्य मेघवर्णः प्राह—देव!

प्रणिधिः—प्रधानगुप्तचरः। तत्रत्यप्रस्तावः—तत्रत्यवृत्तान्तः कार्यम्। तत्र—गृध्रेण। चिरमुषितः—बहुकालपर्यन्तं स्थितः। वेत्ति—जानाति। महाशयः—उदारहृदयः।

इसके बाद गुप्तचर ने फिर आकर कहा—राजन्, वहाँ पर जो हो रहा है उसे सुनिए। वहाँ मंत्री गृध्र ने कहा कि—राजन् मेघवर्ण तो वहाँ बहुत दिनों तक रहा है उसे मालूम है कि राजहंस संधि करने के गुणों से युक्त है या नहीं। तब राजा चित्रवर्ण ने मेघवर्ण को बुलाकर पूछा—कौवे, वह राजा हिरण्यगर्भ कैसा है? और मंत्री चक्रवाक कैसा है? कौवे ने कहा—वह राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिर के समान उदार और सत्यवादी है। चक्रवाक के समान मंत्री तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता। राजा चित्रवर्ण ने कहा यदि ऐसी

बात है तो तुमने उसे कैसे धोखा दिया । हँस कर कौवे ने कहा—राजन्,

'विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्' ॥ ५७ ॥

अन्वयः—विश्वासप्रतिपन्नानाम् वञ्चने का विदग्धता (अस्ति) हि अङ्कमारुह्य सुप्तम् हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ ५७ ॥

विश्वासप्रतिपन्नानाम् = विश्वासभूमिमुपगतानाम्, वञ्चने=प्रतारणे । का विदग्धता=किं चातुर्यम् । अङ्कमारुह्य=क्रोडमासाद्य । सुप्तम् हत्वा = सुप्तजनम् व्यापाद्य । किं नाम पौरुषम्=किं पराक्रम ॥ ५७ ॥

विश्वास मे पडे हुए लोगो को धोखा दे देने मे कौन-सी चतुराई है ? गोद मे आकर सोए हुए व्यक्ति को मार डालने मे कौन सी बहादुरी है ॥ ५७ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाहं प्रथमदर्शने एव विज्ञातः । किन्तु महाशयोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्धः । तथा चोक्तम्—

तेन=चक्रवाकेण । प्रथमदर्शने = प्रथमप्रत्यक्षे । विज्ञात = तत्त्वत ज्ञात., 'गुप्तचरोऽहम्' इति ज्ञातवान् इत्यर्थ । महाशय.=उदारहृदय । तेन = उदारहृदयत्वेन । विप्रलब्ध =प्रतारित ।

राजन्, उस मन्त्री ने तो मुझे देखते ही देखते पहचान लिया था किन्तु वह राजा अत्यन्त उदार है इसीलिए मैंने उसे धोखा दे दिया । जैसा कि कहा भी गया है—

'आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा' ॥ ५८ ॥

अन्वयः—य दुर्जनम् आत्मौपम्येन सत्यवादिनम् वेत्ति स धूर्तै तथा वञ्च्यते यथा ब्राह्मण छागत (वञ्चित) ॥ ५८ ॥

दुर्जनम्=दुष्टमपि । आत्मौपम्येन=आत्मसदृशेन । सत्यवादिनम्=सत्याचरणम् । वेत्ति=जानाति । वञ्च्यते=प्रतार्यते । छागत =छागप्रसंगेन ॥ ५८ ॥

जो व्यक्ति अपने समान ही दुष्ट को भी सत्यवादी समझता है वह उसी प्रकार ठगा जाता है जैसे बकरे के प्रसग मे धूर्तों ने ब्राह्मण को ठग लिया था ॥

राजोवाच—कथमेतत् ? । मेघवर्णः कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ?—मेघवर्ण ने कहा—

कथा ९

अस्ति गौतमस्यारण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद् ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय, स्कन्धे नीत्वा गच्छन्धूर्तत्रयेणावलोकितः। ततस्ते धूर्ताः—'यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते, तदा मतिप्रकर्षो भवती'ति समालोच्य, वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य, पथि स्थिताः।

प्रस्तुतयज्ञः=यज्ञं कर्तुं प्रस्तुतः। ग्रामान्तरात् = अन्यस्मात् ग्रामात्। छागम् (बकरा)। उपक्रीय=मूल्येनादाय। अवलोकितः=दृष्टः। लभ्यते=प्राप्यते। मतिप्रकर्षः = बुद्धिचातुर्यम्। समालोच्य=विचार्य। क्रोशान्तरेण वृक्षत्रयतले=प्रत्येकं क्रोशान्तरेण स्थितानाम् वृक्षाणाम् अधःप्रदेशे। प्रतीक्ष्य = प्रतीक्षां कृत्वा। पथि=मार्गे।

गौतमारण्य में एक ब्राह्मण यज्ञ करना चाहता था। वह यज्ञ के लिए किसी गाँव में जाकर एक बकरा खरीदकर उसे कंधे पर रखकर ले जा रहा था कि रास्ते में उसे तीन धूर्तों ने देखा और विचार किया कि अगर किसी तरह यह बकरा मिल जाय तो हम लोगों की बुद्धि की चतुराई समझी जाय। यह सोचकर वह तीनों एक-एक कोस की दूरी पर तीन पेड़ों के नीचे खड़े होकर ब्राह्मण के आने की बाट जोहने लगे।

तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण! किमिति त्वया कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते। विप्रेणोक्तं—'नायं श्वा किन्तु यज्ञच्छागः। अथान्तरस्थितेनान्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दोलायमानमतिश्चलितः। यतः—

उह्यते=नीयते। भूमौ निधाय=पृथिव्यां संस्थाप्य। मुहुः=पुनः। निरीक्ष्य=सम्यक्तरेण दृष्ट्वा। दोलायमानमतिः=चञ्चलबुद्धिः। चलितः=अग्रे चचाल।

तब अपने पास से जाते हुए ब्राह्मण को देखकर एक धूर्त ने उससे कहा—तुम कुत्ते को क्यों अपने कंधे पर ले जा रहे हो? ब्राह्मण ने कहा—यह कुत्ता नहीं है यह तो यज्ञ का बकरा है। फिर थोड़ी दूर स्थित दूसरे धूर्त ने भी यही कहा। तब वह सुन कर ब्राह्मण बकरे को पृथ्वी पर रख कर, बार-बार देखकर और फिर कंधे पर रखकर सन्देह में पड़ा हुआ आगे चला। क्योंकि—

'मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सतामपि मति खलोक्तिभि सत्यम् दोलायते असौ ताभि विश्वासित चित्रकर्णवत् म्रियते ॥ ५९ ॥

सतामपि=सज्जनानामपि। मति =बुद्धि । खलोक्तिभि =दुष्टवचनै । सत्यम्=नूनम्। दोलायते=चचला भवति। ताभि =दुष्टवचनै । विश्वासित = विश्वासमुपनीत । म्रियते=मृत्यु प्रप्नोति ॥ ५९ ॥

सज्जनों की बुद्धि भी दुष्टो की बातो से चंचल हो जाती है और वे उसकी बातों का विश्वास करके उसी प्रकार मारे जाते हैं जैसे चित्रकर्ण मारा गया था ॥

राजाह—कथमेतत्? स कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

कथा १०

अस्ति कस्मिश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः। तस्य सेवकास्त्रयः काको, व्याघ्रो, जम्बुकश्च। अथ तैर्भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्ट कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः, पृष्टश्च-'कुतो 'भवानागतः सार्थाद् भ्रष्टः'?। स चात्मवृत्तान्तमकथयत्। ततस्तर्नीत्वा सिंहायासौ समर्पितः। तेन चाभयवाच दत्वा, 'चित्रकर्ण' इति नाम कृत्वा, स्थापितः।

वनोद्देशे=वनप्रान्ते। काक =वायस । जम्बुक =शृगाल । भ्रमद्भि =इतस्तत विचरद्भि । सार्थभ्रष्ट =वणिक्सघातच्युत । आत्मवृत्तान्तम्=स्वकथाम्। अभयवाचम्=प्राणदानम्।

किसी जगल मे मदोत्कट नाम का एक सिंह था उसके तीन सेवक थे, एक कौआ, दूसरा बाघ और तीसरा गीदड। उन तीनों ने घूमते घामते बनियो के सघ से छूटे हुए किसी ऊँट को देखा और पूछा—आप सघ से बिछुड कर कहाँ से आ रहे हैं? इस पर ऊँट ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया तब उन तीनों ने उसे ले जाकर सिंह को समर्पित कर दिया। उसने उसे अभयदान देकर उसका नाम चित्रकर्ण रखा और अपने पास रख लिया।

अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः। ततस्तैरालोचितम्—चित्रकर्णमेव

यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम्। किमनेन कण्टकभुजास्माकम्?।

व्याघ्र उवाच—'स्वामिनाभयवाचं दत्त्वानुगृहीतोऽयं तत्कथमेवं सम्भवति'?। काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति'। यतः—

शरीरवैकल्यात् = देहास्वास्थ्यात्। भूरिवृष्टिकारणात् = अधिकजलपातेन। आहारम् = भोजनम्। अलभमानाः = अप्राप्नुवन्तः। व्यग्राः = व्याकुलाः। व्यापादयति = हन्ति। अनुष्ठीयताम् = क्रियताम्। कण्टकभुजा = उष्ट्रकभोजिना। अस्माकम् किम् = अस्माकम् किम् प्रयोजनम्। अनुगृहीतः = अनुकम्पया स्वाश्रये रक्षितः। इह समये = शरीरवैकल्यात् अन्नाभावोऽवसरे। परिक्षीणः = बुभुक्षातिशय। पापम् = अनुचिताचरणम्।

एक बार सिंह के अस्वस्थ हो जाने तथा बहुत अधिक पानी बरसने के कारण भोजन न मिलने से वे बहुत व्यग्र हुए। फिर उन सबों ने विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे स्वामी चित्रकर्ण को ही मारें। इस काँटा खाने वाले से हम लोगों का प्रयोजन ही क्या है? इस पर व्याघ्र ने कहा कि स्वामी ने अभयदान देकर इस पर कृपा की है अतः ऐसा कैसे हो सकता है? कौवे ने कहा—इस समय स्वामी भूख से व्याकुल हैं अतः यह पाप कर्म भी कर सकते हैं। क्योंकि—

'त्यजेत्क्षुधार्त्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' ॥ ६० ॥

अन्वयः—क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं त्यजेत्, क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् खादेत्, बुभुक्षितः किं पापम् न करोति (यतः) क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति ॥६० ॥

क्षुधार्ता = बुभुक्षया पीडिता। महिला = स्त्री। स्वपुत्रम् = स्वसुतमपि। त्यजेत् = परित्यजति। भुजगी = सर्पिणी। स्वमण्डम् = स्वाण्डम्। खादेत् = भक्षयति। बुभुक्षितः = भूखा। पापम् = पापाचरणम्। क्षीणाः = निर्बलाः। नराः = मनुष्याः। निष्करुणाः = निष्ठुरहृदयाः ॥ ६० ॥

भूख से व्याकुल स्त्री अपने पुत्र को भी छोड़ देती है और सर्पिणी भूख से व्याकुल होकर अपना अण्डा खा जाती है। भूखा कौन-सा पाप नहीं कर सकता है क्योंकि व्याकुल मनुष्य करुणा से रहित होता है ॥ ६० ॥

अन्यच्च—'मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः, श्रान्तः, क्रुद्धो, बुभुक्षितः ।
लुब्धो, भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित्' ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मत्त ……कामुकश्च धर्मवित् न भवति ॥ ६१ ॥

मत्त.=गर्वोद्धत । प्रमत्त =असावधान । उन्मत्त =विक्षिप्त । श्रान्त'= श्रमविह्वल । क्रुद्ध =कोपयुक्त । बुभुक्षित =क्षुधापीडित । भीरु =कातर । त्वरायुक्त =महसा कार्यविधायक । कामुक.=कामासक्त । न । धर्मवित्=धर्मज्ञ ।

और भी—अभिमानी, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, लालची, डरपोक, जल्दबाज और कामी व्यक्ति धर्मज्ञ नही होते हैं ॥ ६१ ॥

इति सञ्चिन्त्य सर्वे सिंहान्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्—'आहारार्थं किञ्चित्प्राप्तम् ?' तैरुक्तम्—'देव ! यत्नादपि न प्राप्तं किञ्चित् ।' सिंहेनोक्तम्—'कोऽधुना जीवनोपायः ?' काको वदति—'देव ! स्वाधीनाहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः' ? सिंहेनोक्तम्—'अत्राहारः कः स्वाधीनः ? ।' काकः कर्णे कथयति—'चित्रकर्ण ' इति । सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा, कर्णौ स्पृशति । अब्रवीच्च—'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः, तत्कथमेवं सम्भवति' ? । तथा हि—

सञ्चिन्त्य=विचार्य । सिंहान्तिकम्=सिंहस्य समीपम् । जग्मु =गतवन्त । आहारार्थम्=भोजनाय । जीवनोपाय =प्राणधारणस्य उपाय । स्वाधीनाहारपरित्यागात्=निजायत्तभोज्यत्यागात् । सर्वनाश =अस्माकम् प्राणहानि । उपस्थित =समुपागत । क आहार =क भोज्य । स्वाधीन =निजायत्त । अभयवाच दत्वा=प्राणदानस्य वचन दत्त्वा । धृत =स्वाश्रये रक्षित । एवं = तस्य मारणम् । कथ संभवति=केन प्रकारेण भवितु शक्नोति ।

यह सोच कर सभी सिंह के पास गए। सिंह ने कहा—'क्या भोजन के लिए कुछ मिला ?' उन सबों ने कहा—राजन्, बहुत उपाय करने पर भी कुछ नही प्राप्त हुआ। सिंह ने कहा तो अब जीवन का क्या उपाय है ?' कौवे ने कहा—राजन् अपने अधीन रहने वाले भोजन का परित्याग करने से ही यह सर्वनाश उपस्थित हुआ है ।' सिंह ने कहा—'यहाँ कौन-सा आहार अपने अधीन है ?' कौवे ने कान में कहा—'चित्रकर्ण' । तब सिंह ने जमीन छूकर कान छुआ

और कहा—हम लोगों ने उसे अभयदान देकर रखा है इसलिए ऐसा कैसे हो सकता है? क्योंकि—

'न भूप्रदानं न सुवर्णदानं न गोप्रदानं न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं, सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्' ॥ १२ ॥

अन्वयः—सर्वेषु दानेषु यथा अभयप्रदानम् महाप्रदानम् (इति) प्रवदन्ति तथा न भूप्रदानम् तथा न अन्नदानम् ॥ १२ ॥

सर्वेषु दानेषु=सर्वप्रकारेषु दानविषयेषु। अभयप्रदानम् = प्राणदानम्। महाप्रदानम्=महद्दानम्। प्रवदन्ति=कथयन्ति। भूप्रदानम्=पृथ्वीदानम् ॥ १२ ॥

पृथ्वीदान सोने का दान गोदान तथा अन्नदान उतने बड़े नहीं कहे जाते हैं जितना कि सब दानों में सबसे महान दान अभयदान कहा जाता है ॥ १२ ॥

अन्यच्च—'सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभते सम्यग् रक्षिते शरणागते ॥ १३ ॥

अन्वयः—सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् भवति तत्फलम् शरणागते रक्षिते सम्यक् लभते ॥ १३ ॥

सर्वकामसमृद्धस्य=सर्वेप्सितपरिपूर्णस्य। अश्वमेधस्य = अश्वमेधनामयज्ञस्य। शरणागते=आश्रयमागते। रक्षिते = परिपालिते सति। सम्यक् = पूर्णरूपेण। लभते=प्राप्नोति ॥ १३ ॥

और भी—सभी कामनाओं को पूरी करने वाले अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल प्राप्त होता है वह सभी फल शरण में आए हुए की रक्षा करने से जो प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

काको ब्रूते—'नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः किन्त्वस्माभिरेव तथा कर्तव्यं यथासौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति।

काक=कौआ। ब्रूते=कहता। कर्तव्यं=विधातव्यं। स्वामिना=भवोत्कटेन। स्वदेहदानम्=निजशरीरसमर्पणम्।

कौए ने कहा—स्वामी उसे मारेंगे नहीं बल्कि हम लोग ऐसा उपाय करेंगे जिससे वह स्वयम् अपने आपको स्वामी को समर्पित कर देगा।

सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः। ततोऽसौ लब्धावकाशः कूटं कृत्वा सर्वानादाय सिंहान्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तम्—देव!

यत्नादप्याहारो न प्राप्तः, अनेकोपवासक्लिष्टश्च स्वामी, तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम्'। यतः—

तूष्णीम्=मौनम्। लब्धावकाश=प्राप्तकाल। कूटं कृत्वा=कपटं विधाय। सर्वानादाय=व्याघ्रजम्बुकचित्रकर्णादीन् गृहीत्वा। सिंहान्तिकम्=सिंहसमीपम्। गत=प्राप्त। यत्नात् अपि=प्रयत्ने कृतेऽपि। आहार=भोजनम्। अनेकोपवास-कृश=चिरकालात् भोज्याभावेन क्षीण।

सिंह यह सुन कर चुप रह गया। इसके पश्चात् कौवे ने अवसर पाकर षड्यन्त्र करके सभी को लेकर सिंह के पास गया और उसने कहा—'राजन् प्रयत्न करने पर भी भोजन नहीं मिला, आप अनेक उपवासों से बहुत कष्ट में हैं इसलिए इस समय मेरे मांस को खाकर प्राणरक्षा कीजिए। क्योंकि—

'स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वाः प्रकृतयः खलु।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्'॥ ६४॥

अन्वयः—सर्वाः प्रकृतय खलु स्वामिमूला भवन्ति नृणाम् प्रयत्न समूलेषु वृक्षेषु अपि सफल (भवति)॥ ६४॥

सर्वा प्रकृतय=समस्ता प्रजा। स्वामिमूला=नृपाश्रया। नृणाम्=मनुष्याणाम्। प्रयत्न=यत्न। सफल=समूलात् वृक्षादेव फलाशा भवति॥ ६४॥

सारी प्रजा की जड़ राजा ही होता है और जड़ वाले वृक्ष में किया गया उपाय ही लोगों के लिए फलदायक होता है अर्थात् जब जड़ ही नष्ट हो जाएगी तो फल कहाँ से प्राप्त होगा॥ ६४॥

सिंहेनोक्तम्—'भद्र! वरं प्राणपरित्यागो, न पुनरीदृशे कर्मणि प्रवृत्तिः।' जम्बुकेनापि तथोक्तम्। तत. सिंहेनोक्तं—'मैवम्'। अथ व्याघ्रेणोक्तं—'मद्देहेन जीवतु स्वामी।' सिंहेनोक्तं—'न कदाचिदेवमुचितम्'।

वरम्=श्रेष्ठ। प्राणपरित्याग=मरणम्। ईदृशी कर्मणि=आश्रितस्य मांसभोजने।

सिंह ने कहा—भद्र, प्राण छोड़ देना तो अच्छा है किन्तु इस प्रकार के कार्य में लगना अच्छा नहीं है। गीदड़ ने भी वैसा ही कहा। तब सिंह ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। व्याघ्र ने कहा—'तो स्वामी मेरे शरीर को खाकर अपने जीवन की रक्षा करें।' सिंह ने कहा—यह ठीक नहीं है।'

अथ चित्रकर्णोऽपि आत्मविश्वासस्तथैवात्मव्यापादनमाह। तत्स्तद्वचनादेव व्याघ्रेणासौ कुक्षिं विदार्य व्यापादितः, सर्वैर्भक्षितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि— मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि॥

जातविश्वासः=जातप्रत्ययः स्वामी नापकारं करिष्यति मामपि न भक्षयिष्यति इति विश्वस्तः इत्यर्थः। तद्वचनात्=स्वशरीरार्पणवार्ताकथनात्।

फिर विश्वास में आकर चित्रकर्ण ने भी अपने शरीरदान की बात कही। उसकी बात सुनते ही बाघ ने उसके पेट को फाड़ कर मार डाला और सभी ने मिल कर भोजन किया इसीलिए मैं कह रहा हूँ— सज्जनों की बुद्धि भी चञ्चल हो जाती है इत्यादि।

ततस्तेनोपधूर्तवचनं श्रुत्वा स्वमतिभ्रमं निश्चित्य छागं त्यक्त्वा ब्राह्मणः स्नात्वा गृहं ययौ। छागश्च तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मौपम्येन यो वेत्ति'—इत्यादि॥ ॥

स्वमतिभ्रमम्=स्वबुद्धिमान्द्यम्। निश्चित्य=निर्णीत।

तब तीसरे धूर्त की बात सुनकर अपनी बुद्धि का भ्रम मान कर वह ब्राह्मण बकरे को छोड़ कर स्नान करके घर चला गया और उन धूर्तों ने बकरे को ले जाकर खा डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो अपने समान समझता है' इत्यादि।

राजाह—मेघवर्ण! कथं शत्रुमध्ये त्वया सुचिरमुषितम्? कथं वा तेषामनुनयः कृतः? मेघवर्ण उवाच—देव! स्वामिकार्यार्थितया स्वप्रयोजनवशाद्वा किं किं न क्रियते। पश्य—

चिरमुषितम्=बहुकालम् निवासः कृतः। अनुनय=चाटुकारिता। स्वामिकार्यार्थिता=राजकार्याभिलाषुकेन। स्वप्रयोजनवशात्=स्वार्थसिद्ध्यर्थं च।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—मेघवर्ण! तुम शत्रुओं के बीच में कैसे बहुत दिन तक रहे और किस प्रकार उन्हें अपना बना रखा। मेघवर्ण ने कहा—राजन्, स्वामी का कार्य पूरा करने के लिए तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मनुष्य क्या नहीं करता है। देखिए—

लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेला निकृन्तति॥ ९५॥

अन्वयः—हे राजन्, लोकः इन्धनम् दग्धुम् मूर्ध्ना किं न वहति। नदीवेला वृक्षाङ्घ्रिं क्षालयन्त्यपि निकृन्तति॥ ९५॥

राजन्=हे नृप । लोक =जन । इन्धनम्=शुष्ककाष्ठम् । दग्धुम्=प्रज्वालयितुम् । मूर्ध्ना=शिरसा । न वहति=न धारयति । नदीवेला=सरित्पूर । वृक्षाङ्घ्रि=तरुमूलम् । क्षालयन्ती=प्रक्षालनम् कुर्वन्ती । निकृन्तति=उन्मूलयति ॥ ६५ ॥

क्या लोग जलाने वाली लकड़ी को अपने सिर पर रख कर नही ले जाते हैं और नदी की धारा वृक्षो की जड़ो (पैरों) को धोकर भी क्या उन्हें काटती नहीं है ? ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तम्—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः' ॥ ६६ ॥

अन्वयः—कार्यमासाद्य बुद्धिमान् शत्रून् स्कन्धेनापि वहेत् । यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिता ॥ ६६ ॥

बुद्धिमान्=प्राज्ञ । कार्यमासाद्य=स्वार्थसिद्ध्यथम् । शत्रून्=अरीन् । वहेत्=धारयेत् । विनिपातिता =विनाशिता ॥ ६६ ॥

कहा भी गया है—

काम पड़ जाने पर बुद्धिमान् शत्रु को भी अपने कंधे पर ले जाता है जैसे बूढे सॉप ने मेढको को अपने सिर पर रख कर फिर उन्हें मार डाला था ॥६६॥

राजाह—'कथमेतत् ?' मेघवर्णः कथयति—

राजा चित्रवर्ण ने कहा—यह कैसे ? मेघवण ने कहा—

कथा ११

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः । सोऽतिजीर्णतया स्वाहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थित । ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्ट', पृष्टश्च—'किमिति त्वमाहारं नान्विष्यति' ? । सर्पोऽवदत्—'गच्छ भद्र ! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन' ? ततः सञ्जातकौतुक स च भेकः 'सर्वथा कथ्यताम्' इत्याह । सर्पोऽप्याह—'भद्र ! ब्रह्मपुरवासिन. श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशति वर्षदेशीय', सर्वगुणसम्पन्नो, दुर्दैवान्मया नृशंसेन दष्टः । ततस्तं सुशीलनामानं पुत्र मृतमवलोक्य, शोकेन मूर्छितः कौण्डिन्यः पृथिव्यां लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्रागत्योपविष्टा' । तथा चोक्तम्—

जीर्णोद्याने—पुरातनोपवने। अतिजीर्णतया—अतिवार्धक्येन आहारमपि—भोजनमपि। अन्वेष्टुम्—गवेषितुम्। अक्षम—असमर्थ। नान्विष्यति—अन्वेषणं न करोति। मन्दभाग्यस्य—दैवोपहतकस्य। वृत्तान्तप्रश्नेन—वृत्तान्तसमाचारपृच्छाकरणेन। सञ्जातकौतुक—समुत्पन्नाश्चर्य। भेक—मण्डूक। सर्वथा—अवश्यमेव। कथ्यताम्—उच्यताम्। श्रोत्रियस्य—वेदपाठिनः। विंशतिवर्षदेशीय—विंशतिवर्षप्राय। दुर्दैवात्—दुर्भाग्यात्। नृशंसेन—निष्ठुरेण। मूर्च्छित—विसंज्ञ। भूपीठ—धरातल।

एक उजड़े हुए बगीचे में मन्दविष नाम का एक साँप रहता था। वह बुड्ढा हो जाने के कारण अपना भोजन खोजने में भी असमर्थ हो गया था इसलिए तालाब के किनारे लेटा पड़ा हुआ था। उसे दूर ही से देखकर एक मेढक ने पूछा कि—तुम अपने भोजन की खोज क्यों नहीं करते हो? साँप ने कहा—मुझ जैसे भाग्यहीन का समाचार पूछने का कष्ट क्यों कर रहे हो? तब आश्चर्य में भरे हुए मेढक ने कहा—आप अपनी पूरी कहानी अवश्य सुनाइये। इस पर साँप ने कहा—ब्रह्मपुर में रहने वाले वेदपाठी कौण्डिन्य के सभी गुणों से युक्त बीस वर्ष की अवस्था वाले पुत्र को दुर्भाग्य से मुझ निष्ठुर ने काट लिया जिससे सुशील नाम वाले अपने पुत्र को मरा हुआ देख कर कौण्डिन्य शोक से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर लोटने लगा। इसके बाद ब्रह्मपुर के उसके सभी भाई बन्धु वहाँ आए। जैसा कि कहा भी गया है—

'उत्सवे, व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ॥ १७ ॥

अन्वयः—उत्सवे स बान्धवः (अस्ति) ॥ १७ ॥

उत्सवे—आनन्दपूर्णसमारोहे। व्यसने—विपत्तौ। युद्धे—विग्रहे। दुर्भिक्षे—अन्नसङ्कटे। राष्ट्रविप्लवे—राज्यक्रान्तौ। राजद्वारे—राजगृहे। यः तिष्ठति—यः समागम्य पूर्णतः उपस्थितः भवति ॥ १७ ॥

उत्सव विपत्ति युद्ध दुर्भिक्ष राष्ट्रविप्लव राजदरबार और श्मशान भूमि में जो साथ देता है वही भाई-बन्धु कहा जाता है ॥ १७ ॥

तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य! मूढोऽसि, येनैवं विलपसि। शृणु—

स्नातक—वेदाध्ययनसमाप्त. ब्रह्मचारी। मूढोऽसि—अज्ञः प्रतिभासि। विलपसि—रोदिषि।

वहाँ कपिल नाम के स्नातक ने कहा—अरे कौण्डिन्य तुम बड़े मूर्ख हो जो इस प्रकार विलाप कर रहे हो। सुनो—

'क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता।
धात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य कः क्रमः'? ॥६८॥

अन्वयः—यदा प्रथमम् धात्रीव अनित्यता क्रोडीकरोति पश्चात् जननी, तदा शोकस्य कः क्रमः ? ॥ ६८ ॥

प्रथमम्=आदौ। जातम्=उत्पन्नम् शिशुम्। धात्रीव = उपमातेव। अनित्यता, क्रोडीकरोति=अङ्के स्थापयति। जननी=माता। शोकस्य=पश्चात्तापस्य। कः क्रमः=कः कालः ? ॥ ६८ ॥

उत्पन्न होने वाले वालक को सबसे पहले अनित्यता ही दाई के समान अपनी गोद में लेती है, फिर माता लेती है अतः शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

तथा च—'क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति' ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ससैन्यबलवाहनाः पृथिवीपालाः क्व याताः येषाम् वियोगसाक्षिणी भूमिः अद्यापि तिष्ठति ॥ ६९ ॥

ससैन्यबलवाहनाः=सेनापौरुषवाहनादिसहिताः। पृथ्वीपालाः=नृपाः। क्व=कुत्र। गताः=प्रस्थिताः। येषां=नृपाणाम्। वियोगसाक्षिणी=विरहसाक्षीभूता। भूमिः=पृथिवी। अद्यापि=इदानीमपि। तिष्ठति=स्थिताऽस्ति ॥ ६९ ॥

सेना, पराक्रम और अपने हाथी-घोड़ों के साथ वे राजा लोग कहाँ चले गए जिनके वियोग की साक्षिणी (गवाह) यह पृथ्वी आज भी पड़ी हुई है ॥ ६९ ॥

तथा च—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः' ॥ ७० ॥

अन्वयः—जातस्य मृत्युः ध्रुवः मृतस्य च जन्म ध्रुवम्। अद्य अब्दशतान्ते वा प्राणिनाम् मृत्युः ध्रुवः ॥ ७० ॥

जातस्य=शरीरधारिणः। ध्रुवः = निश्चयः। अद्य = अस्मिन्नेव दिने। अब्दशतान्ते=वर्षशतान्ते वा। प्राणिनाम्=शरीरधारिणाम् ॥ ७० ॥

जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मरा है उसका जन्म अवश्य होगा आज अथवा सैकड़ों वर्षों के बाद प्राणियों की मृत्यु निश्चित है ॥७०॥

अपरञ्च—'कायः संनिहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कायः संनिहितापायः सम्पदः आपदाम् पदम् समागमाः सापगमाः सर्वम् उत्पादि भंगुरम् ॥ ७१ ॥

कायः=शरीरम् । संनिहितापायः=विनाशोन्मुखः । सम्पदः=सम्पत्तयः । आपदाम्=विपदाम् । पदम्=स्थानम् । समागमाः=संयोगाः । सापगमाः=वियोगयुक्ताः । उत्पादि=जायमानम् । भंगुरम्=विनश्वरम् ॥ ७१ ॥

और भी—शरीर प्रतिक्षण नाशवान है सम्पत्ति विपत्तियों का स्थान है मिलन वियोग से पूर्ण है और सभी उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ नाश होने वाली हैं ॥

'प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रतिक्षणम् क्षीयमाणः अयम् कायः न लक्ष्यते अम्भःस्थः आमकुम्भः इव विशीर्णः सन् विभाव्यते ॥ ७२ ॥

प्रतिक्षणम्=प्रतिपलम् । अयं कायः=देहः । क्षीयमाणः=विनश्यन् नश्यमानः । न लक्ष्यते=न दृश्यते । अम्भःस्थः=जलस्थितः । आमकुम्भः=अपक्वघटः । विशीर्णः=प्रस्फुटितः सन् । विभाव्यते=प्रतीयते ॥ ७२ ॥

यह शरीर प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है किन्तु दिखाई नहीं पड़ता है लेकिन जैसे पानी में पड़ा हुआ कच्चा घड़ा गल जाने पर दिखाई पड़ता है उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर ही उसका नाश हो जाना मालूम होता है ॥ ७२ ॥

'आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदे पदे' ॥ ७३ ॥

अन्वयः—आघातं नीयमानस्य वध्यस्य पदे-पदे इव जन्तोः मृत्युः दिने दिने आसन्नतरताम् एति ॥ ७३ ॥

आघातम्=वध्यभूमिम् । नीयमानस्य=प्राप्यमाणस्य । वध्यस्य=वधार्हस्य जीवस्य । पदे-पदे=प्रतिपदम् । जन्तोः=प्राणिनः । मृत्युः=मरणम् । दिने दिने=प्रतिदिवसम् । आसन्नतरताम्=अतिसन्निकटताम् । एति=प्राप्नोति ॥ ७३ ॥

मृत्यु प्रतिदिन प्राणियों के समीप आती जाती है जैसे वधभूमि में ले जाया जाता हुआ प्राणी पद-पद में मृत्यु के सन्निकट होता जाता है ॥ ७३ ॥

यतः—'अनित्यं यौवन, रूप, जीवितं, द्रव्यसञ्चयः।
ऐश्वर्यं, प्रियसंवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डितः' ॥ ७४ ॥

अन्वयः—यौवनं' ' प्रियसवास अनित्यम् (अत) पण्डित. तत्र न मुह्येत् ॥

यौवनम्=तारुण्यम् । रूपम्=सौन्दयम् । जीवितम् = प्राणितम् । द्रव्यसञ्चय = धनसग्रह । ऐश्वर्यम्=समृद्धि । प्रियसवास =प्रियसमागम । पण्डित = विवेकी । न मुह्येत्=मोह न गच्छेत् ॥ ७४ ॥

जवानी, सुन्दरता, जीवन, धन का सचय, ऐश्वर्य और प्रिय लोगो का समागम अनित्य होते हैं इसलिए विद्वानो को चाहिए कि वे इन विषयो में आसक्त न हो ॥ ७४ ॥

'यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयाता तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—महोदधौ यथा काष्ठम् च काष्ठम् च समेयाताम् समेत्य च व्यपेयाताम् तद्वत् भूतसमागम (अपि भवति) ॥ ७५ ॥

महोदधौ=महासागरे । समेयाताम्=सम्मिलितौ भवेताम् । समेत्य = सगम्य च । व्यपेयाताम् = वियुक्तौ भवेताम् । तद्वद्=तेनैव प्रकारेण । भूतसमागम = प्राणिनां सयोग ॥ ७५ ॥

जैसे समुद्र मे एक लकडी दूसरी लकडी से मिल जाती है और मिलकर पुन अलग हो जाती है उसी प्रकार प्राणियो का मिलन भी बिछुडने के लिए ही होता है ॥ ७५ ॥

'यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः' ॥ ७६ ॥

अन्वयः—यथा पथिक तद्वत् भूतसमागम ॥ ७६ ॥

यथा=येन प्रकारेण । पथिक = पान्थ । छायां = तरुच्छायाम् । आश्रित्य = अवलम्ब्य । तिष्ठति=विश्राम्यति ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार राही किसी पेड की छाया का आश्रय लेकर उसके नीचे बैठता है और कुछ देर विश्राम करके फिर चला जाता है उसी प्रकार प्राणी भी इस ससार मे कुछ देर तक आपस मे मिलकर रहते हैं और फिर एक दूसरे को छोड कर चल देते हैं ॥ ७६ ॥

अन्यच्च—'पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्वं च पुनर्गते।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना ?' ॥ ७७ ॥

अन्वयः—पञ्चभिः निर्मिते देहे पुनः च पञ्चत्वं गते स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते सति तत्र का परिदेवना ॥ ७७ ॥

पञ्चभिः=पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतैः (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)। निर्मिते=समुत्पन्ने। देहे=शरीरे। पञ्चत्वं गते=मृते। स्वां स्वां=स्वकीयाम्। योनिम्=आदिस्थानम्। अनुप्राप्ते=गते सति। तत्र=तस्मिन् मृते। परिदेवना=विलापः शोकश्च ॥ ७७ ॥

इस शरीर का निर्माण क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर नाम के पाँच तत्त्वों से हुआ है और मरने के बाद ये सभी तत्त्व अपने अपने तत्त्वों में फिर मिल जाते हैं अतः इस विषय में शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः' ॥ ७८ ॥

अन्वयः—जन्तुः यावतः मनसः प्रियान् सम्बन्धान् कुरुते तावन्तः अस्य हृदये शोकशङ्कवः निखन्यन्ते ॥ ७८ ॥

जन्तुः=प्राणी। मनसः प्रियान्=हृदयस्य प्रियकरान्। अस्य=प्राणिनः। हृदये=मनसि। शोकशङ्कवः=परितापकीलकाः। निखन्यन्ते=आरोप्यन्ते ॥

प्राणी जितना अधिक अपने मन को अच्छे लगने वाले सम्बन्धों को करता जाता है उतना ही वह अपने हृदय में शोक की कीलें गँड़वाता जाता है अर्थात् एक दिन उन्हीं-उन्हीं प्रिय वस्तुओं का वियोग उसके दुःख का कारण बनता है ॥

'नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित्' ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अयम् येन केनचित् अत्यन्तसंवासः न लभ्यते (यदा) स्वेन शरीरेण अपि (न) किमुत अन्येन केनचित् ॥ ७९ ॥

अयम्=प्राणी। येन केनचित्=केनापि सह। अत्यन्तसंवासः=दृढसम्बन्धः, चिरसंयोगश्च। न लभ्यते=न प्राप्यते। स्वेन शरीरेणापि=यदा स्वशरीरेणापि सम्बन्धस्य न भवति। किमुत=किं। अन्येन केनचित् संसारस्य केनापि सह ॥

इस संसार में किसी भी प्राणी का मिलन चिरकाल तक नहीं हो सकता है। जब कि स्वयं अपना शरीर भी उसका नित्य साथ नहीं दे सकता तो भला दूसरों की गिनती ही क्या है ? ॥ ७९ ॥

अपि च—'संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति सम्भवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवागमम्' ॥ ८० ॥

अन्वयः—संयोग वियोगस्य सम्भवम् ससूचयति, जन्म अनतिक्रमणीयस्य मृत्यो आगमम् इव ॥ ८० ॥

सयोग =सवास । वियोगस्य=विरहस्य । सम्भवम्=उत्पन्निम् । सूचयति=प्रकटयति । अनतिक्रमणीयस्य=अनुल्लघनीयस्य । आगमम्=कारणम् । इव ॥८०॥

किसी वस्तु का संयोग ही उसमे होने वाले वियोग की सूचना देता है । जैसे किसी प्राणी का जन्म उसकी अवश्यभावी मृत्यु के आगमन की सूचना देने वाला होता है ॥ ८० ॥

'आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोतिदारुणः' ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अपथ्यानाम् अन्नानाम् इव प्रियै. सह आपातरमणीयानाम् सयोगानाम् परिणाम अतिदारुण भवति ॥ ८१ ॥

अपथ्यानाम् = कुभोज्यानाम् । अन्नानाम्=भोज्यपदार्थानाम् इव । आपातरमणीयानाम्=तत्क्षणप्रियकराणाम् । सयोगानाम्=सलम्भानाम् । परिणामः=फलम् । अतिदारुण =अतिदु खदायक ॥ ८१ ॥

जैसे अपथ्य भोजन ऊपर से देखने मे बहुत ही स्वादिष्ट होता है किन्तु उसका अन्तिम परिणाम बहुत ही भयंकर होता है, उसी प्रकार प्रियजनो का समागम देखने में बहुत ही आनन्ददायक होता है किन्तु वियोग होने के कारण उसका फल बहुत ही दु खदायी होता है ॥ ८१ ॥

अपरञ्च—'व्रजन्ति, न निवर्त्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा ।
आयुरादाय मर्त्यानां तथा राज्यहनी सदा' ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सरिताम् स्रोतांसि यथा व्रजन्ति न निवर्तन्ते तथा राज्यहनी मर्त्यानाम् आयु आदाय सदा व्रजत न निवर्तन्ते ॥ ८२ ॥

सरिताम्=नदीनाम् । स्रोतांसि=प्रवाहा । व्रजन्ति=गच्छन्ति, न निवर्तन्ते=न प्रत्यागच्छन्ति । राज्यहनी=रात्रि दिवसञ्च । मर्त्यानाम्=समस्तप्राणिनाम् । आयु =जीवितसमयम् । आदाय=गृहीत्वा । सदा=सर्वदैव गच्छत किन्त पुन न प्रत्यागच्छत ॥ ८२

जैसे जाये जाते जाती नदी की धारा फिर लौट कर पीछे नहीं आती है उसी प्रकार रात और दिन प्राणियों की आयु लेकर सदा आगे बढ़ते ही जाते हैं अर्थात् प्रतिदिन मनुष्य की आयु क्षीण ही होती जाती है ॥ ८२ ॥

'सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।
स वियोगावसानत्वाद् दुःखानां धुरि युज्यते' ॥ ८३ ॥

अन्वयः—संसारे सुखास्वादपरः यस्तु सत्समागमः स वियोगावसानत्वात् दुःखानाम् धुरि युज्यते ॥ ८३ ॥

संसारे=जगति । सुखास्वादपरः = नितान्तसुखपूर्णः । सत्समागमः = सज्जनसहवासः । वियोगावसानत्वात्=विरहान्तत्वात् । दुःखानाम् धुरि = परितापानाम् अग्रे । युज्यते=गण्यते ॥ ८३ ॥

इस संसार में सज्जनों का मिलन अत्यन्त सुख स्वाद का देने वाला कहा जाता है किन्तु उसका भी अन्त वियोग में ही होता है इसलिए वह भी दुःखों की कोटि में सबसे पहले गिना जाता है ॥ ८३ ॥

अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।
यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम्' ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अत साधवः सत्समागमम् एव हि न इच्छन्ति । यद् वियोगासिलूनस्य मनसः भेषजम् नास्ति ॥ ८४ ॥

अत=अस्मात्कारणात् । साधवः=सज्जनाः । सत्समागमम् = सत्संगतिम् । न इच्छन्ति = न अभिवाञ्छन्ति । यद्वियोगासिलूनस्य = यस्य विरहखड्गच्छिन्नस्य । मनसः=हृदयस्य । भेषजम्=औषधम् । नास्ति=न विद्यते ॥ ८४ ॥

इसीलिए सज्जन लोग इस संसार में सज्जनों का मिलन भी नहीं चाहते हैं क्योंकि उनके विरहरूपी तलवार से कटे हुए हृदय की कोई दवा ही नहीं होती है ॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।
अथ तान्येव कर्माणि, ते चापि प्रलयं गताः' ॥ ८५ ॥

अन्वयः—सगरादिभिः राजभिः सुकृतानि कर्माणि (कृतानि) तानि कर्माणि एव ते चापि प्रलयम् गताः ॥ ८५ ॥

सगरादिभिः=सगरप्रभृतिभिः । राजभिः=नृपैः । सुकृतानि कर्माणि=शोभनानि पुण्यकर्माणि । ते चापि=नृपाश्चापि । प्रलयं गताः=विनष्टाः ॥ ८५ ॥

सगर इत्यादि राजाओं ने बहुत से पुण्य कार्यों को किया था किन्तु आज उनके वे पुण्य कर्म तथा वे स्वयं भी नष्ट हो गए । अर्थात् कर्ता और कर्म दोनों का विनाश हो गया ॥ ८५ ॥

'सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं,
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः,
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति' ॥ ८६ ॥

अन्वयः—तम् उग्रदण्ड मृत्यु सचिन्त्य सचिन्त्य विचक्षणस्य मनुष्यस्य सर्वे प्रयत्नाः वर्षाम्बुसिक्ता चर्मबन्धा इव शिथिलीभवन्ति ॥ ८६ ॥

उग्रदण्डम्=अतितीक्ष्णदण्डम् । मृत्युम्=मरणम् । सचिन्त्य सचिन्त्य = सस्मृत्य सस्मृत्य । विचक्षणस्य = कुशलस्य विदुष इत्यर्थ । मनुष्यस्य = नरस्य । सर्वे प्रयत्ना =कार्यसिद्धे सर्वे प्रयासा । वर्षाम्बुसिक्ता =वर्षाजलक्लिन्ना । चर्मबन्धा.= चर्मरज्जुग्रन्थय । इव=यथा । शिथिलीभवन्ति=शिथिलता प्राप्नुवन्ति ॥ ८६ ॥

प्राणी को प्राप्त होने वाले मृत्युरूपी महाभयानक दण्ड को बार बार याद करके बुद्धिमान् मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयास वर्षा के जल से भीगे हुए चमडे के बन्धन के समान ढीले पड जाते हैं। अर्थात् बुद्धिमान सासारिक प्रयत्नो से विमुख हो जाता है ॥ ८६ ॥

'यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवास नरवीर ! लोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति' ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे नरवीर, लोक याम् प्रथमाम् रात्रि गर्भे निवासम् उपैति ततः प्रभृति अस्खलितप्रयाण स प्रत्यहम् मृत्युसमीपम् एति ॥ ८७ ॥

नरवीर=राजन् । लोक = प्राणी । प्रथमाम्=आद्याम् । रात्रिम्=रजनीम् । उपैति=प्राप्नोति । तत प्रभृति=गर्भनिवासमारभ्य । अस्खलितप्रयाण =अनवरुद्धगमन । स =मनुष्य । प्रत्यहम्=प्रतिदिनम् । मृत्युसमीपम्=मृत्यो सन्निकटम् । एति=आगच्छति ॥ ८७ ॥

हे राजन्, प्राणी सर्वप्रथम जिस रात्रि को गर्भ में निवास करता है उसी समय से वह अबाध गति से प्रतिदिन मृत्यु के निकट चलता जाता है ॥ ८७ ॥

अथ ससारं विचारय, शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य—

ससारम् विचारय=विश्वगतिम् चिन्तय । अज्ञानस्य=अविवेकस्य ।

इसलिए इस ससार की स्थिति का विचार करो, यह शोक अज्ञान का ही प्रपञ्च है । देखो—

'अज्ञान कारण न स्याद् वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम्' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यदि (शोकस्य) अज्ञानस्य कारणम् न स्यात् (तस्य) कारणम् वियोगः (स्यात् तर्हि) दिनेषु गच्छत्सु शोकः वर्धताम् किन्तु (सः) अपयाति किम् ॥

यदि शोकः अज्ञानात् नोत्पद्यते वियोगाज्जायते तर्हि किञ्चित्कालोपरान्ते वियोगे विद्यमाने सति शोकोऽयम् वर्धताम् किन्तु स न वर्धते अपितु अपमुपयाति, अतः शोकस्य कारणम् अज्ञानम् एव ॥ ८८ ॥

यदि अज्ञान शोक का कारण नहीं बल्कि वियोग शोक का कारण है तो कुछ दिनों के बीतने पर शोक को और भी बढ़ना चाहिए। (क्योंकि वियोग तो तब भी रहता है) किन्तु वह बढ़ता नहीं है अपितु धीरे धीरे घटता जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वियोग शोक का कारण नहीं बल्कि अज्ञान ही शोक का कारण होता है ॥ ८८ ॥

तद् भद्र ! तद् आत्मानमनुसन्धेहि शोकचर्चां च परिहर। यतः—

आत्मानम्=स्वात्मतत्त्वम्। अनुसन्धेहि=अन्वेषय। परिहर=परित्यज।

इसलिए हे भद्र आत्मा की खोज करो और इस शोक की चर्चा छोड़ो। क्योंकि—

'अकाण्डपातजातानां गात्राणां मर्मभेदिनाम्।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम्' ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अकाण्डपातजातानाम् ... महौषधम् ॥ ८९ ॥

अकाण्डपातजातानाम्=आकस्मिकोपनिपतितानाम्। गात्राणाम्=[illegible]। मर्मभेदिनाम्=पीडाप्रदानाम्। गाढशोकप्रहाराणाम्=घनीभूतशोकाघातानाम्। अचिन्तैव=चिन्तारहितमेव। महौषधम्=उत्तमभैषज्यम् ॥ ८९ ॥

आकस्मिकरूप से असमय में ही आने वाले और शरीर के मर्म का भेदन करने वाले अत्यन्त घने शोक के आघातों की सबसे बड़ी औषधि है उसकी चिन्ता ही छोड़ देना अर्थात् शोक की चिन्ता ही शोक को बढ़ा कर कर देने वाली होती है ॥ ८९ ॥

ततस्तद्वचनं निशम्य प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाब्रवीत तद्गृहमिदानीं गृह-नरक-वासेन ममालं गच्छामि।

तद्वचनम् वरिरुचोपदेशम्। निशम्य=श्रुत्वा। गृहनरकवासेन=गृहरूप ... [illegible]

इसके ... बातें सुन कर ... नींद से जगे हुए के समान कौण्डिन्य ने ... अब इस नरक रूपी घर में रहना ... चुका। अब तो ... [illegible]

कपिलः पुनराह—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्' ॥ ९० ॥

अन्वयः—रागिणाम् वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति, पञ्चेन्द्रियनिग्रह एव गृहेऽपि तप (अत एव) य अकुत्सिते कर्मणि प्रवर्तते तस्य निवृत्तरागस्य गृहम् तपोवनम् भवति ॥ ९० ॥

रागिणाम्=विषयासक्तहृदयानाम् । वनेऽपि=काननेऽपि, दोषा = कामक्रोधादिविकारा । प्रभवन्ति=सम्प्रजायन्ते । पञ्चेन्द्रियनिग्रह = नेत्रादीनाम् इन्द्रियाणा सयम । गृहेऽपि=निकासमूमिस्थानेपि । तप एव=तपस्तुल्य भवति । य = पुरुष । अकुत्सिते = अनिन्दिते, शास्त्रसम्पादिते । कर्मणि=करणीये । प्रवर्तते= सलग्नो भवति । निवृत्तरागस्य=आसक्तिरहितस्य । गृहमपि तपोवनम् एव भवति ॥

कपिल ने फिर कहा—

विषय वासनाओ मे लिप्त रहने वाले वन में भी जाकर शोक दु खादि प्रपञ्चो से छूट नहीं पाते है और पाँचो इन्द्रियो का यदि घर पर ही सयम किया जाय ता वही तप हो सकता है । जो शास्त्रविधानो के अनुसार कार्यों मे लगा रहता है, उस विषय-वासनारहित के लिए घर ही तपोवन के समान है ॥ ९० ॥

यतः—'दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्गं धर्मकारणम्' ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र कुत्राश्रमे रत दु खित अपि सर्वेषु भूतेषु सम धर्मम् चरेत् (यत) लिङ्गम् धर्मकारणम् न (अस्ति) ॥ ९१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे=यस्मिन्कस्मिन्नाश्रमे । रत = लग्न । सर्वेषु भूतेषु=सम्पूर्णप्राणिषु । सम =समबुद्धि भूत्वा । धर्मं चरेत्=धर्माचरणम् कुर्यात् । लिङ्गम्= आश्रमचिह्नम् । धर्मकारणम् = धर्मस्य हेतु । न = न भवति, अपि तु आचार एव हेतु ॥ ९१ ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह चाहे जिस किसी आश्रम मे रहे किन्तु सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखता हुआ दु ख के समय भी धर्म का आचरण करता रहे। क्योंकि धर्म का आचरण सभी जगह हो सकता है केवल बाना बना लेना (वेशमात्र ही धारण कर लेना) ही धर्म का कारण नही होता ॥ ९१ ॥

उक्तञ्च—'वृत्त्यर्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते' ॥ ९२ ॥

अन्वयः—येषाम् भोजनम् वृत्त्यर्थम् मैथुनम् सन्तानार्थम्, वाक् सत्यवचनार्थम् (भवति) ते दुर्गाणि अपि तरन्ति ॥ ९२ ॥

वृत्त्यर्थम्=प्राणधारणाय । मैथुनम् = सुरतम् । सन्तानार्थम् = सन्तानोत्पत्त्यर्थम् । वाक्=वाणी । सत्यवचनार्थम्=सत्योद्भाषणप्रयोजनाय । ते=महापुरुषाः । दुर्गाणि=कष्टानि । तरन्ति=पारं गच्छन्ति ॥ ९२ ॥

जो केवल जीने के लिए ही भोजन करते हैं सन्तानोत्पत्ति के लिए ही संभोग करते हैं और वाणी का प्रयोग सत्य का प्रवचन करने के लिए ही करते हैं वे महापुरुष कठिन विपत्तियों से भी छुटकारा पा जाते हैं ॥ ९२ ॥

तथा हि—'आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—हे पाण्डुपुत्र वारिणा च अन्तरात्मा न शुद्ध्यति अत आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दया ऊर्मिः (अस्ति) तत्र अभिषेकं कुरु ॥

महाभारते भीष्मपितामहेनैवमुक्तम्—हे पाण्डुपुत्र = हे युधिष्ठिर ! वारिणा= जलस्नानेन । आत्मानदी = आत्मा एव नदी । संयमपुण्यतीर्था = सर्वेन्द्रियाणाम् वशित्वमेव पवित्रं तीर्थस्थानं यस्याः सा । सत्योदका=सत्यमेव उदकम् यस्याः सा । शीलतटा=सदाचारस्वभाव एव तटं यस्याः सा । दयोर्मिः=दया भूतदया एव ऊर्मिः यस्याः सा । अभिषेकम्=स्नानम् । मनोनिरोध एव आत्मशुद्धेः कारणम् इत्यर्थः ॥ ९ ॥

जैसा कि—(भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा था—)

यह आत्मा ही नदी है संयम ही पवित्र तीर्थ स्थान है सत्य ही जल है शील ही किनारा है दया ही लहरें हैं। अतः हे युधिष्ठिर ! इसी आत्मारूपी नदी में स्नान कीजिए इस अन्तरात्मा पवित्र होता यह केवल जल से नहीं शुद्ध होता ॥

विशेषतश्च—'जन्म-मृत्यु जरा व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम् ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम्' ॥ ९४ ॥

अन्वयः—जन्म-मृत्यु···· ·· उत्पन्नम् इमम् असारम् संसारम् त्यजतः सुखम् ॥ ९४ ॥

जरा=वृद्धावस्था । व्याधिः=रोग । उपद्रुतम्=परिप्लुतम् । असारम्=निस्तत्त्वम् । असारसंसारपरित्याग एव सुखम् इत्यर्थः ॥ ९४ ॥

विशेष करके—

जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, पीडा आदि से भरे हुए इस तत्त्वरहित संसार का परित्याग करना ही सुख है ॥ ९४ ॥

यतः—'दुःखमेवास्ति, न सुखं, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(अस्मिन् संसारे) दुःखमेव अस्ति, सुखं नास्ति यस्मात् तत् (एव) उपलक्ष्यते । दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ॥ ९५ ॥

यस्मिन् संसारे । सुखं न=सुखात्मकं किञ्चिदपि नास्ति । यस्मात्=यतः । तत्=दुःखमेव । उपलक्ष्यते=दृश्यते । दुःखार्तस्य=दुःखं पीडितस्य । प्रतीकारे=दुःखापनयनप्रयत्ने ॥ ९५ ॥

क्योंकि—

इस संसार में सचमुच दुःख है सुख कहीं भी नहीं है इसीलिए दुःख ही दिखाई देता है । किन्तु दुःख से पीडित के दुःखों से छुटकारा पाने के प्रयत्न को ही लोग सुख नाम से पुकारते हैं ॥ ९५ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव' । ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन शप्तो, यद्–'अद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि'–इति । कपिलो ब्रूते 'सम्प्रत्युपदेशासहिष्णुर्भवान्, शोकाविष्टं ते हृदयम् । तथापि कार्यं शृणु'—

एवमेव=सत्यमेव । तेन=ब्राह्मणेन । शोकाकुलेन=शोकव्याकुलेन । असहिष्णुः=ग्रहणे अशक्तः । शोकाविष्टम्=शोकाभिभूतम् । हृदयम्=चित्तम् ।

कौण्डिन्य ने कहा—हाँ आपका कहना बिल्कुल ठीक है। तभी कहा कि इसी शोक से व्याकुल कौण्डिन्य ब्राह्मण ने मुझे शाप दिया कि तुम आज से मेढकों का वाहन बनोगे। तब कपिल ने कहा— इस समय उपदेश ग्रहण करने में तुम असमर्थ हो। तुम्हारा हृदय शोक से भरा हुआ है फिर भी कर्तव्य कर्म सुनो—

'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः, सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः (किन्तु) चेत् स त्यक्तुं न शक्यते (तर्हि) स सद्भिः सह कर्तव्यः (यतः) सतां सङ्गः हि भेषजम् ॥ ९६ ॥

सङ्गः = सम्बन्ध। चेत् = यदि। त्यक्तुं न शक्यते = त्यागा न जाय। सद्भिः = सज्जनों सह सम्बन्ध। कर्तव्यः = करणीय। सतां सङ्गः = सत्समागम। भेषजम् = शोकव्याधि औषधम् ॥ ९६ ॥

इस संसार में सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि यह पूर्णत छोड़ा न जा सके तो सज्जनों के साथ करना चाहिए क्योंकि सांसारिक रोगों की एकमात्र दवा सज्जनों का सहवास है ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—'कामः सर्वात्मना हेयः स चेद्धातुं न शक्यते ।
स्वभार्यां प्रति कर्तव्यः, सैव तस्य हि भेषजम् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—कामः ... भेषजम् ॥ ९७ ॥

कामः = विषयेच्छा। हेयः = परित्याज्य। हातुं न शक्यते। स्वभार्यां प्रति = स्वपत्नीम् प्रति। तस्य = कामोपशमस्य। भेषजम् = औषधम् ॥ ९७ ॥

कामवासना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि यह पूर्णत छोड़ी न जा सके तो उसे अपनी पत्नी तक ही सीमित रखनी चाहिए क्योंकि वही वासना तृप्ति की एक मात्र औषधि है ॥ ९७ ॥

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः कपिलोपदेशामृतप्रशान्तशोकानलो यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान्। अतो 'ब्राह्मणशापान्मण्डूकान्वोढुं मम तिष्ठामि'। अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽग्रे तत्कथितम्। ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य सर्पस्य पृष्ठमारूढवान्। स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रमं बभ्राम।

उपदेशामृतप्रशान्तशोकानल = उपदेश एव अमृत पीयूषम् तेन प्रशान्त-मन्दीभूत शोक एव अनल अग्नि यस्य स । यथाविधि = यथाशास्त्रम् । दण्ड-ग्रहणम्=सन्यासग्रहणम् । मण्डूकान्=भेकान् । वोढुम्=वहनाय । अत्र = तटाकस्य तटे । पृष्ठमारूढवान्=पृष्ठोपरि आरुरोह । तम्=जालपादम् मण्डूकनाथम् । पृष्ठे कृत्वा=पृष्ठोपरि आरोप्य । चित्रपदक्रमम्=विचित्राभि गतिभि ।

यह सुनकर, कपिल के उपदेशरूपी अमृत से कौण्डन्य का शोकाग्नि शांत हो गई और उसने विधिपूर्वक सन्यास ले लिया । इसलिए ब्राह्मण के शाप से मेढको को ढोने के लिए मैं यहाँ पड़ा हूँ । इसके पश्चात् उस मेढक ने जाकर यह सारी बातें मण्डूकों के राजा जालपाद से कह सुनायी । तब वह मेढको का राजा वहाँ आकर साँप की पीठ पर चढ गया और वह साँप उसे पीठ पर लेकर विचित्र गति से उसे इधर-उधर घुमाने लगा ।

परेद्युश्चलितुमसमर्थं त मण्डूकनाथोऽवदत्-'किमद्य भवान्मन्दगतिः ?' सर्पो ब्रूत-'देव ! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि ।

परेद्यु =द्वितीय दिने । चलितुमसमर्थम्=गन्तुमक्षमम् । त=मेढकम् । अवदत् = अगदत् । आहारविरहात् = भोजनाभावात् । असमर्थोऽस्मि = गन्तुमशक्तोऽस्मि ।

दूसरे दिन साँप को चलने म असमर्थ देखकर मण्डूकराज ने कहा—'आज आप धीरे धीरे क्यो चल रहे है ।' साँप ने कहा—राजन्, भोजन न मिलने के कारण असमर्थ हो गया हूँ ।

मण्डूकनाथोऽवदत्-'अस्मादाज्ञया मण्डूकान्भक्षय ।' ततः 'गृहीतोऽय महाप्रसादः' इत्युक्त्वा, क्रमशो मण्डूकान् खादितवान् । अथ निर्मण्डूक सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रून्' इत्यादि ।

गृहीत =स्वीकृत । अय महाप्रसाद = महानुग्रह । निर्मण्डूकम् = मण्डूकेन रहितम् । सरो विलोक्य=तटाकम् दृष्ट्वा तेन=सर्पेण । खादित =भक्षित ।

मण्डूकराज ने कहा—हमारी आज्ञा से मेढको को खाया करो । तब 'आपकी यह कृपा स्वीकार है' ऐसा कह कर वह मेढको को खाने लगा और जब तालाब मेढको से रहित हो गया तो उसने मण्डूकराज को भी खा डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'शत्रु को भी कंधे पर धारण करना चाहिए' इत्यादि ।

'देव ! यात्विदानीं पुरावृत्ताख्यानकथनं, सर्वथा सन्धेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता'मिति मे मतिः । राजोवाच—'कोऽयं

भवतो विचारः ? यतो जितस्तावदयमस्माभिः । ततो यद्यस्मत्सेवया वसति, तदास्ताम् नो चेद्विगृह्यताम्' ।

सम्प्रति = इदानीम् = इस समय तावत् । पुनरयुक्तम्यावचनम् = पूर्वोक्तविरुद्ध-वचनम् । मे मति = मम बुद्धिः । जितः = स्वाधीनीकृतः । सेवया = दासेन । आस्ताम् = स्वभूमौ तिष्ठतु । विगृह्यताम् ।

राजन् अब पुराना कथाओं का कहना निष्प्रयोजन है अतः संधि करने योग्य राजा हिरण्यगर्भ से संधि करना ही उचित है यही मेरी राय है । राजा चित्रवर्ण ने कहा—यह तुम्हारा कैसा विचार है ? क्योंकि हम लोगों ने उसे पराजित कर दिया है इसलिए यदि वह हमारी अधीनता में रहना चाहे तो अपने देश में रह सकता है नहीं तो उससे लड़ना ही चाहिए ।

अत्रान्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्—'देव ! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्यावतिष्ठते । राजा ससम्भ्रमं ब्रूते— किं किम् ? । शुकः पूर्वोक्तं कथयति ।

गृध्रः स्वगतमुवाच—'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् ! साधु !' राजा सकोपमाह— आस्तां तावदयं, गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि । दूरदर्शी विहस्याह—

सम्प्रति = इदानीम् । आक्रम्य = स्वाधीनतया परिवृत्य । ससम्भ्रमम् = साश्चर्यम् । तमेव = सारसमेव । उन्मूलयामि = विनाशयामि ।

इसी बीच जम्बूद्वीप से आकर शुक ने कहा 'राजन् सिंहलद्वीप के राजा सारस ने इस समय जम्बूद्वीप पर चढ़ाई करके घेर लिया है ।' राजा चित्रवर्ण घबड़ा कर बोल उठा—क्या कहा ? । शुक ने पहिले कही हुई बात फिर दुहरा दी ।

गृध्र ने मन ही मन कहा—मंत्री चक्रवाक तुम धन्य हो और तुमने अच्छा किया । राजा ने क्रोध से कहा— अब यहाँ की सारी बातें छोड़ो अब वहाँ चलकर मैं पहिले उसे जड़मूल से नष्ट कर डालूँगा । तब मन्त्री दूरदर्शी ने हँस कर कहा—

न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम् ।
परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—(नृपेण) शरन्मेघवत् वृथैव घनगर्जितम् न कार्यम् । महान् परस्य अर्थम् अनर्थम् वा न प्रकाशयति ॥ ९८ ॥

। शरन्मेघवत् = शरत्कालस्य पयोदवत् । वृथैव = निरर्थकम् । घनगर्जितम् = ... इव स्वकार्यस्य प्रकाशः । न कार्यम् = न करणीयम् । महान् = उदारा-

पाय । परस्य=शत्रोरपि । अर्थमनर्थम्=उचितानुचितम् । न प्रकाशयति=स्व- मुखेन न कथयति ॥ ९८ ॥

शरद् ऋतु के बादल के समान व्यर्थ गरजना नहीं चाहिए अर्थात् व्यर्थ ही डींग नहीं हाँकनी चाहिए। बड़े लोग दूसरों का जो कुछ भी भला बुरा करते हैं उसे अपने मुँह से नहीं कह सुनाते हैं ॥ ९८ ॥

अपरञ्च—'एकदा न विगृह्णीयाद्बहून् राजाभिघातिनः।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्' ॥ ९९ ॥

अन्वयः—राजा एकदा बहून् अभिघातिन न विगृह्णीयात् बहुभि कीटैः सदर्प अपि उरग ध्रुवम् नाश्यते ॥ ९९ ॥

एकदा=एकस्मिन् एव काले। अभिघातिनः=आक्रामकान् शत्रून्। न विगृह्णीयात्=न युध्येत्। कीटै=कृमिभि। सदर्प=सगर्व। उरग=सर्प। ध्रुवम्=निश्चितम् ॥ ९९ ॥

एक ही साथ प्रहार करने वाले बहुत से शत्रुओं के साथ राजा को कभी नहीं लड़ना चाहिए। क्योंकि बहुत से कीड़े-मकोड़ों के द्वारा अत्यन्त अभिमानी साँप भी मारा जाता है ॥ ९९ ॥

'देव ! किमितो विना सन्धान गमनमस्ति ?। यतस्तदास्माकं पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्यः।

इत=अस्मात् स्थानात्। सन्धानम् विना=विना सन्धिम्। पश्चात्=पृष्ठत। प्रकोप=आक्रमणम्।

राजन्, क्या यहाँ से सधि किए बिना ही जाना उचित है? क्योंकि यह पीछे से हम लोगों पर आक्रमण कर देगा। और भी—

अपरञ्च—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद्यथा' ॥ १०० ॥

अन्वयः—य अर्थतत्त्वम् अविज्ञाय क्रोधस्य एव वश गत स मूढ तथा तप्यते यथा नकुलात् ब्राह्मण (ततोऽभवत्) ॥ १०० ॥

य=पुरुष। अर्थतत्त्वम्=वस्तुस्थितिम्। अविज्ञाय=अविचार्य। क्रोधस्य वश गत=क्रुद्धपति। स मूढ=स मूर्ख। तप्यते=मनस्ताप प्राप्नोति। नकुलात् ब्राह्मण=यथा ब्राह्मण अज्ञानात् नकुलं हत्वा दु:खितोऽभवत ॥ १०० ॥

जो किसी विषय के तत्त्व को जाने बिना पहले ही क्रोध के वशीभूत हो जाता है वह मूर्ख नेवले को मार कर ब्राह्मण के समान ही दुःखी होता है॥

राजाह—'कथमेतत्?'। दूरदर्शी कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे? दूरदर्शी ने कहा—

कथा ११

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः। तस्य ब्राह्मणी प्रसूता (सा) बालापत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य, स्नातुं गता। अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम्। तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणोऽपि सहजदारिद्र्यादचिन्तयत्—यदि सत्वरं न गच्छामि, तदान्यः कश्चिच्छ्रुत्वा श्राद्धं ग्रहीष्यति। यतः—

विप्रः=ब्राह्मणः। प्रसूता=जातपुत्रा। बालापत्यस्य=शिशोः। रक्षार्थम्=रक्षणाय। ब्राह्मणमवस्थाप्य=स्थापयित्वा तत्र नियोज्य। पार्वणश्राद्धं दातुम्=श्राद्धदक्षिणादानाय। आह्वानमागतम्=आमन्त्रणं प्राप्तम्। सहजदारिद्र्यात्=स्वाभाविकदरिद्रत्वात्। अचिन्तयत्=अविचारयत्। सत्वरम्=शीघ्रम्। अन्यः कश्चित्=कश्चिदन्यः ब्राह्मणः। श्राद्धम्=श्राद्धदक्षिणाम्॥

उज्जयिनी में माधव नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी को बच्चा हुआ। वह पुत्र की रक्षा करने के लिए वहाँ ब्राह्मण को बिठा कर स्नान करने चली गयी। इसी बीच श्राद्ध का दान लेने के लिए राजा के यहाँ से उस ब्राह्मण को बुलावा आया। यह सुनकर स्वभाव से ही दरिद्र ब्राह्मण ने विचार किया कि यदि शीघ्र ही न जाऊँगा तो कोई दूसरा ब्राह्मण आकर उसे ले लेगा। क्योंकि—

'आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥ १०१॥

अन्वयः—आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य कर्मणः च क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य कालः तत् रसम् पिबति॥ १ १॥

आदेयस्य=ग्रहणयोग्यस्य। प्रदेयस्य=दानस्य, कर्तव्यस्य कर्मणः=करणीयस्य कार्यस्य। क्षिप्रम्=शीघ्रम्। अक्रियमाणस्य=न कृतस्य। कालः=समयः। तद्रसम्=तत्तत्त्वम्। पिबति=पानं करोति विनाशयतीति भावः॥ १ १॥

लेने देने तथा करने योग्य काम करने में शीघ्रता न करने के कारण समय उसके रस को पी जाता है अर्थात् उचित समय के बीत जाने पर काम बिगड़ जाता है॥ १ १॥

किन्तु बालकस्यात्र रक्षको नास्ति । तत्किं करोमि ? । यातु । चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि । तथा कृत्वा गतः । ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा, भक्षितश्च । ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य, रक्तविलिप्तमुखपादः, सत्वरमुपगम्य, तच्चरणयोर्लुलोठ । ततः स विप्रस्तथाविधं त दृष्ट्वा 'मम बालकोऽनेन खादित' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान् । अनन्तरं यावदुपसृत्यापत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति । ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः परं विषादमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय'—इत्यादि ॥

चिरकालात् पालितम्=बहुदिनात् रक्षितम् । पुत्रनिर्विशेषम् = पुत्रतुल्यम् । बालकरक्षायाम्=शिशुरक्षणार्थम् । व्यवस्थाप्य=नियोज्य । आयान्तम् = आगच्छन्तम् । रक्तविलुप्तमुखपाद =रक्तरञ्जितमुखचरण । सत्वरमुपगम्य=शीघ्रमेव गत्वा । तथाविधम् = रक्तरञ्जितमुखचरणम् । अवधार्य = निश्चित्य । उपसृत्य=समीप गत्वा । अपत्यं = बालकम् । सुस्थ = निश्चिन्त । निरीक्ष्य = विचार्य । भावितचेता =भावपूर्णहृदय , खिन्न इत्यर्थ । विषादमगमत्=दु खितोऽभूत् ।

किन्तु यहाँ बालक की रखवाली करने वाला कोई नही है । तो क्या करूँ ? अच्छा, तो पुत्र के समान ही बहुत दिनो से पाले पोसे गये इस नेवले को ही बालक की रक्षा मे नियुक्त करके चला जाऊँ । ऐसा करके वह चला गया । इसके बाद उस नेवले ने बालक के पास आते हुए एक काले साँप को देखा और क्रोध मे आकर उसे मार डाला तथा टुकडे टुकडे करके खा डाला । फिर नेवला ब्राह्मण को आते हुए देख कर रक्त में सने हुए मुँह तथा पजो को लिए हुए उसके चरणो पर लोटने लगा । उस ब्राह्मण ने नेवले को इस प्रकार देख कर यह निश्चय कर लिया कि इसने मेरे बच्चे को मार डाला है अत उसने नेवले को भी मार डाला । इसके पश्चात् उसने घर मे जाकर देखा तो बालक सकुशल सोया है और साँप मरा हुआ पडा है तब वह ब्राह्मण अपने प्रति उपकार करने वाले उस नेवले को देखकर अनेक भावनाओ से पूर्ण होकर अत्यन्त दु खी हुआ । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो तत्त्व को समझे विना इत्यादि ।'

अपरञ्च—'कामः, क्रोधस्तथा मोहो, लोभो, मानो, मदस्तथा ।
... सुखी नृपः' ॥ १०२ ॥

अन्वयः—काम [illegible] षड्वर्गम् एतम् उत्सृजेत् अस्मिन् त्यक्ते नृपः सुखी भवेत् ॥ १ २ ॥

मान = गर्व । षड्वर्गम् = कामादिरिपुषड्वर्गम् । उत्सृजेत् = परित्यजेत् । अस्मिन्—कामादिषट्के । १ २ ॥

और भी—राजा को चाहिए कि वह काम क्रोध लोभ मोह मान तथा मद—इन छः शत्रुओं का परित्याग करे क्योंकि इसे छोड़ने पर ही वह सुखी हो सकता है । १ २ ॥

राजाह—'मन्त्रिन् ! [illegible] गिरिधर [illegible] । मन्त्री ब्रूते—'एवमेव । यतः—

[illegible] कहा [illegible] तुम्हारा क्या निश्चय है ? मन्त्री ने कहा [illegible] यह क्योंकि—

'स्मृतिस्तत्परतार्थेषु, वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च, मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—अर्थेषु तत्परता स्मृतिः वितर्कः ज्ञाननिश्चयः दृढता मन्त्रगुप्तिः च मन्त्रिणः परमः गुणः अस्ति ॥ १ ३ ॥

अर्थेषु—कर्तव्येषु । तत्परता—तत्सम्पादने एकचित्तता । स्मृतिः—स्मरण [illegible] । वितर्कः—[illegible] ऊहापोह । ज्ञाननिश्चय—दृढज्ञानम् । दृढता [illegible] [illegible] गुप्तिः [illegible] ॥ १ ३ ॥

स्मरण शक्ति कार्य में तल्लीनता किसी विषय का पूर्व विमर्श करना ज्ञान का निश्चय दृढ़ता और मन्त्रणा को छिपाना—यह सब मन्त्रियों के सब गुण होते हैं ॥ १ ३ ॥

तथा च—'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' ॥

अन्वयः—सहसा क्रियाम् न विदधीत अविवेकः परम् आपदाम् पदम्, गुणलुब्धाः सम्पदः स्वयमेव विमृश्य कारिणम् वृणुते हि ॥ १ ४ ॥

सहसा—अतर्कितं अविचार्य । क्रियाम् = कार्यम् । न विदधीत = न कुर्यात् । अविवेकः—अविचार । परमापदाम्—उत्कृष्टानाम् विपदाम् । पदम् = स्थानम् । गुणलुब्धाः—गुणप्रियाः [illegible] विमृश्य [illegible] कारिणम् = विचिन्त्य कार्यकारिणम् । सम्पदः—[illegible] । वृणुते—[illegible] ॥ १ ४ ॥

और भी—किसी काम को विना विचारे नहीं करना चाहिए क्योंकि अविचार ही बहुत बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। गुणों को चाहने वाली सम्पत्तियाँ विवेकी पुरुषों को स्वयम् ग्रहण करती हैं ॥ १०४ ॥

तद्देव ! यदीदानीमस्मद्वचनं क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम्'। यतः—

इसलिए हे राजन्, यदि आप इस समय हमारी बात मानें तो सन्धि करके यहाँ से चले चलिए। क्योंकि—

'यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने।
संख्यामात्रं फलं तेषां, सिद्धिः सामिन व्यवस्थिता' ॥१०५॥

अन्वयः—यद्यपि साध्यसाधने चत्वार उपाया निर्दिष्टा किन्तु तेषाम् सख्यामात्रम् फलम् सिद्धि साम्नि व्यवस्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि साध्यसाधने=कर्तव्यसाधने। चत्वार उपाया=सामदामदण्डभेदा। निर्दिष्टा=निहिता। तथापि तेषाम्=उपायानाम्। सख्यामात्रम् फलम्=सख्यापूर्ति एव परिणाम। वस्तुत सिद्धि=कर्तव्यपूर्ति। साम्नि=सामाख्ये उपाये। व्यवस्थिता=स्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि कार्यसिद्धि के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद—नाम के चार उपाय बताए गए हैं किन्तु उनमे तीन की गणना तो सख्या पूरी करने के लिए ही है। वास्तव में कार्य की सिद्धि तो 'साम' से ही होती है ॥ १०५ ॥

राजाह—'कथमेव सत्वर सम्भाव्यते'?। मन्त्री ब्रूते—'देव ! सत्वर भविष्यति'। यतः—

राजा ने कहा—तो यह सधि इतनी जल्दी कैसे हो सकती है?, मत्री ने कहा—'राजन्, शीघ्र ही होगी।' क्योंकि—

'मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः' ॥ १०६ ॥

अन्वयः—दुर्जन मृद्घटवत् सुखभेद्य दु सन्धान च भवति किन्तु सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्य आशु सन्धेय च भवति ॥ १०६ ॥

दुर्जन=दुष्ट। मृद्घटवत्=मृत्कलशवत्। सुखभेद्य=सारल्येन भेदनीय। दु सन्धान=काठिन्येन संधेय। सुजन=सज्जन। कनकघटवत्=सुवर्णकलशवत्। दुर्भेद्य=कठिनतया भेदनीय। आशु=शीघ्रमेव। सन्धेय=संधियोग्य ॥१०६॥

जैसे मिट्टी का घड़ा आसानी से टूट सकता है किन्तु कठिनाई से जोड़ा जा सकता है उसी प्रकार दुष्टों की सन्धि मुश्किल से होती है किन्तु होकर भी वह आसानी से टूट जाती है और जैसे सोने का घड़ा कठिनाई से टूट सकता है किन्तु आसानी से जोड़ा जा सकता है उसी प्रकार सज्जनों की सन्धि सरलता से होती है जिसका टूटना बहुत कठिन होता है ॥ १०६ ॥

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अज्ञः सुखम् आराध्यः विशेषज्ञः सुखतरमाराध्यते ज्ञानलवदुर्विदग्धम् तम् नरम् ब्रह्मापि न रञ्जयति ॥ १०७ ॥

अज्ञः—मूर्खः । सुखम्=आयासेन । आराध्यः—स्वानुकूलयः । विशेषज्ञः—विद्वान् । सुखतरम्—शीघ्रं । आराध्यते—अनुकूलयितुम् शक्यते । ज्ञानलवदुर्विदग्धम्—स्वल्पज्ञानेऽभिमानिनम् । ब्रह्मापि—प्रजापतिरपि । तं नरं—तं मनुष्यं । न रञ्जयति—अनुकूलयितुं न शक्नोति ॥ १०७ ॥

मूर्ख को सरलता से वश में किया जा सकता है विद्वान् को और भी सरलता से अपने अनुकूल बनाया जा सकता है किन्तु थोड़े से ज्ञान पर अभिमान करने वाले व्यक्ति को ब्रह्मा भी नहीं प्रसन्न कर सकते हैं ॥ १०७ ॥

विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसन्दर्शनाच्च । यतः—

विशेषकर यह राजा अत्यन्त धार्मिक और मंत्री बड़ा ज्ञानी है । यह मैंने मेघवर्ण के वचनों और उनके कार्यों को देखकर पहिले ही समझ लिया था । क्योंकि—

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्ष-गुण-वृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुमाप्यते ॥ १०८ ॥

अन्वयः—परोक्षगुणवृत्तयः सर्वत्र कर्मानुमेयाः तस्मात् परोक्षवृत्तीनाम् कर्म फलैः अनुमाप्यते ॥ १०८ ॥

परोक्षगुणवृत्तयः—अप्रत्यक्षगुणव्यापाराः । कर्मानुमेयाः—कर्मणैव अनुमेयाः । परोक्षवृत्तीनाम्—अप्रत्यक्षव्यापाराणाम् । कर्म—चरित्रम् । फलैः—परिणामैः । अनुमाप्यते—ज्ञायते ॥ १०८ ॥

आँखों से ओझल रहने वाले मनुष्य के गुण और स्वभाव उसके कार्यों द्वारा ही जाने जाते हैं । इसलिए परोक्ष-वृत्तियों वाले मनुष्यों के कार्य उनके फल द्वारा ही अनुमान किए जाते हैं ॥ १०८ ॥

राजाह–'अलमुत्तरोत्तरेण, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्' । एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री–'तत्र यथार्हं कर्त्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गाभ्यन्तरं चलितः । ततः प्रणिधिबकेनागत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितं–'देव ! सन्धिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति' । राजहंसो ब्रूते–'मन्त्रिन् ! पुनरभिसन्धिना केनचिदत्रागमनम् ?' । सर्वज्ञो विहस्याह–'देव ! न शङ्कास्पदमेतत् । यतोऽसौ महाशयो, दूरदर्शी ! अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्, कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का ? ।

तथा हि—

अलम्=निष्प्रयोजनम् । उत्तरोत्तरेण=वादविवादेन । अभिप्रेतम् = रुचितम् । अनुष्ठीयताम्=क्रियताम् । तत्र=सन्धिविधाने । यथार्हम् = यथोचितम् । अभिसन्धिना=कपटेन । शङ्कास्पदम्=शकायोग्य । महाशय = उदारहृदय । मन्दमतीनाम्=अविवेकिनाम् । स्थिति =प्रकृतिः ।

राजा ने कहा—यह वाद-विवाद व्यर्थ है इसलिए आपको जैसा अच्छा लगे वैसा ही कीजिए । यह सलाह करके महामन्त्री गृद्ध ने कहा—'इस विषय मे जैसा उचित होगा वैसा ही किया जायगा' ऐसा कह कर वह किले के भीतर चला गया । तब गुप्तचर बगुले ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से निवेदन किया कि राजन्, 'महामन्त्री गृद्ध हमलोगो के पास संधि करने के लिए आ रहे हैं ।' राजहंस ने कहा कि 'मन्त्रिन्, यह दुष्ट गृद्ध किसी छल की भावना से आता होगा ?' सर्वज्ञ ने हँस कर कहा—'राजन् यहाँ शंका करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि मन्त्री गृद्ध अत्यन्त उदार स्वभाव का है । और मन्दबुद्धि वालो की स्थिति ही यही होती है, कभी तो वह शंका ही नही करते और कभी सब जगह शंका करने लगते हैं । जैसा कि—

'सरसि बहुशस्ताराच्छायेक्षणात्परिवञ्चितः,
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं,
कुहुकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते' ॥ १०९ ॥

अन्वयः—निशासु कुमुदविटपान्वेषी अविचक्षण हंस सरसि ताराच्छायेक्षणात् बहुश परिवञ्चित दिवापि ताराशङ्की पुन सितोत्पलम् न दशति (तथैव) कुहुकचकित लोक सत्ये अपि अपायम् अपेक्षते ॥ १०९ ॥

निशासु = रात्रौ। कुमुदविटपान्वेषी = कुमुदवनान्वेषणपरः। बालिशः = बुद्धिरहितः। हंसः = मरालः। सरसि = तडागे। ताराच्छायेक्षणात् = तारकाप्रतिबिम्बदर्शनात्। बहुशः = अनेकधा। परिवञ्चितः = वञ्चितः सन्। दिवापि = दिवसेऽपि। ताराशङ्की = तारकापदशङ्कितः सन् हंसः। पुनः = भूयः। सितोत्पलम् = सितकमलम्। न दशति = न भुङ्क्ते। कुहकचकितः = कपटव्यवहारेण चकितः। लोकः = जनः। सत्येऽपि = सत्ये विषयेऽपि। अपायम् = विघ्नम्। शङ्कते = आशङ्कते॥

रात्रि के समय कुमुदनी की खोज करने वाला हंस तालाब में बहुत से तारों की छाया देख कर धोखा खा जाता है अर्थात् उन्हें कुमुद समझ कर बार-बार उसके पास जाता और निराश हो जाता है किन्तु वही तारों की शंका से डरा हुआ राजहंस दिन में सफेद कमल को भी नहीं भक्षण करता क्योंकि कपट व्यवहारों से धोखा खाए हुए लोग सच्ची वस्तु में भी अनिष्ट की शंका करते हैं॥

'दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति' ॥ ११० ॥

अन्वयः—दुर्जनदूषितमनसः विश्वासः सुजनेष्वपि नास्ति (यथा) पायसदग्धः बालः दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ ११ ॥

दुर्जनदूषितमनसः = दुष्टेन परिवञ्चितस्य। विश्वासः = प्रत्ययः। सुजनेष्वपि = सज्जनेष्वपि। पायसदग्धः = दुग्धविदग्धजिह्वकः। बालः = बालकः। फूत्कृत्य = फूत्कारम्। भक्षयति = अत्ति ॥ ११ ॥

जिनका हृदय दुष्टों के व्यवहार से दूषित हो जाता है वे सज्जनों के व्यवहार पर भी विश्वास नहीं करते। दूध का (खीर का) जला हुआ बालक दही को भी फूंक-फूंक कर खाता है ॥ ११ ॥

तद् देव! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जी क्रियताम्। तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो, दत्तासने चोपविष्टः। चक्रवाक उवाच—मन्त्रिन्! युष्मदायत्तं सर्वं, स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्। राजहंसो ब्रूते—एवमेव। दूरदर्शी कथयति—एवमेवैतत् किन्त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम्। यतः—

तत्पूजार्थम् = मन्त्रिसत्कारार्थम्। उपगम्य = समीपमेत्य। सत्कृत्य = सत्कारं कृत्वा। बहुप्रपञ्चवचनम् = अनेकप्रकारप्रपञ्चविस्तारः। निष्प्रयोजनम् = व्यर्थम्।

इसलिए हे राजन्, उसका सत्कार करने के लिए यथाशक्ति रत्न आदि भेंट की सामग्री तैयार कराइए। इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर मंत्री चक्रवाक ने किले के द्वार पर जाकर मन्त्री गृद्ध को बडे सम्मान के साथ लाकर राजा का दर्शन कराया और गृद्ध दिए हुए आसन पर बैठ गया। चक्रवाक ने कहा—'मंत्री, यह सब कुछ अब तुम्हारे अधीन है। अत अपनी इच्छा के अनुसार इस राज्य का उपभोग कीजिए।' राजहंस ने कहा—यह बिल्कुल ठीक है? दूरदर्शी गृद्ध ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु इस समय इस प्रकार की प्रपञ्च की बातें करना व्यर्थ है। क्योंकि—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन, याथातथ्येन पण्डितम्' ॥ १११ ॥

अन्वयः—अर्थेन लुब्धम्, अञ्जलिकमणा स्तब्धम्, छन्दानुरोधेन मूर्खम्, याथातथ्येन पण्डितम् गृह्णीयात् ॥ १११ ॥

अर्थेन=धनप्रदानेन। लुब्धम्=धनाभिलाषिणम्। अञ्जलिकमणा=प्रार्थनया। स्तब्धम्=गर्वोन्मत्तम्। छन्दानुरोधेन=अनुकूलव्यवहारेण। याथातथ्येन=सत्य कथनेन, गृह्णीयात्=स्वानुकूल्यम् कुर्यात् ॥ १११ ॥

लालची को धन से, अभिमानी को हाथ जोड कर, मूर्ख को उसके अनुसार काम करके और बुद्धिमान को सच्ची बातें कह कर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए ॥ १११ ॥

अन्यच्च—**'सद्भावेन हरेन्मित्रं, सम्भ्रमेणं तु बान्धवान्।**
स्त्रीभृत्यौ दान-मानाभ्यां, दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्' ॥११२॥

अन्वयः—मित्रम् सद्भावेन, बान्धवान् तु सम्भ्रमेण स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्याम्, इतरान् जनान् दाक्षिण्येन हरेत् ॥ ११२ ॥

मित्रम्=सुहृदम्। सद्भावेन=सौहार्देन। बान्धवान्=स्वगोत्रजान्। सम्भ्रमेण=आदरातिशयेन। इतरान् जनान्=अन्यान् लोकान्। दाक्षिण्येन = आनुकूल्येन। हरेत्=अनुरञ्जयेत् ॥ ११२ ॥

और भी—सद्भाव से मित्रों को, सम्मान से बन्धुओं को, दान तथा मान से स्त्री और सेवक को और उदारता से अन्य लोगों को अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥ ११२ ॥

'तदिदानीं सन्धातु गम्यताम्। महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा।'

चक्रवाको ब्रूते—'यथा सन्धानं कार्यं, तदप्युच्यताम्'। राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकाराः सन्धीनां सम्भवन्ति'?। गृध्रो ब्रूते—कथयामि। श्रूयताम्'—

सन्धातुम्=सन्धिकरणार्थम् । सम्पताम्=चित्रवर्णमनुगम्यताम् । महाप्रसाद = महापराक्रम । यथा=येन प्रकारेण । सन्धानम् कार्यम्—सन्धि विधेय ।

इसलिए इस समय सन्धि करने के लिए राजा चित्रवर्ण के पास चलिए । चक्रवाक ने कहा— जिस प्रकार संधि करनी होती वह भी बताइए । राजहंस ने कहा— सन्धि कितने प्रकार की होती है ? गृध्र ने कहा— वह यह है सुनिये—

> 'बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।
> आपन्नः, सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—बलीयसाभियुक्तः नान्यप्रतिक्रियः आपन्नः नृपः कालयापनम् कुर्वाणः सन्धिम् अन्विच्छेत् ॥ ११३ ॥

बलीयसाभियुक्त = बलवता शत्रुणाक्रान्त । नान्यप्रतिक्रिय = नान्योपाय । आपन्न = विपत्तिमुपगत । कालयापनम्=समययापनम् । कुर्वाण=कुर्वन्निव । सन्धिम्=सन्धानम् । अन्विच्छेत्=अभिलषेत् ॥ ११३ ॥

बलवान् शत्रु से आक्रान्त होने पर जब कोई उपाय न रह जाय तो समय काटने के लिए उस विपत्ति में पड़े हुए राजा को शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए' ॥

> 'कपाल उपहारश्च सन्तानः, सङ्गतस्तथा ।
> उपन्यासः, प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ ११४ ॥
> अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मामिष, उपग्रहः ।
> परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ ११५ ॥
> स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
> इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—कपाल ... षोडशकम् सन्धिम् प्राहुः ॥ ११४-११६ ॥

कपाल उपहार सन्तान संगत उपन्यास प्रतीकार संयोग पुरुषान्तर अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रह परिक्रय उच्छिन्न परभूषण और स्कन्धोपनेय—इस प्रकार विद्वान् लोगों ने सन्धि के सोलह प्रकार बतलाए हैं ॥

> 'कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः ।
> सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते' ॥ ११७ ॥

अन्वयः—केवल समसन्धितः कपालसन्धिः विज्ञेयः य सम्प्रदानात् भवति स उपहारः उच्यते ॥ ११७ ॥

समसन्धित =समानयो वलशालिनो सन्धि । सम्प्रदानात्=धनादिप्रदानात् । उच्यते=कथ्यते ॥ ११७ ॥

समान वलवालो की आपस मे की गई सधि को कपालसन्धि और कर, उपहार आदि देकर की गई सन्धि उपहारसन्धि कही जाती है ॥ ११७ ॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
सद्भिस्तु सङ्गतः सन्धिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—दारिकादानपूर्वक (सन्धान) सन्तानसन्धि विज्ञेयः, सद्भि मैत्रीपूर्व सगत सन्धि उदाहृत ॥ ११८ ॥

दारिकादानपूर्वक =पुत्रीदानयुक्त । सद्भि =सज्जनै । मैत्रीपूर्व = मैत्रीयुक्त कृत सन्धान । उदाहृत =कथित ॥ ११८ ॥

प्रतिपक्षी को कन्या देकर जो सधि की जाती हैं उसे सन्तानसधि और सज्जनो में परस्पर मैत्रीभाव से जो संधि की जाती है उसे सगतसंधि कहते हैं ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।
सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, कारणर्यो न भिद्यते' ॥ ११९ ॥

अन्वयः—य यावदायु प्रमाण समानार्थप्रयोजन सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा कारणै यो न भिद्यते ॥ ११९ ॥

य =सगतसन्धि । यावदायु प्रमाण =समस्तायु पर्यन्त । समानार्थप्रयोजन = समानहित । सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा=सुखे दु खे वा । कारणै =कै अपि हेतुभि । न भिद्यते=भेदं न प्राप्नोति ॥ ११९ ॥

समान अर्थ और प्रयोजन होने के कारण समस्त जीवन में सम्पत्ति या विपत्ति किसी भी दशा मे अथवा किसी कारण से जो सन्धि टूटती नहीं है ॥

सङ्गतः सन्धिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
तथान्यैः सन्धिकुशलैः 'काञ्चनः' समुदाहृतः ॥ १२० ॥

अन्वयः—सुवर्णवत् प्रकृष्टत्वात् अयम् सगतः सन्धि एव अन्यै. सन्धिकुशलै काञ्चन समुदाहृत ॥ १२० ॥

सुवर्णवत् = काञ्चनवत् । प्रकृष्टत्वात्=निमलत्वात् । अ यै =अपरै । सन्धिकुशलै =सन्धिविचक्षणै । काञ्चन =काञ्चनसन्धि । उदाहृत =कथित ॥१०२॥

यह सगतसधि ही सोने के समान उत्तम होने के कारण अन्य सधिकुशल राजनीतिज्ञों द्वारा 'काञ्चनसधि' के नाम से विख्यात है ॥ १२० ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—यः आत्मकार्यस्य सिद्धिम् समुद्दिश्य क्रियेत उपन्यासकुशलैः स उपन्यासः उदाहृतः ॥ १२१ ॥

आत्मकार्यस्य—स्वार्थस्य । सिद्धिम् = सफलताम् । समुद्दिश्य = लक्षीकृत्य । उपन्यासकुशलैः—सन्धिविचक्षणैः । उदाहृतः—उक्तः ॥ १२१ ॥

अपने काम की सिद्धि की दृष्टि से जो सन्धि की जाती है उसे सन्धिचतुर लोग उपन्यास सन्धि कहते हैं ॥ १२१ ॥

'मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति' ।
इति यः क्रियते सन्धिः 'प्रतीकारः' स उच्यते ॥ १२२ ॥

अन्वयः—मया पूर्वम् अस्य उपकृतम् (अतः) एष ममापि करिष्यति इति यः सन्धिः क्रियते स प्रतीकारः उच्यते ॥ १२२ ॥

मया उपकृतम्—अहम् उपकरोमि । इति—इत्याशयेन ॥ १२२ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है यह मेरा भी करेगा इस दृष्टि से जो सन्धि की जाती है उसे प्रतीकार संधि कहते हैं ॥ १२२ ॥

'उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति' ।
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥

अन्वयः—अस्य उपकारम् करोमि एष ममापि करिष्यति रामसुग्रीवयोः इव अयम् चापि प्रतीकारः उच्यते ॥ १२३ ॥

अयं चापि—इत्यभिप्रायेण कृतः सन्धिः अपि ॥ १२३ ॥

मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, यह मेरा भी करेगा । इस प्रकार की संधि भी प्रतीकार कही जाती है जैसा राम और सुग्रीव ने किया था ॥ १२३ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।
सुसंहितप्रयाणस्तु स च संयोग उच्यते' ॥ १२४ ॥

अन्वयः—एकार्थाम् क्रियाम् सम्यगुद्दिश्य यत्र गच्छति सुसंहितप्रयाणः स संयोगः (सन्धिः) उच्यते ॥ १२४ ॥

एकार्थाम् क्रियाम्—एकप्रयोजनाम् क्रियाम् । सम्यगुद्दिश्य—पूर्णतया लक्षीकृत्य । सुसंहितप्रयाणः—सुसङ्गठिता विजिगीषवः ॥ १२४ ॥

जहाँ समान अर्थ की सिद्धि के लिए किसी क्रिया (चढ़ाई) को लक्ष्य करके अधिक संख्या में सेना लेकर चढ़ाई करने के लिए संधि की जाती है वह संयोग संधि कही जाती है ॥ १२४ ॥

'आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यता'मिति- ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धिः 'पुरुषान्तरः' ॥ १२५ ॥

अन्वयः—यस्मिन् (सन्धौ) आवयोर्योधमुख्यैः मदर्थं साध्यताम् इति पणः क्रियते=स पुरुषान्तर सन्धि (उच्यते) ॥ १२५ ॥

योधमुख्यैः =मुख्यसुभटैः । मदर्थं =मत्कार्यम् । पण =प्रतिज्ञा (शर्त) ॥

'हमारे और तुम्हारे श्रेष्ठ सैनिक आपस में मिलकर समयानुकूल सहायता देते रहें'—जहाँ इस प्रकार का निश्चय करके संधि की जाती है, वह पुरुषान्तर संधि कही जाती है ॥ १२५ ॥

'त्वयैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसा'विति- ।
-यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सो'ऽदृष्टपुरुषः' स्मृतः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—यत्र शत्रुः 'एकेन त्वया मदीयः असौ अर्थः सम्प्रसाध्यः' इति पणम् कुर्यात् सः अदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १२६ ॥

एकेन त्वया=एकाकिना त्वया । मदीयः =मत्सम्बन्धी । अर्थः =प्रयोजकम् । पणम्=प्रतिज्ञाम् ॥ १२६ ॥

'तुम्हें अकेले ही मेरे काम को पूरा करना होगा'—जहाँ शत्रु इस प्रकार की शर्त रख कर संधि करता है उसे अदृष्ट-पुरुष संधि कहते हैं ॥ १२६ ॥

'यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः ।
सन्धीयते सन्धिविद्भिः, स चादिष्ट उदाहृतः' ॥ १२७ ॥

अन्वयः—यत्र भूम्येकदेशेन पणेन ऊर्जितः रिपुः सन्धीयते सन्धिविद्भिः सः आदिष्टः उदाहृतः ॥ १२७ ॥

यत्र=यस्मिन् सन्धौ । भूम्येकदेशेन=भूम्येकभागेन । पणेन = प्रतिज्ञया । ऊर्जितः =बलिष्ठः । रिपुः =शत्रुः ॥ १२७ ॥

जिस संधि में राज्य का एक भाग देकर बलवान् शत्रु से संधि की जाती है उसे सन्धि के ज्ञाता आदिष्ट संधि के नाम से पुकारते हैं ॥ १२७ ॥

'स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२८ ॥

अन्वयः—स्वसैन्येन सन्धानम् आत्मादिष्टः उदाहृतः प्राणरक्षार्थम् सर्वदानात् (यः सन्धिः) क्रियते स उपग्रहः (कथ्यते) ॥ १२८ ॥

स्वसैन्येन—स्वसैन्यप्रदानेन । प्राणरक्षार्थम्—प्राणरक्षणाय । सर्वदानात्—राज्यादिसर्वप्रदानात् ॥ १२८ ॥

अपनी सेना देकर जो सन्धि की जाती है उसे आत्मादिष्ट सन्धि तथा अपने प्राणों की रक्षा के लिए सब कुछ देकर जो सन्धि की जाती है उसे उपग्रह सन्धि कहते हैं ॥ १२८ ॥

'कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः ।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थम् कोशांशेन अर्धकोशेन सर्वकोशेन वा (यः सन्धिः क्रियते सः) परिक्रयः उदाहृतः ॥ १२९ ॥

शिष्टस्य—अवशिष्टस्य राज्यस्य । प्रतिरक्षार्थम्—रक्षणाय । कोशांशेन—कोशैकभागप्रदानेन अर्धकोशेन—कोशार्धभागेन । उदाहृतः—कथितः ॥ १२९ ॥

बचे हुए राज्य की रक्षा के लिए खजाने का थोड़ा, आधा अथवा पूरा खजाना देकर जो सन्धि की जाती है उसे परिक्रय सन्धि कहते हैं ॥ १२९ ॥

'भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परिभूषणः' ॥ १३० ॥

अन्वयः—सारवतीनां भुवाम् दानात् 'उच्छिन्नः' (तथा) सर्वेण भूम्युत्थफलदानेन 'परिभूषणः' उच्यते ॥ १३० ॥

सारवतीनाम्—रत्नकाञ्चनादिपूर्णानाम् । भुवाम्—पृथ्वीनाम् । दानात्—प्रदानात् । सर्वेण—पूर्णेन भूम्युत्थफलदानेन—भूम्युत्पन्नफलप्रदानेन ॥ १३० ॥

रत्न-सुवर्ण आदि से परिपूर्ण पृथ्वी को देकर जो की जाने वाली सन्धि उच्छिन्न और भूमि से उत्पन्न सभी फलों को देकर की जाने वाली सन्धि 'परिभूषण' कही जाती है ॥ १३० ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—यत्र प्रतिस्कन्धेन परिच्छिन्नं फलं दीयते सन्धिविचक्षणाः तं सन्धिम् स्कन्धोपनेयम् प्राहुः ॥ १३१ ॥

यत्र=यस्मिन् सन्धौ। प्रतिस्कन्धेन=टहुलादीन (कई किस्तों में) परिच्छिन्नम्=परिमितम्। फलम्=धान्यादिकम्। सन्धिविचक्षणा=सन्धिकुशला ॥

जहाँ कई किस्तो मे निश्चित धान्यादि देकर सन्धि की जाती है, उसे सन्धि-कुशल लोग 'स्कन्धोपनेय' सन्धि कहते हैं ॥ १३१ ॥

'परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः' ॥ १३२ ॥

अन्वयः—परस्परोपकार, मैत्री, सम्बन्धक तथा उपहारश्च, चत्वारः चैव सन्धय विज्ञेया ॥ १३२ ॥

परस्परोपकार=अन्योन्यमुपकार। मैत्री=मित्रता। सम्बन्धक=विवाहादि-सम्बन्ध। उपहार=धनादिप्रदानम् ॥ १३२ ॥

परस्पर उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और उपहार यही चार सन्धियाँ कही जाती हैं ॥ १३२ ॥

'एक एवोपहारस्तु सन्धिरेव मतो मम।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिताः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मम मत एक उपहार एव सन्धि एव, मैत्रविवर्जिता सर्वे उपहारविभेदा ॥ १३३ ॥

मैत्रीसन्धिभिन्ना अन्य त्रय सन्धय उपहारसन्धे भेदा सन्ति ॥ १३३ ॥

मेरे विचार से एक उपहार ही सन्धि है, मैत्री को छोड कर और सभी सन्धियाँ उपहार का ही भेद होती हैं ॥ १३३ ॥

'अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्त्तते।
उपहारादृते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते' ॥ १३४ ॥

अन्वयः—बलीयस्त्वात् अभियोक्ता अलब्ध्वा न निवर्तते, तस्मात्, उपहारादृते अन्य सन्धि न विद्यते ॥ १३४ ॥

बलीयस्त्वात्=अतिसमर्थत्वात्। अभियोक्ता=आक्रामक। अलब्ध्वा=उपहार-मगृहीत्वा। न निवर्तते=न परावर्तते। तस्मात्=अत ॥ १३४ ॥

आक्रमण करने वाला बलवान होने के कारण बिना कुछ उपहार लिए नहीं लौटता है। इसलिए उपहार के अतिरिक्त और कोई सन्धि नही होती है ॥१३४॥

राजाह—'भवन्तो महान्त., पण्डिताश्च। तदत्रास्माकं यथा-कार्यमुपदिश्यताम्'। दूरदर्शी ब्रूते-'आ.! किमेवमुच्यते ?—

राजा ने कहा—आप लोग बहुत बडे और पण्डित हैं। अत इस समय हमें क्या करना चाहिए उसे बताइए। दूरदर्शी ने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं ?

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—आधिव्याधिपरीतापात् अद्य श्वः वा विनाशिने शरीराय को नाम हि धर्मापेतम् समाचरेत् ॥ १२५ ॥

आधि = मानसी पीडा । व्याधि = शारीरिकी पीडा । परीतापात् = सन्तापात् । अद्य श्वः वा = अद्य श्वो वा । विनाशिने = नाशवते । शरीराय = देहार्थम् । धर्मापेतम् = धर्मविरुद्धम् ॥ १२५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीडा से आज अथवा कल नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिए कौन ऐसा होगा जो धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा ॥ १२५ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १२६ ॥

अन्वयः—देहिनाम् जीवितम् जलान्तश्चन्द्रचपलम् खलु तथाविधम् इति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणम् आचरेत् ॥ १२६ ॥

देहिनाम् = शरीरधारिणाम् । जीवितम् = जीवनम् । जलान्तश्चन्द्रचपलम् = जलप्रतिबिम्बितचन्द्र इव चञ्चलम् । शश्वत् = निरन्तरम् । कल्याणम् = शुभकार्यम् ॥ १२६ ॥

प्राणियों का जीवन जल में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान चञ्चल होता है । अतः उसे नाशवान् समझ कर निरन्तर कल्याणकारी कार्यों को करते रहना चाहिए ॥ १२६ ॥

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला
धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने ॥ १२७ ॥

अन्वयः—इदम् वसुधाधिपत्यम् वाताभ्रविभ्रमम् विषयोपभोगः आपातमात्रमधुरः प्राणाः तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः (अत) परलोकयाने धर्मः परम् सखा (अस्ति) ॥ १२७ ॥

वसुधाधिपत्यम् = राज्यम् । वाताभ्रविभ्रमम् = वायुना ताडितमेघवत् अस्थिरम् इति । विषयोपभोगः = कामोपभोगः । आपातमात्रमधुरः = अविचारितमनोहरः । तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः = तृणाग्रस्थितजलकणवत् चञ्चलाः । परलोकयाने = परलोकयात्रायाम् ॥ १२७ ॥

यह राज्य वायु के आघात से छिन्न-भिन्न हो जाने वाले बादल के समान क्षणभंगुर है विषयों का उपभोग तात्कालिक (क्षणमात्र) मधुर लगने वाला और

ये प्राण घासो के ऊपर दिखाई पड़ने वाली ओस की बूंदो के समान चञ्चल होते हैं। परलोक यात्रा मे केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य ससारं क्षणभङ्गुरम्।
'सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

अन्वयः—संसारम् मृगतृष्णासमम् क्षणभङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनै सङ्गतम् कुर्यात् ॥ १३८ ॥

ससारम्=इमम् लोकम्। मृगतृष्णासमम्=मरीचिकातुल्यम्। क्षणभङ्गुरम्=क्षणनश्वरम्। वीक्ष्य=दृष्ट्वा। सज्जनै सङ्गतम्=सज्जनमैत्रीम्। धर्माय=धर्मलाभाय। सुखाय=सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस ससार को मृगतृष्णा के समान क्षणभङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपाजन के लिए सज्जनो की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम्।' यतः—

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योंकि—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्रात् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम्। अतिरिच्यते=वर्द्धते ॥१३९॥

हजारो अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारो अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानः 'सन्धिर्विधीयताम्'। सर्वज्ञो ब्रूते—'एवमस्तु'। ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविध सन्धि स्वीकृत्य, राजहंससमीपं प्रस्थापितः।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम्=सत्यनामशपथपूर्वकम्। सन्निधानम्=समीपम्। सम्भाषित=वार्तालापेन परितोषित। न=अस्माकम्। समीहितम्=ईप्सितम्।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनों राजाओ मे काञ्चन सधि करा देनी चाहिए। सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए। इसके बाद राजा

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ ११५ ॥

अन्वयः—आधिव्याधिपरीतापात् अद्य श्वः वा विनाशिने शरीराय को नाम हि धर्मापेतम् समाचरेत् ॥ ११५ ॥

आधि=मानसी पीडा । व्याधि=शारीरिकी पीडा । परीतापात्=सन्तापात् । अद्य श्वः वा=अचिरात् । विनाशिने=नाशवते । शरीराय=देहार्थम् । धर्मापेतम्=धर्मविरुद्धम् ॥ ११५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीडा से आज अथवा कल नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिए कौन ऐसा होगा जो धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा ॥ ११५ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ ११६ ॥

अन्वयः—देहिनाम् जीवितम् जलान्तश्चन्द्रचपलम् खलु तथाविधम् इति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणम् आचरेत् ॥ ११६ ॥

देहिनाम् = शरीरधारिणाम् । जीवितम् = जीवनम् । जलान्तश्चन्द्रचपलम्= जलप्रतिबिम्बितचन्द्रेण तुल्यम् चञ्चलम् । शश्वत्=निरन्तरम् । कल्याणम्= शुभकार्यम् ॥ ११६ ॥

प्राणियों का जीवन जल में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान चञ्चल होता है । अतः उसे वैसा ही समझ कर निरन्तर कल्याणकारी कार्यों को करते रहना चाहिए ॥ ११६ ॥

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने ॥ ११७ ॥

अन्वयः—इदम् वसुधाधिपत्यम् वाताभ्रविभ्रमम् विषयोपभोगः आपातमात्रमधुरः प्राणाः तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः (अतः) परलोकयाने धर्मः परम् सखा (अस्ति) ॥ ११७ ॥

वसुधाधिपत्यम्=राज्यम् । वाताभ्रविभ्रमम् = वायुना ताडितमेघवत् अस्थि-रम् । विषयोपभोगः=भोगोपभोगः । आपातमात्रमधुरः=अविचारितरमणीयः । तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोलाः = तृणाग्रस्थितजलकणवत् चञ्चलाः । परलोकयाने = परलोकयात्रायाम् ॥ ११७ ॥

यह राज्य वायु के आघात से छिन्न-भिन्न हो जाने वाले बादल के समान क्षणभंगुर है; विषयों का उपभोग तात्कालिक (क्षणमात्र) मधुर लगने वाला और

ये प्राण घासो के ऊपर दिखाई पड़ने वाली ओस की बूंदो के समान चञ्चल होते हैं। परलोक यात्रा में केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।
'सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

अन्वयः—संसारम् मृगतृष्णासमम् क्षणभङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनैः सङ्गतम् कुर्यात् ॥ १३८ ॥

संसारम्=इमम् लोकम् । मृगतृष्णासमम्=मरीचिकातुल्यम् । क्षणभङ्गुरम्=क्षणनश्वरम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा । सज्जनैः सङ्गतम्=सज्जनमैत्रीम् । धर्माय=धर्मलाभाय । सुखाय=सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस संसार को मृगतृष्णा के समान क्षणभङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपार्जन के लिए सज्जनो की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम् ।' यतः—

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योंकि—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्रात् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम् । अतिरिच्यते=वर्द्धते ॥१३९॥

हजारों अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारो अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानः 'सन्धिर्विधीयताम्' । सर्वज्ञो ब्रूते—'एवमस्तु' । ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः । तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविधं सन्धिं स्वीकृत्य, राजहंससमीपं प्रस्थापितः ।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम्=सत्यनामशपथपूर्वकम् । सन्निधानम्=समीपम् । सम्भाषित =वार्तालापेन परितोषित । न =अस्माकम् । समीहितम्=ईप्सितम् ।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनो राजाओ में काञ्चन सधि करा देनी चाहिए । सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए । इसके बाद राजा

राजहंस द्वारा वस्त्र और गहनों के उपहार से सम्मानित होकर मंत्री दूरदर्शी प्रसन्न होकर चक्रवाक को लेकर राजा मयूर के पास गया। वहाँ राजा चित्रवर्ण ने सर्वज्ञ को गृध्र के कथनानुसार बहुत अधिक दान मान के साथ संतुष्ट करके उस सन्धि को स्वीकार कर उसे राजहंस के पास भेज दिया।

दूरदर्शी ब्रूते—'देव! सिद्धं नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम्।

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोऽभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

दूरदर्शी ने कहा—देव हमलोगों की इच्छा पूरी हुई इस समय अपने देश विन्ध्याचल को लौट चलना चाहिए। इसके पश्चात् सभी अपने-अपने देश जाकर मनोवाञ्छित फल प्राप्त करने लगे।

विष्णुशर्मोक्तम्—अपरं किं कथयामि, तदुच्यताम्।

विष्णुशर्मा ने कहा—बताओ अब मैं और क्या आप लोगों को सुनाऊँ?

राजपुत्रा ऊचुः—आर्य! तव प्रसादात्सकलराज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम्। ततः सुखिनो भूता वयम्।

राजपुत्रों ने कहा—आर्य तुम्हारी कृपा से हम लोगों ने राज्य व्यवहार के सभी अंगों को जान लिया है। जिससे हमलोग बहुत प्रसन्न हैं।

विष्णुशर्मोवाच—यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु'—

विष्णुशर्मा ने कहा—यद्यपि ऐसा है तथापि यह भी हो।

'सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु, प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्धताम्।
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः' ॥ १४० ॥

अन्वयः—विजयिनाम् सर्वमहीभुजाम् सन्धिः अस्तु, सदा प्रमोदः (अस्तु) सन्तः निरापदः सन्तु, सुकृतिनाम् कीर्तिः चिरं वर्धताम्, मन्त्रिणाम् वक्षःस्थले सततम् संस्थिता वारविलासिनी इव नीतिः वक्त्रम् चुम्बतु, अहरहः महान् उत्सवः भूयात् ॥ १४ ॥

विजयिनाम्—विजयशालिनाम्। सर्वमहीभुजाम्—सर्वराजाम्। प्रमोदः—आनन्द। सन्तः—सज्जना। निरापदः—सुखिनः। सुकृतिनाम्—विदुषाम्। कीर्तिः—यश। वर्धताम्—संसारे विस्तृता भवतु। वक्षःस्थले—उर प्रदेशे वार

विलासिनीव=वेश्या इव । सततम् = सर्वदा । वक्त्रम्=मुखम् । हृदयेस्थिता राजनीति वाचि वसतु । अहरहः=प्रतिदिनम् ।। १४० ।।

सभी राजाओ का विजयी राजाओ के साथ संधि हो, आनन्द हो, सज्जन लोग सुखी हों, विद्वानो की कीर्ति का प्रसार हो, मन्त्रियो के हृदय मे वेश्या के समान सर्वदा स्थित रहने वाली राजनीति उनकी वाणी मे निवास करे और प्रतिदिन महान् उत्सव होता रहे ।। १४० ।।

अन्यच्चास्तु—

'प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स यावद्
यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।
यावत्स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः सग्रहोऽयं कथानाम् ॥

अन्वयः—प्रालेयाद्रे सुताया प्रणयनिवसति चन्द्रमौलि यावत्, जलदे विस्फुरन्ती तडित् इव मुरारे मानसे लक्ष्मी यावत्, अयम् स्वर्णाचल यावत्, यस्य दवदहनसम स्फुलिङ्ग सूर्य (अस्ति), तावत् नारायणेन रचित कथानाम् अयम् सग्रह. प्रचरतु ।। १४१ ।।

प्रालेयाद्रे = हिमालयस्य । सुताया =पुत्र्या , पार्वत्या । प्रणयनिवास = प्रेमपात्रम् । चन्द्रमौलि =शिव । जलदे=मेघे । विस्फुरन्ती=उन्मिषन्ती । तडित्= विद्युत् । मुरारे =विष्णो । दवदहनसम =दावाग्निज्वालासदृश । स्वर्णाचल = हेमकूट । नारायणेन रचित नारायणपण्डितेन निर्मित ।। १४१ ।।

जब तक हिमालय की पुत्री पार्वती जी के प्रेम मे भगवान् शकर की स्थिति रहे, जब तक बादलो के बीच चमकती हुई बिजली के समान भगवान् विष्णु के हृदय मे लक्ष्मी का निवास रहे और जब तक दावाग्नि की ज्वाला के समान यह हेमकूट विद्यमान रहे, जिसकी चिनगारी के समान यह सूर्य है, तब तक नारायण पण्डित द्वारा रचित कथाओं का यह संग्रह सभी जगह प्रचलित रहे ।।

किञ्च—'उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपाना विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।
आकल्पान्तञ्च भूयात्समुपचितसुखः सङ्गमः सज्जनानां,
निश्शेषं यान्तु शान्ति पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः' ॥

अन्वयः—वासव इष्टाम् वृष्टिम् विसृजन् उर्वीम् । उद्दामसस्याम् जनयतु । विप्रमुख्या तै इष्टै विष्टपानाम् विधिवत् प्रीणनम् विदधतु । सज्जनानां सङ्गम.

आकल्पान्तरम् समुपचितसुख भूयात् । वज्रलेपा दुर्जना पिशुनजनगिरः निःशेषं शान्तिं यान्तु ॥ १४२ ॥

वासव=इन्द्र । इष्टाम् = अभिमताम् । वृष्टिम् = जलवर्षणम् । वितनुतात्= तनोतु, कुर्यात् । शस्यसम्पदाम्=धान्यपूरिताम् । उर्वीम्=पृथिवीम् । तैः = यज्ञादिभिः । इष्टैः=यज्ञैः । विप्रमुख्याः=ब्राह्मणाः । त्रिदशानाम्=देवानाम् । प्रीतिम्= तुष्टिम् । विदधतु=कुर्वन्तु । सज्जनानां संगम=सत्संगतिः । आकल्पान्तम्= कल्पान्तम् यावत् । समुपचितसुख = सुखान्वित । दुर्जना = दुर्जनानां । वज्रलेपा=अतिनिष्ठुरा । पिशुनजनगिर=दुष्टजनवाच । निःशेषं = समूलम् । शान्तिम्=प्रशमम् ॥ १४२ ॥

इन्द्र यथेष्ट जल के द्वारा पृथ्वी को धान्य से परिपूर्ण करें श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्रों तथा यज्ञों से देवताओं को विधिपूर्वक प्रसन्न करें । सज्जनों की संगति कल्पान्त तक सम्पत्ति और समृद्धि को देने वाली बने । वज्र के समान कठोर दुष्टों की वाणी सभी भाँति शान्त हो जाय ॥ १४२ ॥

अपरञ्च—श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून् ।
येनायं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः ॥ १४३ ॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः ।
समाप्तश्चायं हितोपदेशः ।

— —

अन्वयः—माण्डलिक श्रीमान् धवलचन्द्र असौ रिपून् जीयात्, येन अयं संग्रह यत्नात् लेखयित्वा प्रचारित ॥ १४३ ॥

माण्डलिक = मण्डलाधिपति । धवलचन्द्र —पूर्वप्रदेशस्य राजविशेष । रिपून्=शत्रून् । जीयात्=विजयताम् ॥ १४३ ॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थ कथासंग्रह समाप्त ।
समाप्तश्चायं हितोपदेश शुभं भूयात् ।

— —

वह (पूर्व प्रदेश का) माण्डलिक राजा धवलचन्द्र जो शत्रुओं को जीते जिसने बड़े परिश्रम से इस संग्रह को लिखा कर इसका प्रचार कराया ॥१४३॥

हितोपदेश का चौथा कथासंग्रह समाप्त ।
हितोपदेश समाप्त ।

— —

दर्शनात्तत्त्वप्रलयासंभवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते । सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाच एव ग्रहणं वाङ्मनसि संपद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥

२ मनोधिकरणम् । सू० ३

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि संपद्यते' (छा० ६।८।६) इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिविवक्षेति । अथ यदुत्तरवाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६।८।६) इति किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव विवक्ष्यत उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम् । श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतित्वोपपत्तेश्च । तथाहि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम् । 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयते । अन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयत इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथाहि सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते । न च मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति । अतत्प्रकृतित्वात् । ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम् । नैतत्सारम् । नहीदृशेन प्राणाडिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे संपत्तुमर्हति । एवमपि ह्यन्ने मनः संपद्येताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः । नह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायत इति किंचन प्रमाणमस्ति । तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः । वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम् ॥ ३ ॥

३ अध्यक्षाधिकरणम् । सू० ४–६

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य

तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीव इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव संपत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति । एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः—तदुपगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति । विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति । 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधिकावापः क्रियते । नैष दोषः । अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् । प्राणस्तेजसीति श्रुतेः । ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य । नैष दोषः । सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तरालेऽप्युपसख्यातत्वात् । योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम् । तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणसपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति । अत आह—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते कार्यस्य

शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३) इति । तच्च व्याख्यातम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र । श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः । श्रुतिः 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या । स्मृतिरपि 'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां[1] तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः' इत्याद्या । ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्व तदा पुरुषो भवति' (बृ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (बृ० ३।२।१३) इति । अत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता । इह पुनर्भूतोपादानाद्देहान्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम् । तस्माददिरोधः ॥ ६ ॥

४ आसृत्युपक्रमाधिकरणम् । सू० ७

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना किंवा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा । पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते । न च विदुषः पुनर्भवः संभवति । 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति स्थितिः । तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः । ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा भवेत् । न । स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । यथाहि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम', 'अशिशिषति नाम', 'पिपासति नाम' (छा० ६।८।१,३,५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन न तु विदुषो विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते । एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम् । प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः 'न तस्य प्राणा उत्क्राम

[1] दशार्धानां पञ्चभूतानां मात्राः सूक्ष्माः शीर्यन्त इति मात्राः ।

मन्ति' (बृ० ४।४।६) इति । तस्मादविदुष एवैषेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति । अविशेषश्रवणात् । अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति । विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते । तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम् । नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं नच तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति । अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च । नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥ ७ ॥

५ संसारव्यपदेशाधिकरणम् । सू० ८–११

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तद्यथाप्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्या देवतायां सपद्यत इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी पुनरियं सपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते । तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम् । तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम् । तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेजआदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतेरा संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते । 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (क० ५।७) इत्यादिसंसारव्यपदेशात् । अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म सपद्येत । तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च । मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति । तस्मात्तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवैषा सत्सपत्तिरिति ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति । तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादि-

भ्योऽस्य सौक्ष्म्यमुपलभ्यते । तत्र तनुत्वात्संचारोपपत्तिः । स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः । अत एव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत् सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैष ऊष्मा यमेतस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति । तथा हि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यत इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति । तथा च श्रुतिः—'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥ ११ ॥

६ प्रतिषेधाधिकरणम् । सू० १२–१४

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः । तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत् । नेत्युच्यते । यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात् । कथमवगम्यते 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात् । संबन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या संबन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते । तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही संबध्यते न देहः । न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥१२॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

न तदस्ति यदुक्तं परमब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्तिप्रतिषे

धस्य देह्यपादानत्वादिति । यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते । तथाहि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३।२।११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम् 'अत्रैव समवनीयन्त' इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' (बृ० ३।२।११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति । देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः । तत्सामान्यात् 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः । यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः । येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्संबन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः । अपिच 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्येवमविद्वद्विषयं सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमान.' (बृ० ४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात् । तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वाय । नच ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात् । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः । देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः'

इति। ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति। न। सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम्। सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात्। नह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः। तथा च तत्रैवोपसंहृतम्—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः। दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत्' इति। तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः। गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

७ वागादिलयाधिकरणम्। सू० १५

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते। कस्मात्। तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६।५) इति। ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० ३।२।७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म। न। सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति। इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा, कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत इति। तस्माददोषः ॥ १५ ॥

८ अविभागाधिकरणम्। सू० १६

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति। तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति। कुतः—वचनात्। तथाहि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति—'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र० ६।५) इति। अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः। तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

९ तदोकोऽधिकरणम्। सू॰ १७

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता। संप्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं तमिदानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति। तस्योपसहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयम्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रप्रज्वलनपूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ॰ ४।४।२) इति। सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। कुतः—विद्यासामर्थ्यात्। यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत। तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात्। तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबद्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठत इति युक्तम्। तस्माद्धृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा॰ ८।६।६) इति ॥ १७ ॥

१० रश्म्यधिकरणम्। सू॰ १८

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

अस्ति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा॰ ८।१।१) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य

नाड्यः' (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम् 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति। पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति। तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन्रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते । तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वा दर्शयति च ॥ १९ ॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसंबन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात् । नाडीरश्मिसंबन्धविच्छेदादिति चेन्न । नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । यावद्देहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८।६।२) इति । निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते प्रतापादिकार्यदर्शनात् । स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु । 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति । यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत् । न ह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति । अथतु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात् । मृत्युकालानियमात् । अथापि रात्रौ परतोऽहरागममुदीक्षेत । अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदरश्मिसंबन्धार्हं शरीरं स्यात्पावकादिसंपर्कात् । 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति । तस्मादविशेषेणैवेदं रात्रिंदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

११ दक्षिणायनाधिकरणम् । सू० २०-२१

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अतएव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम् । उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्' (छा० ४।१५।५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति । प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया । भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च । श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४।३।४) इति ॥ २० ॥

ननु च—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' (गी० ८।२३) इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते । स्मार्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते । अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः । ननु—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' । 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' (गी० ८।२४।२५) इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति । उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८।२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः । यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थोध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्र पादे सगुणविद्यावतो ब्रह्मलोकोत्तरमार्गाभिधानम्]

१ अर्चिराद्यधिकरणम् । सू० १

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम् । सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । नाडीरश्मिसंबन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' (छा० ८।६।५) इति । अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः' (बृ० ६।२।१५) इति । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्यन्या । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इत्यपरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मुण्ड० १।२।११) इति चापरा । तत्र संशयः—किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः किं वैकैवानेकविशेषणेति । तत्र प्राप्तं तावद्भिन्ना एताः सृतय इति । भिन्नप्रकरणत्वात् । भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च । अपि च 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (छा० ८।६।५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत । त्वरावचनं च पीड्येत 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति । तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति । एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—अर्चिरादिनेति । सर्वो ब्रह्म प्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे । कुतः—तत्प्रथितेः । प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम् । तथा हि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यर्चिरादिका सृतिः श्राव्यते । स्यादेतत् । यासु विद्यासु न काचिद्गतिरुच्यते तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठतां यासु त्वन्या श्राव्यते तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति । अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः स्युः । एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः । सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः । प्रकरणभे

देऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः । विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथाहि 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५), 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः' (बृ० ५।१०।१), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते' (कौषी० १।४), 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८।४।३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते । यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति । नैष दोषः । रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य । नह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम् । तस्माद्रश्मिसंबन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम् । त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शैघ्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते । यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति । अपिच 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति । भूयांस्यर्चिरादिसृतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र । भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ॥ १ ॥

२ वाय्वधिकरणम् । सू० २

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भूत्वाचार्यो ग्रथयति । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोक स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते । तत्रार्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः कश्चिदन्वेष्यः । वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि न श्रुतः कतमस्मिन् स्थाने निवेशयितव्य इति । उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः

संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरादूर्ध्वमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसंभवन्ति। कस्मात्। अविशेषविशेषाभ्याम्। तथा हि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति। एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः। कस्मात्पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते। नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः। ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी० १।३) इति। उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते एतमेतं चागच्छतीति। इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति। वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति। तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसंभवेयुः। वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः। तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससंबन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम्॥ २॥

३ तडिदधिकरणम्। सू० ३

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात्॥ ३॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युदुपरिष्टात् वरुणलोकमित्ययं वरुणः संबध्यते। अस्ति हि संबन्धो विद्युद्वरुणयोः। यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। 'विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्र

सिद्धिः । वरुणादधीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च । आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशो वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युत्‍घान्त्यार्चिरादौ वर्त्मनि ॥ ३ ॥

४ आतिवाहिकाधिकरणम् । सू० ४–६

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तॄणामिति । तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्प्राप्तम् । तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथाहि लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह । अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथाहि—लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौषी० १।३) इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते—'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १।५।१६) इति च । तथाच ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि । तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः । अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः । चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति । कुतः—तल्लिङ्गात् । तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति । तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत् । न । प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य । यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥४॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात् । नैष दोषः ।

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

ये तावदर्चिरादिमार्गगास्ते देहवियोगात्सम्पिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवता-

विशेषा अतिवाहिका नियुक्ता इति गम्यते । लोकेऽपि हि मत्तमूर्छितादयः संपिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति । अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः । नहि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसंभव उपपद्यते । न च प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात् । ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति । अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१५।५,५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसंभवति । अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति । तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते । गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति । अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति संबन्धमात्रमुक्तं न संबन्धविशेषः कश्चित् । उपसंहारे तु 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति संबन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते । संपिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसंभवः । लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते । अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात् । अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽर्चिषाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्संभवः । विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमाब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति । अत उत्तरं पठति—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम् । 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम् । तस्मात्साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥ ६ ॥

५ कार्याधिकरणम् । सू० ७–१४

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते— किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति । कुतः संशयः । ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः—अस्य गत्युपपत्तेः । अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात् । नतु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते । सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तॄणाम् ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते । नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते । कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम् । लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी । गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' इत्यादिषु । अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः स्यात् । तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते, समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति स्थापितमिति । अत्रोच्यते—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते । परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते । नहि परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यतां संभावयन्ति । दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामना-

श्रुतिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति चेत् । अत्र ब्रूमः—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्त इति । इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । न ह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति । तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्यादिनेति । स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । कुतः—मुख्यत्वात् । परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनम्, गौणमपरम्, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति । अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य । 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति प्रवचनात् । परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते । नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥ १३ ॥

नच कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

अपिच 'प्रजापतेः सभा वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८।१४।१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमणात्। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः' (श्वेता० ४।१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा० ८।५।३) इत्यत्र। पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षाऽवसीयते। तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम्। तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः। तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं नतु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो द्वितीयः पूर्वपक्षः। नह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८।६।६) इतिवत्। 'प्रजापतेः सभा वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदवकल्पते। तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः। केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति तदनुपपन्नं गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः। यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।१), 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते। नहि गतमेव गम्यते। अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके।

ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा । यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति । तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं आत्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्तियुक्तत्वात्कथंचिद्गन्तव्यता स्यादिति । न । प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वेता० ६।१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८), 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते । येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात् । भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता । जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत् । न । विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात् । उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत् । न । तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति । कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति । उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात् । न ह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७), 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४), 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन । एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति० २।९।१), इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात् । विकारानृताभिसंधस्य चापवादात् 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति । अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यते । नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति । प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते । तथा हि 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६।८।३)

न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति । श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति । परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत् । न । प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः । शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति । तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या । किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति । उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति । तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्वैश्वानरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते यथा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इति च तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति गतिः । न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति ।'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ०४।४।७)इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम् । अपिच परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचनं तावद्ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते । स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः । नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते । तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते । किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति । बाढं द्वे 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपर-

निमित्ताभावान्न भविष्यतीति । नचैवं तर्कयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात् । बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानीष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः संभाव्यन्ते । तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां साम्प्रतेनोपभोगेन क्षपणासंभवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम् । कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । स्यादेतत् । नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति । तन्न । विरोधाभावात् । सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति । नच जन्मान्तरसंचितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः । शुद्धिरूपत्वाविशेषात् । दुरितानि त्वशुद्धिरूपत्वात्सति विरोधे भवन्तु क्षपणानि नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः । सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः । दुरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात् । नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः संभवात् । स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति । नचासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम् । सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात् । संशयितव्यं तु भवति तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव । नचानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम् । अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहार्यत्वात् । स्यादेतत् । कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति । तच्च न । शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात् । अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि । अत एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति । तच्च न । निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन नित्यसंबद्धत्वात् । तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां

न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति । श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति । परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत् । न । प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः । शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४;४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति । तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या । किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति । उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति । तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्वैश्वानरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते यथा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इति च तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्सम्भवति गतिः । न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।७) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम् । अपिच परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचनं तावद्ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते । स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः । नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते । तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते । किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति । बाढं द्वे 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपर-

मिति। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत। न। अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्संनिधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादि जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति। अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवोचाम 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।२९) इत्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम्॥ १४॥

६ अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्। सू० १५–१६

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च॥ १५॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं संदिह्यते किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत कांश्चिदेवेति। किं तावत्प्राप्तं सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद्ब्रह्मणो गतिः स्यात्। तथाहि—'अनियमः सर्वासाम्' (ब्र० सू० ३।३।३१) इत्यत्राविशेषेणैवैषां विद्यान्तरेष्ववधारितेति। एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति। प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। न ह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति। अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः। तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः। यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते 'तं यथा यथोपा-

सते तदेव भवति' इति श्रुतेः । नतु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य । नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति भवतु यत्रैवमाहत्यवाद उपलभ्यते तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७।२।१) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।२।२) 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७।३।१) इत्यादिना । स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते । ब्रह्मतन्त्रे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् । तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्]

१ संपद्याविर्भावाधिकरणम् । सू० १–३

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्ममात्रेणेति । किं तावत्प्राप्तम् । स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः । अभिनिष्पद्यत इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात् । स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत ।

तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाविर्भवति न धर्मान्तरेणेति। कुतः—स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दात्। अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात्। नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति। न। तस्यावचनीयत्वात्। येनैव हि केनचिद्रूपेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात्। आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वावस्थायामिह च स्वरूपानपायसाम्ये सतीत्यत आह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभिनिष्पद्यत इत्युक्तः स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेनात्मनेत्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति—प्रतिज्ञानादित्याह। तथा हि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३,८।१०।४,८।११।३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति चोपसंहरति। तथाख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा। यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यत इति तद्वत्। तस्माददोषः ॥२॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति कार्यगोचरमेवैनं श्रावयति। ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात्। न चानतिवृत्तो विकारविषयात्कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति। विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति। नैष दोषः। यत आत्मैवात्र ज्योतिः

शब्देनावेद्यते प्रकरणात् 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८।७।१) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम् । प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।४।१६) इति । 'प्रपञ्चितं चैतत्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥ ३ ॥

२ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् । सू० ४

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते । कुतः—दृष्टत्वात् । तथाहि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १। ४।१०), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।३३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति । यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्रतुन्यायात् । 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति । नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च । भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते । स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥

३ ब्राह्माधिकरणम् । सू० ५–७

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

'स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणेति । अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधी-

यदस्य स्वरूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः—उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । तथाहि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति । तथा 'स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः' (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति । 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२) इति च । 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि शब्दविकल्पजा एवैते । पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते । चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता । तथा च श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अस्येति । तथाप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः । अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र । अतएव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत् । नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीयविषयत्वात्तेषाम् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया

पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥

४ संकल्पाधिकरणम् । सू० ८–९

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि। तत्र संशयः किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति। तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता। यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पाद्गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात्। एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति। संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते। नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति। कुतः—तच्छ्रुतेः। 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्येत। निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु नतु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितीष्यते। प्राक्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात्। नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते। संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः। प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अतएव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः। नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति। श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८।१।६) इति ॥ ९ ॥

५ अभावाधिकरणम् । सू० १०—१४

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिश्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् । एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' (छा० ८।१२।५) 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१२।१) इति । यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते । यतः 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति । न ह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात् । यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभावविकल्पः पठ्यते तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति ॥ ११ ॥

उच्यते—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति । सत्यसंकल्पत्वात् । संकल्पवैचित्र्याच्च । द्वादशाहवत् । यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति । उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥ १२ ॥

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

यदा तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

प्रदीपाधिकरणम् । सू० १५–१६

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥

'अभावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्राणीव सृज्यन्ते किंवा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा, तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति । एवं प्राप्ते प्रतिपद्यते—प्रदीपवदावेश इति । यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात् । एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति । कुतः, तथाहि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० ७।२६।२) इत्यादि । नैतद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते नापि जीवान्तरावेशे । नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः संभवति । यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति । नैष दोषः । एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात्स्रक्ष्यति । सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते । एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरप्रयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

कथ पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते यावता 'तत्केन क विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४।३।३०), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४।३।३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वाप्ययः सुषुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते'

(छा० ६।८।१) इति श्रुतेः। संपत्तिः कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) श्रुतेः। तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम्। क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचित्कैवल्यावस्थाम्। कथमवगम्यते यतस्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २।४।१२), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २।४।१४), 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१९, माण्डू० ५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते। तस्माददोषः ॥ १६ ॥

७ जगद्व्यापाराधिकरणम्। सू० १७–२२

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्। निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२), 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १।५।३), 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२, ८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति। एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः—तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम्। परएव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः। तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात्। नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च। तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते। तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे। समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात्। अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत ततःपरमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्य-

क्षोपदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते। नायं दोषः। आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः। अधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते। यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह। यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति। तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह। एवमन्यत्रापि यथासंभवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम्॥ १८॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह॥ १९॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथाह्यस्य द्विरूपा स्थितिमाहाम्नायः 'तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादिः। नच तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम्। अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्ते एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम्॥ १९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥ २०॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कठ० ५।१५। श्वेता० ६।१४। मुण्ड० २।२।१०) इति। 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५।६) इति च। तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः॥ २०॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च॥ २१॥

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं

सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

यस्यैवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति 'यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते । कुतः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, कठ० ६।१६), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५), 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६), 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८।१५।१), 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्यादिशब्देभ्यः । अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथानावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातःपरम्' (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र । सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः । तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तमिदं ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ॥

बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमः ।

आ

सूत्रम्	अ	पा	सू
न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं	३	२	११
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतरा	२	३	२१
नातिचिरेण विशेषात्	३	१	२३
नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ता	२	३	१७
नाना शब्दादिभेदात् ..	३	३	५८
नानुमानमतच्छब्दात्	१	३	३
नाभाव उपलब्धेः	२	२	२८
नाविशेषात्	३	४	१३
नासतोऽदृष्टत्वात्	२	२	२६
नित्यमेव च भावात् ..	२	२	१४
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो.	२	३	३२
नियमाच्च	३	४	७
निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च	३	२	२
निशि नेति चेन्न संबन्धस्य	४	२	१९
नेतरोऽनुपपत्तेः	१	१	१६
नैकस्मिन्दर्शयतो हि	४	२	६
नैकस्मिन्नसंभवात्	२	२	३३
नोपमर्देनातः	४	२	१

प

सूत्रम्	अ	पा	सू
पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते	२	४	१२
पटवच्च	२	१	१९
पत्यादिशब्देभ्यः	१	३	४३
पत्युरसामञ्जस्यात् ..	२	२	३७
पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि	२	२	३
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्	४	३	१२
परमतः सेतून्मानसम्बन्धभे	३	२	३१
परात्तु तच्छ्रुतेः	२	३	४१
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं	३	२	५
परामर्शं जैमिनिरचोदना चा	३	४	१८
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं	३	३	५२
पारिप्लवार्था इति चेन्न ..	३	४	२३
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभि	२	३	३१
पुरुषविद्यायामिव चेतरेषाम	३	३	२४
पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बा	३	४	१
पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि	२	२	७
पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यप	३	२	४१
पूर्ववद्वा	३	२	२९
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रि.	३	३	४५
पृथगुपदेशात् ...	२	३	२८
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्त	२	३	१२
प्रकरणाच्च	१	२	१०
प्रकरणात्	१	३	६
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यात् ..	३	२	२५
प्रकाशादिवन्नैवं परः ..	२	३	४६
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्	३	२	२८
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुप	१	४	२३
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति	३	२	२२
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः	१	४	२०
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छ	२	३	६
प्रतिषेधाच्च	३	२	३
प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्	४	२	१२
प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधा	२	२	२२
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधि	४	४	१८
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता ए	३	१	५
प्रदानवदेव तदुक्तम् ..	३	३	४३
प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्श	४	४	१५
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्	२	३	५३
प्रवृत्तेश्च ..	२	२	२
प्रसिद्धेश्च ..	१	३	१७
प्राणगतेश्च	३	१	३
प्राणभृच्च ..	१	३	४
प्राणवता शब्दात् ...	२	४	१५
प्राणस्तथानुगमात्	१	१	२८

समाप्तेयं बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णक्रमसूची ।

निर्णयसागरेऽङ्कितानि विक्रेयसंस्कृतपुस्तकानि ।

श्रीमच्छंकराचार्यकृतं—

१ रत्नपञ्चकं (सोपानपञ्चकं) सभाष्यं,

२ विद्वदनुभवानन्दलहरी (शिवानन्दलहरी), ३ शतश्लोकीसार-
संग्रहः, ४ कौपीनपञ्चकं, ५ एकोविष्णुरितिपद्यस्य
श्रीनिवासकृतव्याख्यानं.

इति पञ्चानामपूर्वाणा विषयाणा समह मू. ३ आ., मा. १॥ आ.

	कि रु	आ	ट रु.	आ.
ामगीता रामगीतामाहात्म्यं च.	०	१	०	१
घुयोगवासिष्ठः—आतमसुखकृत , वासिष्ठचन्द्रिकाटीकासहितः	५	०	१	०
लितासहस्रनाम—भास्कररायप्रणीतसौभाग्यभास्कर-भाष्यसहित तृतीय सस्करणम्	१	१२	०	४
स्तुतिः—(श्रीमद्भागवतगता) लोकेन्यवायेतिश्लोक , न्मादस्येतिश्लोकश्च, काशीनाथोपाध्यायकृतव्याख्योपबृंहित-ीधरीव्याख्या	०	१२	०	४
ंतसारः—नृसिंहसरस्वतीस्वामिकृत—सुबोधिन्या, रामतीर्थ-विरचित—विद्वन्मनोरञ्जनीटीकया, जे. ई. जेकब एतेषा-माङ्गलटिप्पण्या पाठान्तरैश्च समलकृत	१	४	०	४
शिवगीता—पत्रबद्धा	०	८	०	२
शिवगीता—कौशेयबद्धा.	०	१२	०	२
शिवगीता—लक्ष्मीनरहरिसूनुकृत—बालानंदिनीव्याख्यासहिता.	०	८	०	२
आशौचनिर्णयः—त्र्यम्बककृत	०	१॥	०	१
पुरुषार्थचिंतामणिः—श्रीमद्रामकृष्णभट्टसूनुविष्णुभट्टकृत. विशेषत शोधिता द्वितीयावृत्ति ।	२	८	०	८